* ओ३म् *

प्रियग्रन्थमाला संख्या ११

सार्वदेशिक अनुसन्धानमाला संख्या १

यमपितृपरिचय

श्री० पं० प्रियरत्न जी आर्ष

प्रकाशक

सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा

देहली



प्रथमबार	दयानन्दाब्द	मूल्य २)
१०००	१०६	सजिल्द २॥)

इस

पुस्तक का विषय

इस "यमपितृपरिचय" पुस्तकमें यम और पितर प्रकरण वाले मन्त्रों के स्पष्ट रीति से अर्थ किये गये हैं जिनमें विविध उपयोगी विषयोंका समावेश है। उनका संक्षिप्त विवरण यह है कि "ईश्वरका सृष्टिकर्तृत्व, सृष्टिक्रम, जीवात्माका नित्यत्व, स्वकर्मानुसार शरीरधारण, पुनर्जन्म, नव शैशव कालमें पुनर्जन्मका स्मृति-विज्ञान, जीवोंकी आरम्भसृष्टि का स्वरूप, शरीररचना (Anatomy) वैद्यक शास्त्र, भौतिकी विद्या, सूर्यविज्ञान, ज्योतिष् आदि विद्याएं। ऋतुओं, रश्मियों, काल, वायु, वृष्टि आदि पदार्थोंको उपयुक्त बनाना। कला, कौशल, यन्त्र आदि का लाभ, विविध उपमाओं और नाना अलङ्कारों द्वारा प्राकृतिक जगत् का चित्रण। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामूहिक जीवनको उत्कृष्ट बनाने के साधन। कुटुम्ब, सहवास, ग्राम, नगर तथा देश के प्रति निज कर्तव्य आदि सुचरित्रों का आदेश। राजा तथा राष्ट्र के प्रति प्रजा का कर्तव्य, प्रजा के प्रति राजा का सर्वसुविधाप्रदानपूर्वक वर्ताव, न्याय तथा न्यायमें यथापराध धनदण्ड, प्रहारदण्ड, विद्युत् आदि के प्रयोग से मृत्युदण्ड, बन्धीकरण, देशनिर्वासन (द्वीपादिमें कालापानी) तथा विद्वानोंके लिये आश्रम, सभा-स्थान विद्यालय गुरुकुल आदि का स्थापन करना और उनका वृत्ति आदि से सत्कार करना, प्रजाहित के लिये राष्ट्र से उपद्रवों को हटाना तथा मार्ग, स्थान, जल की व्यवस्था करना आदि राजप्रजाधर्मका वर्णन। राजा का राष्ट्रके कार्य विभागों पर पूरा ध्यान रखना, भिन्न २ शस्त्रास्त्र वाले आठ सेनादलों को उनके दलपतियों के अधीन रखना, सङ्ग्राममें युद्धार्थ सेना का उपयोग करना आदि सैन्यविद्या की चर्चा। प्राणियों के द्वारा विषज्ञान और फैलने वाले रोगों का अनुमान, शवकी वैज्ञानिक प्रतिक्रिया, ब्रह्मचर्य, विवाह, गार्हस्थ्य धर्म, विद्याध्ययन, विद्वान् धार्मिक साधुजनोंसे उपदेश ग्रहण करना तथा उनकी सेवा करना आदि लौकिक आचरणों का निर्देश। अध्यात्म शास्त्र, एकेश्वरवाद तथा ब्रह्मोपासना की महत्ता आदि आदि गम्भीर विषयों का अपूर्व वर्णन है। अस्तु। ये बातें तत् २ स्थलों को पढ़ने से भली प्रकार विदित हो सकेंगी॥

* ओ३म् *

प्राक्कथन

यम और पितर नामक ग्रन्थको प्रारम्भ में वैदिकधर्म में प्रकाशित कर के फिर उसे पृथक् ग्रन्थ रूपमें प्रकाशित करते हुए उसके प्रकाशक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर (स्वाध्यायमण्डल औंध) ने प्रकट किया था कि यह ग्रन्थ सर्वसाधारण के हाथों में दिये जानेके लिये नहीं किन्तु केवल विद्वानों के लिये यम और पितर जैसे गहन विषय पर विचार करने के उद्देश्य से प्रकाशित किया जाता है। आर्यसमाज के जन्मकाल ही से यह विषय विवादास्पद चला आता है—सनातनधर्म के विद्वान् पितर शब्द से मरे हुए बाप-दादा आदि का अभिप्राय लेते हुए प्रकट करते रहे हैं कि इनको अन्नादि, पिण्डादिके रूप में पहुँच सकता है और वे इसी अभिप्राय से मरे हुए पितरों का श्राद्ध और तर्पण करनेका विधान, शास्त्रविहित बतला कर करते थे और अब भी करते हैं। आर्य-समाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्दका इससे सर्वथा विरुद्ध पक्ष था। वे पितर शब्दका अर्थ जीवित माता पिता आदि करके उन्हींके श्रद्धापूर्वक अन्न पानादि से सत्कार करने की शिक्षा दिया करते थे और उनका स्थानापन्न आर्यसमाज अब भी ऐसी ही शिक्षा जनसमाज को दिया करता है। उभय पक्षके लिये वेद ही अन्तिम प्रमाण है इसलिये श्री सातवलेकर जी का यह कार्य स्तुत्य ही कहा जा सकता है कि उन्होंने चारों वेदों में से ऐसे समस्त मन्त्र संग्रह कराये "जिनमें सातों विभक्तियों में से पितृ-शब्द का कोई भी रूप आया है या जिन मन्त्रों के देवता पितर हैं"। सातवलेकर जी ने न केवल मन्त्रों को संग्रह कराया किन्तु उनके अर्थ भी अपनी देखरेख में तथा अर्थों में भी पर्याप्त सहयोग देकर एक विद्वान् से कराके उन (मन्त्रों) के साथ ही प्रकाशित कराये थे। सार्वदेशिक सभाके कार्यालय में भी उपर्युक्त ग्रन्थकी कुछ कापी इस उद्देश्य से आईं थीं कि यह सभा अपने उपदेशक और विद्वानोंको देकर उन्हें इस संग्रह और संग्रहमें किये गये मन्त्रार्थों पर विचार करने का अवसर दे। सभा ने प्रसन्नता और कृतज्ञता के साथ इस कार्यको अपने हाथ में लिया और उन कापियों को अपने उपदेशकों और विद्वानोंकी भेंट किया कि वे उन पर विचार करें।

(२) इस सभाके वेदान्वेषण विभाग के विद्वान् श्री पं० प्रियरत्न जी आर्ष ने समस्त मन्त्रसंग्रह पर विचार किया। विचारका फल यह निकला कि उन्हें वे

अर्थ जो उपर्युक्त भांति किये गए थे अच्छे, ठीक और वेदोंका शुद्धभाव प्रकट करने वाले प्रतीत नहीं हुए। इसका अनिवार्य परिणाम यही था कि वे स्वयं उनके ऐसे अर्थ करते जो उन्हें ठीक और वेद के भावानुकूल प्रतीत होते। तदनुसार यह ग्रन्थ तय्यार हुआ और संग्रह में आए सूक्त और मन्त्रोंके अर्थ इसमें क्रमपूर्वक अङ्कित हुए। ग्रन्थ के अध्ययन से पाठकवर्ग जान सकेंगे कि पं० प्रियरत्न जी को इस ग्रन्थ के तय्यार करने में कितना परिश्रम करना पड़ा है। पूरे सूक्तों का अर्थ करते समय सूक्तगत मन्त्रोंकी पारस्परिक सङ्गति लगाना सुगम काम नहीं। इस काम की कठिनता का अनुभव कुछ वे ही विद्वान् कर सकते हैं जिन्हें इस प्रकार के कार्य करने का कभी अवसर प्राप्त हुआ हो। ग्रन्थमें मन्त्रोंके अर्थ सप्रमाण प्रथम संस्कृत में किये गये फिर उनकी भाषा भी करदी गयी है जिससे विद्वान् और जन साधारण सभी श्रेणीके मनुष्य लाभ उठा सकें। ग्रन्थके प्रारम्भ ही में विद्वान् लेखक ने जो शब्दार्थादि समन्वय दिये हैं उनसे ग्रन्थ की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गयी है। ग्रन्थ के तय्यार हो जाने पर वह निरीक्षण के लिये कतिपय विद्वानोंकी सेवामें भेजा गया, उन्होंने निरीक्षण करके अपनी २ लिखित सम्मतियां भेजी हैं जो इस लेख के अन्तमें अङ्कित हैं। सभी विद्वानोंने ग्रन्थकी उपयोगिता प्रदर्शित की है। ग्रन्थ तथा विद्वानों की सम्मतियों पर दृष्टिपात करने के बाद सार्वदेशिक सभा की अन्तरङ्ग सभा ने अपने निश्चय सं० ५ ता० २८ जनवरी १९३३ ई० के द्वारा पुस्तक का वेदान्वेषण विभाग की ओरसे छपवाना स्वीकार किया। तदनुसार यह ग्रन्थ छपवा कर प्रकाशित किया जाता है और आशा की जाती है कि वेदों से प्रेम रखने वाले और ऐसे भी सज्जन जो वेदोंके विषयको जानना चाहते हैं ग्रन्थको अपनावेंगे। अन्त में यह प्रकट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि इस ग्रन्थ को सभा भी उपयोगी समझती है और विद्वानों ने भी इसकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है फिर भी उसमें जो मन्त्रों के अर्थ किये गए हैं और उसमें जो टीका टिप्पणियां दी गई हैं उनका उत्तरदायित्व ग्रन्थकर्ता ही पर रहेगा। सभाका उतना ही उत्तरदायित्व है जितना कि प्रकाशक का हुआ करता है॥

बलिदानभवन देहली
चैत्र शुक्ल २ वै० सं० १९९०

नारायण स्वामी

विद्वानों की सम्मतियां

श्री० प्रोफेसर विश्वनाथजी वेदोपाध्याय, गुरुकुल कांगड़ी—

श्री० पं० प्रियरत्नजी के निबन्ध 'यम-पितृ-परिचय' को सुना श्री पण्डितजी ने इस निबन्ध पर बहुत परिश्रम किया है और निबन्धमें तदनुरूप खोज भी प्रतीत होती है। मन्त्रोंमें परस्पर सङ्गति भी उन्होंने बहुत कुछ ढूँढ निकाली है और अन्य सन्दिग्ध स्थलों पर भी उत्तम विचार किया है। निबन्ध योग्यतापूर्ण है। आर्यसमाज की दृष्टिसे इस प्रकरण पर इससे उत्तम खोज मैंने अभी तक नहीं देखी। यूँ तो मन्त्रोंके अर्थों के सम्बन्धमें सम्भवत: कई विद्वानोंमें मतभेद हो सकता है तो भी आर्यसमाजकी दृष्टिसे यह प्रथम प्रयत्न अत्यन्त श्लाघनीय हुआ है। आर्यसमाज पर इस सम्बन्धमें की गई सैद्धान्तिक आपत्तियोंका उत्तर इस निबन्ध द्वारा दिया जा सकेगा। मैं इस परिश्रम, खोज तथा सफलताके लिये श्री पण्डितजीको बधाई देता हूँ।

विश्वनाथ

श्री० पं० बृहस्पतिजी आचार्य्य, गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—

मैंने श्री पं० प्रियरत्नजी (आर्ष) द्वारा लिखित 'यम-पितृ-परिचय' नामक पुस्तकको यत्र-तत्र देखा और उसके विशेष-विशेष स्थलोंको उनके द्वारा ही पढ़वाकर सुना। यह पुस्तक श्री पाद दामोदर सातवलेकर कृत 'यम और पितर' नामक पुस्तकान्तर्गत सूक्तों तथा प्रकीर्ण मन्त्रोंकी उनसे भिन्न दृष्टि तथा शैलीके साथ व्याख्या करनेके लिये लिखी गई है और मेरी सम्मतिमें 'आर्ष' महोदयको उन मन्त्रोंका ब्राह्मणादि वैदिक साहित्यानुकूल व्याख्यान करनेमें अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त हुई है। यद्यपि किन्हीं २ स्थलोंपर, जो संख्यामें अधिक नहीं हैं उनके द्वारा किये गये हुए अर्थोंको मैं स्वाभाविक नहीं समझता और उन शब्दोंके अर्थके सम्बन्धमें अंशत: मतभेद भी रखता हूँ जिसकी बीच २ में चर्चा लेखक महोदयसे करदी गई है, तथापि केवल उन शब्दार्थ सम्बन्धी मतभेदोंके कारण पुस्तककी उपयोगिता और उपादेयता में कोई त्रुटि नहीं आती, क्योंकि वैदिक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन तथा वेद-व्याख्यान की वैदिक भाष्य शैलीका अनुसरण करनेमें लेखक महाशयने सिद्धहस्तता प्रदर्शित की है और उसकी पूर्ण रक्षा करनेका प्रयत्न किया है। किसी एक पूर्ण सूक्तका अर्थ करते समय सूक्तगत मन्त्रोंकी पारस्परिक सङ्गति लगानेमें लेखक महाशयको जो आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई है वह उनके अर्थोंको यथार्थता सिद्ध करनेके लिये एक प्रबल प्रमाण है। मैं उनके इस सराहनीय प्रयत्नके लिये हार्दिक बधाई देता हूँ।

श्री० पं० देवशर्माजी आचार्य, गुरुकुल कांगड़ी—

आपका वह पत्र मिला जिसके अनुसार आपने मुझे श्री पं० प्रियरत्नजी महोदयका वह निबन्ध देख लेनेकी आज्ञादी थी जो कि उन्होंने 'यम-पितर' सम्बन्ध में लिखा है। वह निबन्ध किस दृष्टिसे देखना है यह मैं ठीक २ निश्चय नहीं कर सका। मैंने चार-पांच दिन तक प्रति दिन एक एक घण्टा देकर श्रीमान्य पं० प्रियरत्न जी से उस निबन्धका भाग सुना है मैंने श्री पं० प्रियरत्न जी से निवेदन किया था कि वे जो भाग मुझे सुनाना आवश्यक समझें उतना २ ही सुनादें मेरा यह निवेदन उन्होंने स्वीकार किया, उसीके अनुसार मैंने कुछ-कुछ मुख्यमुख्य भाग सुन लिये हैं। मुझे इस पर केवल दो बातें कहनी हैं।

(१) मेरी सम्मतिमें यह निबन्ध (पुस्तक) खण्डनके तौर पर नहीं लिखा जाना चाहिए, मैंने सुना है कि सार्वदेशिक सभाकी ही यह आज्ञा हुई है कि श्री पं० सातवलेकरजीका प्रत्युत्तर दिया जावे अत एव मान्य पण्डित जी (श्री प्रियरत्नजी) ने उनके खण्डनात्मक ढङ्ग से निबन्ध लिखा है। मुझे तो जहां तक ज्ञान है, श्री पं० सातवलेकरजी ने इस विषयके मन्त्र संग्रह करके और उनका साधारण सा अर्थ दिखला कर रख दिया है कि सब विद्वान् लोग इस विषय पर विचार करें और इस विषयमें कुछ वैदिक सिद्धान्त निर्णय पर पहुँचे तो ये सब पं० सातवलेकरजी से मत-भेद दिखाते हुए भी इस ढङ्गसे लिखी जा सकती थीं जो कि विचार का ढङ्ग है न कि शास्त्रार्थका खण्डन का ढङ्ग।

यह चीज मुझे साफ २ खटकती है। कई जगह खण्डन मेरी समझ में ठीक भी नहीं है जैसे कि ऋक् १०-१५ सूक्त के व्याख्या के बाद श्री० पं० प्रियरत्न जी ने सूक्ष्म शरीरधारी जीवात्माओं के आने और मनुष्यों के कार्यों में सहयोग देने का खण्डन किया है, वह ठीक नहीं है।

(२) दूसरी बात इतनी गम्भीर नहीं है। यह है कि अर्थ में खींचातानी को। पं० सातवलेकर जी की अपेक्षा श्री पं० प्रियरत्न जी के अर्थ पाठकों को कुछ खेंचातानीके लगेंगे। बहुत जगह तो यह खेंचातानी केवल दीखनेवाली ही है वास्तविक नहीं। कोई भी पुरुष जब सङ्गत और सुसम्बद्ध अर्थ करने लगेगा उसके अर्थों में खींचातानी दीखेगी। दूसरा कारण वेदकी भाषा लौकिक भाषा से भिन्न होना ही है पर एक-आध जगह मुझे ऐसा भी लगा है जहां अर्थों में वास्तविक खींचातानी है, यथा "अग्निदग्धाः" "अनग्निदग्धाः" वाला मन्त्र। पर मैं इस दूसरी बातपर जोर नहीं देना चाहता। यह तो जो पं० प्रियरत्नजी ने इतने परिश्रमसे इतनी खोजसे कार्य किया है और इतने मन्त्रों का सुसङ्गत प्रमाणयुक्त अर्थ देनेका बड़ा प्रशंसनीय कार्य

किया है उसके लिये मैं उनका धन्यवाद करता हूँ और कहीं २ के इतने मतभेदको कि फलाना अर्थ खींचातानी वाला है, प्रकट करना अनुचित समझता हूँ। परन्तु पहली बात पर आपका ध्यान आकर्षित करना अपना मुख्य कर्तव्य समझता हूँ।

देवशर्मा

नोट—धर्मार्य्यसभाके सदस्यों ने जो सम्मति स्थिर की है कि पुस्तक 'यम-पितर' के संकेत के साथ खण्डनके रूपमें न रहे किन्तु आक्षेप का स्वतन्त्र रीतिसे विना किसीके संकेतके जिक्र करके उसका समाधान कर दिया जाय, इसको यह सभा भी स्वीकार करती है। अत एव इस पुस्तकका तदनुसार संशोधन करा दिया गया है। (मन्त्री सभा)

श्री० स्वामी हरिप्रसादजी वैदिकमुनि—

श्री पं० प्रियरत्नजी ने अपनी बनाई हुई "यमपितृपरिचय" नामकी पुस्तक का कुछ भाग मुझे सुनाया है। निःसन्देह पं० जी ने बड़े परिश्रमसे यह पुस्तक लिखी है। आपके परिश्रम और अन्वेषणको देखकर चित्त प्रसन्न होता है समझदार व्यक्तियोंको पण्डितजीका उत्साह यथासामर्थ्य बढ़ाना चाहिये जिससे भविष्यमें पण्डितजी तथा दूसरे वेदविद्वान् भी प्रोत्साहित होकर वैदिक साहित्यकी सेवा कर सकें॥

हरिप्रसाद वैदिक मुनि

लेखक के दो शब्द

विद्वद्वृन्द ! सार्वदेशिकसभा ने वेदके यम और पितर प्रकरणका यह कार्य जब मुझे दिया तब मैं इसके सम्बन्धमें यह कुछ न जानता था कि काम सुगम है या कठिन अथवा कब तक पूरा हो सकता है। परन्तु जब मैंने इस कार्यका आरम्भ किया, सायणादिके यावल्लभ्य भाष्यों तथा ब्राह्मणादि ग्रन्थों के तत् २ स्थलों को देख सूक्तों और प्रकीर्णमन्त्रोंके मूलस्वरूप पर विचार करते हुए लिखनेमें मैं प्रवृत्त हुआ तब मुझे प्रतीत हुआ कि यह कार्य महत् कठिन है और इसमें अन्य विद्वानोंका सहयोग अपेक्षणीय है किन्तु दुर्भाग्यसे मुझे अकेले ही इसमें जुटना पड़ा। यदि मैं स्वतन्त्ररीतिसे इस प्रकरण पर लिखता तो पांच वर्ष इसमें अवश्य लगाता प्रत्युत सभाओंके कार्य अल्पकालसाध्य होते हैं अतः मुझेभी बाधित होना पड़ा कि इसको शीघ्रातिशीघ्र पूरा कर सकूं। इसी लिये इसका कच्चा लेख (Rough) आठ मास में तैयार किया और उसका स्पष्टलेख (Fair) करनेमें चार मास लगाये, एवं एक वर्षके लगभग सारा समय इसमें लगा। कार्यकी दृष्टिसे समय थोड़ा ही है जब कि एक हजारसे अधिक मन्त्रोंपर किसीका अनुवाद न करते हुए नई श्रृङ्खला ही सोचनी पड़े। स्वाध्यायमण्डल के विद्वान् ने भी दूसरोंकी सहयोगिताका लाभ लेते हुए उक्त प्रकरणको डेढ़ वर्षमें तैय्यार किया है यद्यपि उसमें अधिकांश सायणभाष्य का अनु-

वाद भासित होता है। अतः यह सम्भव है कि इतने अल्पकालमें क्वचित् २ मन्त्रों पर सन्तोषजनक विचार न कर सका हूँ, विद्वान् जन उन स्थलोंपर स्वयं विचार करके मेरी सहायता करेंगे।

२—इस ग्रन्थमें मैंने चार प्रकरण रखे हैं जो "प्राक्समन्वय, मुख्यशब्दार्थसमन्वय, सूक्तसमन्वय, प्रकीर्णसमन्वय" के नामसे हैं। "प्राक्समन्वय" में लेखक की ग्रन्थ-विषयक भूमिका है "मुख्यशब्दार्थसमन्वय" में इस ग्रन्थमें आये हुए यम आदि मुख्यशब्दोंका प्रामाणिक अर्थसंग्रह सप्रमाण दिया है, "सूक्तसमन्वय" में प्रथम ऋग्वेदान्तर्गत पश्चात् अथर्ववेदान्तर्गत यम और पितर के सूक्तों के अर्थ आदि दिये हैं, "प्रकीर्णसमन्वय" में यमपितृविषयक चारों वेदोंके प्रकीर्ण मन्त्रोंका 'यमलोक-पितृलोक' आदि शीर्षक देकर विचार किया है। प्रत्येक मन्त्रपर संस्कृतार्थ, भाषार्थ, शिक्षा तथा सूक्त या प्रकरणके अन्तमें आवश्यक समालोचना देकर विचार किया है।

३—इस ग्रन्थ के छपने के सम्बन्धमें मेरा संकल्प था कि इसको किसी ऐसे प्रेसमें छपाया जावे जहां पुस्तकें ट्रेडल द्वारा ही छपती हैं और संस्कृत जानने वाले प्रूफरीडर तथा संस्कृत टाइप का प्रबन्ध हो। किन्तु दुर्भाग्य है सभाके बजट ने मेरा साथ न दिया। अत एव पाठकों से यह नम्र प्रार्थना है कि छपाई में मैशीन से जो कोई मात्रा या अक्षर उड़ गया हो अथवा प्रूफरीडिङ्ग की किंवा लेखक की जल्दबाजी और असावधानीसे कहीं अशुद्धि रह गयी हो तो सुधारकर अध्ययन करें और इसके लिये क्षमा करें।

४—प्रथम मैं अन्तर्यामी परमदेव ईश्वर का धन्यवाद करता हूँ जिसकी प्रेरणा और सहायता से मैंने इस कार्य को पूरा किया पुनः इस शिरोमणि सभा का भी धन्यवाद करता हूँ जो 'वेदानुसन्धान' के भार को अपने ऊपर उठाया है। अतः आशा रखता हूँ कि आगे इससे भी अधिक उत्साह तथा कर्तव्यपरायणता से वेदानुसन्धान को अन्य कार्यों के समान आवश्यक समझ कर बढ़ावेगी जिससे वेदों के उपयोगी और महत्वपूर्ण मर्मों का प्रकाश हो सके। इसके उपरान्त श्री मुख्याधिष्ठाता तथा श्री आचार्य गुरुकुल कांगड़ी का और श्री० पुस्तकाध्यक्ष (Librarian) का धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने मुझे गुरुकुलके पुस्तकभवन (Library) में सब प्रकार की सुविधायें प्रदान करके अनुगृहीत किया। "भदावर प्रेस" के श्री प्रबन्धक तथा अन्य कार्यकर्ताओं का भी धन्यवाद करता हूँ जो इस ग्रन्थकी मुद्रण-रीति में मेरे बताए सङ्केतों और अनुमतियोंका यावच्छक्य ध्यान रखते हुए कार्य किया है। इति।

भवदीय—

प्रियरत्न आर्ष

प्राक् समन्वय

वेद आर्य जाति का महामान्य और अति प्राचीन धर्म ग्रन्थ है। अत एव आदि सृष्टि के ब्रह्मा से लेकर सभी ऋषियों और आचार्यों ने धार्मिक तत्वों का निर्णय करने के लिये वेदों का पठन पाठन शुरू किया। एवं ऋषि दयानन्द ने भी उन्हीं वेदों को स्वतः प्रमाण तथा सांसारिक और पारमार्थिक सुख के हेतु धर्मानुष्ठान में परम प्रमाण मानते हुए संसार में वैदिक संस्कृति का प्रचार करने के लिये स्वयं भी बहुविध प्रयत्न किया और आर्यसमाज के वास्ते आदेश रूप में "वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है" यह नियम बना गये।

उक्त मन्तव्य और कर्तव्य का पालन करने के लिये अनेक आर्य विद्वानों और मेरे जैसे विद्यार्थियों ने वेद का पढ़ना आरम्भ किया। परन्तु उनमें से कई एक विद्वानों का ऋषि दयानन्द प्रदर्शित, निर्णीत और स्थापित वैदिक सिद्धान्तों से मत-भेद हुआ। हमारी समझ में इसका यह कारण है कि प्राचीन समय में वेदाध्ययन या वेदार्थ करने की परिपाटी गुरु-शिष्य-परम्परारूप प्रवचन प्रणाली पर निर्भर थी। वेद के प्राचीन आचार्य अपने शिष्यों को सम्मुख बिठला कर मन्त्र-विद्या का उपदेश दिया करते थे "साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः" (निरु० १।२०) किन्तु दीर्घकाल से इस प्रणाली का अभाव हो गया, अतएव वेद के स्वाध्यायी विद्वानों के सम्मुख वेदाध्ययन और वेदार्थ करने में बड़ी कठिनाइयां आती हैं। उन कठिनाइयों को सुलझाने में बहुतेरे विद्वान् तो निराश हो कर बैठ जाते हैं और अनेक विद्वान् स्वसंस्कार तथा पद्धतिभेद के वश वर्तमान पौराणिकवाद का वेद में दर्शन प्रतिपादन और प्रचार करने लगते हैं। अपि तु लोकरूढ़ शब्दों और लोक भाषा के आधार पर अपने वैदिक अनुसन्धान को निर्भर कर देते हैं। अर्थ के सम्भव और असम्भव होने की अपेक्षा नहीं करते। वेद तो क्या साधारण मनुष्यों का वाक्य समझने के लिये भी आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य पर ध्यान देना होता है। मेरी समझ में वेद का मन्तव्य समझने के लिये वेद के नाम पर ही ध्यान रखते हुए वेदार्थ करना उचित होगा

अर्थात् वेद-ज्ञान-विद्या और निर्बाध सत्यता को कहते हैं। यही स्थापना ऋषि दयानन्द की है "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है और जो असम्भवादि दोषों से रहित है" वरन् वैदिक शब्दों के अर्थ-निर्णय में विद्वानों से भूल हो जाना स्वाभाविक है। वेद तो क्या संस्कृत के प्राचीन शास्त्रों तक के अनेक सिद्धान्तों का सामयिक विद्वान् निर्णय नहीं कर सके। वाल्मीकीय रामायण के अनेक वाद मिथ्यारूप में संसार में प्रकटित हैं क्योंकि विद्वानों ने लोक प्रसिद्ध शब्दार्थ के आधार पर उन वादों का प्रकाश किया है। उदाहरण के रूप में रामायण का एक वाद आपके सम्मुख रखते हैं। वह यह कि हर एक विद्वान् और साम्प्रदायिक जन इस बात को मानता और कहता है कि श्री रामचन्द्र जी ने हरिण मारे थे, ऐसा वाल्मीकीय रामायण का वाद है। प्रतिकूल इसके हमारा मन्तव्य है कि श्री रामचन्द्र जी ने हरिण नहीं मारे। इस वाद को हम इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि रामायण में मृग मारने की चर्चा अवश्य है किन्तु मृग शब्द का अर्थ वर्तमान भाषा-पद्धति के अनुसार हरिण नहीं लेते प्रत्युत सिंहादि जंगली जानवरों को मृग कहते है। उनको श्री रामचन्द्र जी ने मारा, यह उनका क्षात्रधर्म था क्योंकि वह राजकुमार थे। जैसे रावण आदि से युद्ध करके अपने क्षात्रधर्म का परिचय दिया एवं सिंहादि जङ्गली जानवरों को मार कर अपने क्षात्रधर्म का पालन किया। मृग शब्द का अर्थ सिंहादि जंगली जानवर है। इसके लिये कुछ प्रमाण दिये जाते हैं—

१—आजकल के राजा आदि लोग जो जङ्गल में जाकर शिकार करते हैं सा पहले भी किया करते थे, इसको संस्कृत में मृगया कहते हैं। इसमे भी स्पष्ट होता है कि मृग शब्द का अर्थ सिंह आदि जंगली जानवर है।

२—मैं जब सब से प्रथम पर्वत-यात्रा में गया था तो कांगड़ा प्रान्त के धर्मशाला पर्वतीय नगर में पहुँचा। वहां के लोग कहने लगे कि आप ऊपर वाली सड़क पर घूमने न जाना, क्योंकि उधर मृग आगया है। मुझे यह बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि मृग आगया तो कौन बड़ी बात है क्योंकि मेरे मन में भी उस समय तक मृग का अर्थ हरिण ही बसा हुआ था किन्तु उनसे वार्तालाप करने पर ज्ञात हुआ कि ये पर्वतीय लोग चीते को मृग कहते हैं।

३—संस्कृत साहित्य में 'मृगेन्द्र' शब्द सिंह के लिये प्रयुक्त होता है, जैसे नरों के मध्य जो नर राजा है वह 'नरेन्द्र' है एवं मृगों में जो मृग राजा है वह मृगेन्द्र है।

४—"मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः" (ऋ० १ । १५४ । २) इस मन्त्र में मृग के समान भयङ्कर होने की उपमा है। यास्क मुनि और दुर्गाचार्य ने भी ऐसा ही स्वीकार किया है।

अब हम वाल्मीकीय रामायण से भी यह बतलावेंगे कि मृग शब्द का अर्थ सिंहादि जंगली जानवर है।

५—"सोऽहं वाससहायस्ते भविष्यामि यदीच्छसि। इदं दुर्गं हि कान्तारं मृगराक्षससेवितम्। सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे॥" (अरण्यकांड सर्ग १४ श्लोक ३३) जटायु राम से कहता है कि हे राम ! मैं तेरे वनवास का सहायक बनूंगा यदि तू चाहता है। यह जङ्गल मृगों और राक्षसों से भरा हुआ होने से दुर्गम्य है। आप लक्ष्मण सहित जब बाहर जावेंगे तब मैं सीता की अवश्य रक्षा करूंगा।

लेखक—इस वचन में राक्षसों के साथ मृग शब्द होने तथा उस से सीता की रक्षा करने का प्रसङ्ग आने से सिंह आदि भयानक पशु के अर्थ में मृग शब्द का प्रयोग है।

"दीर्घजिह्वो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो महाबलः। व्यचरं दण्डकारण्यं मांसभक्षो महामृगः" (अरण्यकाण्ड। सर्ग ३९। श्लो० ३) मारीच महाशय ने मायिक मृग का रूप कैसा धारण किया था उसका इस श्लोक में वर्णन है कि तड़फड़ाती हुई जिह्वा वाला, बड़े शरीर का, तीक्ष्ण दांतों वाला, बड़ा बलवान और मांसभक्षी ज़बर्दस्त मृग बनकर दण्डकारण्य में विचरता था।

इत्यादि अनेक प्रमाण मिल सकते हैं, सन्तोष के लिये इतने ही पर्याप्त हैं। इन प्रदर्शित प्रमाणों से इस वाद का पूर्ण रूप से निरस्कार सिद्ध हुआ कि श्री रामचन्द्र जी ने हरिण मारे थे।

स्वाध्यायि-वृन्द को उपर्युक्त वाद के स्पष्टीकरण से यह भली प्रकार समझ में आ गया होगा कि निःसन्देह वैदिक सिद्धान्तों के निर्णय और वेदार्थ करने के लिये तो लोक रूढ़ शब्दों और लोक प्रसिद्ध वादों का आश्रय लेना उचित नहीं है। प्रत्युत अष्टाध्यायी आदि वेदाङ्गों, उपाङ्गों और ब्राह्मण ग्रन्थों की अर्थ प्रक्रिया के आधार तथा वैदिक विद्याओं के समन्वय के साथ वेदार्थ करना उचित है। अस्तु।

हमारी इस प्रस्तुत लेखावली में चारों वेदों के प्रायः उन सभी सूक्तों और प्रकीर्ण मन्त्रों पर विचार किया जावेगा जिनमें यम और पितरों की विशेष चर्चा है क्योंकि इस विषय में स्वाध्याय मण्डल औन्ध से भी एक ग्रन्थ "यम और पितर" नाम से निकला है। हमने इस ग्रन्थ का भी आद्योपान्त अवलोकन भली प्रकार किया है। हमें

बहुतेरे मन्त्र सृष्टि क्रम और खगोल विद्या (ज्योतिष्) सम्बन्धी तथा शरीर विज्ञान के प्रदर्शक प्रतीत होते हैं। ग्रन्थकर्ता ने उन स्थलों पर हमारी समझ में विशेष विचार नहीं किया उनके अर्थों में पौराणिक वाद मिलता है। अपि तु क्वचित् २ प्रदीप प्रकाश तुल्य यास्क आदि महर्षि कृत प्रकरण प्रदर्शक मन्त्रार्थों के उपलब्ध होते हुए भी उचितार्थ करने में प्रयत्न नहीं किया, अपि तु विरोध दर्शाया है। इस प्रकार की उपेक्षा और विरोध ग्रन्थकर्ता के निम्न शब्दों से भी प्रकट है जो कि ऋग्वेद मण्डल १०। सूक्त १३५ की व्याख्या करते हुए लिखे हैं—

"इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता यम है। यम का अर्थ इस सूक्त में क्या है यह एक विचारणीय विषय है। यास्काचार्य ने निरुक्त में इस मंत्र में आये हुए यम का अर्थ आदित्य किया है। निरु १२। १६। परन्तु इस स्थापना के अनुसार सम्पूर्ण सूक्त लगाना पर्याप्त कठिन है" (यम और पितर पृ० १२८)

लेखक—जब कि यास्क महर्षि ने इस सूक्त में आये हुए यम का अर्थ आदित्य किया है तब ग्रन्थकर्ता का यह लिखना कि "यम का अर्थ इस सूक्त में क्या है" ठीक नहीं है। न केवल इतना ही अपि तु इस के संग्रह में भी असावधानी से काम लिया है। क्वचित् २ क्रिया पद को नामपद समझ लिया है। उदाहरणतः हम एक मंत्र नीचे उद्धृत करते हैं।

"अहमत्कं कवये शिश्नथं हथैरहं कुत्समावमाभिरूतिभिः। अहं शुष्णस्य श्नथिता वधर्यमं न यो रर आर्यं नाम दस्यवे॥" ऋ० १०। ४६। ३॥

(यम और पितर पृष्ठ १७)

इस मन्त्र में 'यमम्' सर्वानुदात्त पद है जो कि "तिङ्ङतिङः" (अष्टा०। ८। १। २८) सूत्र से हुआ है, अत एव यह क्रियापद है। इसका कर्ता 'अहम्' पद है। इस मन्त्र में 'शिश्नथम्' 'आवम्' भी उक्त रीति से सहयोगी क्रियापद हैं। सायणाचार्य ने भी 'यमम्' को क्रियापद ही समझकर 'नियमितवान्' अर्थ किया है किन्तु आप ने "यम के कार्य" के शीर्षक में इस मन्त्र का संग्रह किया है जिसमें 'यम' का लेश भी नहीं है। किसी वैदिक विद्वान् से ऐसी भूल होना शोभा नहीं देता।

अच्छा होता यास्कमुनि आदि प्रदर्शित वेदार्थ की आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इस त्रिविध दृष्टि के अनुसार यदि वैदिक विद्वान् मन्त्रार्थ करते जिस त्रिविध दृष्टि का ऋषि दयानन्द ने भी स्वीकार और पुनरुद्धार किया है वेदों की महत्ता और विद्याविकास का हेतु भी वस्तुतः उक्त त्रिविध दृष्टि ही है। अस्तु। अब इस के अनन्तर हम प्रथम इस 'यम और पितर' प्रकरण में आए हुये मुख्य शब्दों का "मुख्य शब्दार्थ समन्वय" प्रस्तुत करते हैं।

मुख्यशब्दार्थसमन्वय

इस "यम और पितर" प्रकरण में आये हुए मुख्य शब्द 'विवस्वान, यम, यमलोक, पितर, पितृलोक, द्यौः-द्युलोक, स्वः-स्वर्गलोक, स्वधाः, हविः, नमः, ये दस शब्द हैं जिनके अर्थों पर उक्त ग्रन्थ का निर्भर है। प्राचीन वैदिक ग्रन्थों तथा अन्य कोश आदि प्रामाणिक पुस्तकों में आये हुये उक्त विवस्वान् आदि शब्दों के अर्थ सप्रमाण निम्न प्रदर्शित हैं जिनको यथा प्रकरण हमारे इस ग्रन्थ में पाठक

विवस्वान्—

विवस्वान्=सूर्य "अपामुपस्थे···विवस्वत आदित्याद्विवस्वान्विवासनवान्" (निरु० ७ । २६)

"असौ वाऽऽदित्यो विवस्वानेष ह्यहोरात्रे विवस्ते तमेष वस्ते सर्वतो ह्येनेन परिवृतः" (श० १० । ५ । २ । ४)

यमः—

(१) यम=काल time "विवस्वन्तं हुवे यः पिता ते" (ऋ० १० १४ । ५)

विवस्वान् का पुत्र यम है ऐसा इस वैवस्वत यमसूक्त में कहा है अतः विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र अर्थात् सूर्य से उत्पन्न होने के कारण 'यम' का अर्थ काल है। और सूर्य-सिद्धान्त में सूर्य को काल का उत्पन्न करने वाला कहा भी है "कालकृत्" (सूर्य सिद्धान्त १२ । १८)

शब्दकल्पद्रुम में भी यम का काल अर्थ दिया है। जहां जहां वैवस्वत विशेषण हो वहां २ यम का अर्थ काल समझना उचित है। पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के व्यवहार में "यम-यमी" का अर्थ दिन-रात समझना चाहिये।

(२) यम=आदित्य "यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे ···यमो रश्मिभिरादित्यः (निरु० १२ । २९)

"एष वै यमो य एष (सूर्यः) तपत्येष हीदं सर्वं यमयत्येतेनेदं सर्वं यतम्" (श० १४ । १ । ३ । ४)

(३) यम=वायु "अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते (श० १४ । २ । २ । ११)

(४) यम = अग्नि "अग्निरपि यम उच्यते" (निरु० १० । २०)
"अग्निर्वाव यमः" (गो० उ० ४ । ८)

(५) यम = धर्म "ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्ध्यानं सत्यमकल्कता । अहिंसा स्तेयं माधुर्यं दमश्चैते यमाः स्मृताः" (गरुडे तु तस्य दशविधत्वमुक्तम्- शब्द-कल्पद्रुम) "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्" (मनुः ६ । ६२)

मनु के श्लोक में धर्म के दश लक्षण कहे, गरुड़ पुराण में यम के नाम से उक्त मनु श्लोक के सदृश दश धर्माचरणों का वर्णन है । अत एव यम से धर्म अर्थ लेना युक्त है ।

(६) यम = अहिंसादि योगाङ्ग "तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" (योग० २ । ३०)

(७) यम = राजपुरुष आदि कर्मचारी "कर्मकरः" (शब्दकल्पद्रुम)

(८) यम = नियमन (व्रत या शासन) "यम उपरमे" (भ्वादि) यमधातु से "यमः समुपनिविषु च" (अष्टा० ३ । ३ । ६३) से भाव में अप् प्रत्यय ।

(९) यम = ईश्वर "अज्विधिः सर्वधातुभ्यः" कर्ता के अर्थ में यम ईश्वर का वाचक हुआ जो समग्र विश्व को स्ववश तथा अधिकार में रखता है ।

(१०) यम = राजा पूर्वोक्त प्रमाण से ही राजा के अर्थ में भी यम शब्द होता है क्योंकि राजा भी स्वराष्ट्र का नियन्त्रण तथा प्रजा को पाप कर्म का दण्ड देकर स्ववश करता है ।

यमलोकः—

(१) यमलोक = पृथिवी (अग्नि का लोक) यम के अर्थों में (५, ३, २) अग्नि,
(२) यमलोक = अन्तरिक्ष (वायुका लोक) वायु, आदित्य को यम कहते हैं। इनके
(३) यमलोक = द्यौः (सूर्य का लोक) लोकों का 'यमलोक' नाम है ।

(४) यमलोक = न्यायमन्दिर—यम का अर्थ (१०) में राजा है, उसका या राज-सत्ता का स्थान यमलोक कहलाता है ।

(५) यमलोक = कालचक्र—यम का अर्थ (१) में काल है अतएव उसका चक्र यम-लोक है ।

विज्ञप्तिः—उक्त यमलोक के अर्थों में प्रकरण नियामक है अर्थात् जब उत्पत्ति के प्रकरण में हो तो उसका अर्थ पृथिवी होग क्योंकि पृथिवी ही उत्पत्ति का

आश्रय स्थान है। वस्तु विनाश अर्थात् उत्पत्ति के प्रतिकूल मरण वस्तु-विच्छेद के अवसर में यमलोक का अन्तरिक्ष अर्थ है क्योंकि वस्तु विच्छिन्न होकर प्रथम अन्तरिक्ष में जाती है तथा उत्पत्ति और नाश से पृथक् अवस्था अर्थात् उत्पत्ति और नाश से रहितता तथा उत्पत्ति और नाश के मध्यवर्ती प्रकरण अर्थात् मर कर उत्पत्ति से पूर्व पुनरुत्पत्ति शक्ति-सम्पादनार्थ प्रसङ्ग में यमलोक का अर्थ द्यौ-द्युलोक सूर्य का लोक लेना उचित है। इसी प्रकार न्याय या शासनके अवसर पर यमलोक से न्यायमन्दिर (High-court) अर्थ समझना चाहिये।

पितरः—

(१) पिता=सूर्य "एष वै पिता य एष (सूर्यः) तपति" (श० १४ । १ । ४ । १५)

(२) पिता=संवत्सर "पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्त चक्रे षडर आहुरर्पितम्॥

(ऋ० १ । १६४ । १२)

"संवत्सरः संवसन्ते ऽस्मिन् भूतानि॥······तं संवत्सरं सर्वमात्राभिः स्तौति······षडर आहुरर्पितम्॥ इति षड्ऋतुतया अराः प्रत्यृता नाभौ॥ (निरु० ४ । २७)

"संवत्सरो वै प्रजापतिः······तदेष श्लोकः। पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्ये उ परे विचक्षणं सप्त चक्रे षडरे आहुरर्पितमिति॥ (प्रश्नोपनि० १ । ११)

(३) पिता=प्राण "प्राणो वै पिता" (ऐ० २ । ३८) 'बहुवचने पितरः=प्राणाः' इति च विज्ञेयम्।

(४) पिता=पर्जन्य या पर्जन्ययुक्त द्युस्थान "पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।

(अथर्व १२।१।१२)

"द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्। उत्तानयोश्चम्वो योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥ (ऋ० १।१६४।३३) निरुक्तं चात्र "द्यौर्मे पिता पाता वा पालयिता वा······पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः॥ (निरु० ४ । २१)

(५) पिता=जनक-प्रसिद्ध है तथापि "जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति।"

(६) पितरौ=माता पिता "पिता मात्रा" (अष्टा० १ । २ । ७०) दोनों एक विभक्ति में मिलकर 'माता च पिता च पितरौ' द्विवचन में होता है

(७) पितरौ = द्यावा पृथिवी "द्यौर्मे पिता······माता पृथिवी महीयम्" (ऋ० १।१६४।३३)

(८) पितरः = जनक-उपनयनकर्ता-गुरु-अन्नदाता-भयत्राता "जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति । अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः"

(चाणक्य नीति ६ । २२)

(९) पितरः = पालक जन "पिता पाता वा पालयिता वा" बहुवचने "पितरः पातारो वा पालयितारो वा" (निरु० ४ । २१)

(१०) पितरः = ज्ञानी जन "कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषसः कत्युस्विदापः । नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मनेकम्"

(ऋ० १० । ८८ । १८)

(११) पितरः = सैनिक जन "स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रे श्रिताः शक्तिवन्तो गभीराः । चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतो वीरा उरवो व्रातसाहाः" (ऋ० ६ । ७५ । ९)

यह संग्रामसूक्त का मन्त्र है। इस सूक्त में वर्म, धनुः, ज्या, आर्त्नी, इषुधि, सारथि, रश्मियां, अश्व, रथ और रथगोपा आदि देवता हैं। इस उपस्थित मंत्र का देवता रथगोप पितर हैं अतः प्रकरणवश इस मन्त्रमें आया पितर शब्द सेनानायक जनों का अर्थ रखता है

(१२) पितरः = पूर्वज कुटुम्बी जन प्रसिद्ध हैं।

(१३) पितरः = सूर्य रश्मियां "अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः। मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥

(ऋ० ९ । ८३ । ३)

यहां सायण ने भी पितर का अर्थ सूर्य किरण किया है "पितरः पालका देवाः पितरो जगद्रक्षका रश्मयः" (ऋ० ९ । ८३ । ३)

(१४) पितरः = ऋतुएं "ऋतवः पितरः" (कौ० ५ । ७ ।)

"ऋतवो वै पितरः" (श० २ । ६ । १ । ३२)

"षड् वा ऋतवः पितरः" (श० ९ । ४ । ३ । ८)

(१५) पितरः = चन्द्र लोक निवासी "रविवर्षार्धं देवाः पश्यन्त्युदितं रविं तथा प्रेताः । शशिमासार्धं पितरश्शशिगाः कुदिनार्धमिह मनुजाः ॥" (आर्यभट्ट ज्योतिष् ग्रन्थ) गीतिका पाद (श्लोक १७)

इस पर श्री परमेश्वराचार्यकृत संस्कृत टीका में "शशिगाःशशि-मण्डलोर्ध्वभागगताः पितरश्शशिमासस्यार्धं रविं पश्यन्ति" इसका हिन्दी भाष्य क्षत्रिय कुमार श्रीमद् उदयनारायण वर्मा ने इस प्रकार किया है कि "और पितर गण (चन्द्रलोक निवासी) चन्द्र मास से आधे भाग पर्यन्त सूर्य को देखते हैं"

(१६) पितर:=उत्पत्ति के निमित्त वा दुःख से बचाने वाले पदार्थ "विशेषण रूप में ही धातुज अर्थ आयुर्वैदिक प्रकरण में।

(१७) पितर:=वसु "वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्। प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी॥" (मनुः ३। २८४)

पितृलोक—

(१) पितृलोक=द्युलोक (सूर्य लोक) तृतीये वा इतो लोके पितरः"
(तै० १।३।१०।५)

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः इनमें तृतीय संख्या द्युलोक की होने से द्युलोक तृतीय लोक है।

(२) पितृलोक=सोम "पितृलोकः सोमः" (कौ० १६। ५)

(३) पितृलोक=सूर्य "संवत्सर का नाम पिता देखो (पितर सं० २) अतः संवत्सर का लोक सूर्य होने से पितृलोक सूर्य है।"

"पितर सूर्य रश्मियों का नाम है (सं० १३) अतः रश्मियों का लोक सूर्य होने से पितृलोक सूर्य है।"

(४) पितृलोक=चन्द्रलोक "चन्द्र लोक निवासी पितर कहलाते हैं (देखो सं० १५) अतः उनका लोक चन्द्र लोक पितृलोक हुआ।

(५) पितृलोक=स्वपितृकुल "माता, पिता तथा अन्य वृद्ध कुटुम्बी जन पितर हैं (सं० १२) उनका कुल या निवास पितृलोक है।" यथा "उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकान् पतिं यतीः। अवदीक्षामसृक्षत स्वाहा" (अथ १४। २। ५२)

द्यौः—द्युलोक—

(१) द्यौः=दिन "द्यौरहर्नाम" (नि० १। ६)

(२) द्यौः=मेघमण्डल "असौ वा (द्युः) लोकः समुद्रो नभस्वान्"
(श० ६। ४। २। ५)

"द्यौर्वाऽपां सदनं दिवि ह्यापः सन्नाः" (श० ७। ५। २। ५६)

स्वः—स्वर्लोक—

(१) स्वः = जल-उद्क "स्वरुदकनाम" (नि० १ १२)

(२) स्वः = अन्तरिक्ष "स्वरन्तरिक्षनाम" (कौत्स्यमुनि कृत निघण्टु)

(३) स्वः = आदित्य "स्वरादित्यो भवति सु-अरणः, सु-ईरणः । स्वृतो रसान् । स्वृतो भासं ज्योतिषाम् । स्वृतो भासेति वा" (निरु० । २ १४)

(४) स्वः = सुख "प्रसिद्ध" स्वर्ग = सुख प्रापक स्थान "यत्रा सुहार्दः । सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः । अश्लोणा अङ्गैरहुता स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्" (अथ० ६ । १२० । ३)

स्वधाः—

विज्ञप्ति—स्वधा शब्द की दो परिस्थितियां हैं एक अव्यय की और दूसरी नाम वाचकता की । नाम वाचक परिस्थिति में विभक्तियों का परिणाम होगा । स्वधा शब्द "स्वस्ति, स्वधा, अलम्" (स्वरादिगण-गणपाठ) में पढ़ा हुआ होने से इसकी एक परिस्थिति अव्यय की है । नाम वाचक परिस्थिति में (उणादि ४ । ७५) से (स्वद आस्वादने) से तथा "आतोऽनुपसर्गे कः" (अष्टा० ३ । २ । ३) से स्वधा शब्द सिद्ध होता है ।

अव्यय दशा में—

(१) स्वधा = उपहार-भेंट-समर्पण-सत्कार "नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" (अष्टा० । २ । ३ । १६) इस सूत्र मे "नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् , वषट्" ये छ शब्द अव्यय हैं जिनका विनियोग में वर्तन होता है और उस अवस्था में जिसके लिये इन का विनियोग होता है उसमें चतुर्थी विभक्ति हो जाती है । विद्वानों के लिये नमः का विनियोग "नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः (मुण्डको० ३ । २ । ११) अथवा सामान्य शिष्टाचार में 'नमस्ते' 'स्वस्ति' शिष्यों, पुत्रों तथा प्रिय व्यक्तियों के लिये प्रेम और दया के द्योतन में "स्वस्ति शिष्याय, स्वस्ति पुत्राय" 'स्वाहा' शब्द द्वारा अग्नि में वस्तु प्रक्षेप "अग्नये स्वाहा" स्वधा के द्वरा पितरों, पालक जनों का सत्कार तथा उपहार भेंट देना "स्वधा पितृभ्यः" बराबर वालों के प्रसङ्ग में 'अलम्' का प्रयोग होता है "अलं वीरो वीराय" । अतः जहां कहीं स्वधा शब्द

अव्यय की दशा में हो वहां पर ही स्वधा शब्द का अर्थ उपहार-भेंट-समर्पण-सत्कार का समझना चाहिये।

नाम वाचक होने पर—

(२) स्वधा=शरद् ऋतु "स्वधा वै शरद्" (श० १३। ८। १। ४)

(३) स्वधा=उदक-जल "स्वधा उदकनाम" (नि० १।१२)

(४) स्वधा=अन्न "स्वधा अन्ननाम" (नि० २। ७) तथा (कौत्स निघण्टु)

(५) स्वधा=स्वधारण शक्ति, प्रकृति-स्वभाव "आतोऽनुपसर्गे कः" (अष्टा० ३। २। ३) 'स्वं दधातीति' स्वधा। उक्तार्थ और नामवाचकता में प्रमाण यह है—"आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम्" (ऋ० १। ६। ४)

"अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येन सयोनिः" (ऋ०१।१६४।३८)
(अथ० ६। १०। १६)

(६) स्वधे=द्यावापृथिवी "स्वधा द्यावापृथिवीनाम" (नि० ३। ३०)

(७) स्वधाः=अन्नादि विविध स्वादु पदार्थ "ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधाःस्थ तर्पयत मे पितॄन् (यजुः २। ३४)

हविः—

(१) हविः=उदक-जल "हविरुदक नाम" (नि० १।१२) तथा (कौत्समुनिकृत निघण्टु)

(२) हविः=होतव्य घृतादि वस्तु। "प्रसिद्ध" है।

(३) हविः=दातव्य अन्नादि वस्तु। 'हु दानादनयोः' से दानार्थ में 'हविः' रूप बनता है।

(४) हविः=खाद्य मिष्टान्न आदि। 'हु दानादनयोः' से अदनार्थ में 'हविः' रूप बनता है।

(५) हविः=स्वानुकूल ग्राह्य पदार्थ। 'आदाने चेत्येके' से ग्रहणार्थ में 'हविः' रूप बनता है।

नमः—

(१) नमः=सत्कार-आत्मसमर्पण (देखो स्वधा सं० १)

(२) नमः=अन्न "अन्नं नमः" (श० ६। ३। १। १७)
"नमोऽन्ननाम" (नि० २। ७) तथा (कौत्समुनिकृतनिघण्टु)

(३) नमः=यज्ञ "यज्ञो वै नमः" (श० ७। ४। १। २०)

(४) नमः=वज्र (नि० २। २०)

विशेष—प्रामाणिक तथा उचित इतने अर्थों के विद्यमान होते हुए यदि कोई वैदिक विद्वान् यम, पितर आदि शब्दों के अर्थ पुराणोक्त कल्पित वादों में लेते और करते हैं तो यह उनका आग्रह ही हो सकता है। हम अपने इस ग्रन्थ में ऊपर वर्णित अर्थ-शृङ्खला के आश्रय से यथाप्रसङ्ग अर्थ करेंगे। पाठक इस बात का स्वयं परिचय कर सकेंगे।

आश्चर्य की बात तो एक यह है कि निरुक्त में जहां २ यम और पितर शब्द आये हैं वहां कहीं पर भी यास्क महर्षि ने 'यम' का अर्थ प्रेतों (मरे हुओं) का अधिष्ठाता कोई यमलोकवासी और 'पितर' का अर्थ 'मरे हुए जन' नहीं किया और न ही नैरुक्त सिद्धान्त उक्त पुराणवादी अर्थ को मानता है।

(प्रश्न) मन्त्रों में 'अग्निष्वात्त' और 'निखात' आदि पितरों से क्या अभीष्ट है? अन्य विद्वान तो 'अग्निष्वात्त' का 'अग्नि से जिनका अन्त्येष्टि संस्कार हुआ हो ऐसे मरे हुए प्रेतजन' और 'निखात' का 'भूमि में गाढ़े हुए मरे प्रेतजन' अर्थ लेते हैं।

(उत्तर) उन के ऐसा अर्थ लेने में क्या प्रमाण है?

(प्रश्न) 'निखात' के लिये तो कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है किन्तु 'अग्निष्वात्त' के लिये यह है "यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः" (श० २। ६। १। ७) (यान्) जिनको (अग्निः) अग्नि (एव) ही (दहन्) जलाती हुई (स्वदयति) स्वाद लेती है (ते) वे (पितरः) पितर (अग्निष्वात्ताः) अग्निष्वात्त हैं।

भावार्थ—जिनको अग्नि जलाती हुई स्वाद लेती है वे पितर 'अग्निष्वात्त' कहलाते हैं। जब 'अग्निष्वात्त' का अर्थ 'अग्नि में जले हुए पितर' सिद्ध हुए तो 'निखात' का अर्थ 'भूमि में गढ़े हुये पितर' लेलेना उचित होगा।

(उत्तर) उक्त 'अग्निष्वात्त' और 'निखात' आदि से मन्त्रों में क्या अभीष्ट है इसका विशेष विवरण तो मन्त्र भाष्य प्रकरण में देंगे तथापि प्रसङ्गतः यहां हम यह अवश्य बतला देते हैं कि जो विद्वान् 'अग्निष्वात्त' और 'निखात' आदि के ऊपर प्रदर्शित अर्थ लेते हैं वे मिथ्या हैं। एक प्रमाण आपने 'अग्निष्वात्त' के लिये दिया 'निखात' के लिए नहीं। 'निखात' के लिये प्रमाण है भी नहीं और न ही 'निखात' पितरों का कोई प्रकार ब्राह्मण आदि ग्रन्थों ने स्वीकार किया है किन्तु निरुक्त, ब्राह्मण और उपनिषदों में 'निखात' शब्द का प्रयोग भी नहीं है। उनकी प्रतिज्ञा तो केवल तीन प्रकार के पितरों के मानने की है "त्रयो वै पितरः सोमवन्तः, बर्हिषदः, अग्निष्वात्ताः 'सोमवताम्-बर्हिषदाम्-अग्निष्वात्तानाम्" (श० ४। ४। ४। २८) सोमवान्, बर्हिषद् और अग्निष्वात्त ये तीन ही पितर माने हैं अतः निखात का प्रश्न तो हो ही नहीं

सकता, रह गया 'अग्निष्वात्त' का निर्णय. सो हम अकेला 'अग्निष्वात्त' ही नहीं किन्तु इन तीनों सोमवान्, बर्हिषद् और अग्निष्वात्त पर विचार करेंगे। 'अग्निष्वात्त' के लिये जो प्रमाण "यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते ऽग्निष्वात्ताः" दिया है उसका अर्थ बिलकुल गलत किया है, इसके अन्वय को भी नहीं समझा। केवल शब्दार्थ ही करके सन्देह में पड़ गए। भावार्थ में शब्दार्थ ही रख दिया किन्तु "एव" शब्द का अर्थ भी उड़ा दिया। देखो! इस वचन को अन्वय के साथ रखो और थोड़ी देर के लिये 'स्वदयति, सु-अदयति, सुभोजयति-अद भक्षणे' मान कर अर्थ करो अर्थात् 'अग्निरेव दहन् यान् स्वदयति (सु-अदयति सुभोजयति) तेऽग्निष्वात्ताः' (अग्निरेव दहन्) अग्नि ही जलती हुई अर्थात् सिर्फ अग्नि जलती हुई यानी घृत सामग्री से रहित हुई अग्निमात्र जलती हुई* (यान् स्वदयति) जिनको निरन्तर या उत्तमोत्तम भोज खिलाती है वे 'अग्निष्वात्त' कहलाते हैं। भाव यह है जो लोग अग्नि में होम नहीं करते किन्तु उसमें भोजन पका २ कर ही खाया करते हैं वे 'अग्निष्वात्त पितर' हैं। आपके अर्थ में तीन दोष थे—(१) अन्वयानुकूल अर्थ न होना (२) 'एव' शब्द का अर्थ न करना और न घटाना (३) 'शास्त्र समन्वय' जिसको हम नीचे दिखलाते हैं—

यज्ञ के सम्बन्ध में तीन प्रकार के पितरों की संज्ञायें बांधी हैं। सोमवान् और बर्हिषद् पितर तो अग्नि में होमने अर्थात् यज्ञ करने वाले पितर हैं और 'अग्निष्वात्त पितर' वे हैं जो अग्नि में कुछ भी न होम कर अर्थात् यज्ञ न करके केवल उस अग्नि में भोजन पका २ कर खाया करते हैं। इन तीनों पितरों के ये परिभाषिक नाम एक ही प्रकरण में शतपथ में दिये हैं। "तद्ये सोमेनेजानाः। ते पितरः सोमवन्तः। अथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदः॥ अथ ये ततो नान्यतरच्चन यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः" (श० २। ६। १। ७)

अर्थ—सोम से यज्ञ करने वाले पितर सोमवान, पाक यज्ञ करने वाले बर्हिषद् और जो इन दोनों में से किसी एक को भी न करने वाले यानी यज्ञविहीन होकर अग्नि में भोजन पका २ कर ही खाते रहते हैं वे अग्निष्वात्त हैं। उक्त तीनों वचनों का समन्वय तैत्तिरीय ब्राह्मण में देखिये—

"सोमप्रयाजाः पितरः॥ ये वै यज्वानः, ते पितरो बर्हिषदः॥ ये वा अयज्वानो गृहमेधिनः, ते पितरोऽग्निष्वात्ताः॥" (तै० १। ६। ६। ६)

---

* यहां "अग्निरेव दहन्" प्रयोग में 'एव' शब्द के कारण 'दह्' धातु अकर्मक है। न केवल हमने ही दह् धातु को अकर्मक माना है अपितु शब्दकल्पद्रुम में भी अकर्मक माना है और वहां 'कविकल्पद्रुम' का भी उल्लेख किया है।

अर्थ—सोम प्रयाज पितर, जो यज्ञ करने वाले पितर हैं वे बर्हिषद् और जो यज्ञ न करने वाले गृहस्थ जन हैं वे अग्निष्वात्त पितर हैं ।

तैत्तिरीय के इन तीन वचनों से शतपथ के वचनों का समन्वय इस प्रकार है—

"तद्ये सोमेनेजानाः, ते पितरः सोमवन्तः = सोमप्रयाजाः पितरः (सोमवन्तः)"

"अथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदः = ये वै यज्वानः ते पितरो बर्हिषदः"

"अथ ये न ततोऽन्यतरच्चन यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः = अयज्वानो गृहमेधिनः ते पितरोऽग्निष्वात्ताः"

इस लिये 'अग्निष्वात्त' का अर्थ 'अग्नि में जलाये मृत पितर' लेना सर्वथा अनुचित है । मन्त्रों में अग्निष्वात्त के वास्तविक अर्थ क्या हैं यह यथा प्रकरण हम दर्शावेंगे । यहां पर तो केवल उक्त भ्रान्ति को दूर करना ही ध्येय था । अस्तु ।

इससे अगला प्रकरण सूक्त समन्वय होगा जिसमें यम और पितरों के सूक्तों का अर्थ मन्त्रों की परस्पर सङ्गति से किया जावेगा ॥

सूक्तसमन्वय

इस प्रकरण में हम उन सूक्तों को अर्थ सहित तथा मन्त्रों के पारस्परिक सम्बन्ध के साथ लिखेंगे जिनका भारतीय सामयिक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में प्रेत, यम और पितर को सम्बोधित करके पौराणिक वाद में विनियोग किया है तथा सायण आदि भाष्यकर्ताओं ने अन्त्येष्टि अर्थात् प्रेतदहन क्रिया में विनियोगपरक अर्थ दर्शाया है। हम इस विनियोग के सम्बन्ध में एक बात यह कहना चाहते हैं कि ईश्वर की ओर से मन्त्र रचना विनियोग के लिये नहीं हुई किन्तु वेद विद्या के ग्रन्थ हैं अत एव मन्त्रों से किन्ही एक विद्याओं का प्रकाश तथा बोध प्राप्त करना ध्येय है। पुराने आचार्यों ने यदि किसी सूक्त या मन्त्र का किसी संस्कार या कर्म विशेष में विनियोग कर भी दिया है तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह सूक्त या वह मन्त्र अमुक संस्कार या अमुक कर्म में ही बांध दिया है अथवा उसका परिमित स्थान केवल वही है। क्योंकि अन्य संस्कारों, कर्मों, प्रकरणों और विद्याओं में भी उसका उपयाग होता है। मन्त्रकाल पहले है और विनियोगकाल पश्चात्। इस लिये किसी सूक्त या मंत्र का कहीं भी विनियोग कर देने से उसकी विद्या सम्बन्धी व्याप्ति का अभाव नहीं हो सकता अपि तु विनियोग करने का तात्पर्य यह भी नहीं है कि किसी सूक्त या मन्त्र का सर्वार्थ अमुक विनियोग में घटता हो, किन्तु जिस प्रकार भिन्न भिन्न चिकित्सा-प्रकरणों में या रोगों में किसी वृक्ष का कभी मूल (जड़), कहीं छाल, कहीं पत्ते, कभी फूल, कभी फल और कचित् उस के बीज उपयोग में आते हैं। जो वैद्य एक ही रोग में इन सारी वस्तुओं का विनियोग (सेवन) करे या करावे वह लाभ के स्थान पर हानि को ही प्राप्त होगा, एवं सूक्त या मन्त्र के विनियोग में भी यही अवस्था है। उक्त बातों के स्पष्टीकरण के लिये कुछ उदाहरण और प्रमाण नीचे उद्धृत करते हैं—

१—आज कल आर्य संस्थाओं में भोजन खाते समय "अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः। प्रप्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे" (यजुः० ११। ८३) इस मंत्र का विनियोग करते हैं, किन्तु इस का यह अभिप्राय नहीं है कि ईश्वर ने इस मंत्र को खाते समय बोलने के लिये बनाया। प्रत्युत इस का मुख्य प्रयोजन तो यह है कि अन्न तथा अन्न-पाक रोगरहित रखने, बलवान् बनाने और

आवश्यक रसादि धातुओं को उत्पन्न करने वाला होना चाहिये। अथ च भोजन बनाने और खाने से पहले ही इस मंत्र के तात्पर्य पर ध्यान दिया जावे तो उत्तम है

२—पौराणिक लोग क्षेत्रों तथा अन्य भोजन स्थलों में भोजन खाते समय "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत" (ऋ० ६। १०। १२, यजुः ३१। ११) इस मंत्र को भी बोलते हैं। पाठक देखें कि इस मंत्र में तो भोजन प्रकरण का सूचक कोई भी शब्द नहीं है। हां यहां पर केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि खाने का काम मुख का है। जिस प्रकार शरीर की सुस्थिति के लिये ब्राह्मणरूप मुख के प्रति अन्न समर्पण किया जाता है एवं समाज की सुस्थिति के लिये ब्राह्मणों की दानादि द्वारा सेवा करनी चाहिये।

३-संस्कार विधि में "एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह यथायं वायुरेजति तथा समुद्र एजति। एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह स्वाहा" इस मन्त्र का गर्भाधान संस्कार में होमाहुति में विनियोग किया है और पुनः जात कर्म संस्कार में प्रसव समय गर्भिणी पर जल से मार्जन करने के विनियोग में रखा है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कोई सूक्त या मन्त्र अमुक संस्कार या कर्म में विनियोग के लिये नहीं बनाया गया किन्तु सामान्य भाव से यथेष्ट विनियोग में ले लिया गया है।

४-'यम और पितर' नामक ग्रन्थ में दिये हुए ऋग्वेद मं० १० सू० १४ मं० १३, १४ का वेदभाष्य करते समय सायण प्रेतदहनक्रिया में विनियोग करता है किन्तु तैत्तिरीयारण्यक मे आये हुए उक्त दोनों मन्त्रों का विनियोग सामान्य यज्ञ में करता है। परिचय के लिए तैत्तरीय का सायण-भाष्य नीचे उद्धृत करते है--

(क) "यमाय सोमं सुनोत यमाय जुहोत हविः। यमँ ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः"

कल्पः—"मध्यमस्यामुत्तरवेद्यां यमाय हविर्निवेदयन्ते।"

(ख) "यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत। स नो देवेष्वायमद्दीर्घमायुः प्रजीवसे"

कल्पः—"प्रतीच्यामुत्तरवेद्यां यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत। स नो देवेष्वायमद्दीर्घमायुः प्रजीवसे इति। हे ऋत्विजो यमार्थं घृतयुक्तं हविर्जुहोत। यूयं च प्रकर्षेण

* विनियोग में गलती का होना भी संभव है। वाममार्गी लोग व्यभिचारादि पाप कर्मों तक में मंत्रों का विनियोग कर देते हैं। आर्यसमाज में खाते समय पहले "सहनाववतु सह नौ भुनक्तु०" मंत्र का विनियोग करते थे किन्तु अब "अन्नपते अन्नस्य" मंत्र का विनियोग करते हैं।

तिष्ठत । देवेषु मध्ये यो यमो देवः स प्रजीवसे प्रकृष्टजीवनाय नोऽस्माकं दीर्घमायुरायमत्प्रय-च्छतु ॥" (तै—आर० प्रपा० ६ अनु० ५)

यहां सायण भाष्य में रेखाङ्कित स्थानों पर ध्यान दीजिये जो कि इन मन्त्रों को सामान्य यज्ञक्रिया के विनियोग में आये हुए दर्शाते हैं। अस्तु इतने उदाहरण और प्रमाणों से पाठक यह समझ सकते हैं कि कोई सूक्त या मन्त्र अमुक संस्कार या अमुक कर्म में विनियोग के लिये नहीं बनाया गया अपि तु क्वचित् विनियोग गौण समझना चाहिये किन्तु यथोचित विद्यासम्बन्धी अर्थ प्रधान है। स्यात्। अब हम सूक्त व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १४—

सब से प्रथम ऋग्वेद मण्डल १० के १४ वें सूक्त को आपके सम्मुख रखते हैं। साथ में यह एक आवश्यक सूचना दे देते हैं कि निरुक्तादि प्राचीन आर्ष ग्रन्थ में यदि किसी सूक्त के एक मन्त्र का भी अर्थ उपलब्ध हो जावे तो वह अर्थ ग्राह्य होता हुआ सम्पूर्ण सूक्त के अर्थ करने में दीपक का काम देगा। अत एव पाठकों को इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है। एवं इस सूक्त के भी प्रथम और षष्ठ मन्त्र निरुक्त में व्याख्यात हैं, किन्तु निरुक्तकार ने यम का अर्थ या उसका सम्बन्ध मृत पुरुषों के अधिष्ठाता का नहीं दर्शाया अपि तु उस से भिन्न किसी विशेष विज्ञान का दर्शक अर्थ किया है जो उसकी अत्युत्तम ग्राह्य नैरुक्त प्रक्रिया है। जिसका अवलम्बन हमारे अर्थों में है। इस सूक्त में वैवस्वत यम की चर्चा है। मुख्यशब्दार्थ समन्वय में हम बतला चुके हैं कि जहां २ यम का वैवस्वत विशेषण दिया गया है वहां २ विवस्वान् (सूर्य) से उत्पन्न हुआ काल (Time) यम का अर्थ है। अत एव यहां भी वैवस्वत विशेषण होने से यम का अर्थ काल है। ज्योतिषविद्या में दो प्रकार का काल माना है। एक लोकों को अन्त करने वाला काल जिस को विश्वकाल (व्यापी काल) कहते हैं। दूसरा गणनात्मक काल जिसको संख्येय काल (काल-विभाग) कहते हैं।

"लोकानामन्तकृत्कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः ॥" (सूर्यसिद्धान्त १ । १०)

एवं इस सूक्त में उभयविध काल का विज्ञान (Philosophy of time) है। काल का संसार के बड़े २ और छोटे २ पदार्थों के साथ सम्बन्ध, जीवनकाल की वृद्धि का प्रकार, काल के ऋतु आदि विभाग और उनका अन्य वस्तुओं से सहचार तथा उपयोग, प्राणियों की उत्पत्ति और नाश तथा पुनर्जन्म में

काल का सम्बन्ध, भूत-वर्तमान-भविष्यत् में कालक्रान्ति और उसका प्रभाव आदि २ आवश्यक विज्ञान इस सूक्त में है। सूक्तार्थ के स्वाध्याय से पाठक उक्त कथन का परिचय कर सकेंगे। अन्त में विभिन्न भाष्यों की समालोचना भी की जावेगी।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥१॥

(महीरनु प्रवतः परेयिवांसम्) "महीरनुप्रवत उद्वतो निवतः पर्यागतवन्तम्।" (नि० १० । २०) महीरनु पृथिवीलोकाननु। "महीति पृथिवीनाम" (नि० १ । १) प्रवतः प्रगतान् पुराणानुद्वत उद्गतानुन्नतान् निवतो निगतानल्पसमयकान् पदार्थान् पर्यागतवन्तं परिक्रम्य सर्वतोऽधिकृत्य प्राप्तवन्तम (बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्) "बहुभ्यः पन्थामनुपस्पाशयमानम्" (नि० १० । २०) बहुभ्यः प्रकारेभ्यः। 'हेतौ पञ्चमी' विशेषेण पाशयमानं पाशमिव विस्तारयन्तम (जनानां सङ्गमनं वैवस्वतं यमं राजानं हविषा दुवस्य) जनानां जायमानानामुत्पद्यमानानां पदार्थानाम्। 'जायते इति जनः' सङ्गमनमन्ते प्राप्तिस्थानं वैवस्वतं विवस्वतः सूर्यस्य पुत्रं यमं यन्तारं कालं समयं प्रातःसायन्दर्शपौर्णमासर्तु संवत्सरविभागात्मकं राजनं राजानमिव वर्तमानं हविषा हविर्दानेन दुवस्य राध्नुहि संसाधय स्वानुकूलं कुरु दीर्घायुष्ल्लाभायेति यावत ॥ १ ॥

भाषार्थ—(महीरनु प्रवतः परेयिवांसम) पृथिवी लोकों पर स्थित पुराने, उन्नत और थोड़े समय के या ताजे उत्पन्न एवं सभी पदार्थों को सर्वतः अधिकार करके प्राप्त तथा (बहुभ्यःपन्थामनुपस्पशानम्) बहुत प्रकारों से जीवन मार्ग को पाश तुल्य स्वाधीन करते हुए और (जनानां सङ्गमनं वैवस्वतं राजानं हविषा दुवस्य) जायमान अर्थात् उत्पन्न मात्र वस्तुओं के प्राप्तिस्थान रूप सूर्य के पुत्र काल 'समय-Time' प्रातःसायं-अमावस्या-पूर्णिमा-ऋतु-संवत्सर विभागयुक्त राजा के समान वर्तमान विश्वकाल 'समय' की आहुति क्रिया से हे जीव ! तू दीर्घायु लाभ के लिये स्वानुकूल बना। यह आन्तरिक विचार है।

शिक्षा—विश्वकाल संसार के सब पदार्थों को व्याप्त और प्राप्त है। वही सबकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश का निमित्त है। उस सूर्य-पुत्र को आयुवर्धक पदार्थों के होम द्वारा स्वानुकूल बनाना चाहिये।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः ॥२॥

(यमो नो गातुं प्रथमो विवेद) यमः कालो नोऽस्माकं गातुं गमनं गतिं प्रथमःसन् विवेद लब्धवान्। अस्माकं जीवनगतिं प्रारम्भिकः समयः प्राप्तवानित्यर्थः। "गातुं गमनम्" (नि० ४। २१) 'विद्लृ लाभार्थोऽत्र' (एषा गव्यूतिर्नापभर्तवा उ) एषा गव्यूतिरेष मार्गो नापभर्तवा उ नैवापहर्तव्यस्त्यक्तुं शक्यः। "कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः" (अष्टा० ३। ४। १४) (यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः) यत्रा-यस्मिन्मार्गे नो ऽस्माकं पूर्वे पितरोऽस्मदपेक्षया पूर्वे जनकादयः पालयितृजनाः परेयुः परागच्छन्ति कुलपरम्परया यात्रां कुर्वन्ति। 'परेयुरिति सामान्ये काले लिट्' (एना जज्ञानाः स्वाः पथ्या अनु) अनेनैव मार्गेण जाता उत्पन्नाः सर्वेऽपि पदार्थाः स्वा निजान् पथ्या मार्गे भवान् धर्मान् "भवेश्छन्दसि" (अष्टा० ४। ४। ११०) अनु--अनुगच्छन्ति।

भाषार्थ—(यमो नो गातुं प्रथमो विवेद) समय ने ही हमारी जीवनगति का प्रथम से ही प्राप्त किया हुआ है। अत एव (एषा गव्यूतिर्नापभर्तवा उ) यह काल मार्ग किसी प्रकार त्यागा नहीं जा सकता (यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः) जिस मार्ग में हमसे पूर्व उत्पन्न जनक आदि पालक जन भी कुलपरम्परा से यात्रा करते चले आये हैं और (एना जज्ञानाः स्वाः पथ्या अनु) इसी मार्ग से उत्पन्न हुए सभी प्राणी और वनस्पति आदि पदार्थ निज मार्ग सम्बन्धी धर्मों का अनुगमन करते हैं। अत एव उस समय को पूर्वमन्त्रानुसार होम द्वारा स्वानुकूल बनाना चाहिये।

शिक्षा—प्रत्येक प्राणी के गर्भकाल ने ही जीवन की गति को आरम्भ कर दिया है। यावत् शरीरपात हो यह जीवन गति चलती रहती है। उस काल के अधीन होकर हमारे जनक आदि भी यात्रा करते हैं अपि तु संसार के सभी जड़ चेतन पदार्थ अपनी २ प्रकृति योनि किंव कर्मानुसार परिणाम और पुष्प फलादि को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यात्रा सबके लिये अवश्यम्भावी है।

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पति ऋक्वभिर्वावृधानः।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥३॥

विशेष विचार—इस मंत्र में 'कव्य' शब्द अति सन्दिग्धार्थ और व्याख्येय है। अत एव मन्त्रार्थ करने से पूर्व कव्य शब्द पर सप्रमाण विचार करते हैं। न केवल 'कव्य' पर ही अपि तु तत्सम्बन्धी 'हव्य-हव्यवाहन, कव्य-कव्यवाहन, क्रव्य-क्रव्याद्' इन सभी पर विचार करेंगे।

इन सब पर विचार करने की आवश्यकता इस लिये है कि इन के सत्यार्थ का परिचय होने के साथ यहां जो प्रकृत कव्य शब्द है। उस का विस्पष्टार्थ विना इन

सब पर विचार किये नहीं हो सकता क्योंकि कव्य शब्द के सम्बन्ध में लोकवाद है कि 'कव्यं पितृणामन्नं पित्रन्नं वा'। उक्त वचन या वाद किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। अत एव इस कल्पित वचन को प्रामाणिक न मानते हुए हम इसका यावच्छक्य यहां विचार करेंगे।

'हव्य, कव्य, क्रव्य' इन का वास्तविक ज्ञान भी तभी हो सकता है जब कि हम 'हव्यवाहन, कव्यवाहन, क्रव्याद्' इन पर भी विचार करें अत एव उक्त छ बातों का विचार साथ २ करेंगे। 'हव्य, कव्य, क्रव्य' ये तीनों प्रयोज्य हैं और 'हव्यवाहन, कव्यवाहन, क्रव्याद्' प्रयोजक हैं। प्रयोज्यों के शब्दों में तो कोई रूपान्तर नहीं होता है किन्तु प्रयोजकों के शब्दों में यथाशास्त्र कुछ शब्द भेद हो जाता है। प्रथम प्रयोजक-पटल सप्रमाण विचार-सरलता के लिये नीचे चित्रित करते हैं—

१ (हव्य-)	२ (कव्य-)	३ (क्रव्य)	प्रमाण—
देवयट् (हव्यात)	आमाद्, न	क्रव्याद्, त	"धृष्टिरस्यपाऽग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादं सेधा देवयजं वह (यजुः १।१६) (शत० १।२।१।४)
हव्यवाहन०	कव्यवाहन·	सहरक्षाः	"अयो वा अग्नयो हव्यवाहनो देवानां कव्यवाहनः पितृणां सहरक्षा असुराणाम्" (तै० सं० २।५।८।६)
			०"अग्निश्च हव्यवाहनः" (यजु० ३४।६)
हव्यवाट्Z	"	·|· क्रव्याद्,त् ×	"Zहव्यवाडग्निरजरः पिता नः" (ऋ०५।४।२)
			※(क्रव्यवाहनः) "एष हि हव्यवाड् यदग्निः" (श० १।४।१।३६)
			"·|·यो अग्निः कव्यवाहनः" (यजुः १६।६५)
			"× ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे" (ऋ० ७।१०४।२)
			"ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणद्वेष्ट्रे क्रव्यादे क्रव्यमदते" (निरु० ६।११)
			※"योऽग्निः क्रव्यवाहनः" (ऋ०१०।१६।११)

उपरि निर्दिष्ट पटल प्रदर्शित प्रमाणों के आधार पर हव्यवाहन आदि के सम्बन्ध में सब से प्रथम हमारी स्थापना यह है कि 'हव्यवाहन, हव्यवाट्, देवयट्' हवन करने की अग्नि को कहते हैं। वेद में ये तीनों नाम मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण में जिस अग्नि में होतव्य वस्तु को होमते हैं उस को देवयट्, हव्यवाहन और हव्यवाट् नाम से वर्णन किया है।

"यो देवयट् तस्मिन्हवींषि श्रपयाम तस्मिन् यज्ञं तनवामहै" (श० १।२।१।४)

"एष हि हव्यवाहनो यदग्निः" (श० १ । ४ । ३ । ३६)

"एष हि हव्यवाड् यदग्निः" (श० १ । ४ । ३ । ३६)

'आमाद् और कव्यवाहन' पाकाग्नि का नाम है। वेद में ये दोनों शब्द मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण में केवल 'आमाद्' शब्द से वर्णन किया है।

"अयं वाऽमाद् येनेदं मनुष्याः पक्त्वाश्नन्ति" (श० १ । २ । १ । ४)

'क्रव्याद् और सहरक्षाः' शवदहन करने वाली अग्नि को कहते हैं। वेद में केवल 'क्रव्याद्' शब्द का ही प्रयोग है 'सहरक्षाः' शब्द का चारों वेदों में कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ। शतपथ ब्राह्मण में भी केवल 'क्रव्याद्' शब्द ही आया है। वहां शवदहन करने वाली अग्नि को 'क्रव्याद्' कहा है।

"अथ येन पुरुषं दहन्ति स क्रव्याद्" (श० १ । २ । १ । ४)

'सहरक्षाः' शब्द तै० सं० में ही लिखा है।

अत एव हव्य का अर्थ होतव्य अग्नि में होमने योग्य वस्तु है कव्य का अर्थ अन्न है जो अग्नि में पक्तव्य है। क्रव्य का मांस या शव अर्थ हुआ। अब इस बात को समन्वय के साथ रखते हैं। 'देवयट्, आमाद्, क्रव्याद्' ये तीनों एक जगह ही पूर्वोक्त (यजुः १।१७) मन्त्र में आये हैं। इसी मन्त्र पर शतपथ में व्याख्या है कि "अयं वाऽआमाद् येनेदं मनुष्याः पक्त्वाऽश्नन्त्यथ येन पुरुषं दहन्ति स क्रव्याद् यो देवयट् तस्मिन् हवींषि श्रपयाम तस्मिन् यज्ञं तनवामहै" (श० १ । २ । १ । ४)

अर्थ—जिस अग्नि से मनुष्य भोजन पका कर खाते हैं उस भोजन पकाने वाली अग्नि का नाम आमाद् हुआ और जिस अग्नि से पुरुष यानि शव को जलाते हैं वह शव दहनाग्नि क्रव्याद् कहलाती है। एवं देवयट् अग्नि वह है जिसमें हव्य वस्तुओं को डालते हुए यज्ञ करते हैं। इसी देवयट् को शतपथ में आगे चलकर 'हव्यवाहन' और 'हव्यवाट्' नाम भी दिया है "एष हि हव्यवाड् यदग्नि······जुहुत च यजत च······एष हि हव्यवाहनो यदग्निः" (श० १ । ४ । ३ । ३६)

महीधर ने भी उक्त देवयट् अग्नि को हवन करने की अग्नि, आमाद् अग्नि को भोजन पकाने वाली पाकाग्नि और क्रव्याद् अग्नि को शव दहन करने वाली चिताग्नि मानी है। यजुः १ । १७ पर उसके निम्न वचन हैं—

"एक आमात् आममपक्वमत्तीत्यामाल्लौकिको अग्निः। द्वितीयः क्रव्यात् शवदाहे क्रव्यं मांसमत्तीति क्रव्यात् चिताग्निः। तृतीयो यागयोग्यः" (यजुः० १ । १७)

इस प्रकार महीधर के शब्दों में देवयट् यागाग्नि, आमाद् लौकिकाग्नि, क्रव्याद् चिताग्नि है। एडकोपनिषद् में भी इस देवयट् यागाग्नि अर्थात् शथपथा-

नुसार हवि डालने योग्य या यज्ञ करने योग्य अग्नि को हव्यवाहन नाम से कहा है "यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत्" (मुण्डक० १। २। २) इस लिये 'देवयट्, हव्यवाहन, हव्यवाट्' यागाग्नि अर्थात् जिसमें होतव्य वस्तुओं का हवन किया जावे उसको कहते हैं। तीनों शब्द एकार्थक हैं। अब 'हव्य' शब्द का अर्थ भी स्पष्ट हो गया। अग्नि में यज्ञ करने के लिये जो होतव्य ओषधि आदि वस्तु डाली जाती है उसको हव्य कहते हैं। निरुक्त में हव्य का यही अर्थ दिया है "हव्या हवींषि" (निरु० ८। ७) जिस प्रकार शवरूप मांस क्रव्य को खाने से शवदहन या चिताग्नि को क्रव्याद् और खाद्य अपक्व आम वस्तु को खाने से पाकाग्नि को आमाद् नाम दिया है। एवं देवयट्, हव्यवाहन, हव्यवाट् अग्नि को हव्य खाने से हव्याद् नाम दिया जा सकता है। ऋग्वेद में इसका यह नाम दिया भी है—"अवीव्रो अग्निर्हव्यात्" (ऋ० । ७। ३४। १४)

हव्यवाहन और हव्य का निर्णय हो जाने के अनन्तर कव्यवाहन और कव्य का भी समन्वय दृष्टि से निर्णय करते हैं। शतपथ की प्रतिज्ञानुसार 'देवयट्, आमाद्, क्रव्याद्' ये तीन अग्नियां हैं। तैत्तिरीय संहिता की प्रतिज्ञा 'हव्यवाहन, कव्यवाहन, सहरक्षाः' इन तोन के लिये है। अभिप्राय एक ही है केवल नामान्तर है। जिस प्रकार इस क्रम में देवयट् और हव्यवाहन यागाग्नि के नाम हैं उसी प्रकार द्वितीय क्रम में आमाद् और कव्यवाहन भोजन बनाने वाली पाकाग्नि के नाम हैं। आमाद् के लिये तो शतपथ में स्पष्ट परिचय दिया ही है। कव्य या कव्यवाहन के सम्बन्ध में निरुक्त में तो कुछ नहीं लिखा। ब्राह्मणों ने भी इस पर कुछ प्रकाश नहीं डाला। महर्षि मनु ने कव्य शब्द का प्रयोग किया है। जो अर्थ कव्य का हमने ऊपर प्रदर्शित अर्थात पाकाग्नि में जो पक्तव्य-अन्न भोजन किया है उसी अर्थ में मनु का प्रयोग है—

"दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् ।
तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥"
" सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते ।
एकस्तान् मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥" मनुः ३। १३०, १३१ ॥

इन श्लोकों में कव्य को खाने की चर्चा है। अतः कव्य का अर्थ अन्नादि भोजन है यह स्पष्ट हो गया। अत एव कव्यवाहन का अर्थ भी भोजन पाकाग्नि है।

अब तृतीय अग्नि 'क्रव्याद्' और 'सहरक्षाः' ये भी एकार्थ हैं। शतपथ के क्रम में तृतीय अग्नि क्रव्याद् शवदहनाग्नि के लिये प्रयुक्त हुआ है। एवं तैत्तिरीय

संहिता के प्रथम और द्वितीय इन दो अग्नियों का एकार्थ दर्शा चुके हैं एवं उसी क्रम में क्रव्याद् और सहरक्षाः शब्द भी एकार्थक शवदहनाग्नि के अर्थ में समझने चाहियें। रक्षोभिः सह सहरक्षाः। रोगोत्पादक जन्तु जो कि बाहर से या शरीर के अन्दर खून पीने वाले कृमि हैं उनको रक्षः शब्द से यहां लिया गया है। निरुक्त में रक्षः का अर्थ यह है—"रक्षो रक्षितव्योऽस्मात्। रहसि क्षिणोतीति वा रात्रौ नक्षत इति वा" (निरु० ४। १८) जिस से अपनी रक्षा करनी चाहिये या जो छिप कर गुप्त हुआ अन्दर घुस कर किन्हीं धातु आदि को नष्ट करता हो या जो रात्रि में अपना कार्य करता हो वह रक्षः है। उक्त तीनों निर्वचनों में पहले दो निर्वचन रोगोत्पादक जन्तुओं में घटते हैं क्योंकि उनसे हरएक अपनी रक्षा करना चाहता है और वे शरीर के अन्दर घुस कर हानि पहुँचाते हैं। "असृग्भाजनानि ह वै रक्षांसि" (कौ० १०। ४) रक्षः खून के पीने वाले होते हैं यह भाव उक्त रोग जन्तुओं में पाया जाता है। तथा इनका शमन औषधों द्वारा किया जाता है "रक्षोघ्नानि विषघ्नानि यानि धार्याणि भूभुजा। अगदानि समाचक्ष्व तानि धर्मभृतां वर॥" विषनाषक और रक्षोनाशक ओषधियों के वर्णन तथा सहयोग से रक्षः का अर्थ रोगोत्पादक जन्तुओं का ही है। तथा आयुर्वेद में वायविडङ्ग ओषधि को कृमिघ्नी और रक्षोघ्नी नामों से कही है। यह बात सुप्रसिद्ध है कि मरणानन्तर से ही शव के अन्दर रोगजन्तु उत्पन्न होने लगते हैं। शवदहनाग्नि का उन रोग जन्तुओं के साथ सहयोग हो जाने से 'रक्षोभिः सह=सहरक्षाः' नाम हो जाता है। रोग जन्तुओं से युक्त शव का दहन करना आवश्यक है क्योंकि अग्नि उन रोग जन्तुओं को नष्ट कर देती है। "अग्निर्वै रक्षसामपहन्ता" (कौ० ८। ४। १०। ३)

इस प्रकार समन्वय से क्रव्याद् और सहरक्षाः अग्नि, शवदहनाग्नि या चिताग्नि का नाम तथा क्रव्य शब्द का शव या मांस अर्थ हुआ।

(प्रश्न) जब आपने तैत्तिरीय संहिता में आई हुई 'हव्यवाहन, कव्यवाहन, सहरक्षाः' इन तीनों अग्नियों का स्वीकार किया तो फिर उसी वचन में कहे हुए "हव्यवाहनो देवानां कव्यवाहनः पितृणां सहरक्षा असुराणाम्" (तै० सं० २। ५। ८। ६) सिद्धान्त का भी स्वीकार करना चाहिये।

(उत्तर) हम ने तैत्तिरीय संहिता का वचन दिया अवश्य है परन्तु हव्य, कव्य, क्रव्य शब्दों के अर्थ निर्णय के लिये समन्वय दृष्टि से रखा है। यह तैत्तरीय संहितामें कहा हुआ त्रिक वेद में नहीं आता किन्तु पृथक् २ भी हव्यवाहन और कव्यवाहन शब्द ही आते हैं 'सहरक्षाः' शब्द चारों वेदों में कहीं अकेला भी नहीं आया।

फिर इसकी व्यवस्था पर विचार का अवसर ही नहीं रहता केवल 'देवयद्, आमाद्, क्रव्याद्' यह त्रिक ही आता है। इसकी व्याख्या शतपथ के अनुसार हमने कर ही दी है। और उक्त हव्यवाहन, कव्यवाहन, सहरक्षाः का समन्वय भी दर्शा दिया है। यदि तैत्तिरीय के वचन पर भी विचार करना है तो इस प्रकार किया जा सकता है कि शतपथ के अन्दर जो विचार तीन अग्नियों के सम्बन्ध में है वह सामष्टिक या भौतिक अग्नि के रूप में है और तैत्तिरीय संहिता में वर्णन प्राण्यन्तर्गत व्यष्टि रूप आहार-वाहक अग्नियों का है। अर्थात् आयुर्वेद की दृष्टि से तीन प्रकार का आहार कह-लाता है। एक फलाहार जिसमें फल, फूल, पर्ण, कन्द, मूल, रस, दूध, घी आदि जो सात्विक, लघु, बुद्धि-शान्ति आदि दैव (ब्राह्म) गुणों के वर्धक हों, दूसरे अन्नाहार जिसमें विविध अन्न, दाल, शाक, व्यञ्जन, दूध, घी और फलादि जो सात्विक तथा राजसिक, लघु, गरिष्ठ, बुद्धि-बल-पराक्रम आदि पित्र्य (जातिदेशप्रजापालन) शक्ति के वर्धक हों। तीसरे मांसाहार जिसमें मांस, चर्बी, खून तथा अन्नादि जो राजसिक और तामसिक, गरिष्ठ, कठोर, क्रोध-द्वेष-हिंसकबल-चाञ्चल्य-क्रूरता आदि असुर (पर-पीड़ाकारक) अवगुणों के वर्द्धक हों। उक्त आहारों को वहन करने वाली प्राणियों के कोष्ठ में वर्तमान अग्नियां हव्यवाहन, कव्यवाहन, सहरक्षाः कहलाती हैं। उपरि-निर्दिष्ट फलाहार हव्य हैं, उनको वहन करने वाली अग्नि हव्यवाहन जिन मनुष्यों की है वे देवकोटि में हैं। अथवा देवलोग फलाहार करने वाले होते हैं यही "हव्य-वाहनो देवानाम्" का तात्पर्य है। हव्य जो अग्निहोत्रादि में होमा जा सकता हो ऐसा पदार्थ हव्य कहलाता है। पूर्वोक्त फलाहार अग्नि में होमने योग्य होने से हव्य कहलाता है। हव्य खाया जाता है इसमें प्रमाण यह है कि-

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम्।
तीर्थं हव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः॥
यावतो ग्रसते ग्रासान् हव्यकव्येष्वमन्त्रवित्॥ मनु० ३। १३०। १३३॥

इत्यादि मनु वचनों में ब्राह्मण को हव्य खाने का विधान है। "देव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः" (तै०। १। २। ६। ७) इसी प्रकार अन्नाहार कव्य है उसको वहन करने वाली अग्नि कव्यवाहन जिन मनुष्यों की है वे पितृकोटि (राष्ट्र, प्रजा और समाज के पालक वर्ग) में हैं अथवा पितृजन (पालक जन) अन्नाहार करने वाले होते हैं यही भाव "कव्यवाहनः पितृणाम्" का है एवं मांसाहार रक्षोभोजन है उसको वहन करने वाली अग्नि सहरक्षाः जिन मनुष्यों की है वे असुरकोटि (राष्ट्र, प्रजा और समाज के पीडकवर्ग) में हैं। अस्तु। यजुः १। १७ में कही हुई देवयद्, आमाद्,

क्रव्याद् इन तीन अग्नियों का भौतिकवाद में तो शतपथ में विचार किया, और हमने भी शतपथ के अनुसार तैत्तिरीय में उनके अपर नाम 'हव्यवाहन, कव्यवाहन, सहरक्षाः' का समन्वय दिखलाया। अपि तु तैत्तिरीय संहिता के सिद्धान्त का दृष्टिकोण प्राणियों की आमाशयस्थ अग्नि के सम्बन्ध में है, ऐसा हमने दर्शा दिया। यदि पाठक उक्त आमाशयगत अग्नियों का वैदिक दृष्टि से समन्वय करना चाहें तो उस का केवल दिग्दर्शन पूर्वोक्त उसी देवयद्, आमाद्, क्रव्याद् वाले (यजुः १ । १७) के उत्तरार्द्ध में आन्तरिक सम्बन्ध में कर सकते हैं यथा "ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि त्वा सजातवनि त्वा"

१--देवानां हव्यवाहनः = ब्रह्मवनिः

२—पितॄणां कव्यवाहनः = क्षत्रवनिः

३—असुराणां सहरक्षाः = सजातवनिः

सजाताः = जातैः सह ये जायन्ते ते प्राण्यन्तर्जाताः कृमयः, जातैर्वा सह ये जीवन्ति, तान् जातान् भक्षयित्वेत्यर्थः, एवं तादृशा मांसभोजिनः सिंहादयो वा मनुष्या वा सजाताः। अस्तु।

इस समन्वय के साथ प्रसंगतः ऐसे मनु श्लोक भी पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं जिनमें पाठक यह देखेंगे कि हव्य कव्य का प्रदान जीवित व्यक्तियों के लिये कहा है—

"मातामहं मातुलं च स्वस्रीयं श्वसुरं गुरुम्।
दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत्।"
ये स्तेनपतितक्लीवा ये च नास्तिकवृत्तयः।
तान् हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान् मनुरब्रवीत्॥
चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः॥

(मनु ३ । १४८, १५०, १५२)

इन श्लोकों में आस्तिक, विद्वान्, तपस्वी और नाना, मामा, भांजा, श्वसुर, गुरु, दौहित्र, राजा, मित्र, ऋत्विक्, पुरोहित, यजमान आदि को हव्य कव्य खिलाने का विधान है। तथा 'पतित, नपुंसक, नास्तिक, चिकित्सक, देव का नाम लेकर या पूजापाठ के नाम से खाने वाले, मांस बेचने वाले, सट्टा आदि उपाय से जीने वाले, लोगों को छोड़ देना चाहिये। यह मनु का विधि-निषेध जीवितों में ही घट सकता है।

विदित हो कि इन हव्यवाहन आदि शब्दों के अर्थ सर्वत्र अग्नि भी नहीं है अपि तु जब यह त्रिक-सम्बन्ध को छोड़कर अलग २ होंगे तो इनके अन्यार्थ भी हो सकते हैं। उदाहरणतः देखिये—

"वायुर्वै तूर्णिर्हव्यवाड् वायुर्देवेभ्यो हव्यं वहति" (ऐ० २ । ३४)

"ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे । ब्राह्मणद्वेष्ट्रे क्रव्यमदते" (निरु० ६ । ११)

उक्त वचनों में वायु को हव्यवाहन और ब्राह्मण-द्वेषी मांसाहारी दुष्टजन को क्रव्याद् कहा है। अस्तु। इस प्रकार हव्य, कव्य आदि की मीमांसा के अनन्तर हम अपनी प्रकृत व्याख्या पर आते हैं। पूर्वोक्त मीमांसा से पाठकों को विदित हो गया होगा कि कव्य का अर्थ अन्न, दाल, शाक, फल, घृत, दूध आदि भोजन है। यही अर्थ इस "मातली कव्यैः" (ऋ० १० । १४ । ३) प्रस्तुत मन्त्र में करेंगे –

मन्त्रार्थ–(मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः) मातली कव्यैर्वावृधानो यमोऽङ्गिरोभिर्वावृधानो बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानो भवति। मातली भूतली पृथिवीतली पृथिवीस्थानी पृथिवीस्थानोऽग्निर्देवः। 'मा पृथिवी' "अयं वै पृथिवीलोको माऽयं हि लोको मित इव" (श०८।३।३।५) तस्मात्तलमस्यास्तीति मतुपि मातली पृथिवीस्थानोऽग्निः स च द्विविधः प्राण्यन्तर्वर्ती जीवनाग्निरपरो भौतिकाग्निः,अग्नि चात्र मन्त्रे श्लेषालङ्कारः। तत्र प्राण्यन्तर्वर्ती जीवनाग्निः कव्यैरन्नादिभोजनैर्भौतिकश्चाग्निः कुःपृथिवी तत्र भवैः कव्यैः पार्थिवैर्घृततैलान्नकाष्ठादीन्धनद्रव्यैर्वावृधानो वर्धमानो भवति वर्धत इति सिद्धान्तः कुःपृथिवीत्यत्र प्रमाणम् "रविवर्षार्द्धं देवाः पश्यन्त्युदितं रविं तथा प्रेताः। शशिमासार्द्धं पितरः शशिगाः कुदिनार्द्धमिह मनुजाः"। (आर्यभटीयं ज्यौतिषम्। गीतिका० ।१७) "जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्" (कठो० १ । १ । २८) यमो मध्यस्थानो देवः प्राण्यन्तर्वर्ती जीवनकालोऽपरश्च भौतिको लोकानामन्तकृद् विश्वकालोऽङ्गिरोभिरङ्गानां रसः प्राणैः प्राणमङ्गरणैस्तत्तुल्यकालावयवैः सूर्यरश्मिभिर्नानिष्पन्नकालगतिभिर्वा वर्धते। "अङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः प्राणो वा अङ्गानां रसः" (बृहदा० १ । ३१ । ३) "प्राणो वाऽङ्गिराः" (श० ६ । १ । २ । २८) प्राणः कालावयवः "प्राणादिः कथितो मूर्त्तः (कलनात्मकः कालः)" सूर्यसिद्धान्ते १ । ११ ॥ "अङ्गि : Division of time" इत्यापटे। बृहस्पतिरूर्ध्वस्थानः प्राण्यन्तर्वर्ती जीवनप्राणः, न तु श्वासप्रश्वासात्मकः, अपि तु जीवयति यः प्राणिनं स जीवनशक्तिरूपः प्राणः जीवनप्राणः, यथा बृहदारण्यके "एष उ एव प्राणो बृहस्पतिर्वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः"(बृहदा०१।२।२०) द्वितीयश्च भौतिको वर्षाधिपतिर्देवः। यथा निरुक्ते "बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा पालयिता वा" (निरु० १० । १२) "द्यौर्वै बृहत्" (श० ६ । १ । २ । ३७) "असौ द्युलोको बृहत्" (ऐ० ८ । २) द्यौश्च मेघमण्डलम् "असौ वै द्युलोकः समुद्रो नभस्वान्" (श० ६ । ४ । २ । ५), "द्यौर्वा अपां सदनं दिवि ह्यापः सन्नाः" (श० ७ । ५ । २ । ५६) एवं मत्वा हि यास्केनगुदाहृता "तस्यैषा भवति-अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि-

स्रियन्तम् । निष्टजभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेण विकृत्य ॥" (ऋ० १० । ६८ । ८) व्यापनवता मेघेन जलमपिनद्धमासीत्तद् विशेषशब्देन बृहस्पतिर्निर्दिष्टवान् पृथिव्यामिति निरुक्तार्थः । स एवं द्विविधः शरीरभुवनभेदाभ्यां जीवनः प्राणो वर्षाधिपतिश्च बृहस्पतिर्देव ऋक्वभिर्विविधगुणवतीभिः कृत्रिमस्वाभाविकवाग्भिः विरवैः स्तनयित्नुभिर्गर्जनशब्दैर्वर्धते वृद्धिं महत्वमाप्नोति । वाग्विरवयोः सम्बन्धश्च बृहस्पतिना सह समीपं दर्शित एव । ऋक्वभिरित्यत्रशब्दश्च सामान्यो धात्वर्थः यथा निरुक्ते "मित्रो जनान्यातयति प्रब्रुवाणः शब्दं कुर्वन्" (निरु० १० । २२) एवं सति (देवा यांश्च वावृधुः) पूर्वोक्ता मातल्यादिनामभिर्व्यवहृता अग्न्यादयो देवा वर्धमानाः सन्तो यांश्च जनान् वावृधुर्वर्धितवन्तस्तथा (ये च देवान्) ये जनाश्च देवान् पूर्वोक्ताग्न्यादीन् वावृधुर्वर्धितवन्तस्ते जनाः (अन्ये स्वधयाऽन्ये स्वाहा मदन्ति) अन्ये केचित् स्वधयाऽन्नादिभोजनैर्मदन्ति तानग्न्यादीन् शरीरदेवान् तर्पयन्ति । 'अत्र मदेस्तृप्त्यर्थः' केचित् स्वाहाऽहुतिप्रदानेन मदन्ति तानग्न्यादीन् भौतिकदेवान् युञ्जतेऽनुतिष्ठन्ति । 'मद तृप्तियोगे' तृप्तिश्च योगश्च । "सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति" (महाभाष्य० अ० १ । २ । ६३) ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मातली कव्यैर्यमोऽङ्गिरोभिर्बृहस्पति ऋक्वभिर्वावृधानः) मातली पृथिवीस्थानी अग्नि । वह दो प्रकार की है एक प्राणी के अन्तर्गत जीवनाग्नि कव्य अन्नादि भोजनों से तथा भौतिक अग्नि कव्य पृथिवी से उत्पन्न पार्थिव अन्न-घृत-तैल-काष्ठ आदि ईन्धन द्रव्यों से बढ़ता है । यम मध्यस्थानी देव प्राणी के अन्तर्वर्ती जीवनकाल । दूसरा भौतिक लोकों का अन्तकारी विश्वकाल अङ्गिरों, प्राणों, प्राणक्रियाओं तथा प्राण नामक काल विभागों, सूर्य रश्मियों से निष्पन्न काल गतियों से बढ़ता है । बृहस्पति ऊर्ध्वस्थानी देव । प्राणी के अन्तर्वर्ती जीवन-प्राण और दूसरा भौतिक वर्षा का नियामक देव जो कि मेघमण्डल में वर्तमान जल-वृष्टि से प्रजा को जीवन प्रदान करता है । वह ऋक्वों विविध गुण वाली कृत्रिम और स्वाभाविक वाणियों स्तन्ययित्नुरूप गर्जन शब्दों से वृद्धि को प्राप्त होता है । ऐसा होने पर (देवा यांश्च वावृधुः) पूर्वोक्त वृद्धि को प्राप्त होते हुए अग्नि देवों ने जिन लोगों को बढ़ाया तथा (ये च देवान्) और जिन लोगों ने पूर्वोक्त अग्नि आदि देवों को बढ़ाया वे (अन्ये स्वधया मदन्ति) कुछ एक जन तो अन्नादि भोजनों से उन शरीर के अन्तर्वर्ती अग्नि आदि देवों को तृप्त करते हैं (अन्ये स्वाहा मदन्ति) कतिपय जन आहुति-प्रदान करके भौतिक अग्नि आदि देवों का सेवन करते हैं ॥ ३ ॥

शिक्षा—मनुष्यों को चाहिये कि अपने व्यक्ति-जीवन की उन्नति के लिये निज जीवनाग्नि, जीवनकाल और जीवनप्राण को उत्तमोत्तम भोजनों के सेवन से उपयुक्त बनावें तथा समाज वा सर्व प्राणियों के हितार्थ अग्निहोत्र से भौतिक अग्नि, सामष्टिक काल और मेघमण्डल को होमादि से उपयुक्त करते रहें ॥ ३ ॥

तत्र जीवनकालस्यामन्त्रणम्

इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।

आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व ॥ ४ ॥

(यमाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदान इमं प्रस्तरं ह्यासीद) यम हे जीवनकाल ! अङ्गिरोभिरङ्गानाम्रसैः पितृभिः प्राणैः सह संविदानोऽनुकूलः संस्त्वमिमं प्रस्तरं शरीररूपं यज्ञं जीवनवृद्धिहेतोरवश्यमासीद समन्तात्प्राप्तो भव । "यज्ञो वै प्रस्तरः" (श० १ । ३ । ४ । १०) "पुरुषो वाव यज्ञः" (छान्दोग्यो० ३ । १६ । १) "पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव हविर्धानं मुखमाहवनीयः" (गो० उ० ५ । ४) (कविशस्ता मन्त्रास्त्वाऽऽवहन्तु) कविशस्ता मन्त्रा विद्वत्प्रोक्तानि शरीरविद्यावित्प्रोक्तानि मन्तव्यानि त्वा त्वामावहन्तु—अत्र शरीरे समन्तात् प्रापयन्तु चिरं रक्षन्त्वित्यर्थः । अत एव (राजन् , एना हविषा मादयस्व) राजन हे राजमान देव ! एना हविषाऽनेन हविर्दानेनादानयोग्येन वस्तुना वा मां मादयस्व युङ्क्ष्व सन्तोषय सजीवनं कुर्वित्यर्थः ॥४॥

भाषार्थ—(यमाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदान इमं प्रस्तरं ह्यासीद) हे जीवनकाल ! तू प्राणों के साथ अनुकूल होता हुआ मेरे इस शरीर रूपी यज्ञ को जीवनवृद्धि के हेतु अवश्य भली प्रकार प्राप्त हो । (कविशस्ता मन्त्रास्त्वाऽऽवहन्तु) शरीर विद्यावेत्ता विद्वानों के निर्दिष्ट मन्तव्य तुझ को मेरे शरीर में चिरकाल तक रखें । अत एव (राजन्नेना हविषा मादयस्व) हे राजमान देव ! इस हविर्दान तथा खाने योग्य पदार्थ से मुझको सन्तुष्ट, सजीवन कर ॥ ४ ॥

शिक्षा—प्राणशक्ति के अभ्यास और वैद्यक सिद्धान्तों के अनुसार खानपान हवनादि क्रियायों से मनुष्य दीर्घजीवी और सुखी हो सकता है ॥ ४ ॥

विश्वकालस्यामन्त्रणम्

अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व ।

विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्यानिषद्य ॥ ५ ॥

(यज्ञियेभिर्वैरूपैरङ्गिरोभिर्यमागहीह मादयस्व) यज्ञियेभिर्यज्ञार्हैर्यज्ञयोग्यैर्वैरूपैर्विभिन्नरूपैरङ्गिरोभिः सायम्प्रातरमावस्यापौर्णमास्यादिसन्धिसमप्राणैः काला-

वयवैः सह यम हे समय ! त्वमागह्यागच्छ तथाऽऽगत्येहास्मिन् यज्ञेऽस्मान्मादयस्व तर्पय (यस्ते पिता तं विवस्वन्तमहं बर्हिष्यानिषद्यास्मिन् यज्ञे हुवे) यश्च ते पिता विवस्वान् सूर्योऽस्ति तमहमासनमुपविश्योपविष्टः सन्नस्मिन् क्रियमाणे यज्ञे हुवे, आहुतिप्रदानेनाददे युनज्मि । "अत्र हु धातुरादानार्थः । हु दानादनयोरादाने च" ।

भाषार्थ—(यज्ञियेभिर्वैरूपैरङ्गिरोभिर्यमागहीह मादयस्व) यज्ञ के योग्य नानाविध सायं प्रातः अमावस्या पूर्णिमा आदि सन्धियों के मुहूर्तरूप कालावयवों के साथ हे समय ! तू प्राप्त हो और इस यज्ञ में हमको अपने लाभ से तृप्त कर (यस्ते पिता तं विवस्वन्तमहं बर्हिष्यानिषद्यास्मिन यज्ञे हुवे) और जो तेरा पिता सूर्यदेव है उसको भी मैं आसनोपविष्ट इस यज्ञ में आहुतिप्रदान द्वारा प्रयोग करता हूँ ॥ ५ ॥

शिक्षा—भिन्न २ पर्व दिवसों में जब कि सूर्यरश्मियां भी यज्ञ में संयुक्त हों ऐसे स्थान पर पार्वण यज्ञ, समय को अनुकूल बनाने के लिये करने चाहियें ॥ ५ ॥

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ६ ॥

(अङ्गिरसः पितरा नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासो नः) अङ्गिरसो ग्रीष्मर्तुसम्बन्धिसूर्यरश्मयः पितरो वर्षर्तुसम्बन्धिरविकिरणा नवग्वाः शरदृतुसम्बन्धिभानुरश्मयोऽथर्वाणो हेमन्तर्तुसम्बन्ध्यादित्यकिरणा भृगवः शिशिरर्तुसम्बन्धिसूर्यरश्मयः सोम्यासो वसन्तर्तुसम्बन्धिसूर्यकिरणा नोऽस्मभ्यमस्मज्जीवनाय सन्ति । 'पूर्वस्मिन्मन्त्रे विवस्वन्तं हुवे—इतिवचनात् तेन विवस्वता साकमृतवस्तत्सहिताः सूर्यरश्मयश्चापि युज्यन्त इति दर्शयितुमङ्गिरआदीनां वचनम्' । अन्यत्रापि "आयातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः" (अथ० ३ । ८ । १) सूर्यः, ऋतुभिरुस्रियाभिश्च सह आयातीति सिद्धान्तः । अत्र तु ते रश्मय ऋतुसहचरिता वर्णिताः सन्ति । एवंवच्च विज्ञानम् । "वीलु चिद् दृढा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण । चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः" (ऋ० १ । १ । २) अत्रापि दर्शितं यदङ्गिरसो ग्रीष्मर्तुसम्बन्धिनः सूर्यरश्मयोऽद्रिं मेघं चक्रुः कृतवन्तस्तमेवाद्रिं मेघं पितरो वर्षर्तुसम्बन्धिरविकिरणा रुजन् भञ्जयन्ति नीचैर्निपातयन्ति पुनश्चोस्रा विविधगुणवासयितारः शारदाः सूर्यकिरणा आदित्यं दिनं पृथिवीं प्राप्नुवन्ति । एवमृतुसाम्यं दर्शितम् । ऋतुत्रयत्वमपि भवति यथा चरके "विकृतास्त्वेनं महता विपर्ययेणोपपादयन्ति, ऋतवस्त्रय इव" (चरके० सू० १२ । १३) तथा-

कृत्वैवात्र पितर इति शब्दो न विशेषणरूपेणापित्वङ्गिर आदिवद्देवतारूपेण स्वतन्त्र एव । सायणेन 'पितरो नवग्वाः सोम्यासः' त्रयोऽप्यङ्गिर आदीनां विशेषण-वाचकाः सन्तीति व्याख्यातं परन्तु सूक्तभाष्यावतरणे "अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा इतिषष्ठ्या अङ्गिरःपित्रथर्वभृगुलक्षणा लिङ्गोक्ता देवताः" एवमत्र तु सायणेन 'पितरः' इति शब्दस्य देवतात्वं प्रतिपादितम् । अस्तु । निरुक्तेऽप्यस्मद्वत् पितर इत्यस्य स्वतन्त्रं देवतात्वमेव प्रतिपादितमङ्गिर आदीनामर्थाश्च यथा—

"पिता पाता वा पालयिता वा······पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः" (नि० ४ । २१) इति लक्ष्यीकृत्योक्तमत्र "पितरो व्याख्याताः । अङ्गारेष्वङ्गिराः अर्चिषि भृगुः संबभूव" इतिकृत्वैवोक्तं यास्केन । "अङ्गिरसो व्याख्याताः । भृगवो व्याख्याताः । अथर्वाणो ऽथनवन्तः । थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः । तेषामेषा साधारणा भवति—"अङ्गिरसो नः पितरो······। अङ्गिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वाथर्वाणो भृगवः सोम्याः सोम-सम्पादिनः" (निरु० ११ । १९) "रसः सोमः" (श० ७ । ३ । १ । ३) सोम्यासः सोम-सम्पादिनो रससम्पादिनो वसन्तर्तुसंबन्धिसूर्यरश्मय इत्यर्थः । एवं नात्राङ्गिर आदयो मृतपितरोऽपि तु सन्ति देवा ऋतुयुक्तसूर्यरश्मयः । उक्तं च निरुक्ते "पितर" इत्याख्यानम् । "माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः" (निरु० ११।१९) रश्मयो देवाः "उदिता देवाः सूर्यस्य" (तेषां यज्ञियानां सुमतौ भद्रेऽपि सौमनसे वयं स्याम) "तेषां यज्ञियानां सुमतौ कल्याण्यां मतौ भद्रे भन्दनीये भाजनवति वा कल्याणे मनसि स्याम" (निरु० ११ । १९) तेषां पूर्वोक्तानां यज्ञार्हाणां सुमन्तव्ये व्यवहारे भाजनवति कल्याणे मनसि सुखयुक्ते प्रसन्नभावे वर्तेमहि ॥ ६॥

भाषार्थ—(अङ्गिरसः[1] पितरो नवग्वा[2] अथर्वाणो[3] भृगवः[4] सोम्यासो[5] नः[6]) ग्रीष्म ऋतु सम्बन्धी सूर्य रश्मियां[1]—वर्षा ऋतु सम्बन्धी सूर्यकिरणें[2]—शरद् ऋतु सम्बन्धी[3] भानुरश्मियां—हेमन्त ऋतु सम्बन्धी[4] आदित्य किरणें—शिशिर ऋतु सम्बन्धी[5] सूर्य रश्मियां—वसन्त ऋतु सम्बन्धी[6] दिवाकर किरणें, हमारे जीवन के लिये हैं । (तेषां यज्ञियानां सुमतौ भद्रेऽपि सौमनसे वयं स्याम) उन यज्ञ योग्य ऋतुयुक्त सूर्य किरणों के विचारणीय विज्ञान व्यवहार में हम कल्याण मन मे सुखयुक्त होकर रहें ॥ ६ ॥

शिक्षा—प्रत्येक ऋतु को स्वानुकूल और सुखमय बनाने के लिये पुष्कल ऋतु-याग करनी चाहिये ॥ ६ ॥

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ ७ ॥

(पूर्व्येभिः पथिभिः प्रेहि प्रेहि) पूर्वोत्पन्नबृहज्जनैः कृतैर्मर्यादितैः पथिभिर्जीवनमार्गैरिष्टापूर्त्तादिभिराचरणैर्हे जीव ! त्वं प्रेहि प्रेहि, जीवनान्तं गच्छ गच्छ पुनःपुनर्गच्छ नित्यंगच्छेत्यर्थः । "नित्यवीप्सयोः" (अष्टा० ८ । १ । ४) (यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः) येषु वर्तमाना नोऽस्माकं पूर्वे पितरः पालकजनाः परेयुः परागता जीवनान्तं प्राप्ताः सन्ति (स्वधया मदन्तोभा राजाना यमं वरुणं च पश्यासि (स्वधया मदन्तोदकेन त्वां मादयन्तौ तर्पयन्तौ "हर वैवस्वतोदकम्" (कठो० १ । ७) इति चोक्तम । 'मदन्ता-इत्यत्रान्तर्गतो णिजर्थः' । 'स्वधेत्युदकनामोक्तं पूर्वम' । उभा राजानोभौ राजमानौ महत्सत्ताकौ सर्वत्र व्याप्तौ यमं यमनशीलं सर्वान पदार्थान स्वायत्तीकर्तारमन्तकालं तथा वरुणं जन्मनोऽधिष्ठातृदेवं नूतनोत्पादाय सर्वपदार्थवरणशीलमाकाशे वर्तमानं मेघस्थं सूक्ष्मजलं देवं पश्यासि पश्येः । "लिङर्थे लेट्" (अष्टा० । ३ । ४ । ७) "आपो यच्च वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरुणोऽभवत्तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण" (गो पथ० पू० १ । ७) ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(पूर्व्येभिः पथिभिः प्रेहि प्रेहि) पूर्वोत्पन्न बड़ेलों के बनाये मर्यादित किये हुये जीवन-यात्रा सम्बन्धी इष्टापूर्त्त आदि आचरणरूप मार्गों से हे जीव ! तू जीवनान्त को पुनः २ या नित्य प्राप्त कर (यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः) जिन मार्गों में वर्तमान हुए हमारे पालक जन जीवनान्त आयु की पूर्णता को प्राप्त हुए हैं (स्वधया मदन्ताभा राजाना यमं वरुणं च देवं पश्यासि) जल के द्वारा तुझे सन्तुष्ट करते हुए दोनों राजमान बड़ी सत्ता वाले सर्वत्र व्याप्त, सब पदार्थों को स्ववश करने वाले अन्तकारी काल तथा जन्म के अधिष्ठाता नूतन-उत्पत्ति के लिये सब को वरने वाले आकाश में वर्तमान सूक्ष्म जल रूप वरुण देव को तू देख ॥ यह एक आन्तरिक विचार रूप उपदेश है ॥ ७ ॥

शिक्षा—जब का आयु को पूर्ण करके मृत्युरूप अन्तकाल को और फिर पुनर्जन्म के लिये मेघ के सूक्ष्म जल रूप वरुण का प्राप्त करना अनिवार्य है । अतः जीवन की अस्थिरता का ध्यान मे रखते हुए उत्तम कर्म-मार्गों पर चलना चाहिये ॥ ७ ॥

सङ्गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥ ८ ॥

(परमे व्योमन् पितृभिः सङ्गच्छस्व यमेनेष्टापूर्तेन सम्-) परमे व्योमन् हृदाकाशे वर्तमानस्त्वं हे जीव ! पितृभिः प्राणैः सह सङ्गच्छस्व सङ्गतो भव पुनर्जन्म-प्राप्तय इत्यर्थः । "यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्" (तैत्तिरीयो० २ । १ । १) "व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः" (मुण्डको० २ । २ । ७) तत्रैव च यमेन जीवनकालेन सह सङ्गतो भव । इष्टापूर्तेनानुष्ठितेन यज्ञादिशुभकर्मरूपेण धर्मेण सह संगतो भव "एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः" (मनुः ८ । १७) इति चोक्तम् (अवद्यं हित्वाय पुनरस्तमेहि सुवर्चास्तन्वा सङ्गच्छस्व) अवद्यं गर्ह्यमिदं शरीरं हित्वाय त्यक्त्वा पुनरस्तं पुनर्गृहं पुनर्योनिं पुनर्जन्मेत्यर्थः । "अस्तं गृहनाम" (नि० ३ । ४) एहि प्राप्नुहि । तत्र च पुनर्जन्मनि सुवर्चास्तन्वा सुन्दरेण शरीरेण सह सङ्गतो भव । 'सुवर्चाः' इत्यत्र 'सुपां सुपो भवन्तीति वचनात्तृतीयैकवचने प्रथमा बहुवचनम्' ॥ ८ ॥

भावार्थ—(परमे व्योमन् पितृभिः संगच्छस्व यमेनेष्टापूर्तेन सम्) हृदयाकाश में वर्तमान हुए हे जीव ! तू प्राणों के साथ सङ्गत होजा और वहीं जीवन-काल के साथ भी संगत हो, इष्टापूर्त यज्ञादि रूप सञ्चित किये धर्म-धन के साथ सङ्गति कर जो तेरा सच्चा मित्र मरने पर साथ जाता है (अवद्यं हित्वाय पुनरस्तमेहि सुवर्चास्तन्वा सङ्गच्छस्व) गर्ह्य यानि म्रियमाण या मरणधर्मी शरीर को छोड़ कर पुनर्जन्म को प्राप्त हो और उस पुनर्जन्म में सुन्दर शरीर के साथ युक्त होजा ॥ ८ ॥

शिक्षा—प्रत्येक जीव वर्तमान देहपात के अनन्तर पुनः प्राणों और जीवनकाल से सङ्गत होता है और कर्मों के अनुसार नूतन नाड़ी आदि से युक्त पुनः शरीर को धारण करता है ॥ ८ ॥

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ ९ ॥

(पितरोऽस्मा एतं लोकमक्रन्) ये पितरः सूर्यरश्मयोऽस्माच्छरीराज्जीवं नीत्वास्मा एतं लोकमिमं पृथिवीलोकं पुनर्जन्मार्थमक्रन् कुर्वन्ति । "छन्दसि लुङ्लङ्-लिटः" (अष्टा० ३ । ४ । ६) सामान्ये काले लुङ् । "सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोक-मिच्छतु । तस्मै युज्यन्तामुस्रियाः" (यजुः ३५ । २) (अतोऽपेत वीत विसर्पत च) अस्मात् स्थानात्तोऽपेतापगच्छन्तु वीत वियन्तु विसर्पत विसर्पन्तु । 'अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः' । अस्माच्छरीराज्जीवमादाय सूर्यरश्मयः क्रमेण पृथिव्यामपगच्छन्ति प्रसरन्ति, अन्तरिक्षे वियन्ति विस्तरेण गच्छन्ति, दिवि विसर्पन्ति सौक्ष्म्येन सर्पन्तीति सिद्धान्तितम् । यतो हि सूर्यस्त्रिधा स्वरश्मीन् प्रेरयति । उक्तं च वेदे "इदं विष्णुर्विचक्रमे

त्रिधा निदधे पदम्" (ऋ० १ । २२ । १७) तथा च निरुक्तमत्र "यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति" (निरु० १२ । १६) (यमो अस्मा अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तमवसानं ददाति) यमो विश्वकालोऽस्मै जीवायाहोभिरहर्गणेनाद्भिरुषोगणेनाक्तुभी रात्रिगणेनार्थात्कतिपयैरहरुषोरात्रिभिः प्रकटीकृतमवसानं विरामं ददाति पृथिव्यन्तरिक्षद्युस्थानगमनक्रमैः पुनर्जन्मप्राप्तये स्थिरीकरोतीत्यर्थः । "तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीगृ हे मे" इति चोक्तं कठेऽपि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(पितरोऽस्मा एतं लोकमक्रन्) जो ये सूर्य की रश्मियां हैं इस जीव के लिये इस पृथिवी लोक को पुनर्जन्मार्थ तय्यार करती हैं (अतोऽपेत वीत-विसर्पत च) अत एव इस स्थान से वे सूर्य की किरणें जीव को साथ लेकर अपगमन, विगमन और विसर्पण करती हैं अर्थात् प्रथम पृथिवी पर फैलती हैं पश्चात् ऊपर अन्तरिक्ष में पक्षी के तुल्य उड़ती हुई विस्तृत हो ले जाती हैं पुनः द्यु लोक में अति-सूक्ष्मता से पहुँचती हैं (यमोऽस्मा अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तमवसानं ददाति) सूर्य इस जीव के लिये अहर्गण-उषोगण--रात्रिगण से अर्थात् कुछ दिनों उषाओं और रात्रियों से प्रकटीभूत विराम को देता है । जैसे कठोपनिषद् में यम के यहां जीवात्मा के तीन दिन रात के रहने की चर्चा है । एव जो कि पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्युस्थान के गमन क्रम से सम्बन्ध रखता है, इस प्रकार पुनर्जन्म प्राप्ति के लिये स्थित करता है ॥ ६ ॥

शिक्षा—शरीरपात हो जाने के बाद जीव सूर्य की पृथिवी सम्बन्धी रश्मियों को प्राप्त होता है पुनः अन्तरिक्ष सम्बन्धी किरणों को और पश्चात् द्युस्थान सम्बन्धी रश्मियों तक पहुँचता है एवं स्थूल शरीर के विना ही कुछ दिन, उषा और रात्रियों तक विराम में रह कर पुनर्जन्म में आता है ॥ ६ ॥

अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अथा पितॄन् सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ १० ॥

(साधुना पथा चतुरक्षौ शबलौ सारमेयौ श्वानावतिद्रव) हे जीव ! त्वं साधुना पथा धर्म्येण मार्गेण चतुरक्षौ चतुष्प्रहरकौ शबलौ चित्रवर्णौ सारमेयौ सरमाया उषायाः पुत्रावहोरात्रौ । "सरमेति शब्दो मध्यस्थानदेवताप्रकरणे पद-नामसु निघण्टौ पठितत्वान्निरुक्ते च सरमा सरणादिति व्याख्यातत्वाददितिशब्देन सार्कं वर्णनाच्च सरमा शब्दस्यार्थ उषाऽत्र गृह्यते ।" सूर्यचन्द्रप्रकाशाभ्यां चित्रवर्णा-वहोरात्रौ शबलावत्रोच्यते । "शबलावहोरात्रावित्यत्र प्रमाणम् "श्यामश्च त्वा मा

शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ । अर्वाङेहि मा विदीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः" (अथ० ८ । १ । ६) प्रकृते दशममन्त्रे 'श्वानौ' एकादशे च 'पथिरक्षी' एवं द्वावपि शब्दौ पथिरक्षी श्वानौ, अथर्ववेदस्यैकस्मिन्नेव मन्त्रे पठितौ स्तः । तन्मन्त्रे च यत् कौषीतकिब्राह्मणवचनं तदत्र प्रमाणमुद्ध्रियते "अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः" (कौ० २ । ६) इति प्रामाण्याद्‌दङ्मन्त्रोक्तशबलौ पथिरक्षी श्वानावहोरात्राविति सिद्धम् । तावहोरात्रौ हे जीव ! त्वमतिद्रव सम्यग्याहि (अथा सुविदत्रान् पितॄनुपेहि ये यमेन सधमादं मदन्ति) अथानन्तरं हे जीव सुविदत्रान् सुशोभनान् कल्याणसम्पादकान् पितॄन् पालकान् ऋतुसहचरितान् सूर्यरश्मीनुपेह्युपागच्छ ये पितरो रश्मयो यमेन कालेन सधमादं सहयोगं युञ्जते भजन्ते ॥ १० ॥

भाषार्थ—(साधुना पथा चतुरक्षौ शबलौ सारमेयौ श्वानावतिद्रव) हे जीव ! तू उचित मार्ग से चार प्रहर रूप चार आंखों वाले, सूर्य तथा चन्द्रप्रकाश से चित्र रंग युक्त उषा-पुत्रो दिन और रात को समीचीन रूप से प्राप्त हो (अथ सुविदत्रान् पितॄनुपेहि ये यमेन सधमादं मदन्ति) इसके बाद कल्याण सम्पादक ऋतुसहचरित सूर्य की रश्मियों को प्राप्त कर जो समय के साथ सदा सहयोग रखती हैं ॥ १० ॥

शिक्षा—देहान्त के पश्चात् जीव शीघ्र २ दिन रातों को सूर्य रश्मियों द्वारा पुनर्जन्मार्थ प्राप्त होता है ॥ १० ॥

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ ।
ताभ्यामेनं परिदेहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि ॥११॥

(यम ते यौ रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ श्वानौ) हे यम ते तव यौ रक्षितारौ रक्षकौ चतुष्प्रहरकौ पथिरक्षी मार्गपालौ नृचक्षसौ नृणां मनुष्याणां द्रष्टारौ श्वानौ श्वानाविव पृष्ठगामिनावहोरात्रौ स्तः (ताभ्यामेनं परिदेहि) ताभ्यामहोरात्राभ्यामेनमेतं जीवं परिदेहि पुनर्जन्मार्थं समर्पय (राजन्नस्मै स्वस्ति चानमीवं च धेहि) हे राजन् ! अस्मै जीवाय स्वस्ति चानमीवं च धेहि सम्पादय ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(यम ते यौ रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ श्वानौ) हे समय ! तेरे जो रक्षक चारप्रहररूप चार आंखों वाले मार्गपाल प्राणियों के सदा दर्शक श्वान तुल्य प्रत्येक जीव के पीछे २ चलने वाले दिन और रात हैं (ताभ्यामेनं परिदेहि) उन दिन रातों के साथ इस जीव को पुनर्जन्म के लिये छोड़ दे (राजन्नस्मै

स्वस्ति चानमीवं च धेहि) हे राजन् ! इस जीव के लिये सत्तारूप स्वस्ति और नीरोगता का सम्पादन कर ॥ ११ ॥

शिक्षा—जीव का जीवन समय समाप्त हो जाने पर फिर से नया जीवन मिलता है जो कि शुद्ध और स्वस्थ होकर दिन रात के साथ पुनर्वहन करता है ॥११॥

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु ।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥ १२ ॥

(यमस्य दूतावुरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ जनाननु चरतः) यमस्य दूतावुरूणसौ महाकुटिलौ । "णस् कौटिल्ये भ्वादिस्ततोऽच्" असुतृपौ प्राणैस्तृप्यन्तावुदुम्बलावुरुबलौ महाबलौ जनान जायमानानुत्पद्यमानाननु-चरतो गतिं कुरुतः तौ सूर्याय दृशये इहास्मभ्यं भद्रमसुं पुनर्दाताम) तावहोरात्रौ सूर्याय दृशये पुनः पुनः सूर्यं दर्शयितुमिहास्मिन लोके ऽस्मभ्यं भद्रं सुखकरमसुं प्राणं पुनर्दातामपरजन्मधारयितुं पुनर्दत्तः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(यमस्य दूतावुरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ जनाननु चरतः) वे 'दिन और रात' काल के दूत बने हुए बड़े कुटिल कठोर स्वभाव के, प्राणों से तृप्त होने वाले महाबली, उत्पन्न हुए सभी जीवों के साथ २ चलते हैं (तौ सूर्याय दृशये इहास्मभ्यमसुं पुनर्दाताम) वे दिन और रात बारंबार सूर्यदर्शन के लिये इस लोक में हमारे वास्ते सुखदायक जीवन, धारण करने को दूसरा जन्म फिर देवें ॥ १२ ॥

शिक्षा—दिन और रात आयुरूप जीवनकाल के दूत बन कर बारंबार सूर्यदर्शन कराते हुए जीव के अन्तिम काल तक ले जाते हैं एवं पुनर्जन्म भी धारण कराते हैं ॥ १२ ॥

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः ॥१३॥

(यमाय सोमं सुनुत) यमायायूरूपाय जीवनकालाय विश्वकालाय च तत्सौष्ठ्यसम्पादनायेत्यर्थः । सोममोषधिरसं सुनुत निःसारयत (यमाय हविर्जुहुता) यमाय पूर्वोक्ताय हविर्जुहुत होत्रं कुरुत (अग्निदूतोऽरङ्कृतो यज्ञो यमं ह गच्छति) अग्निर्दूतो यस्य स एवमरङ्कृतोऽलङ्कृतः सम्यक्कृतो यज्ञो यमं कालं गच्छति ॥१३॥

भाषार्थ—(यमाय सोमं सुनुत) समय को अनुकूल बनाने के लिये ओषधि रस निकालना चाहिये पुनः (यमाय हविर्जुहुत) उस ओषधि रस की हवि

को अग्नि में होम करो (अग्निदूतोऽरङ्कृतो यज्ञो यमं ह गच्छति) अग्निदूत के द्वारा यह सम्पादित यज्ञ काल को प्राप्त हो जाता है ॥ १३ ॥

शिक्षा—आयुर्वैदिक ढंग से ओषधि-रस का होम जीवन को चिरकालीन बनाने का हेतु है ॥ १३ ॥

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।
स नो देवेष्वायमद्दीर्घायुः प्रजीवसे ॥१४॥

(यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्रतिष्ठत च) यमाय पूर्वोक्ताय जीवनकालाय विश्वकालाय वा तत्सौष्ठ्यसम्पादनायेत्यर्थः । घृतवद्धविघृ तयुक्तं हवनं जुहोत कुरुत प्रतिष्ठत च तत्र प्रकृष्टतां च प्राप्नुत (स नो जीवसे देवेषु दीर्घायुः प्रायमत्) स नोऽस्माकं जीवसे जीवनाय देवेष्विन्द्रियेषु दीर्घायुर्दीर्घस्थायित्व प्रायमद् विस्तारयति ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्रतिष्ठत च) पूर्वोक्त जीवन काल और विश्वकाल को अनुकूल बनाने के लिये घृत सहित ओषधि रसरूप हवि आदि का होम करो और जीवन की उच्चता को प्राप्त होवो (स नो जीवसे देवेषु दीर्घमायुः प्रायमत्) एवं वह काल हमारे अधिक और उत्तम जीवन के लिये हमारी इन्द्रियों में दीर्घजीवनी का विस्तार करे ॥ १४ ॥

शिक्षा—हव्य वस्तुओं में घृत मिलाकर या घृत के साथ हवन करने से इन्द्रिय-शक्तियां चिरस्थायी रहती हैं ॥ १४ ॥

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ १५ ॥

(यमाय राज्ञे मधुमत्तमं हव्यं जुहोतन) पूर्वोक्ताय सर्वत्र राजमानाय कालाय मधुमत्तम मधुररसयुक्तं हव्य होतव्यं वस्तु जुहोतन जुहुत (पथिकृद्भ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्य ऋषिभ्य इदं नमः) पथिकृद्भ्यो धर्ममार्गसम्पादकेभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पूर्वजापेक्षयाऽपि पूर्वेभ्यः प्राक्तनेभ्य ऋषिभ्य इदं मन्त्रत्रयोक्तं सोमघृत-मधुमिश्रं हविष्प्रदानं नमो नम्रत्वं शिष्टाचारोऽस्तु, अस्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यमाय राज्ञे मधुमत्तमं हव्यं जुहोतन) पूर्वोक्त सर्वत्र राजमान समय को अनुकूल बनाने के लिये मधु या मिष्ट से युक्त हवि का होम करना चाहिये (पथिकृद्भ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्य ऋषिभ्य इदं नमः) धर्ममार्ग सम्पादन करने वाले पूर्वजों की अपेक्षा भी जो पूर्व ऋषि हो चुके हैं उनके लिये यह तीन मन्त्रों में

कहा हुआ सोम-घृत-मधु सहित हविः का होमरूपकर्म नम्रतारूप या शिष्टाचार-रूप हो ॥१५॥

शिक्षा—समय को उपयोगी बनाने के लिये मधु या मिष्ट वस्तु से युक्त हवि का होम करना चाहिये। इस प्रकार सोमादि ओषधि का रस, घृत और मधु से मिश्रित हवियों का हवन करना आदि उत्तम कर्म पुराने ऋषियों के लिये शिष्टाचार का अनुष्ठान भी समझना चाहिये ॥ १५॥

त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता ॥ १६ ॥

(एकमिद् बृहत् त्रिकद्रुकेभिः षडुर्वीः पतति) एकमिदेक एव स्वाभाविकः स्वातन्त्र्येण विराजमानः कालः त्रिकद्रुकेभिर्भूतवर्तमानभविष्यन्नामकैस्त्रिचक्रैः षडुर्वीः भूमिरूपानृतून् पतति-प्राप्नोति "उर्वी पृथिवीनाम" (नि० १।१) कद्रुकं चक्रम् "कद् वैक्लव्ये" भ्वादिस्तस्मादौणादिको रुः प्रत्ययस्ततश्च कः । त्रिष्टुब्द्युलोकः । "त्रिष्टुबसौ द्यौः" (श० १।७।२।१५) गायत्री पृथिवीलोकः । "या वै सा गायत्र्यासीदियं वै सा पृथिवी" (श० १।४।१।३४) ता सर्वा छन्दांसि दिशोऽन्तरिक्षलोक इत्यर्थः "छन्दांसि वै दिशः" (श० ८।३।१।१२) यमे काले विश्वकाले, आहिता वर्तन्ते ॥ १६ ॥

भावार्थ—(एकमिद् बृहत्त्रिकद्रुकेभिः षडुर्वीः पतति) स्वभाव तथा निज स्वतन्त्रता में किसी की अपेक्षा न करने वाला एक अकेला काल (Time) 'भूत-वर्तमान-भविष्यत्' इन तीन कालचक्रों से ऋतुरूप छः भूमियों को प्राप्त होता है (त्रिष्टुब्गायत्री ता सर्वा छन्दांसि यम आहिता) द्यावापृथिवी और सारी दिशायें यानि अन्तरिक्ष काल (Time) के अन्दर ही रखे हुये हैं ॥ १६ ॥

शिक्षा—काल 'भूत-वर्तमान और भविष्यत्' रूप तीन चक्रों द्वारा छः ऋतुओं में विभक्त हो जाता है। न केवल प्राणियों के लिये ही यह काल यमन करने वाला है अपि तु पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ एवं तीनों लोकों यानि सम्पूर्ण भुवन समय के नियन्त्रण में रहता है अत एव समय का परिज्ञान और उस से उचित लाभ उठाना चाहिये ॥ १६ ॥

समालोचना—

मन्त्र १ में—

बड़े दुःख की बात है कि निरुक्त में इस मन्त्र की व्याख्या उपलब्ध

होते हुए भी किसी २ विद्वान् ने पौराणिकवाद की कल्पना की। हम नहीं कह सकते कि उन्होंने इसकी निरुक्त में व्याख्या देखी या नहीं अथवा देखते हुये भी जानबूझ कर स्वपक्षानुकूल न होने से उस को छोड़ दिया। उनके अर्थों में निम्न दोष प्रतीत होते हैं—

१—(बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्) बहुतों के लिये मार्ग को दिखलाते हुए।

दोष—'अनुपस्पशानम्' में 'दृश' के 'पश्य' विकार की कल्पना से 'यमलोक का रास्ता दिखलाते हुए' अर्थ करना ठीक नहीं है, क्योंकि निरुक्तकार के "अनुपस्पाशयमानम्" निर्वचन से इस प्रयोग में 'पश बन्धने' (चुरादि०) या 'स्पश बाधनस्पर्शयोः' (भ्वादि०) इन दो धातुओं का होना ही संभव है अन्य का नहीं। अर्थ की सङ्गति से हमें 'पश बन्धन' से बना हुआ जंचता है।

२—(प्रवतः महीरनु परेयिवांसम्) इसका अभिप्राय यह है कि सब को अपने २ कर्मानुसार उचित स्थान पर जन्म देता है।

दोष—'परेयिवांसम्' यह इण् धातु का क्वसुप्रत्ययान्त प्रयोग है, निरुक्त में यह बात स्पष्ट दिखला दी है। वहां निरुक्तकार ने इसका अर्थ 'पर्यागतवन्तम्' किया है। अतः कर्मानुसार उचित स्थान पर जन्म देता है, यह कल्पना ठीक नहीं है।

मन्त्र २ में—

(जज्ञानाः स्वाः पथ्या अनु) जात प्राणीमात्र अपने २ पथ्यों के अनुसार जाते हैं (कहां जाते हैं, इसका स्पष्टीकरण मर कर यमालय में) कोई विद्वान् ऐसा अर्थ करते हैं।

दोष—'जज्ञानाः' अभी तो उत्पन्न हुए अभी मरने के रास्तों पर चलने का प्रसङ्ग ही क्या ? हां यदि 'जज्ञानाः' की जगह 'म्रियमाणाः' पाठ होता तो 'मर कर यमलोक को जाते हैं।' ऐसा कहना कुछ सम्भव था, पर यहां तो 'जज्ञानाः' है इसका अर्थ जो हमने किया है कि उत्पन्न हुए सभी प्राणी और वनस्पति आदि पदार्थ अपनी अपनी प्रकृति योनि किंवा कर्मानुसार संसार में परिणाम और फल आदि को प्राप्त करते हैं। वही ठीक है। पुराणवादी अर्थ भी करते हैं किन्तु 'जज्ञानाः स्वाः पथ्या अनु' पुराणवाद के अर्थों में घटते हुए न देखकर ऐसा भी लिखते हैं कि 'पथ्याः' का भाव विशेष रूप से स्पष्ट नहीं होता।

मन्त्र ३ में—

१—माली मातलिरिन्द्रस्य सारथिस्तद्वानिन्द्रो मातली (सायण), मातली = इन्द्र (अन्य विद्वान्)

दोष—मातलि इन्द्र का सारथि और उस सारथि से युक्त मातली इन्द्र है। एवं मातली का इन्द्र अर्थ करना सर्वथा अनुपपन्न है क्योंकि प्रथम तो मातलि इन्द्र का सारथि हो इसके लिये निरुक्तादि वैदिक साहित्य में स्थान नहीं, दूसरे इकारान्त शब्द से मत्वर्थीय इन् प्रत्यय हो ही नहीं सकता उसका विधान अकारान्त से है। इस लिये मातली का इन्द्र अर्थ करना अनुचित है।

२—कव्यों, ऋक्वों को पितर माना और साथ में यह भी लिखा कि इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध अभी विशेष विचारणीय है। इनका एक दूसरे से बढ़ने का क्या अभिप्राय है यह समझ में नहीं आता।

दोष—सायण की हां में हां करके कव्यों और ऋक्वों का पितर-विशेष मान लिया किन्तु प्रमाण कुछ नहीं और न ही कोई सङ्गति होती है अत एव उस असङ्गति के दुःख को अनुभव किया।

३—'यान् देवा वावृधुः, ये देवान् वावृधुः' में ये, यान् देवों से भिन्नों का सङ्केत है। जो यद् शब्द के आपेक्षिक तद् शब्द से सम्बद्ध करना चाहिये। यथा, यद् शब्द देवों से भिन्न का सूचक है एवं अपेक्षाकृत तद् शब्द देवों से भिन्न में ही होना उचित है। जिसको 'ते ऽन्ये स्वधया स्वाहा मदन्ति' का कर्ता वनाना चाहिये जो हमारे अर्थों में सङ्गत है। यहाँ इस सापेक्ष योजना को तोड़ डाला।

मन्त्र ६ में—

१—"नवग्वाः" नव प्रकार की गति वाले अथवा मक्खन जैसी गति वाले का अभिप्राय व्यक्त नहीं होता (अन्य विद्वान्)

दोष—मन्त्र में दिये हुए सभी 'अङ्गिरसः' आदि का कल्पित पितरों के अर्थ करने में कुछ भी अभिप्राय व्यक्त नहीं होता। न केवल 'नवग्वाः' पर ही यह बात है 'भृगवः' का अर्थ करते हुए भी लिखा "भृगु का अर्थ है जो आग में भुना हुआ हो" क्या इस अर्थ में कुछ स्पष्टता है, क्या आग में भुने हुए भी पितर होते हैं? ऐसा असम्भवार्थ होने पर कैसे सन्तोष हो, स्वयं वादी को इसका गौणार्थ करना पड़ा कि "आग में भुने हुए पितर कौन होसकते हैं कि जिस की शरीर में आस्था न हो" अतः यह अर्थ-कल्पना उचित नहीं है।

मन्त्र ८ में—

१—स्वर्ग में जाने के लिये पितर तथा यम, मृत पुरुष की आत्मा को पृथिवी पर लेने आते हैं (अन्य विद्वान्)

दोष—जब कि वादी के मतानुसार यम प्रथम मरा और प्रथम स्वर्ग गया "यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्" (अथ० १८ अ० ३ । १३) पर। तो उस मरे हुए यम को स्वर्ग में ले जाने के लिये कौन आया था ? यदि स्वयं ही चला गया था तो अन्य मृत जन भी स्वयं ही स्वर्ग जा सकते हैं। जब कि यम स्वर्ग का राजा है तो हरेक मृत प्राणी के लेने के लिए पितरों के साथ कुली की तरह दौड़ा २ फिरे यह शोभा नहीं देता, अपि तु संसार में प्राणियों की अनन्तता के कारण उनका मरण भी अनन्त होने से कोई न कोई प्राणी हर वक्त मरता रहता है इस प्रकार यम उस मृत प्राणी को लेने के लिये दौड़ता रहता होगा तो पुनः स्वर्ग या यमलोक का राजा किस प्रकार सिद्ध हो सकता है,वह तो मुर्दे ले जाने वाला कुली ही रहा, राज्य कोई दूसरा करेगा, क्या ? यह बात भी अत्यन्त असम्भव ही रही। स्वर्ग में पहुँच कर पितरों को सुख मिलना चाहिये था किन्तु उनको यह मुर्दा ले जाने का काम तो क्या सुख प्राप्त करने देता होगा। जब राजा ही मारा २ फिरता है तो प्रजा की क्या कथा। प्रतीत होता है कि आपके कल्पित यम राजा के यहां कुली नहीं हैं जो स्वयं तथा बेचारे पुण्यात्मा पितरों को भी मुरदे ले जाने पड़ते हैं।

मन्त्र ६ में—

१—"इस मन्त्र में शव की अन्त्येष्टि क्रिया के लिये स्थान को पितर निर्धारित करते हैं ऐसा उल्लेख है" (कोई विद्वान्)

दोष—हमने बहुतेरे मुर्दे फूंके और लोग फूंकते हैं मगर आजतक किसी ने नहीं देखा कि आपके कल्पित पितर यम लोक से आकर अन्त्येष्टि के स्थान को निर्धारित करते हों। यदि वे यमलोक से आकर यह काम कर दिया करते तो लोगों का कुछ समय ही बच जाता किन्तु पुराने जानने वाले पुरुषों को ही अन्त्येष्टि का स्थान आदि निर्धारित करना पड़ता है। यदि इनको ही आप पितर कह देते तो कुछ बात भी थी। अतः यह सब मिथ्यास्वप्न है।

२—"यमलोक में दिन रात नहीं होते और वहां जल भी नहीं है" (अन्य विद्वान्)

दोष—क्या कोई ऐसा यमलोक हो सकता है ? वस्तुतः होना न होना बराबर है। भला जहां दिन नहीं रात नहीं यानि प्रकाश नहीं अँधेरा नहीं जल नहीं तो वहां हो क्या सकता है ? ऐसे स्थान की कल्पना क्या कोई बुद्धिमान् कर सकता है। नहीं नहीं, यह स्वप्न है और भ्रम है। बड़ा आश्चर्य तो यह है कि निज विचारों या सिद्धान्तों में मतभेद भी मिलता है। यहां पर तो आपने यमलोक स्वर्ग को प्रकाश

आदि से शून्य वर्णन किया परन्तु (अथ० १८ । २ । ४८) पर उसको 'प्रद्यौः' नाम दिया है ।

मन्त्र १६ में—

१—'यम' नियन्ता परमात्मा में 'आहिता' स्थित हैं (अन्य विद्वान्)

दोष—यहां पर आपकी प्रतिज्ञा में बाधा पड़ी जो यम का अर्थ पितृपति यमलोकवासी न लेकर परमात्मा का अर्थ किया । अस्तु ।

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १५ ।

इस सूक्त के प्रथम मन्त्र की व्याख्या निरुक्त में की गई है जो नीचे मन्त्र-भाष्य में उद्धृत है । उस में निरुक्तकार ने आधिदैविक विषय को दर्शाया है । तथा "तस्मान्माध्यमिकान् पितॄन् मन्यन्ते" (नि० ११ । १८) इस तत्रस्थ वचन से भी विशेष स्पष्टीकरण हो जाता है । सम्पूर्ण सूक्त के देवता पितर हैं । और इसमें मुख्यरूपेण यज्ञ प्रक्रिया का विधान है जिस में दो प्रकार के पितर उपयुक्त होते हैं । एक जड़ पितर सूर्य की रश्मियां दूसरे चेतन पितर ज्ञानी लोग । लोकप्रत्यक्ष भी यही है । यज्ञ का उत्तमोपयोग विना सूर्यकिरणों और ज्ञानी पुरुषों के नहीं हो सकता, अत एव सूर्योदय के पश्चात् से सूर्यास्त से पूर्व २ यज्ञ करने का याज्ञिक सिद्धान्त है । तथा ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्गाता, होता आदि ज्ञानी जनों के द्वारा यज्ञ करने का आदेश भी है । अत एव इस सूक्त में संक्षेप से यज्ञप्रक्रियाविज्ञान है, साथ साथ पितृपरिचय, ज्ञानीजनों का यज्ञ में कर्तव्य और सूर्यरश्मियों का उपयोग-विज्ञान दर्शाया है । यज्ञ के तीन सवन, पृथिवीभ्रमण से अहोरात्रवृत्त में सूर्यरश्मियों के मुख्य स्थान या केन्द्र, यज्ञ के योग से किरणों का पोषक और बलदायक बनना, बुद्धि का विकसित करना, उदित, तप्त और शान्त रश्मियों का वर्तन, उत्तरायण और दक्षिणा-यन में सूर्यरश्मियों का यज्ञ में लाभ और यज्ञाहुति का रश्मियों द्वारा प्रसार, ज्ञानी जनों के द्वारा यज्ञ का सेवन और उनका सत्कार, निज सन्देहों या प्रश्नों का उनसे समाधान तथा उपदेश प्राप्त करना आदि २ उपयोगी बातों का वर्णन है—

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्तेनोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ १ ॥

(उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः) "उदीरतामवर उदीरतां पर उदीरतां मध्यमाः पितरः सोम्याः सोमसम्पादिनस्ते" (नि० ११ । १८) अवरे प्रातःसवनीयाः सोमसम्पादिन उत्पद्यमानेषु रससम्पादिनःसूर्यरश्मयो रसयुक्तान् पदार्था-

नुदीरतामुन्नयन्तु मध्यमा माध्यन्दिनसवनीयाः पूर्ववद्रससम्पादिनो रविकिरणा उदीरतामुन्नयन्तु तानेव पदार्थान्। परासस्तृतीयसवनिकाः सूर्यरश्मय उदीरतामुन्नयन्तु तानेव। एवं त्रीणि सवनानि यज्ञस्य भवन्ति तत्सम्बद्धाः सर्वे हि सूर्यरश्मय उन्नयन्तु (असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते पितरो नो हवेष्ववन्तु) "असुं ये प्राणमन्वीयुरवृका अनमित्राः सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा ते न आगच्छन्तु पितरो हवेषु" (निरु० ११ । १८) ये पितरः सूर्यरश्मयोऽसुं प्राणं प्राणवन्तं जीवमात्रमीयुः प्राप्ताः सन्ति तेऽवृका अनमित्रा अस्माभिः सह संश्लिष्टा ऋतज्ञा यज्ञज्ञा वा यज्ञस्य ज्ञानसाधकाः । 'कृतो बहुलमित्यपि करणे कः' अस्माकं ह्वानेषु विचारस्पर्द्धासून्नेतुमागच्छन्त्वागच्छन्ति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अवरे पितरः सोम्यास उदीरतामुन्मध्यमा उत्परासः) उत्पन्न हुए जगत् पदार्थों में रस को सम्पादन करने वाली प्रातः सवनीय सूर्यरश्मियां उन जगत्पदार्थों को उन्नत करती हैं एवं मध्यसवन और तृतीयसवन की रश्मियां भी उनको उन्नत करती हैं, जब कि यज्ञ से संयुक्त हुई रश्मियां फैलती हैं (असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते पितरो नो हवेष्ववन्तु) और वह सूर्यरश्मियां जीवमात्र में संगत होती हैं अत एव हम से संश्लिष्ट होकर यज्ञ के उपयुक्त ज्ञान की साधक बन हमारे आन्तरिक विकासों में उन्नति के लिये प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥

शिक्षा—यज्ञ के योग से सूर्य की रश्मियां जड़ चेतन प्राणीमात्र के जीवन-रस को उन्नत करने वाली बनती हैं। अत एव हम यज्ञ के उपयोग-ज्ञान से उन रश्मियों को अपने जीवन के लिये उन्नायक बनावें ॥ १ ॥

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥ २ ॥

(पितृभ्य इदं नमोऽस्तु) पितृभ्यः सूर्यरश्मिभ्य इदं नमोऽयं यज्ञोऽस्तु । "यज्ञो वै नमः" (श० । २ । ४ । २ । २४) कतमेभ्यः (अद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयु र्ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु) अद्यास्मिन्दिनेऽद्यतने ये पूर्वासः पूर्वदिशासम्बन्धिनः सूर्यरश्मय ईयुः प्राप्ताः सन्ति य उपरासः पश्चिमदिशामीयुः प्रतिगताः सूर्यरश्मयो ये पार्थिवे रजसि पृथिवीलोके पृथिवीतले वा सम्प्रविष्टा रश्मयः । "लोका रजांस्युच्यन्ते" (निरु० ४ । १९) ये वा सुवृजनासु सु स्पष्टं निर्मलं वृजनमन्तरिक्षमाकाशं यासां तासु अन्तरिक्षवासिनीषु विक्षु प्रजासु समन्तात्प्रविष्टाः सन्ति तेभ्यः सूर्यरश्मिभ्यः पूर्वोक्तो यज्ञोऽस्तु ॥ "वृजनमन्तरिक्षम्" उणादि० दयानन्दः ॥ "वृजनम् Sky" आपटे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पितृभ्य इदन्नमोऽस्तु) सूर्य रश्मियों के लिये यज्ञ हो (अद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुर्ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु) आज जो पूर्व दिशा सम्बन्धी सूर्य रश्मियां प्राप्त होती हैं तथा जो पश्चिम दिशा में वर्तमान हैं या जो किरणें पृथिवी के अन्दर और जो आकाश में रहने वाले लोकों या प्राणीवर्ग में वर्तमान हैं उन सभी किरणों को उपयोगी बनाने के लिये यज्ञ है ॥ २ ॥

शिक्षा—सूर्य के पूर्व पश्चिम रूप उदयास्त मार्ग से प्राप्त किरणों तथा पृथिवी के अन्दर पार्थिव वस्तुओं और आकाशस्थ पदार्थों को प्राप्त रश्मियों को यज्ञक्रिया से उपयोगी बनाना चाहिये।

२—सूर्य को किरणों के वैज्ञानिक ४ केन्द्र (Centre) बनते हैं जो उदय, अस्त, मध्य-दिन और मध्य-रात्रि के विभाग से अपना कार्य करते हैं ॥ २ ॥

आहं पितॄन् सुविदत्राँ अविित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ३ ॥

(अहं सुविदत्रान् पितॄनावित्सि विष्णोर्नपातं विक्रमणं च) अहं सुविदत्रान् कल्याणविद्यान पितॄन पालकजनान् तथा विष्णोर्यज्ञस्य नपातं स्थिरत्वं व्याप्तित्वं विक्रमणं चान्तरिक्षे सञ्चारविशेषं चावित्सि-आस्मरामि मनसि धारयामि "यज्ञो वै विष्णुः" (श० १३ । १ । ८ । ८) आवित्सि 'विद् विचारणे' लुङि रूपम् । (ये बर्हिषदः सुतस्य पित्वः स्वधया भजन्त त इहागमिष्ठाः) ये बर्हिषदो यज्ञासने सीदन्ति ते सुतस्य सम्पादितस्य पक्वस्य पित्वोऽन्नस्य । "पितुरन्ननाम" (नि० २ । ७) स्वधया स्वधारणया स्वेच्छया भजन्त भजत सेवेध्वम् । 'अत्र नकारोपजनश्छान्दसः' । अत एव यूयमत्रागमिष्ठा आगच्छत । स्वधा=स्वधारणा 'मुख्यशब्दार्थसमन्वये पश्यत' ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहं सुविदत्रान पितॄनावित्सि विष्णोर्नपातं विक्रमणं च) मैं शुभ विद्या सम्पन्न पालक जनों, विद्वानों तथा यज्ञ की प्रसाररूप व्याप्ति को भली प्रकार जानता हूँ (ये बर्हिषदः सुतस्य पित्वः स्वधया भजन्त त इहागमिष्ठाः) इस यज्ञावसर पर तुम सब विद्वानों शुभासन पर विराजित हुए स्वेच्छा से भोजन खाओ अत एव यहां आकर विराजो ॥ ३ ॥

शिक्षा—यज्ञ क्रिया का फल बहुत दूर तक व्यापता है। और उस यज्ञ का अनुष्ठान परिचित शुभविद्यासम्पन्न विद्वानों के द्वारा करना चाहिये । पुनः उन विद्वानों को उनकी इच्छानुसार भोजन खिलाना चाहिये ॥ ३ ॥

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आगतावसा शन्तमेनाथा नः शंयोरपो दधात ॥ ४ ॥

(बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वाग्व इमा हव्या चकृमा जुषध्वम्) बर्हिषदो यज्ञासन उपविष्टार ऊती-ऊत्यै-अस्मद्रक्षायै । "सुपां सुपो भवन्ति" (वार्तिक० अष्टा० ७ । १ । ३९) विभक्तिव्यत्ययः । अर्वागत्र यज्ञे वो युष्मभ्यमिमानि हव्या हव्यानि चकृमा कुर्मः सम्पादयामः सज्जीकुर्मो यूयं जुषध्वमग्नौ प्रक्षेपार्थं प्रयुङ्ध्वम् (ते शन्तमेनावसाऽऽगत नो ऽरपः शंयोर्दधात) ते यूयं विद्वांसः शन्तमेन सुखमयेनावसा रक्षणेन सदैवागत प्राप्नुत नोऽस्मभ्यमरपः पापरहितंभावं शंयो रोगाणां शमनं यावनं च भयानां धारयत तथा च निरुक्तम् (४ । ११) ॥ ४ ॥

भावार्थ—(बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्) यज्ञासन पर बैठे हुए हे विद्वानो ! हम अपनी रक्षा के लिये तुम्हारे वास्ते होम की वस्तुओं को तैयार करते हैं इनको तुम अग्नि में डालकर काम में लाओ (ते शन्तमेनावसाऽऽगत नो ऽरपः शंयोर्दधात) वे तुम विद्वानो ! सुखमय रक्षण के कारण सदा प्राप्त हुआ करो और हमारे लिये शुद्धभाव, रोगनिवृत्ति और भय के दूरीकरण का उपाय करते रहो ॥ ४ ॥

शिक्षा—यज्ञ में विद्वानों को निमन्त्रित करके उनसे अपने रोगनिवृत्ति और आपत्तियों से बचने के लिये कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ ४ ॥

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ५ ॥

(बर्हिष्येषु प्रियेषु निधिषूपहूताः सोम्यासः पितरः) बर्हिष्येषु यज्ञसंबन्धिषु प्रियेषु स्वानुकूलेषु निधिषु दक्षिणारूपगवादिधनेषूपहूता निमन्त्रिताः सोम्यासः सोमसम्पादिनः सोमवन्तः सोमौषधिरससम्पादनादिक्रियाकुशलाः पितरो ज्ञानिजनाः सन्ति "तद्ये सोमेनेजानास्ते पितरः सोमवन्तः" (श० २ । ६ । १ । ७) (त आगमन्तु त इह श्रुवन्तु तेऽधिब्रुवन्त्वस्मानवन्तु) पूर्वोक्तास्ते विद्वांस इहात्रागमन्त्वागच्छन्तु श्रुवन्त्वस्मत्प्रश्नान् शृण्वन्त्वधिब्रुवन्तु पश्चादुपदिशन्त्वित्थं श्रवणोपदेशाभ्यां नोऽस्मान् रक्षन्तु ॥ ५ ॥

भावार्थ—(बर्हिष्येषु प्रियेषु निधिषूपहूताः सोम्यासः पितरः) यज्ञसम्बन्धी स्वानुकूल दक्षिणारूप गौ आदि धनों के निमित्त निमन्त्रित जो सोमवान् सोमौषधिरस

सम्पादन आदि क्रिया में कुशल विद्वान् ज्ञानिजन हैं (त आगमन्तु त इह श्रुवन्तु तेऽधिब्रुवन्त्वस्मानवन्तु) वे विद्वान् यहां आवें, हमारे प्रश्नों को सुनें उपदेश दें या समाधान करें इस प्रकार श्रवण और उपदेश से हमारी रक्षा करें ॥ ५ ॥

शिक्षा—यज्ञ में क्रिया कुशल विद्वानों को निमन्त्रित करना तथा उनसे अपने विविध प्रश्नों का समाधान और उपदेश सुनना सत्कारार्थ इच्छानुकूल गौ आदि पदार्थ दक्षिणा में देने चाहियें ॥ ५ ॥

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभिगृणीत विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितरः केनचिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ६ ॥

(पितरो जान्वाच्य विश्वे दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभिगृणीत) हे पितरो विद्वांसो जान्वाच्योभे जानुनी प्रसार्यासनं विधायेत्यर्थः । जानु 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण०' (अष्टा० ७ । १ । ३९) अनेन द्विवचनप्रत्ययस्य लुक् । यूयं विश्वे सर्वे दक्षिणतो दक्षिणायां दिशि दक्षिणपार्श्वे वा निषद्य स्थित्वेमं यज्ञमभिगृणीत स्वीकुरुत 'विदुषां वामपार्श्वे स्थेयमिति शिष्टाचारः । ब्रह्मासनं च दक्षिणायां कल्प्यते' (यद्व आगः पुरुषता कराम केनचिन्नो मा हिंसिष्ट) यद्वो युष्माकमागोऽपराधं सत्कारे दक्षिणायां वा पुरुषतया कराम कुर्मः । अत्र सामान्ये काले लोट् शप् च विकरणव्यत्ययेन । केनचिदप्यपराधेन नोऽस्मान् मा हिंसिष्ट न हिंस्थेति वयं जानीमः ॥६॥

भाषार्थ—(पितरो जान्वाच्य दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञं विश्वेऽभिगृणीत) हे विद्वान् लोगो ! दोनों जानुओं को आसन की विधि से फैला कर तुम सब दक्षिण दिशा या दक्षिण भाग में बैठ कर इस यज्ञ को स्वीकार करो क्योंकि विद्वानों के वामपार्श्व में बैठने का शिष्टाचार है अथवा यज्ञ में ब्रह्मा का आसन दक्षिण में होता है (यद्व आगः पुरुषता कराम केनचिन्नो मा हिंसिष्ट) और जो तुम्हारे प्रति हम कोई शिष्टाचार या दक्षिणा आदि में मनुष्य होने से गलती करें तो उस किसी भी गलती के कारण तुम लोग हिंसा नहीं करते हो यह हम जानते हैं ॥७॥

शिक्षा—विद्वानों को दक्षिण भाग में आसन पर बिठला कर यज्ञ का आरम्भ करना चाहिये । अपनी भूल के सम्भव होने से उनसे नम्रता पूर्वक गलती को स्वीकार करना और क्षमा मांगना चाहिये ॥६॥

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ७ ॥

(अरुणीनामुपस्थ आसीनासः पितरो दाशुषे मर्त्याय रयिं धत्त तस्य पुत्रेभ्यो वस्वः प्रयच्छत त इहोर्ज दधात) "अरुण्यो गाव उषसाम्" (नि० २ । २८) इति प्रामाण्यात् । अरुणीनामुषोऽन्तर्गतप्रकाशधाराणामुपस्थ उपस्थाने उपरिभाग आसीनासः संलग्नाः संश्रिताः पितरः सूर्यरश्मयो दाशुषे यजमानाय मर्त्याय मनुष्याय रयिं वीर्यं बलमित्यर्थः । "वीर्यं वै रयिः" (श० १३ । ४ । २ । १३) धत्त धारयन्तु । पुरुषव्यत्ययः । तस्य पुत्रेभ्यः सन्तानेभ्यो वस्वः प्राणान् प्रयच्छत प्रयच्छन्तु ददतु । "प्राणा वाव वसवः" (छान्दो० अ० ३।१६।१) पूर्वोक्तास्त उषःकालसम्बद्धाः सूर्यरश्मय इहोभयत्र यजमाने तत्पुत्रेषु चोर्जं रसं दधात धारयन्तु । "ऊर्ग्रसः" (निरु० ६ । ४३) "ऊर्ग्वै रसः" (श० ५ । १ । २ । ८) अन्यत्रापि वेदेऽरुणीशब्दस्योषःशब्देन सह सम्बन्धस्तथा पितरः सूर्यरश्मय इति विज्ञानं प्रतीयते "आवहन्त्यरुणी ज्योतिषागान्मही चित्रा रश्मिभिश्चेकिताना । प्रबोधयन्ती सुविताय देव्युषा ईयते सुयुजा रथेन" (ऋ० ४।१४।३) "अधा यथा नः पितरः परासो प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः । शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामाभिन्दन्तो अरुणीरपव्रन्" (ऋ० ४ । २ । १६) ॥७॥

भावार्थ—(अरुणीनामुपस्थ आसीनासः पितरो दाशुषे मर्त्याय रयिं धत्त) उषा सम्बन्धी प्रकाशधाराओं के उपरिभाग पर संस्थित सूर्यरश्मियां यजमान मनुष्य के लिये बल को धारण कराती हैं (तस्य पुत्रेभ्यो वस्वः प्रयच्छत) और उसके पुत्रों के लिये भी शुद्ध प्राणों का दान करती हैं । (त इहोर्ज दधात) वे सूर्यरश्मियां इस प्रकार दोनों यजमान और उसकी सन्तति में जीवनरस का धारण कराती हैं ॥७॥

शिक्षा—यज्ञ सेवन करने वाले मनुष्य तथा उनकी सन्तति में जीवनरस, बल और प्राणशक्तियों का सूर्य की रश्मियाँ वास कराती हैं ॥७॥

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ८ ॥

(ये पूर्वे सोम्यासः पितरः सोमपीथं वसिष्ठा नोऽनूहिरे) ये पूर्वे प्रातस्तनाः सूर्योदयकालप्रमाणाः सोम्यासः सोमसम्पादिनो रससम्पादिनो वसन्तर्तुवत् पितरः सूर्यरश्मयः सोमपीथं सोमस्य पीथं रसस्य पातारं सूर्यं वसिष्ठाः वस्तृतमा नोऽस्माननूहिरे ऽनूहन्तेऽनुवितर्कयन्ति कार्येषु प्रेरयन्ति । "यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः" (श० ८ । १ । १६) (तेभिरुशद्भिः संरराणो यम उशन् हवींषि प्रतिकाममत्तु) तैर्दीप्यमानै रश्मिभिः संरराणः संरममाणो यमः सूर्यः "यमो

रश्मिभिरादित्यः" (निरु० १२ । २६) उशन् दीप्यमानो हवींष्यग्नौ प्रक्षिप्तानि हव्यानि वस्तूनि प्रतिकाममस्मत्कामनानुसारमत्तु गृह्णातु गृह्णाति ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(ये पूर्वे सोम्यासः पितरः सोमपीथं वसिष्ठा नोऽनूहिरे) जो पूर्वकालीन सूर्योदय के साथ ही उदय होने वाली वसन्त ऋतु के तुल्य रससम्पादन करने वाली किरणें सूर्य का अत्यन्त आश्रय लेने वाली हम को कार्यों में प्रेरित करती हैं (तेभिरुषद्भिः संरराणो यम उशन् हवींषि प्रतिकाममत्तु) उन देदीप्यमान रश्मियों के साथ सम्यक् रम्यमाण सूर्य तेज से देदीप्यमान होता हुआ अग्नि में डाली हुई हवियों का हमारी इच्छाओं की पूर्ति के लिये ग्रहण करता है ॥ ८ ॥

शिक्षा—प्रातःकाल की सूर्य रश्मियां यज्ञ में उपयुक्त हुई २ हमारे अन्य कार्य-कुशलता की प्रेरणा करती हैं और उदयकाल का सूर्य भी हमारी मानस प्रसन्नता और शारीरिक सुखजीवनी का हेतु बनता है ॥ ८ ॥

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिः घर्मसद्भिः ॥ ९ ॥

(ये देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैस्तातृषुः) ये सूर्यरश्मयो देवत्रा-जेहमाना देवान्-गच्छन्तो देवत्वं द्युस्थानत्वं प्राप्नुवन्तः । "देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा" (निरु० ७ । १५) होत्राविदोऽङ्गचेतकाः "होत्रा अङ्गानि" (गोपथ ३ । ६ । ६) स्तोमतष्टासः स्तोमा प्राणास्तष्टा शोधिता यैस्ते "प्राणा वै स्तोमाः" (श० ८ । ४ । १ । ४) अर्कैस्तातृषुरद्भिस्तृष्यन्ति जलमाकर्षितुं पृथिवीं पतन्ति "आपो वा अर्कः" (श०१० । ४ । १ । २३) हेतौ तृतीया (सुविदत्रेभिः सत्यैः कव्यैर्घर्मसद्भिः पितृभिरग्नेऽर्वाङायाहि) कल्याणीविद्या येषां तैः सत्यैः सत्सु विद्यमानेषु भवैर्व्याप्तैः कव्यैः सूर्यान्तर्भवैः । "असौ वा आदित्यः कविः"(श० ६ । ७ । २ । ४) घर्मसद्भिरहःसद्भिर्मध्यमदिनं प्राप्नुवद्भिः "तप्त इव वै घर्मः" (श० १४ । ३ । १ । ३३) किरणैः सहाग्न आयाह्यत्र यज्ञे वृष्टिनिमित्तमायाहि प्राप्नुहि ॥९॥

भाषार्थ—(ये देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैस्तातृषुः) जो सूर्य की किरणें देवत्व को प्राप्त होती हुई तीक्ष्णता के कारण प्राण्यङ्गों में घुसती हुई प्राणों को स्वेदन से संशोधित करती हुई जलों के आकर्षण के लिये तृषित हुई भूमि पर गिरती हैं (सुविदत्रेभिः सत्यैः कव्यैर्घर्मसद्भिः पितृभिरग्न आयाहि) उचित विज्ञान लाभ जिनसे हो सकता हो ऐसी उन मध्याह्न गत किरणों के साथ यह अग्नि वृष्टि निमित्त यज्ञ में प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

शिक्षा—मध्याह्नकाल में सूर्य की किरणें प्राणियों के अङ्ग २ में घुस जाती हैं और प्राणों का शोधन करती हैं। इनका विज्ञान के द्वारा उपयोग होना चाहिये ॥९॥

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः ।
अग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ १० ॥

(ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः) ये सत्यासः स्थिराः सर्वत्र व्याप्ता हविरदो हविष्पा अब्भक्षास्तथोदकपा इन्द्रेण सूर्येण दैवैर्विद्युद्भिश्च सह सरथं समानरमणस्थानं दधाना धारयन्तः (देववन्दैः पूर्वैः परैर्घर्मसद्भिः पितृभिरग्ने सहस्रं याहि) देववन्दैर्देवानां वन्दनसाधनैः पूर्वैः प्रथमैः प्रातःकालिकैः परैः सायन्तनैश्च घर्मसद्भिरहःसद्भिः सूर्यरश्मिभिरग्ने सहस्रं बहुवारं मुहुर्मुहुर्वा याहि प्राप्तो भव ॥ १० ॥

भाषार्थ—(ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः) जो सर्वत्र व्याप्त जल का भक्षण तथा शोषण करने वाली किरणें सूर्य तथा विद्युत् आदि दिव्य पदार्थों के साथ सहयोग रखती हुई (देववन्दैः पूर्वैःपरैर्घर्मसद्भिः पितृभिरग्ने सहस्रं याहि) देववन्दन दिव्यज्ञान की साधनभूत प्रातःकालीन और सायंकालीन रश्मियों के साथ तथा दिन में प्राप्त किरणों के साथ भी हे अग्ने ! तू असंख्यरूपेण बारंबार प्राप्त हो ॥ १० ॥

शिक्षा—जो सूर्य की किरणें जल का भक्षण या शोषण करती हुई हों उनके प्रकाश से किन्हीं दिव्य बातों का परिचय लेना चाहिये ॥ १० ॥

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ ११ ॥

(अग्निःष्वात्तः पितर इहागच्छत सुप्रणीतयः सदः सदः सदत) अग्निर्यज्ञाग्निः स्वात्तः सम्यग्गृहीतो यैस्ते पितरः सूर्यरश्मयः "अग्निष्वात्ता ऋतुभिः संविदानाः" (तै० २ । ६ । १६ । २) "आयातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः" (अथर्व० ३ । ८ । १) इहास्मद्गृह आगच्छत समन्तात्प्राप्ता भवन्तु । पुरुषव्यत्ययः । तथा सुप्रणीतयः सु सम्यक्प्रणीतिः प्रणयनं घृतादिसम्पर्कः सञ्चारो येषां ते सदः सदः प्रतिगृहं सदत गच्छन्तु (बर्हिषि प्रयतानि हवींष्यात्ताधा रयिं सर्ववीरं दधातन) बर्हिषि यज्ञे प्रयत्तानि दत्तानि हवींषि हव्यानि वस्तूनि अत्ता गृह्णन्तु, अधाऽनन्तरं सर्ववीरं सर्वे वीरा यस्मात्तत्सर्ववीरं रयिं वीर्यं बलं दधातनास्मासु धारयन्तु ॥ ११ ॥

भावार्थ—(अग्निष्वात्ताः पितर इहागच्छत सुप्रणीतयः सदः सदः सदत) यज्ञाग्नि को सम्यक् ग्रहण की हुई किरणें इस मण्डल में समन्त रूप से फैलें एवं सुसंचरित होकर घर २ या स्थान २ में भली प्रकार प्राप्त हों (बर्हिषि प्रयतानि हवींष्यत्ताथा सर्ववीरं रयिं दधातन) यज्ञ में दी गई हव्यवस्तुओं को प्राप्त हों पुनः सर्वप्रकार के वीरगुणयुक्त बल को हम में धारण करावें ॥ ११ ॥

शिक्षा—सूर्य की रश्मियाँ यज्ञ के सम्पर्क से सुगन्ध गुणयुक्त होकर यज्ञ मण्डल के घर २ में प्रवेश करती हैं और लाभप्रद होती हैं ॥ ११ ॥

त्वमग्न ईडितो जातवेदोऽवाड् हव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ १२ ॥

(जातवेदोऽग्ने त्वमीडितो हव्यानि सुरभीणि कृत्व्यवाट्) हे जातेषु विद्यमानाग्ने यज्ञाग्ने त्वमीडितो यज्ञेऽध्येषितः प्रेरितः सन् हव्यानि वस्तूनि सुरभीणि सुगन्धीनि कृत्वी कृत्वाऽवाड् ऊढवान (देव प्रयता हवींषि त्वमद्धि पितृभ्यः प्रादाः स्वधया तेऽक्षन्) देव हेऽग्निदेव ! प्रयता दत्तानि हवींषि हव्यानि वस्तूनि त्वमद्धि भक्षय सूक्ष्मी कुरु पितृभ्यः सूर्यरश्मिभ्यः प्रादा देहि ते च रश्मयः स्वधया स्वधारण-शक्त्याऽक्षन् भक्षयन्तु सूक्ष्मीकृत्य प्रसारयन्त्विति यावत् ॥ १२ ॥

भावार्थ—(जातवेदोऽग्ने त्वमीडितो हव्यानि सुरभीणि कृत्व्यवाट्) सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान अग्ने ! तू यज्ञ में प्रेरित प्रज्वलित हो कर हव्य वस्तुओं को सुगन्ध वाली बना कर वहन करती है (देव प्रयता हवींषि त्वमद्धि पितृभ्यः प्रादाः स्वधया तेऽक्षन्) हे अग्निदेव ! दी हुई उन हव्य वस्तुओं को खा यानि सूक्ष्म बना और पुनः सूर्य रश्मियों के सुपुर्द कर, वे भी अपनी धारणशक्ति से सूक्ष्म कर के सर्वत्र फला दें ॥ १२ ॥

शिक्षा—अग्नि में हव्य वस्तु अति सुगन्ध को प्राप्त होती है और पुनः अग्नि में सूक्ष्म हो कर सूर्य किरणों के आधार पर और भी सूक्ष्म बन कर फैल जाती हैं ॥ १२ ॥

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म ।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥१३॥

(ये च पितर इह ये च नेह यांश्च विद्म याँ उ न प्रविद्म) ये च पितरः सूर्य-रश्मय इहात्राऽस्मद्गृहे ये च नेह नात्र यांश्चसूर्यरश्मीन् विद्म वयं जानीमो यान् उ

यानपि न प्रविद्म न जानीमः (जातवेदो यति त्वं वेत्थ स्वधाभिः सुकृतं यज्ञं जुषस्व) जातवेदो हे जातेषु विद्यमानाग्ने यति यावतस्त्वं वेत्थ लब्धवान् तान् सर्वानपि रश्मीन् स्वधाभिः स्वधारणशक्तिभिरिमं सुकृतं सुसम्पादितं यज्ञं जुषस्व प्रापय ॥ १३ ॥

भावार्थ—(ये च पितर इह ये च नेह यांश्च विद्म याँ उ न प्रविद्म) जो सूर्य-रश्मियां इस यज्ञगृह या यज्ञकाल में हैं या जो यहां नहीं हैं तथा जिन किरणों को प्रति दिन उपयोग द्वारा जानते हैं अथवा जिनको हम नहीं भी जानते हैं (जातवेदो यति त्वं वेत्थ स्वधाभिः सुकृतं यज्ञं जुषस्व) उन सभी को हे अग्निदेव ! तू प्राप्त करता है अत एव उन सब में इस सुसम्पादित हमारे यज्ञ को अपनी धारणाशक्तियों से पहुँचा दे ॥ १३ ॥

शिक्षा—अग्नि में किया हुआ यज्ञ अपने घर, दूसरे के घर तथा वर्तमान समय और दूसरे समय एवं विज्ञात और अविज्ञात सूर्य की किरणों को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभिः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥ १४ ॥

(येऽग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा दिवो मध्ये स्वधया मादयन्ते) येऽग्निदग्धा अग्निर्दग्धो दीपितो यैस्ते ग्रैष्मा उत्तरायणान्ते भवाः सूर्यरश्मयः । "जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छादनात् क्तोऽकृतमितप्रतिपन्नाः (अष्टा० ६ । २ । १७०) इति सूत्रेण बहुव्रीहावन्तोदात्तः, दह् धातुर्दीप्तौ "दहिक् दीप्तौ" (कविकल्पद्रुमः) येऽनग्निदग्धा तद्विपरीता हैमन्ता दक्षिणायनान्ते भवाः सूर्यरश्मयस्ते सर्वे दिवोऽन्तरिक्षस्य मध्ये स्वधयोदकेनोदकवृष्ट्या मादयन्ते प्राणिनो जीवयन्ति (स्वराट् तेभिरेतामसुनीतिं तन्वं यथावशं कल्पयस्व) स्वराड् हे स्वप्रकाशमानाग्ने ! तेभिः सूर्यरश्मिभिरेतां तन्वमेतं जीवशरीरमसुनीतिं प्राणसञ्चारस्थानं यथावशं यथावश्यकं यथायोग्यं कल्पयस्व समर्थयस्व ॥१४॥

भावार्थ—(येऽग्निदग्धा येऽनग्निदग्धा दिवो मध्ये स्वधया मादयन्ते) अग्नि-तेज या ताप जिन किरणों से बढ़ जाता है वे ग्रीष्मकाल यानि उत्तरायण के अन्त की तथा उनसे विपरीत शीतकाल यानि दक्षिणायन के अन्तकी सूर्य रश्मियां जो आकाश के मध्य में विचरती हुई जलवृष्टि से प्राणियों को जोवन देती हैं (स्वराट् तेभिरसुनीतिं तन्वं यथावशं कल्पयस्व) हे यज्ञ में प्रकाशमानाग्ने ! उन किरणों के द्वारा प्राण सञ्चार के स्थान जीवशरीर को यथायोग्य समर्थ बना ॥ १४ ॥

शिक्षा—उत्तरायण और दक्षिणायन के अन्त में होने वाली वर्षा की

कारणभूत सूर्य किरणों को आकाश से सुवृष्टि के लिये यज्ञाग्नि प्रेरित करती है। जिस से जीवशरीर यथायोग्य प्राणशक्ति को धारण कर सकता है ॥ १४ ॥

समालोचना—

मन्त्र १ में—

"(उत् परासः) और उत्कृष्ट (उत्) तथा" (कोई विद्वान्)

दोष—बड़ा आश्चर्य है कि इतनी छोटी २ ग़लतियां भी कर सकते हैं कि 'उत्' उपसर्ग को 'उत' अव्यय समझ कर 'और' 'तथा' अर्थ करते हैं। निरुक्त में यास्क ने उत् का क्रिया के साथ योग दिखला कर 'उदीरताम्' का प्रयोग भी तीन वार किया है। सायण ने भी निरुक्त का ही अर्थ लिया है।

मन्त्र ५ में—

"इस मन्त्र में भी जीवित पितरों के प्रति निर्देश है अथवा मृत पितरों के प्रति इसका निर्णय करना कठिन है। मन्त्र से किसी प्रकार का निर्देश उपलब्ध नहीं होता" (अन्य विद्वान्)

दोष—'त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्=पितर आकर सुनें और उपदेश दें' क्या ये बातें मृतपितरों में सम्भव हो सकती हैं ? क्या जीवित पितरों का बोध इन से नहीं हो सकता ? फिर सन्देह कैसा है। बोलना और उपदेश करना जीवितों में ही घट सकता है यहां वादी ने केवल उपेक्षा से लिख डाला। यद्यपि अगले मन्त्र में "आच्याजानु से प्रतीत होता है मृत पितर देह रहित होने से यज्ञ में घुटना टेक कर नहीं बैठ सकते देहधारी पितरों के लिये ही यह करना सम्भव है और देहधारी पितर जीवित पितर ही हो सकते हैं" जब यह बात है तो निश्चय करना चाहिये कि सुनना और बोलना भी देहधारी ही कर सकता है पुनः सन्देह का स्थान कैसे ?

मन्त्र १० में—

"मरने के बाद जीव एक दम पुनर्जन्म नहीं लेते वह कुछ काल विना जन्म धारण किये स्वर्ग में रहते हैं उनका वरन् मुक्त जीवों का भी सांसारिक जीवों के साथ सम्बन्ध रहता है। एवं ये दोनों हो परलोक वासी बुलाने पर हमारे कार्यों में शामिल हाते हैं, यहां के जीवों के कार्य में हिस्सा बटोरते हैं, समय समय पर रक्षा आदि कार्य भी करते हैं" (अन्य विद्वान्)

दोष—मुक्त हो या वादी के अनुसार स्वर्गवासी जीव हो उन का सांसारिक सम्बन्ध रहने में कोई प्रमाण और हेतु नहीं है। वादी ने इसके लिये किसी वेद-

मन्त्र का प्रमाण नहीं दिया। वस्तुतः वेद मन्त्र इस विषय का कोई ही नहीं। और न ही यह बात किसी दार्शनिक युक्ति पर निर्भर है। जब शरीर जल गया या अन्य प्रकार से नष्ट हो गया और आत्मा प्रत्येक स्वतन्त्र है तथा किसी का कार्यकारण भी नहीं तो मर जाने पर किसी से सम्बन्ध हो क्या। यावत् शरीर है तावत् पिता पुत्रादि सम्बन्ध है पुनः प्रयोजनाभाव और कारणाभाव से क्या सम्बन्ध। 'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्' कारणाभावात् कार्याभावः। यह निर्णय है ही।

२–मरे हुए या मुक्त बुलाने पर कार्य में शामिल हों यह भी अप्रामाणिक और असम्भव है। क्योंकि शरीर के जल जाने आदि से आकृति-सम्बन्ध नष्ट हो गया और आत्मा की आकृति के सम्बन्ध में कोई नियामक और भेदक नहीं कि अमुक व्यक्ति या मेरे पिता आदि का आत्मा इस प्रकार का है जिस को अन्य आत्माओं से भिन्न कर के समझ सकें, फिर शरीर की आकृति का नाश और आत्मा की आकृति का अज्ञान होने से लक्ष्याभाव से बुलाना असम्भव है।

३–'यहां के जीवों के कार्यों में हिस्सा बटोरते हैं'। मुक्त जीव यदि यहां के कार्यों में हिस्सा बटोरें एवं यहां के पुत्रादि के प्रति राग द्वेष शेष रहे तो फिर उनकी मुक्ति किस प्रकार की हुई? संसार के सुख दुःखादि प्रपञ्च से छूट कर तो मुक्त हुए मगर फिर भी वे ही झगड़े करने पड़ें तो मुक्ति नहीं किन्तु भुक्ति है इस से तो यहां ही रहना ठीक था। क्या उन को कोई संसार का सुख वांछनीय रह गया? इस के लिये भी वेद में कोई प्रमाण नहीं है। "आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्याम्...अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" (छान्दोग्यो० ८।१२।१) शरीरधारी को संसार के सुख दुःख दोनों हैं मुक्त को नहीं। मरे हुए लोग आपके मत से परलोकवासी यहां के सुख दुःख में हिस्सा ले सकते हैं तो फिर पुनर्जन्म लेने को आवश्यकता ही नहीं, पुनर्जन्म के विच्छेद से संसार-विच्छेद या आत्मा की अनित्यता सिद्ध हो जावेगी।

४–रक्षा आदि के लिये यदि पितर आया करें तो ईश्वरीय न्याय या कर्मफल नष्ट हो जावे। किसी का सन्तान महापाप करता है उसकी मदद मरे हुए पितर आ कर करें तो कर्मफल के ईश्वरीय न्याय में बाधा पड़े।

मन्त्र ११ से १४ में—

अग्निष्वात्ता आदि पितरा के सम्बन्ध म हमारा समाधान मुख्यशब्दार्थ-समन्वय और उसके अन्तर्गत मन्त्रों के अर्थों को देखें।

इस सूक्त में विशेष सन्दिग्ध शब्द 'अग्निष्वात्त' है और ब्राह्मणग्रन्थों ने इसका मुख्य तीन पितरों में उल्लेख किया है। शतपथ और तैत्तिरीय में इसकी व्याख्या

मिलती है। उसमें भी एक ही जगह सन्देह हो सकता था जिसका समाधान हमने मुख्यशब्दार्थसमन्वय में कर ही दिया है। दूसरे अर्थ में कोई सन्देह नहीं हो सकता क्योंकि उसमें समयविज्ञान का वर्णन है। "अर्द्धमासा वै पितरोऽग्निष्वात्ताः" (तै० १। ६। ८। ३) यहां अर्धमास को अग्निष्वात्त कहा है।

ऋग्वेद मं० १० सूक्त १६।

इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता अग्नि है। देहान्त हो जाने पर कृत्रिम और सर्वत्र-सिद्ध अग्नि, शव का किस प्रकार छेदन भेदन विभाग करती है तथा अजन्मा जीवात्मा को पुनर्देह धारण करने के लिये योग्य बनाती है। एवं अग्निसंस्कार का औषधतुल्य वर्णन, शवाग्नि परिणाम और उसका घृतादि आहुति से शवदहनगन्ध-दोषनिवारण द्वारा उपचार, शवाग्नि से दग्ध देश-भूमि की प्रतिक्रिया उसका पुनः पूर्व के तुल्य बना देना आदि २ प्रतिकार योग्य बातों का वर्णन है। मनुष्य जिन पर ध्यान न दे कर और तदनुसार आचरण न कर के शवदहन आदि से जनित हानियों के अपराध से नहीं छूट सकता।

मैनमग्ने विदहो माभिशोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात्पितृभ्यः॥ १॥

(अग्न एनं मा विदहो माभिशोचोऽस्य त्वचं मा चिक्षिपो मा शरीरम्) अग्नेऽयमग्निरेनं प्रेतं मृतदेहं मा विदहो न विदहेद् विदग्धमर्द्धपक्वं न कुर्यात् 'सर्वत्र पुरुषव्यत्ययो जडत्वात्' माभिशोचो नाभिज्वलेत्प्रेतं विहायेतस्तत एव न ज्वलेत्। "शोचतिर्ज्वलतिकर्मा" (नि० १। १७) अस्य प्रेतस्य त्वचं मा चिक्षिपो न क्षिपेन्मा शरीरं शरीरञ्च न क्षिपेत्। वस्तुतस्तु प्रेतमेवं दहेद्यत् (जातवेदो यदेमेनं शृतं कृणवोऽथ पितृभ्यः प्रहिणुतात्) अग्निर्यदेमेनं यदैवैनं मृतदेहं शृतं पक्वं कृणवः कुर्यादथानन्तरं तदैव पितृभ्यः सूर्यरश्मिभ्यः प्रहिणुतात् प्रहिणोतु प्रेरयेत्॥ १॥

भाषार्थ—(अग्न एनं मा विदहो माभिशोचोऽस्य त्वचं मा चिक्षिपो मा शरीरम्) अग्नि मृतदेह को विदग्ध अधपका न करे, न शव से अलग ही इधर उधर जलकर अग्नि रह जावे और न इसके त्वचा या शरीर को फेंके। वास्तव में प्रेत को इस प्रकार जलावे कि (जातवेदो यदेमेनं शृतं कृणवोऽथ पितृभ्यः प्रहिणुतान्) अग्नि जब इस मृत शरीर को पकादे तो फिर इस मृत शरीर को सूर्यरश्मियों के प्रति पहुँचा दे॥ १॥

शिक्षा—शवदहन के लिये इतना इन्धन होना चाहिये कि जिस से शव कच्चा न रह जावे और बहुत इन्धन होने पर भी अग्नि इधर उधर चारो तरफ जलकर ही न रह जावे इसके लिये ठोस इन्धन का प्रयोग करना चाहिये तथा अङ्ग २ चटक चटक कर इधर उधर न उड़ जावें या गिर जावें ऐसे न चटकाने वाले इन्धन से शव को जलाना चाहिये जिस से अग्नि के द्वारा शव सूक्ष्म होकर सूर्य किरणों में प्राप्त हो सके ॥ १ ॥

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात्पितृभ्यः ।
यदा गच्छत्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥ २ ॥

(जातवेदो यदेमेनं शृतं करसि-अथ पितृभ्यः परिदत्तात्) जातवेदोऽग्निर्यदेमेनं यदैवैनं मृतदेहं शृतं पक्वं करसि करोति, अथानन्तरं तदैव पितृभ्यः सूर्यरश्मिभ्यः परिदत्तात्परिददाति समर्पयति (यदैतामसुनीतिं गच्छत्यथा देवानां वशनी भवाति) यदा यस्मिन् काल एतामसुनीतिं मरणस्थितिं गच्छेदथानन्तरं तदाप्रभृति देवानां पृथिव्यप्तेजोवाय्वादीनां वशनीर्वशपात्रं वश्यं भवाति भवेत् । लिङर्थे लेट् ॥२॥

भाषार्थ—(जातवेदो यदेमेनं शृतं करसि-अथ पितृभ्यः परिदत्तात्) अग्नि जिस समय इस मृत शरीर को पका देती है तब ही इस को सूर्यरश्मियों के सुपुर्द कर देती है (यदैतामसुनीतिं गच्छत्यथा देवानां वशनीर्भवाति) जिस समय यह जीवशरीर मरण स्थिति को प्राप्त हो चुकता है तभी से यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि देवों का वश्य होजाता है ॥२॥

शिक्षा—आत्मा के वियुक्त होते ही यह शरीर पृथिवी आदि भूतों में मिलने लगता है । अग्नि में जलने से सूर्य की रश्मियां इस का उक्त छेदन भेदन जल्दी कर देती हैं ॥ २ ॥

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ॥३॥

(चक्षुः सूर्यंगच्छत्वात्मा वातं द्यां च पृथिवीं च धर्मणा गच्छ) चक्षुर्नेत्रं नेत्रप्रकाशः सूर्यं सूर्यप्रकाशं गच्छतु प्राप्नोतु, आत्मा जीवो वातं जीवाधारं वायुं वाय्वालयं यमालयमन्तरिक्षं गच्छतु प्राप्नोतु । 'एष वाय्वालय एव यमालयः' । "यमेन वायुना" इति प्रामाण्यात् । द्यां च दिवं द्युलोकं प्रकाशयुक्तलोकं वा पृथिवीं पृथिवीलोकं वा धर्मणा स्वकृतकर्मणा गच्छ (अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितम्) अपो जलमयं लोकं चन्द्रादिं वा गच्छ यदि तत्र ते तव हितं पथ्यं कर्मफलं स्यात् (शरीरैः-

रोषधीषु प्रतितिष्ठा) शरीरैः शरीरधारणमात्रधर्मैरोषधीषु प्रतितिष्ठ गमनाभावेन स्थिरत्वं जडत्वं प्राप्नुहि यदि तत्र ते कर्मफलं स्यात् ॥३॥

भाषार्थ—(चक्षुः सूर्यं गच्छत्वात्मा वातं द्यां च पृथिवीं च धर्मणागच्छ) नेत्र-प्रकाश सूर्य-प्रकाश को प्राप्त हो, जीवात्मा वायुमय अन्तरिक्ष को एवं पुनः प्रकाशयुक्त लोक को या पृथिवीलोक को अपने किये कर्म से प्राप्त हो (अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितम्) जलमयलोक चन्द्रादि को जा यदि तेरा वहां कर्मफल हो (शरीरैरोषधीषु प्रतितिष्ठा) शरीरधारणमात्र गुणों से ओषधियों में गमनाभावरूप स्थावरत्व जड़त्व को प्राप्त हो यदि वहां तेरा कर्मफल हो ॥३॥

शिक्षा—देहपात के अनन्तर देह तो अपने २ कारण पदार्थों में लीन हो जाता है और जीव स्वकर्मानुसार प्रकाशमय, जलमय, पृथिवीमय लोकों तथा वृक्षादि की जड़ योनियों तक प्राप्त होता है ॥३॥

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः ।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥४॥

(जातवेदोऽजो भागस्तं तपसा तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते ऽर्चिः) हे जातवेदः सर्वत्र विराजमानाग्ने ! अग्निर्वा, योऽयमजोभागो ऽजन्मा जीवस्तं तपसा ज्वलनेन पृथिवीस्थेन तेजसा तपसोर्ध्वं प्रेरय प्रेरयति वा । तं ते शोचिर्ज्वलनमन्तरिक्षस्थं तपतूर्ध्वं प्रेरयतु तं ते ऽर्चिर्द्युस्थानं ज्वलनं तपतूर्ध्वं प्रेरयतु । "तपः, शोचिः, अर्चिः," ज्वलतोनामधेयानि (नि० १ । १७) (यास्ते शिवास्तन्वस्ताभिरेनं सुकृतामुलोके वह) याः शिवाः कल्याणकारिण्यस्तन्वः प्रसरणशीलास्तैजसधारास्ताभिरेनं जीवं सुकृतां पुण्यकृतामुलोकं स्थानं वह नय ॥४॥

भाषार्थ—(जातवेदोऽजो भागस्तं तपसा तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते ऽर्चिः) सर्वत्र विराजमान यह अग्नि-तत्व इस अजन्मा जीव को अपने पार्थिव ज्वलन धर्म से ऊपर प्रेरणा करता है तथा इस अग्नि का अन्तरिक्षस्थ तेज उसी जीव को ऊपर की तरफ प्रेरणा करता है और द्युस्थान रश्मितेज भी और आगे बढ़ाता है (यास्ते शिवास्तन्वस्ताभिरेनं सुकृतामुलोके वह) जो कल्याणकारी फैलने वाली तैजस धारायें हैं उनके द्वारा अग्नि इस जीव को पुण्य शुद्ध जन्म की तरफ ले जाता है ॥४॥

शिक्षा—देहान्त के साथ ही अग्नितत्व जो सब जगह तेजोरूप से वर्तमान है वह पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युस्थान के क्रम से ले जाता है ॥४॥

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः ।
आयुर्वसान उपवेतु शेषः सङ्गच्छतां तन्वा जातवेदः ॥ ५ ॥

(अग्ने यस्त आहुतश्चरति पितृभ्यः स्वधाभिः पुनरवसृज) हे अग्ने यस्त आहुत आत्तो गृहीतश्चरति तं पितृभ्यः सूर्यरश्मिभ्यः स्वधाभिरुदकैः सह पुनरवसृज पुनः पृथक् कुरु (जातवेदः शेष आयुर्वसान उपवेतु तन्वा सङ्गच्छताम्) हे सर्वत्र विद्यमानाग्ने ! शेषो शिष्यतेऽसाविति शेषो जीवात्मा शरीरेण सङ्गच्छतां सङ्गतो भवतु ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने यस्त आहुतश्चरति पितृभ्यः स्वधाभिः पुनरवसृज) हे अग्ने ! जो तेरे अन्दर आश्रित हुआ विराजता है उसको सूर्य रश्मियों के लिये जलों के द्वारा फिर छोड़ (जातवेदः शेष आयुर्वसान उपवेतु तन्वा संगच्छताम्) हे सर्वत्र विद्यमानाग्ने ! विनाशी पदार्थों के नष्ट हो जाने पर शेष रहने वाला जीवात्मा शरीर के साथ संगत हो जावे अर्थात् पुनर्जन्म को धारण करे, इस प्रकार कार्य में सहायक बन ॥ ५ ॥

शिक्षा—देहान्त के पश्चात् मृत पुरुष के दो परिणाम अग्नि द्वारा होते हैं। एक शवाग्नि से शवदहन होकर उसके सूक्ष्म कण सूर्य रश्मियों को प्राप्त होते हैं। दूसरे सर्वत्र विद्यमान सूक्ष्माग्नि तेज देहान्त के साथ ही जीव को पुनर्जन्म में जाने के लिये प्रेरक बनता है ॥ ५ ॥

यत्ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः ।
अग्निस्तद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥ ६ ॥

(यत्ते कृष्णः शकुनः पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः आतुतोद) बहुविज्ञानो ऽयं मन्त्रस्तत्रेह प्रथमः प्रकारः । हे जीव ! अत्र सांसारिकजीवनयात्रायां कृष्णः शकुनो गृध्रः पिपीलः पिपीलिका सर्प उत वा श्वापदो हिंस्रपशुस्ते यदङ्गमातुतोद आतुदति पीडयति । सामान्ये काले लिट् । (विश्वादग्निस्तदगदं करोति सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश) विश्वात् सर्वभक्षकोऽग्निस्तदङ्गमगदं करोति सोमः सोमरसो यो ब्राह्मणान् ब्रह्मविदो योगिनो जनान् आविवेश आविशति प्राप्नोति । ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः । तथा च "येन केनचिदाच्छन्नो येन केन चिदाशितः । यत्र क्वचन शायी च तं देवाः ब्राह्मणं विदुः । विमुक्तं सर्वसङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत्स्थितम् । अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ (महाभारते) ॥६॥

भाषार्थ—(यत्ते कृष्णः शकुनः पिपीलः सर्प उत वा श्वापद आतुतोद) हे जीव ! इस सांसारिक जीवनयात्रा में गृध्र आदि पक्षी, पिपीलका आदि कृमि, सर्पादि विषमय प्राणी अथवा व्याघ्रादि हिंसक पशु जिस २ अङ्ग को पीडित वा विकृत करते हैं (विश्वादग्निस्तदगदं करोति सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश) उस २ अङ्ग को विश्वभक्षक अग्नि और ब्रह्मवेत्ताओं को प्राप्त हुआ सोम स्वस्थ कर देता है ॥ ६ ॥

शिक्षा—अग्नि और सोम विश्वभैषज और सर्वभयनिवारक पदार्थ हैं। यह एक आयुर्वैदिक और रक्षाविज्ञान का सिद्धान्त वर्णित है। मनुष्य-जीवन में भयानक पक्षी, कृमि, सर्प और व्याघ्रादि प्राणियों से प्राप्त भय और पीड़ा का निवारण अग्नि और सोम से करना चाहिये। तथा उक्त जन्तुओं से आक्रमित मरे हुए मनुष्य का अग्नि और सोम द्वारा शव दहन करने से रोगसंक्रामक कारणों का प्रतिकार हो जाता है। क्योंकि ऐसा किये विना अन्य प्राणी उनके विष सम्पर्क आदि से बच न सकेंगे ॥ ६ ॥

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च ।
नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन्पर्यङ्खयाते ॥ ७ ॥

(अग्नेर्वर्म गोभिःपरिव्ययस्व स पीवसा मेदसा च प्रोर्णुष्व) अग्नेर्वर्म गृहमग्निस्थानं वेदिम्। "वर्मेति गृहनाम" (नि० ३। ४) गोभिरिन्द्रियैर्नाडीभिर्वा परिव्ययस्व अयं प्रेतः परितो गच्छेत्सर्वतः प्राप्नुयात्। पुरुषव्यत्ययः। व्यय गतौ भ्वादिः। तथा स पीवसा मांसेन मेदसा वपया च तामेव ज्वलन्तीं वेदिं प्रोर्णुष्व प्रसरेत्। कुतः (धृष्णुर्जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन्नेत्त्वा पर्यङ्खयाते) धृष्णुः प्रसह्यकारी 'प्रसहनार्थस्य चौरादिकस्य धृष् धातोः "त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः" (अष्टा० ३। २। १४०) इत्यनेन क्नुः। जर्हृषाणोऽतिशयेन वस्तुमात्रमलीकं कर्तुं शक्तिर्यस्य स हृषु-अलीके भ्वादिस्तस्मात् "ताच्छील्यवयोवचन शक्तिषु चानश् (अष्टा० ३। २। १२६) इति शक्त्यर्थे चानश् प्रत्ययः "अभ्यस्तानामादिः" (अष्टा० ६। १। १८९) इत्याद्युदात्तः। दधृक् प्रगल्भोऽतिदृढ एषोऽग्निः। धृष् प्रागल्भ्ये स्वादिः "ऋत्विग्दधृक्०" (अष्टा० ३। २। ५९) त्वां तं प्रेतं विधक्ष्यन् विशेषं दग्धं करिष्यन् नेन्नोचेत्। पर्यङ्खयाते पर्यङ्खयेत परिक्षिपेदितस्ततः पातयेत्। "उपसंवादाशङ्कयोश्च" (अष्टा० ३। ४। ८) इत्याशङ्कायां लेट् प्रत्ययः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अग्नेर्वर्म गोभिः परिव्ययस्व स पीवसा मेदसा च प्रोर्णुष्व) अग्नि के घर अर्थात् चिता को इन्द्रियों और नाड़ियों सहित यह प्रेत भली प्रकार प्राप्त

होवे और मांस मेदा चर्बी द्वारा जलती हुई शववेदि यानि चिता को पूर्णता से प्राप्त हो। क्योंकि (धृष्णुर्जहृषाणो दधृग्विधक्ष्यन् नेत्त्वा पर्यङ्खयाते) प्रसह्यकारी अतिशय से वस्तुमात्र को अकिञ्चित करने वाली अग्नि उस प्रेत को विशेषरूपेण जलाती हुई शवाङ्गों को इधर उधर न फेंक दे ॥७॥

शिक्षा—शवदहनवेदि का परिमाण इतना होना चाहिये कि मृत शरीर आसानी से पूरा आजावे और उसके प्रत्येक नस नाड़ी, मांस, चर्बी आदि अंशों में अग्नि का प्रवेश भली प्रकार हो सके शवदहन करने वालों को यह ध्यान रखना चाहिये कि चिता में अग्नि इस प्रकार जलाई जावे कि वह अतितीक्ष्ण और बलवान होकर विपरीतता से जलाती हुई शवाङ्गों को इधर उधर न फेंक दे ॥७॥

इममग्ने चमसं मा विजिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् ।
एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन्देवा अमृता मादयन्ते ॥ ८ ॥

(अग्न इमं चमसं मा विजिह्वरः) हे अग्ने ! इमं चमसं घृतचमसं हव्य-चमसञ्च यत् क्षिप्यते जनैरन्त्येष्टिकर्मणि त्वयि ज्वलति तं मा विजिह्वरो न विचालय नेतस्ततः प्रक्षिप (देवानामुत सोम्यानां प्रियः) देवानां द्योतमानानां सूर्यरश्मीनाम् "देवो दानाद्वा······द्योतनाद्वा (निरु० ७। १५) "उदिता देवाः सूर्यस्य" इत्युक्तं च पूर्वम् । उत सोम्यानां सोमे चन्द्रमसि भवानां ज्योत्स्नावाचिनां शान्तानां चन्द्रदीधितीनां प्रियोऽनुकूल उपयोगसाधनमित्यर्थः । सोमश्चन्द्रमाः "सोमं मन्येत् पीपवान्···सोमश्च-न्द्रमाः" (नि० ११। ४-५) (एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ते) एष यः पूर्वोक्तश्चमसो देवपानोऽस्ति यतो देवानां हविष्पानसाधनमस्मिंश्च घृतचमसे हव्यचमसे देवाः सूर्यरश्मयो अमृता मृतं मरणं न येभ्यस्तेऽमृता सन्तः । "नञो जरमरमित्रमृताः" (अष्टा० ६।२।११६) इत्यनेन बहुव्रीहिसमासे उत्तरपदमाद्युदात्तम् । मादयन्ते हर्षयन्ति सुखयन्ति ॥ ८ ॥

भावार्थ—(अग्न इमं चमसं मा विजिह्वरः) हे अग्ने ! इस घृत और सुगन्ध हव्य के चमस को जो कि तेरे अन्दर आहुतिरूप में डाला जाता है उसको विचलित न कर यानि उपयोगिता के लिये स्वीकार कर (देवानामुत सोम्यानां प्रियः) वही यह चमस द्योतमान सूर्यरश्मियों और चन्द्रज्योत्स्ना-धाराओं का प्रिय यानि उपयोगी अनुकूल-साधन हो (एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन्देवा अमृता मादयन्ते) पूर्वोक्त यह चमस देवों के पान का साधन हो क्योंकि देव इसकी हवि का पान करते हैं और

इसी घृतहव्ययुक्त चमस में सूर्यरश्मियां अपने अमृतधर्म से विराजमान होकर मनुष्यों को आनन्द प्रदान करती हैं ॥ ८ ॥

शिक्षा—शवगन्ध के प्रतिकारार्थ अन्त्येष्टि कर्म के समय अग्नि में घृत और सुगन्ध पदार्थों की आहुतियां देनी चाहियें। वे आहुतियां शवदोष का सम्पर्क हटा कर सूर्य तथा चन्द्रमा की किरणों को अनुकूलता की साधक बनाती हैं विशेषत: सूर्यरश्मियों को सुखकारक बनाती हैं ॥८॥

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः ।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥९॥

(क्रव्यादमग्निं दूरं प्रहिणोमि) क्रव्यादं शवरूपमांसभक्षकमग्निं पूर्वमन्त्रोक्तचमसाहुतिभिर्दूरमतिदूरं प्रहिणोमि (रिप्रवाहो यमराज्ञो गच्छतु) रिप्रवाहः शवरूपामेध्यवाहकोऽग्निः। "तद्यदमेध्यं रिप्रं तत्" (श० ३।१।२।११) यमराज्ञो यमो यमनशीलः कालोऽन्तकारी कालो मृत्यू राजा येषां तान् मृत्युराजकदेशान् गच्छतु गच्छति यतो हि मृतःप्राणी मृत्युदेशान् विनाशप्रदेशान् गच्छति तस्मात्तं शीघ्रं विनाशप्रदेशान् नेतुं शववाहनोऽग्निरपि तान् प्रदेशान् शीघ्रं गच्छतीत्युक्तम् (अयमितरो जातवेदाः प्रजानन् देवेभ्यो हव्यं वहतु) अयं चमसाहुतिलक्षितो जातवेदा अग्निः प्रजानन् ज्वलन् सन् देवेभ्यो दिव्यपदार्थेभ्यो जीवनलाभायैतच्चमसरूपं हव्यं वहतु प्रापयतु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(क्रव्यादमग्निं दूरं प्रहिणोमि) शवरूप मांसभक्षक अग्नि को सुगन्ध आहुतिचमस द्वारा दूर हटाता हूँ (रिप्रवाहो यमराज्ञो गच्छतु) वह शववाहक अग्नि पृथिवीतल से ऊपर उठ कर विनाश प्रदेशों को जहां कि प्रत्येक व विच्छिन्न अति सूक्ष्म हो कर लीन हो जाती है उन अन्तरिक्षस्थानों को प्रा[illegible] (अयमितरो जातवेदाः प्रजानन् देवेभ्यो हव्यं वहतु) चमसाहुतियों द्वारा हव्य [illegible] यह प्रसिद्धाग्नि जलती हुई दिव्य पदार्थों के लिये जीवनलाभ के हेतु इ[illegible] रूप हव्य का वहन करे ॥ ९ ॥

शिक्षा—घृत और सुगन्ध कपूर आदि वस्तुओं की आहुति से [illegible] वाहक अग्नि-ज्वालाओं की शान्ति हो जाती है और सुगन्धित हव्य प्र[illegible] ज्वालाओं का उदय होता है ॥ ९ ॥

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जा[illegible]
तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स घर्ममिन्वात्परमे सधस्थे ।

(यः क्रव्यादग्निर्वो गृहं प्रविवेशेममितरं जातवेदसं पश्यन्) यः क्रव्यादग्निः शवाग्निर्हे प्रेतहारा वो युष्माकं गृहं शरीरं प्रविवेश प्रविष्टवान्, अहमिमममितरं हव्यवाहं जातवेदसं पश्यन् लक्ष्यीकुर्वन् प्रयुञ्जानः (तं देवं हरामि पितृयज्ञाय स घर्ममिन्वात् परमे सधस्थे) तं देवमग्निं हरामि पृथक्करोमि पितृयज्ञाय प्राणयज्ञाय युष्माकं प्राणपरिशोधनाय प्राणधारणायेत्यर्थः। "प्राणो वै पिता" (ऐ० २ । ३८) स क्रव्यादग्निः परमे सधस्थ उच्चव्योम्नि घर्मं सूर्यमिन्वाद् व्याप्नोतु। "असो वै घर्मो योऽसौ सूर्यः तपति" (कौ० २ । १) इविव्याप्तौ ततो लेट् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यः क्रव्यादग्निर्वो गृहं प्रविवेश) हे प्रेतहारो ! जो शवदहनाग्नि तुम्हारे शरीर में प्रविष्ट हुई है (इममितरं जातवेदसं पश्यन्) मैं इस दूसरी अग्नि को प्रयुक्त करता हुआ-होमाहुति द्वारा सम्पादन करता हुआ (तं देवं हरामि पितृयज्ञाय) उस क्रव्याद् शवगन्धाग्नि को पृथक् करता हूँ जिस से आप का प्राण-सञ्चार सुखमय हो सके (स परमे सधस्थे घर्ममिन्वात्) वह शवगन्धाग्नि ऊपर आकाश सूर्य को लक्ष्य कर के व्याप्त हो जावे ॥ १० ॥

शिक्षा—चिताग्नि में होमाहुति देना प्रेतहारों के भीतर घुसी शवगन्धाग्नि के सम्पर्क को हटाती है जिस से उन के जीवन प्राण में खराबी नहीं आती किन्तु सूक्ष्म होकर ऊपर आकाश में शवगन्ध छिन्न भिन्न हो जाती है ॥ १० ॥

यो अग्निः क्रव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः ।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ॥ ११ ॥

(यः क्रव्यवाहनो ऽग्निरृतावृधःपितॄन् यक्षदिदु देवेभ्यश्च पितृभ्य आ हव्यानि प्रवोचति) यः क्रव्यवाहनः शवमांसस्य वोढाऽग्निः। "क्रव्ये च" (अष्टा० ३ । २ । ६९) इति योगविभागात् क्रव्योपपदे वहधातोर्ल्युट्। ऋतावृध ऋतस्य यज्ञस्य वर्धयितॄन् "ऋतावृधो यज्ञवृधः" (निरु० १२ । ३३) पितॄन् सूर्यरश्मीन् यक्षद् यजेत् सङ्गतो भवेत्। 'सङ्गतिकरणमत्र यज्ञार्थः'। स एवाग्निरिदु-इदानीं तु-आहुतिचमसेन देवेभ्यो दिव्यगुणेभ्यश्च पितृभ्यश्च पूर्वोक्तेभ्य आकारः समुच्चार्थः। "एतस्मिन्नेवार्थे (समुच्चयार्थे) देवेभ्यश्च पितृभ्य एत्याकारः" (निरु० १ । ४) हव्यानि प्रवोचति प्रवदति लडर्थे लेट्। शवमांसचटचटास्थाने ऽधुना हव्यसरसरशब्दं करोतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(यः क्रव्यवाहनोऽग्निरृतावृधः पितॄन् यक्षदिदु देवेभ्यश्च पितृभ्य आ हव्यानि प्रवोचति) जो शवमांस की वोढा अग्नि यज्ञवर्धक सूर्यरश्मियों से संगत होती है वही अग्नि इस समय आहुति चमस से देवों दिव्य गुण पदार्थों और पूर्वोक्त

सूर्यरश्मियों के लिये भी हव्यों का उच्चारण यानि शवमांस के चटचटा शब्द के स्थान में घृतादि हव्य की सरसर ध्वनि करती है ॥ ११ ॥

शिक्षा—शवाग्नि में घृतादि हव्य डालने से शवमांस के चटचटा शब्द को भी दबा कर हव्य की सरसर ध्वनि के साथ उक्त अग्नि देवयज्ञ और पितृयज्ञ के रूप को धारण कर लेती है ॥ ११ ॥

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ १२ ॥

(उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि) हेऽग्ने ! यतो वयमुशन्त इच्छन्तस्त्वां निधीमहि स्थापयेम तथोशन्त इच्छन्त एव च समिधीमहि सन्दीपयेम । तस्मात्त्वमपि (उशन्नुशतः पितॄन हविषेऽत्तवे, आवह) उशन्नस्मदिष्टमिच्छन्नुशतोऽस्मदिष्टमिच्छतः पितॄन प्रति हविषे हविरत्तवे ऽत्तुंग्रहीतुम । 'तुमर्थे तवेन प्रत्ययः ।' आवह प्रयोजय ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि) हे अग्ने ! जिस से कि हम सदैव निज इष्ट की इच्छा करते हुए तुझ को अन्त्येष्टि पर्यन्त सब संस्कारों में स्थापित करते हैं तथा इष्ट चाहते हुए ही प्रज्वलित करते हैं (उशन्नुशतः पितॄन् हविषेऽत्तवे, आवह) इस लिये तू भी हमारा इष्ट चाहती हुई अपने जैसी इष्ट चाहती हुई सूर्यरश्मियों को यज्ञ में प्रयुक्त कर जिस से तेरे अन्दर डाली हवि सूक्ष्म बन कर फैल जावे ॥ १२ ॥

शिक्षा—संस्कारों और मङ्गल कार्यों में अग्नि होम करना चाहिये ॥१२॥

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः ।
कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा ॥ १३ ॥

(अग्ने त्वं यं समदहस्तमु पुनर्निर्वापया) हे अग्ने ! त्वं यं देशं समदहः सङ्गत्य दग्धवानुपरिष्टाद्दग्धवानित्यर्थः । तमु देशं पुनर्निर्वापया त्यज । "निर्वपेद् भुवि" (मनु० ३ । ६२) इति मनु प्रामाण्यात् त्यागार्थः (अत्र व्यल्कशा पाकदूर्वा कियाम्बु रोहतु) अत्र देशे दग्धस्थाने व्यल्कशा विविधपर्याप्तशाखी पाकदूर्वा दूर्वाणां पाकः "राजदन्तादिषु परम्" (अष्टा० २ । २ । ३१) इति पर निपातः । कियाम्बु कियदम्बु यावज्जलः पर्याप्तजलयुक्तो रोहतूत्पद्यताम । एवं त्वं निर्वापयेति सम्बन्धः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने त्वं यं समदहस्तमु पुनर्निर्वापया) हे अग्निदेव ! तूने जिस देश को अन्त्येष्टि समय जलाया है उसको अपने तेज से फिर रहित कर दे (अत्र

व्यल्कशा पाकदूर्वा कियाम्बु रोहतु) और इस देश यानि दग्ध स्थान में विविध पूर्ण शाखा वाला दूब घास का पाक आवश्यक जल सिञ्चन से हो जावे ॥ १३ ॥

शिक्षा—शवाग्नि से दग्ध स्थान को प्रथम अग्नि से रहित करना चाहिये पुनः उसमें इतना जल सिञ्चन करे कि जिससे वहां अच्छी दूब घास उत्पन्न हो सके ॥१३॥

शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।
मण्डूक्या सुसङ्गम इमं स्वग्निं हर्षय ॥ १४ ॥

(शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति मण्डूक्या सुसङ्गम इममग्निं सुहर्षय) हे शीतिके शीतरूपे दूर्वे ! 'शीता दूर्वानाम धन्वन्तरिनिघण्टौ पर्पटादिवर्गे तथा च वाचस्पत्ये' । "ततोऽनुकम्पायां कन्" । शीतिकावति ! हे दूर्वावति भूमे ! ह्लादिके मनःप्रसादिके वल्लकि । "वल्लकी ह्लादा सुरभिः सुस्रवा च सा" (धन्वन्तरि निघण्टौ) ह्लादिकावति हे ह्लादिकावति भूमे ! मण्डूक्या सह सु सम्यक् सङ्गमः सङ्गच्छस्व तथेममग्निमग्निप्रभावं सुहर्षय सम्यगलीकं शान्तं कुरु । 'हृषु अलीके भ्वादिः' ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति मण्डूक्या सुसङ्गम इममग्निं सुहर्षय) हे शीतरूप दूब ! हे शीतदूबयुक्त भूमे ! हे मन को प्रसन्न करने वाली सुगन्ध वल्लकि ! हे सुगन्धवल्लकीयुक्त भूमे ! तू मण्डूकी के साथ भली भांति इस प्रकार सङ्गत हो कि अन्त्येष्टि अग्नि के प्रभाव का यहां नामो निशान न रहे ॥ १४ ॥

शिक्षा—शवाग्नि के बाद उस भूमि का उपचार इस प्रकार होना चाहिये कि वहां ठण्डो २ दूब और सुगन्धलता उग कर भूमि हरीभरी और मेण्डकियों के साथ सुन्दर मालूम होने लगे एवं वहां शवाग्नि के प्रभाव का नामोनिशान न रहे ॥ १४ ॥

समालोचना—

मन्त्र १ में—

"(अग्न एनं मा विदह) हे अग्नि ! इस प्रकार से मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट प्रतीत हो" (अन्य विद्वान)

दोष—अग्नि प्रेत को जलाती है किन्तु वेद में 'मत जला' का आदेश किसी प्रक्रिया का सूचक है न कि "जिससे इसे विशेष कष्ट प्रतीत हो इस प्रकार मत जला" कष्ट का प्रसङ्ग तो जीवित देह में ही सम्भव है। क्या खूब ? मृत शरीर में भी कष्ट

होने का अद्भुत सिद्धान्त निकाला जो सृष्टि के आरम्भ से अभी तक आविष्कृत नहीं हुआ था।

२—"(मा अभिशोचः) इसे शोकाकुल मत कर" (अन्य विद्वान्)

दोष—यहां पर भी उसी नूतन फिलासफी से प्रेरित होकर अर्थ किया। वादी ने नहीं विचारा कि अग्नि का शोकाकुल करने का क्या सम्बन्ध है तथा 'विदह' के सहचार में अभिशोच का क्या अर्थ होना चाहिये। निघण्टु १।१७ में "शोचति-ज्वलतिकर्मा" (नि० १।१६) है। जो उचितार्थ अग्नि के साथ सम्बन्ध रखता है।

३—"इस मन्त्र के उत्तरार्ध से एक महत्वपूर्ण बात का निर्देश मिलता है और वह यह कि जबतक देह सम्पूर्णतया जल नहीं जाता तबतक आत्मा उस देह को छोड़ कर स्थानान्तर में नहीं जाता, इस देह के आसपास ही मंडराता रहता है। उस देह का मोह उसे खींचे रखता है"। (कोई विद्वान्)

दोष—मन्त्र में कोई एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिस के आधार पर वादी की यह कल्पना बन सके। सायण से भी बढ़कर यह फिलासफी निकली। सम्भवतः उपर्युक्त सं० २ की '(मा अभिशोचः) शोकाकुल मत कर' के संस्कारों ने इस फ़िलासफ़ी का आविष्कार सुझाया। हां इस मन्त्र और सम्पूर्ण सूक्त से "ये निखाता०" मन्त्र में वादी की व्याख्या में आई हुई चार प्रकार की गाढ़ने आदि अन्त्येष्टि क्रियाओं का खण्डन तो अवश्य मिलता है क्योंकि यहां शवदहन का ही सिद्धान्त प्रतिपादित है। वादी को भी इस मन्त्र पर यह लिखना ही पड़ा "शरीर का शीघ्र दहन करना ही अधिक उतम है क्योंकि अग्निदहन के सिवाय शरीर को सम्पूर्णतया शीघ्र नष्ट करने का और कोई सुगम उपाय नहीं है।

मन्त्र ६ में—

'जिन की मृत्यु सर्पादि मन्त्रोक्त प्राणियों से होती है उनकी अन्त्येष्टि में इस मन्त्र का विनियोग होता है ऐसा इस मन्त्र का अभिप्राय प्रतीत होता है'। (अन्य)

दोष—यह कल्पना भी ठीक नहीं। आज तक किसी विनियोगकर्ता ने इस मन्त्र को इस प्रकार के विनियोग में नहीं रखा। अगर ऐसा माना जावे तो जमीन में धंस कर, दब कर, पानी में डूब कर, अग्नि में जल कर, हवा अन्ध्याव में उड़ कर मर जाने पर 'ये निखाताः' मन्त्र का विनियोग हो सकने पर वादी की चार प्रकार की अन्त्येष्टि का सिद्धान्त कट जाता है। तथा वृक्ष या मकान पर से गिर कर मर जाने वाले, संग्राम में कट कर मर जाने वाले, विष खाकर

मर जाने वाले, अछूत रोगों से मर जाने वाले पुरुषों की अन्त्येष्टि में विनियोग के लिये भी मन्त्र होने चाहियें। अतः यह बात नहीं, पृथक् विनियोग के लिये मन्त्र नहीं है अपि तु विज्ञान दर्शाना ध्येय है जो हमारे भाष्य में हैं।

मन्त्र १४ में—

"चतुर्थ पाद का सम्पूर्ण मन्त्र के साथ कैसे सङ्गति करण किया जा सकता है यह विचारणीय है। चारों पादों को मिलाकर इस मन्त्र का भाव व्यक्त नहीं होता।" (अन्य विद्वान्)

दोष—जब तक पौराणिकवाद का स्वपक्ष संस्कार मन में रहेगा तब तक संगति और भाव का व्यक्त होना असम्भव है। इस जगह कोई कठिन बात नहीं है हमारे अर्थों में देखें, वहां 'इममग्निं सुहर्षय' का 'इस अग्नि को आनन्दित कर' ऐसा अर्थ नहीं किया अपितु 'हृष् अलीके' धातु मे 'इस शवाग्नि को अलीक यानि शान्त कर' ऐसा किया है। अथर्ववेद १८। ३। ६० में इसी मन्त्र में 'सुहर्षय' की जगह 'सुशमय' पाठ भेद है जो हमारे अर्थ के अनुकूल और उसका पोषक है।

ऋग्वेद मं० १० सूक्त १३५।

इस सूक्त का यम देवता है। यहां का यम वैवस्वत न होने से इस का अभिधेय काल नहीं है अपि तु यम का अर्थ यहां आदित्य है। निरुक्त में इस सूक्त के प्रथम मन्त्र की व्याख्या है। वहां महर्षि यास्क ने यम का अर्थ आदित्य किया है "यमो रश्मिभिरादित्यः" (निरु० १२। १६) सम्पूर्ण सूक्त में आदित्य की शक्तियों का वर्णन है। उस का संसार और समार के प्राणिमात्र की उत्पत्ति स्थिति और नाश में निमित्त होना दर्शाया है, जीव का शरीर में प्रवेश और शरीर का क्रमशः निर्माण आदित्य ही करता है, वर्तमान शरीर से जीव का कार्य लेना या उस को विषयों आदि में चलाना सूर्य के सहयोग से ही बनता है, सांसारिक वस्तुओं में आदित्य के अनुग्राहक होने के कारण उस का प्रकटीभाव प्रथम होना, उदय-अस्त के विज्ञान से रश्मिप्रचार और रश्मिसंहार द्वारा उपयोग तथा प्राणी के जन्मकाल में भी उस के नाड़ीधमन और वाणी के व्यापार में आदित्य निमित्त है। इत्यादि आदित्य-महिमा का वर्णन है।

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनुवेनति ॥ १ ॥

(यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे यमो देवैः संपिबतेऽत्रा विश्पतिः पिता नः पुराणाननु-वेनति) "यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे स्थाने वृतक्षये वापि वोपमार्थे स्याद् वृक्ष इव सुपलाश इति वृक्षो व्रश्चनात् पलाशं पलाशनाद्देवैः सङ्गच्छते यमो रश्मिभिरादित्यस्तत्र नः सर्वस्य पाता वा पालयिता वा पुराणाननुकामयेन्" (निरु० १२ । २९) निरुक्तानुसारेणैषोऽर्थो यद्-यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे शोभनपत्रे वृक्ष इव संसारे । श्रुतिश्चैवम् "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं परिषस्वजाते" (ऋ० १ । १६४ । २०) अथवा । यस्मिन् सुपलाशे सम्यक् पलाशने पलं क्षणमश्नुते व्याप्नोतीति तत्र पलाशने क्षणभङ्गुरे वृक्षे वृतक्षये 'वर्तेत इति वृतो जीवः । वृतु वर्तनेऽस्मात् कर्तरि कः' । तस्माद्वृतक्षये जीवनिवासे संसारे । 'वृतं जीवनमिति च विश्वकोषः' । देवै रश्मिभिः सह यम आदित्यः संपिबते सङ्गच्छतेऽत्र तत्र पूर्वोक्ते संसारे विश्पतिः सर्वपतिः पिता पाता स नोऽस्माकं पुराणान् वृद्धान् वयोहीनान् रोगेण शक्तिहीनान वा, अनुवेनत्यनुकामयेतानुकामयितुमर्हेद् वा ऽनुकामयते स्वायत्तीकरोति स्वकिरणैः स्वीकरोति सूक्ष्मीकृत्याकर्षति मारयतीत्यर्थः ॥१॥

भाषार्थ—(यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे यमो देवैः सम्पिबतेऽत्रा विश्पतिः पिता नः पुराणाननुवेनति) जिस सुन्दर पत्र वाले वृक्ष तुल्य संसार में अथवा जिस पल २ में परिवर्तनशील क्षणभङ्गुर जीवनिवास संसार में सर्वरक्षक सूर्य स्वकिरणों से प्रथम सङ्गत होता है । पुनः उसी में हमारे पुराने वयोहीन या रोग से शक्तिहीन वृद्ध जनों को स्वायत्त या स्वकिरणों से सूक्ष्म कर के निःसत्व करता यानि मार देता है ॥ १ ॥

शिक्षा—इस वृक्षतुल्य क्षणभङ्गुर संसार में जीवों का निवास है और सब जीवों का पितृस्थानीय सूर्यदेव अपनी किरणों से उत्पत्ति और रक्षा के लिये सङ्गत होता है पुनः वही सूर्य वयोहीन जीवों के सत्व को खींच कर स्ववश कर लेता यानि मार देता है ॥ १ ॥

पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया ।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः ॥ २ ॥

(पुराणाननु वेनन्तममुया पापया चरन्तमसूयनभ्यचाकशं पुनस्तस्मा अस्पृह-यम्) पुराणान् तान् पूर्वोक्तान् वृद्धाननुवेनन्तं स्वायत्तीकुर्वन्तं मारयन्तमित्यमुया पापया चरन्तमनया पापक्रियया दुरितक्रिययाऽसूयनभ्यचाकशमहं जीवोऽसूयन् स्वात्मनि दुःखमनुभवन् सन् तं यममादित्यमभ्यपश्यं सम्यगज्ञासिषं यन्नास्य यमस्यादित्यस्य दोषोऽपि तु नियम एवैष जगदीश्वरस्य प्रकृत्याश्च यदादित्यः प्रथमं जीवशरीराणि पुष्णाति क्षीणीकरोति चान्ते । पुनरत एव तस्मा आदित्यायास्पृहयं तमनुकूलं निर्दोषं मतवान् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पुराणाननुवेनन्तममुया पापया चरन्तमसूयनभ्यचाकशं पुनस्तस्मा अस्पृहयम्) पुराने वृद्ध जनों को स्वायत्त करते हुए यानि क्षीण कर के मारते हुए आदित्य की इस बुरी क्रिया से वर्तमान को स्वात्मा में दुःख मनाते हुये मैंने जब विचार दृष्टि से देखा, जाना कि आदित्य का इस में कोई दोष नहीं अपि तु यह नियम तो जगदीश्वर और प्रकृति की ओर से है जो आदित्य प्रथम जीवशरीरों को पुष्ट करता है और अन्त में क्षीण कर के जीव का वियोग करा देता है। अत एव आदित्य के लिये इच्छा की और उसे निर्दोष समझा ॥ २ ॥

शिक्षा—यद्यपि आदित्य अन्त में सब के शरीरों को क्षीण कर के खींच लेता और निःसत्व बनाता है तथापि इस में आदित्य का दोष नहीं किन्तु ऐसा होना ही उत्तम है। जैसे ही वह सवन (उत्पन्न) करने से सविता है एवं अन्त में यमन (स्ववश) क्षीण करने से यम है। सो इस प्रकार उस का जीव शरीरों को प्रथम पुष्ट करना और अन्त में क्षीण करना वैज्ञानिक-वर्ताव उचित है ॥ २ ॥

यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसाकृणोः ।
एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधितिष्ठसि ॥ ३ ॥

(कुमार यं नवं रथं मनसाऽचक्रं कृणोः) हे कुमार कुमारवन्निर्मलस्वरूप ! वा कुत्सितमार जीवात्मन् ! यं नवमपुराणं पूर्वजापेक्षया नूतनं रथं शरीररूपं रथं मनसा स्वमनोवृत्या स्वकल्पनयाऽचक्रं चक्ररहितं गतिविरहमपरिणाममकृणोरकरोरमन्यथाः "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु" (कठो० १।३।३) इति प्रामाण्यात् शरीरं रथः (एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधितिष्ठसि) तमेकेषमेका–ईषा गतिप्रयोजना कर्म-रूपा धूर्यस्मिन्निति तमेकेषमेकधुरं विश्वतः सर्वतः प्राञ्चं प्रगन्तारं प्रगतिशीलं गमना-गमनस्वभावं त्वमपश्यन्नजानन्नधितिष्ठसि तत्र विराजसे। इत्येष आन्तरिकोऽनुभवो विज्ञानिनः पूर्वमन्त्रप्रसक्तः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(कुमार यं नवं रथं मनसाऽचक्रं कृणोः) हे जीवात्मन् । जिस नूतन शरीररूप रथ को तू ने मन से अभिमान से निज स्वल्प विचार से अविचाली परिणाम रहित समझ रखा है (एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधितिष्ठसि) उस कर्मरूप एक धुरा वाले रथ को जो कि कर्म के कारण सर्वत्र प्रगतिशील गमन और आगमन स्वभाव का है तू उसको विना जाने ही उसमें विराजमान है । यह इस प्रकार का विवेकी पुरुष का आन्तरिक अनुभव है जो पूर्व मन्त्र से सम्बन्ध रखता है ॥ १३ ॥

शिक्षा—मनुष्य वृद्धावस्था से पूर्व प्रायः भूल से यह अभिमान किया करता

है कि मेरा यह शरीर स्थायी है किन्तु विवेकी पुरुष इसको कर्म धुरा पर रखा हुआ अनन्त गति करने वाला परिणामी समझ कर उत्तम कर्म करता है ॥ ३ ॥

यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि ।
तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम् ॥ ४ ॥

(कुमार यं रथं विप्रेभ्यस्परि प्रावर्तयः) कुमार हे जीवात्मन् ! यं रथं शरीररूपं रथं विप्रेभ्यस्परि देवानामधि "देवा विप्राः" (श० ६ । ३ । १ । १६) पञ्चम्याः परावध्यर्थे" (अष्टा० ८ । ३ । ५१) प्रावर्तयस्त्वं प्रवर्तितवान् प्रवर्तयसि वा (नाव्याहितं सामानु तं समितः प्रावर्तत) नाव्याहितं नावीवास्थितं भवसागरतरणायात्मन्यधिष्ठितं सामानु नौरथसंयोगमनु-आत्मशरीरसंयोगमनु तं शरीररथं समितः सम्यगितः सम्यक् प्राप्तोऽयं यम आदित्यः प्रावर्तत प्रवर्तितवान् प्रवर्तयति वाऽन्तर्गतो णिजर्थः । आन्तरिकभावः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(कुमार यं रथं विप्रेभ्यस्परि प्रावर्तयः) हे जीवात्मन् ! जिस शरीर रथ को तू अग्नि आदि देवों की अनुकूलता से चला रहा है (नाव्याहितं सामानु तं समितः प्रावर्तत) नौका में रक्खे हुए के तुल्य संसार सागर को तरने के लिये आत्मा में आश्रित दैवकृत संयोग के साथ उस शरीर रथ को भली भांति प्राप्त हुआ यह यम यानि आदित्य चला रहा है । यह विवेकी जीव का आन्तरिक भाव है ॥ ४ ॥

शिक्षा—आत्मा और शरीर का सम्बन्ध नौका और रथ के तुल्य है । इसमें सन्देह नहीं इस शरीर का चालक आत्मा ही है पर आदित्य का सम्बन्ध भी इसके चलने में अनिवार्य ही है ॥ ४ ॥

कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत् ।
कः स्वित्तदद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत् ॥ ५ ॥

(कः कुमारमजनयत्को रथं निरवर्तयत्) कः प्रजापतिरादित्यः "को हि प्रजापतिः" (श० ६ । २ । २ । ५) "प्रजापतिर्वै सविता" (ता० १६ । ५ । १७) कुमारं जीवात्मानमजनयच्छरीरे प्रावेशयत् । क आदित्य एव रथं शरीरं निरवर्तयत् निर्वर्तितवान् सृष्टवान् । (अनुदेयो यथाभवत् कः स्विदद्य तन्नो ब्रूयात्) एवं सर्वप्रकारेणाऽऽदित्योऽस्माकमनुदेयी-अनुग्रहीता यथाऽभवत् सञ्जातस्तथा कः स्विदादित्य एवाद्य तन्नोऽस्मानेष ब्रूयाद् ज्ञापयेद् विज्ञानरीत्या स्वव्यापारेण वा दर्शयेत् ॥ ५ ॥

भावार्थ—(कः कुमारमजनयत्) आदित्य ने जीव का शरीर में प्रवेश कराया (को रथं निरवर्तयत्) आदित्य ने ही शरीर को बनाया (अनुदेयी यथाभवत् कः स्विदद्य नो ब्रूयात्) सर्व प्रकार से आदित्य हमारी अनुकूलता का सम्पादक जिस प्रकार सिद्ध है एवं वह आदित्य हमको स्वव्यापार से दर्शाता है ॥५॥

शिक्षा—आदित्य के प्रभाव से जीव का शरीर से सम्बन्ध होता है और शरीर की उत्पत्ति आदि भी। एव आदित्य अपने व्यापार से जीव के स्वकृत्यों का सहायक है ॥ ५ ॥

यथा भवदनुदेयी ततो अग्रमजायत ।
पुरस्ताद् बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम् ॥ ६ ॥

(यथाभवदनुदेयी ततो अग्रमजायत) यथा यस्मात्कारणादनुदेय्यनुग्रहीताऽभवदादित्यस्ततस्तस्मात्कारणादग्रं प्राणिसृष्टेः प्रागजायत प्रकटोऽभवत् (पुरस्ताद् बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम) पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि स आदित्यो बुध्नेऽन्तरिक्ष आततो रश्मिप्रचारेण प्रसृतः सन् पश्चात्पश्चिमायां दिशि तेन निरयणमवसानं कृतम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—(यथाभवदनुदेयी ततो अग्रमजायत) जिस कारण से यह आदित्य प्राणियों का अनुग्राहक यानि जीवन में सहयोग देने वाला है उसी कारण से ही यह प्राणि-सृष्टि से पहले संसार में प्रकट हुआ (पुरस्ताद् बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम) पूर्वदिशा में वह आदित्य स्वरश्मिप्रचार से अन्तरिक्ष में फैला हुआ है और पश्चिम दिशा में एवं रश्मिप्रकाश का अवसान यानि अन्त करता है ॥ ६ ॥

शिक्षा—सूर्य सृष्टि के प्राणीमात्र के लिये उत्पति आदि कार्य में सहायक या सहयोगी होता है विना आदित्य के कोई प्राणि-सृष्टि या भौतिक पदार्थ विकासको नहीं प्राप्त कर सकता अत एव उसकी उत्पत्ति सबसे प्रथम होती है। हमारे दृष्टिकोण से सूर्य पूर्व में स्वरश्मिप्रचार कर के पुनः पश्चिम में रश्मिप्रचार का अन्त कर देता है। इस प्रकार उसका पूर्व में उदय और पश्चिम में अस्त देखते हैं ॥ ६ ॥

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।
इयमस्य धम्यते नाडीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥७॥

(इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते) इदं शरीरं यमस्यादित्यस्य सादनं सदनं प्रवेशस्थानम्। "अन्येषामपि दृश्यते" (अष्टा० ६ । ३ । १३७) इति दीर्घः।

यद्देवमानं देवानां रश्मीणां समावेशनमुच्यते (अस्येयं नाडीर्धम्यतेऽयं गीर्भिः परिष्कृतः) यत्र शरीरेऽस्य जीवस्येयं नाडी नाडी प्राणधारिका धम्यते चलति तथाऽयं जीवो गीर्भिरुत्पन्नकाले रोदनरूपधार्यमाणाभिर्वाग्भिः परिष्कृतः सम्पन्न उत्पद्यते "गीर्वाङ्नाम" (नि० १ । ११) ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते) प्राणिशरीर आदित्य का सदन है और यही रश्मियों का समावेशस्थान है (*अस्येयं नाडी धम्यतेऽयं गीर्भिः* परिष्कृतः) जिस के कारण इस जीव की शरीर में यह प्राणधारिणी नाड़ी चलती है और वह जीव उत्पन्न काल में रोदन रूप वाणी से युक्त हुआ २ उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

शिक्षा—प्राणिशरीर सूर्य और उसकी रश्मियों के सर्वथा अधीन है अत एव यह शरीर की स्थिरता और प्राणसञ्चार तथा वाक्शक्ति का प्रभावक है ॥७॥

समालोचना—

मन्त्र १ में—

कोई २ विद्वान इस सूक्त के अर्थों में तटस्थ रहे हैं। न केवल तटस्थ ही अपि तु महर्षि यास्काचार्य तक की व्यवस्था पर भी हाथ साफ कर डाला। उनके शब्द निम्न हैं—

"इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता यम है। यम का अर्थ इस सूक्त में क्या है यह एक विचारणीय विषय है। यास्काचार्य ने निरुक्त में इस मन्त्र में आये हुए यम का अर्थ आदित्य किया है (नि० १२ । २९) परन्तु इस स्थापना के अनुसार सम्पूर्ण सूक्त का अर्थ लगाना पर्याप्त कठिन है।"

दोष—जब कि महर्षि यास्क ने इस सूक्त में आये हुए यम का अर्थ आदित्य है ऐसा स्पष्ट कर दिया है तब 'यम का अर्थ इस सूक्त में क्या है' वादी का यह सन्देह करना आदरणीय नहीं है। प्रतीत होता है कि वादी का दृष्टिकोण पौराणिकवाद में अर्थ करने का है, जो कि निरुक्त में सिद्ध न होते हुए ऐसा लिखना पड़ा।

२-आश्चर्य है कि 'विचारणीय' भी कहा है पर विचार भी कुछ नहीं किया अपि तु सायण और ग्रिफिथ का अर्थ दे कर चुप चल दिये और दोनों भाष्यों पर भी असन्तोष प्रकट करके पीछा छुड़ा लिया **"इस प्रकार यह सूक्त समाप्त होता है। मन्त्रों की परस्पर सङ्गति किस प्रकार लग सकती है वा सम्पूर्ण सूक्त का वस्तुतः क्या अभिप्राय है यह कहना पर्याप्त कठिन है। उपर्युक्त दोनों भाष्यों से भी विशेष सहायता मिलती हुई प्रतीत नहीं होती।"**

दोष—यह ठीक है कि सायण और ग्रिफिथ के अर्थों से वादी सहमत न हों परन्तु महर्षि यास्क के अर्थों का तिरस्कार तो अमर्षणीय है। केवल तिरस्कार न करके और असहमत न होकर पीछा छुड़ाना अथवा किसी पर इस प्रकार कड़ी टिप्पणी चढ़ाने की शोभा तभी ठीक है जब कि अपने अर्थों का प्रकाश भी किया जावे॥

ऋग्वेद मं० १० सूक्त १५४।

इस सूक्त का देवता 'भाववृत्त=वस्तुपरिणाम' है। किसी भी वस्तु का हरिणाम उसके अपने धर्म पर निर्भर है। जैसा २ उस वस्तु का स्वाभाविक धर्म होता है वैसा २ परिणाम उसका होता जाता है। धर्म यानि स्वाभाविक नियम प्रथम क्रिया पर अधिकार करता है, नियमाधीन क्रिया 'भाववृत्त=वस्तुपरिणाम' को प्रकट करता है। अत एव इस सूक्त में सम्बोधित किया हुआ 'यम' शब्द धर्म का अर्थ रखता हुआ मानवीय परिणामों का भावी निबन्धक रूप से वर्णित है। यम का अर्थ धर्म है (देखो मुख्यशब्दार्थसमन्वय 'यम' सं० ५) किसी भी आश्रम, किसी भी वर्ण, किसी भी अवस्था अथवा किसी भी कार्य क्षेत्र में प्रवृत्त मनुष्य की प्रत्येक परिस्थिति में धर्म उसके भावी मानवीय परिणामों का हेतु है। कोई भी मनुष्य विना धर्म-प्रभाव के रिक्तजीवन नहीं हो सकता, अपि तु धर्मवश होकर उसकी सारी जीवनयात्रा भावी-फलरूप परिणाम तक अवश्य पहुँचावेगी। एवं धर्मवश जीवनयात्रा और भावी परिणाम या कर्मफल होता है इत्यादि सिद्धान्त का प्रतिपादन इस सूक्त का विषय है।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥१॥

(सोम एकेभ्यः पवते) सोम ओषधिः सौम्यं जाङ्गलभोज्यं वैकेभ्यः कतिपयेभ्यश्चित् पवते यज्ञोपयोगाय सिद्धं भवति (एके घृतमुपासते) एके जना घृतं घृतपक्वमन्नं वोपासते यज्ञकरणायानुतिष्ठन्ति (मधु येभ्यः प्रधावति) मधु मधुरं रसं फलं वा येभ्यो जनेभ्यः प्रधावति यज्ञार्थं प्रकृष्टं शुद्ध्यति (तांश्चिदेवापि गच्छतात्) तांश्चिदेव पूर्वोक्तान् तान् सर्वानेवापि गच्छताद् हे यम धर्म! त्वमवश्यं गच्छ वाऽयं धर्मोऽवश्यं गच्छति। अन्तिममन्त्रद्वये यमे कर्तृधर्मदर्शनात्तत्सम्बोधनाच्चात्र सर्वसूक्ते स एव यमः कर्तृरूपेण सम्बोधन इष्यते। तस्मात् सिद्धान्त एषोऽत्र मन्त्रे प्रतिपाद्यते यद्येऽत्र सोमयाजिनो घृतयाजिनो मधुयाजिनो यजमानाः किंवा सोमयाजिनो ब्रह्मचारिणस्ते हि ब्रह्मचर्याश्रमे जाङ्गलवनस्पतिसेवनपरायणा भवन्ति घृतयाजिनो गृह-

स्थास्ते हि घृतपक्वमन्नं प्राचुर्येणानुतिष्ठन्ति । मधुयाजिनो वानप्रस्थास्ते हि खलु मधुरफलभोजिनो वने वसन्ति । एवं तान् सर्वानेव धर्मोऽवश्यं गच्छति यथा चोक्तम् "एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः" (मनु० ८ । १७) ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सोम एकेभ्यः पवते) सोम ओषधि वा सौम्य गुणयुक्त खाने योग्य जाङ्गल वनस्पति आदि कुछ एक लोगों के लिये यज्ञ प्रयोगार्थ तैयार की जाती है (एके घृतमुपासते) कुछ लोग घृत या घृतयुक्त अन्न यज्ञ में सेवन करते हैं (मधु येभ्यः प्रधावति) मधु या मधुरसयुक्त फल जिनके लिये यज्ञोपयोग में सुसम्पन्न किया जाता है (तांश्चिदेवापि गच्छतात्) उन पूर्वोक्त सभी को धर्म अवश्य प्राप्त होता है ॥ १ ॥

शिक्षा—सोमयाजी, घृतयाजी, मधुयाजी, यजमानों किंवा सौम्यान्नसेवी ब्रह्मचारियों, घृतपक्वान्नभोजी गृहस्थों, मधुरफलानुष्ठानी वानप्रस्थियों को धर्म भावी-परिणाम के लिये प्राप्त होता है । यज्ञ से प्राप्त धर्म स्वफलार्थ यज्ञानुष्ठानियों के साथ जाता है । प्रत्येक ऐहिक आश्रमत्रय अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ का भी धर्म साथ जाता है ॥ १ ॥

तपसा ये अनाधृष्या तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ २ ॥

(तपसा ये अनाधृष्याः) ये जनाः संन्यासाश्रमिणस्तपसा दीक्षया संन्यास-दीक्षया तत्सम्बद्धेन नियमानुष्ठानेन वाऽनाधृष्या अप्रसह्या अबाध्याः सन्ति । 'धृष् प्रहसने चुरादिः ।' "तपो दीक्षा" (श० ३ । ४ । ३ । २) "न ह वै दीक्षितोऽग्निहोत्रं जुहुयात्" (गो०पू० ३ । २१) अत एवात्र तपसेति विधानम् (तपसा ये स्वर्ययुः) ये खलु पूर्वोक्तेन तपसा दीक्षानियमेन दीक्षानुष्ठानकष्टेन वा स्वर्दिवं पुनर्जन्मप्राप्तये मेघमण्डलं ययुः । (ये महस्तपश्चक्रिरे) ये च महदत्यन्तं तपश्चरणं योगाभ्यासं चक्रिरे कृतवन्तः (तांश्चिदेवापिगच्छतात्) तानपि तपस्विनो योगिनः प्रति धर्मोऽवश्यं गच्छति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तपसा ये अनाधृष्याः) जो संन्यास आश्रमी तप से यानि तप की दीक्षा और उसके आचरण से दृढ़ीभूत हैं (तपसा ये स्वर्ययुः) जो पूर्वोक्त साधु दीक्षा के कठिनाचरण से द्युलोक यानि मेघमण्डल को पुनर्जन्म प्राप्ति के हेतु जा चुके हैं (ये महस्तपश्चक्रिरे) जो अत्यन्त तपश्चरण योगाभ्यास में पक्व हो चुके (तांश्चिदेवापिगच्छतात्) उन सब तपस्वियों के साथ धर्म जाता है ॥ २ ॥

शिक्षा—संन्यासियों, साधुओं तथा योगियों के साथ भी धर्म जाता है। जो अभी तपश्चरण कर रहे हैं या जो मध्य में तपश्चरण करते हुए मर चुके अथवा तपश्चरण की परमावधि प्राप्त कर चुके उनके साथ भी धर्म जाता है ॥ २ ॥

ये युद्ध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ३ ॥

(ये शूरासः प्रधनेषु युद्ध्यन्ते) ये शूरासो वीरक्षत्रियाः प्रधनेषु सङ्ग्रामेषु युद्ध्यन्ते "प्रधनं संग्रामनाम" (नि० । २ । १७) (ये तनूत्यजः) ये तत्र सङ्ग्रामेषु तनूत्यजः शरीरं त्यक्तवन्तः (ये वा सहस्रदक्षिणाः) ये वा तत्र सङ्ग्रामेषु सहस्रदक्षिणा असंख्यातदक्षिणा बहुहिरण्यगोवासोऽश्वान् लब्धवन्तो जितसंग्रामाः । "चतस्रो वै दक्षिणा हिरण्यं गौ र्वासोऽश्वः" (श० ४ । ३ । ४ । ७) (तांश्चिदेवापि गच्छतात्) तानेवञ्जातीयान् सर्वान् योद्धॄन् धर्मः सदैव गच्छति ॥ ३ ॥

भावार्थ—(ये शूरासः प्रधनेषु युद्ध्यन्ते) जो वीर क्षत्रिय संग्रामों में लड़ रहे हैं (ये तनूत्यजः) जो वीर वहां लड़ते हुए अपना शरीर त्याग चुके हैं (ये वा सहस्रदक्षिणाः) और जो जित-संग्राम होकर नकद धन, गौ, वस्त्र और घोड़े प्राप्त किये हुए हैं (तांश्चिदेवापि गच्छतात्) एवं सर्व प्रकार के वीरों के साथ धर्म जाता है ॥ ३ ॥

शिक्षा—युद्धक्षेत्र में लड़ने, मरने और विजय प्राप्त करने वाले क्षत्रियों के साथ भी धर्म जाता है। अत एव लड़ने, मरने और सम्पत्ति का विजय करने में भी धर्म को न छोड़ना चाहिये ॥ ३ ॥

ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः ।
पितन्तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥४॥

(ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधस्तपस्वतस्तांश्चिदेव पितॄन् यमापि गच्छतात्) येऽपि पूर्वे पितरो जनकादयः पालकजना ऋतसाप ऋतेन ज्ञानेन विद्यया सपन्ति सम्बध्ननन्ति जनान् ते । ऋतावान ऋतेन सत्येन न्यायेन वनन्ति संभजन्ते प्रजास्ते ऋतावान न्यायकारिणः । ऋतावृध ऋतेन धनेन वर्धयन्ति ते ऋतावृधो व्यापारिणः । तपस्वतः कृतपरिश्रमान् शुद्रान् । तान् सर्वान् पितॄन् पालकान् यम धर्मोऽपि गच्छतादवश्यं गच्छति ॥ ४ ॥

भावार्थ—(ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधस्तपस्वतस्तांश्चिदेव पितॄन् यमापिगच्छतात्) जो पूर्व पितर जनकादि विद्या से मनुष्यों का सम्बन्ध कराने वाले,

न्याय से प्रजा के सुखभाजक न्यायकारी जन, धन से वृद्धि कराने वाले व्यापारी महानुभाव और परिश्रमी लोग हैं इन सब के साथ भी धर्म जाता है ॥ ४ ॥

शिक्षा—ब्राह्मण आदि वर्णों या ब्राह्मणादि की वृत्ति वाले लोगों के साथ भी धर्म जाता है ॥ ४ ॥

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ ५ ॥

(ये सहस्रणीथाः कवयः सूर्यं गोपायन्ति) ये सहस्रणीथाः सहस्रमसंख्यातानि विज्ञानयनानि येषां ते सहस्रणीथा असंख्यविज्ञानेत्राः कवयः कवन्त उपदिशन्ति वेदांस्ते कवयः सूर्यं सूर्यमिव ज्ञानप्रकाशं वेदं गोपायन्ति रक्षन्ति स्वात्मनि साक्षाद्दृष्ट्या स्थापयन्ति (तपोजान्तपस्वत ऋषीन् यमापिगच्छतात्) तान् तपोजान योगाभ्यासरूपे तपसि कृतात्मकान् तपस्वतस्तथा चेदानीं योगाभ्यासरूपं तपोऽनुतिष्ठत ऋषीन् वेदविदो महानुभावान् यमोऽयं धर्मोऽवश्यं गच्छति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये सहस्रणीथाः कवयः सूर्यं गोपायन्ति) जो असंख्य विज्ञानेत्रवाले विद्वान् सूर्यरूप वेदज्ञान की रक्षा करने वाले अर्थात् अध्ययन से अपनी आत्मा में रखने वाले हैं (तपोजान्तपस्वत ऋषीन् यमापिगच्छतात्) उन योगाभ्यासरूप तप में कृतात्म हुए ऋषियों के साथ भी धर्म जाता है ॥ ५ ॥

शिक्षा—ऋषियों और परम ऋषियों के साथ भी धर्म जाता है ॥ ५ ॥

समालोचना—

मन्त्र १ में—

१—"शवदहन अन्त्येष्टिक्रिया प्रेत की आत्मा के प्रति इस सूक्त की ऋचाओं के अनुसार उसके सम्बन्धी आदियों का कथन है"। (अन्य विद्वान)

दोष—यहां प्रेत अर्थ का सूचक कोई भी शब्द नहीं है। भला किसी प्रेत के सोमयाजी, घृतयाजी, मधुयाजी, तपोयाजी, संग्राम में लड़ने मरने वाले, सम्पत्ति वाले, ऋतवान, ऋतसाप, ऋतावृध और ऋषि आदि इतने सम्बन्धी हो सकते हैं ? तथा प्रेत इनको कैसे प्राप्त कर सकता है ? 'कभी मरे पितरों को प्रेत प्राप्त होता है, कभी इन जीतों को जो संग्राम आदि में लड़ते हैं प्राप्त होता है' ऐसा लिखना कैसा उपहास का विषय है ?

२—"(यम) नियमवान् प्रेतात्मा तू प्राप्त हो" कोई २ विद्वान् ऐसा

लिखते हैं यहां ग्रिफिथ ने यम का अर्थ यम ही रखा, सायण ने यम का अर्थ 'नियत' अपनी टिप्पणी में ऐसा लिखा है।

दोष—क्या प्रेतात्मा (मरा हुआ) भी नियमवान् होता है ? यदि ऐसा ही है तो सारे जड़ पदार्थ भी नियमवान् हैं क्योंकि वे भी किसी न किसी नियम में स्वभावतः रहते ही हैं। हां, अगर यम का अर्थ नियम करते तो भी कुछ बात थी।

अथर्ववेद का० १८ अनुवाक १।

इस अनुवाक के प्रथम १६ मन्त्रों में 'यम-यमी' की चर्चा है। यहां 'यम-यमी' का अर्थ क्या है यह एक विचारणीय विषय है। सायण आदि भाष्यकारों तथा सामयिक विद्वानों ने 'यम-यमी' का 'भाई-बहिन' अर्थ करके इतना अश्लील मैथुनी संवाद खड़ा किया है कि जिससे विधर्मी तथा पाश्चात्य विद्वानों को वेदों पर आक्षेप करने का अवसर मिला। साधारण धार्मिकवृत्ति का बुद्धिमान् पुरुष भी जिसको पसन्द नहीं कर सकता ऐसी चर्चा को स्थिर करते हैं। इस संवाद के "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" इस मन्त्रांश को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन्तानोत्पत्ति करने में असमर्थ पति की ओर से सन्तान की इच्छुका पत्नी को नियोग की आज्ञा देने में प्रमाणित किया है। उनकी इस योजना से प्रतीत होता है कि वह इस विषय को पति-पत्नी का संवाद समझते हैं। अस्तु वस्तुस्थिति क्या है पाठक हमारे इस विषय के लेख से समझ सकेंगे। अत एव सब से प्रथम हम यम यमी के अर्थों के विचारार्थ एक अवतरणिका सम्मुख धरते हैं। पश्चात् मन्त्रार्थ शिक्षा और समालोचना भी करेंगे।

अवतरणिका

इस प्रकरण में जो यम-यमी को किन्हीं महानुभावों ने भाई-बहिन समझा है और कुछेक मनस्वी इनको पति-पत्नी समझते हैं, इस प्रकार यह मतभेद होना सम्भव है। क्योंकि जब कोई स्वाध्यायी इस प्रकरण का साधारण दृष्टि से पाठ करता है तो उसको कुछेक ऐसे शब्द मिलते हैं जिनसे यम-यमी का पति-पत्नी होना पाया जाता है, तथा किन्हीं शब्दोंसे भाई-बहिन को झलक मारती है, अतः अनायास वह सन्देह में पड़ जाता है कि यहां यम-यमी भाई-बहिन हैं किंवा पति-पत्नी। भाष्यकारों की बुद्धि का प्रवाह जिस पक्ष की ओर झुक गया उसको मुख्य और दूसरे पक्ष को गौण समझा अर्थात् जिन महानुभावों ने यम-यमी को भाई-बहिन समझा है वे पति-पत्नी सम्बन्ध दर्शाने वाले शब्दों की उपेक्षा से सङ्गति करेंगे तथा जो मनस्वी पति-पत्नी

भाव मुख्य समझते हैं उनको भाई-बहिन की दृष्टि गौण मानकर किसी अध्याहार विशेष से अर्थ योजना करनी पड़ेगी। अस्तु। भाई-बहिन का सम्बन्ध मुख्य है वा पति-पत्नी का, इस बात को जानने के लिये जब इस प्रकरण पर दृष्टि डालते हैं तो "किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्० (११) पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्० (१२)" इन दो स्थलों पर भाई-बहिन की झलक है तथा "ओ चित्सखायं सख्या ववृत्याम्० (१) न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्० (२) जन्युः पतिस्तन्वमाविविश्याः० (३) गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा० (४) गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा···वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः० (५)" इन चार स्थलों में पति-पत्नी सम्बन्धी व्यवहार है। मन्त्र ५ के "वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः" इस वचन में पति-पत्नी भाव में द्यावापृथिवी को साक्षी भी बतलाया गया तथा इसका उत्तर वचन में प्रत्याख्यान भी नहीं किया, अतः बहुसम्मतिन्याय से इस सूक्त में यम-यमी को पति-पत्नी मानना पड़ता है।

२—"अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" इस अंश का असमर्थ पति की ओर से पत्नी को नियोग की आज्ञा में ऋषि दयानन्द का लगाना यह उस मन्त्र-द्रष्टा की एक साक्षी है।

३—वेदार्थ करने के लिये वेदाङ्गों की व्यवस्थापना माननीय है उनमें भी व्याकरण प्रधान अङ्ग है "षडङ्गेषु प्रधानं व्याकरणम्" इसलिए 'पुंयोगादाख्यायाम्' (अष्टा० ४।१।४८, इस व्याकरण व्यवस्था का मानना अत्युचित है। इस सूत्र से यम-यमी का सम्बन्ध पति-पत्नी ही सिद्ध होता है क्योंकि उक्त सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर यमी शब्द बना है। सूत्रार्थ यह है कि पुरुष के लिये जो शब्द है उस शब्द से स्त्री वाचक होने में ङीष् प्रत्यय हो यदि वह स्त्री उसके साथ पुरुष योग (पुरुष-धर्म) से विद्यमान हो। आख्या ग्रहण का प्रयोजन यह कि पुंयोग के लिये उद्यत, वर्तमान और पश्चात् समय में भी प्रसिद्ध हो जैसे—'गोप' की स्त्री 'गोपी' और 'आचार्य' की स्त्री 'आचार्यानी' जो कि पुंयोग के लिये उद्यत, अर्थात् विवाहानन्तर गर्भाधान से पूर्व तथा गर्भाधान काल और उसके पश्चात पति के जीते हुए या मर जाने पर भी वह स्त्री गोपी, आचार्यानी नाम से विख्यात होवे। सूत्र का स्वरूप यहां तक ही है अन्यथा टिप्पणीकारों की कल्पना अमाननीय है।

४—ऋषि दयानन्द भी यमी का अर्थ यम की पत्नी करते हैं क्योंकि वे पूरे वैयाकरण थे जैसे—"यम्यैः यमस्य न्यायकर्तुः स्त्रियै" (यजु० २१। ५) अतः पुंयोग में ही यमी शब्द है अन्यथा नहीं।

५—पुंयोगादिति किम्=पुंयोग से भिन्न कन्या का वाचक होने में "यमा"

"अजाद्यतष्टाप्" (अष्टा० ४ । १ । ४) से टाप् प्रत्यय हुआ है। उदाहरण का स्थान तथा प्रमाण "यमे इव यतमाने यदैतम्०" (ऋ० १० । १३ । २) यहां पर 'यमा च यमा च=यमे' है और 'यतमाना च यतमाना च=यतमाने' इस प्रकार प्रथमा द्विवचन बनाया है। तथा ब्राह्मण ग्रन्थ भी यमा ही समझकर व्याख्या करता है "यमे इव यते यतमाने प्रबाहुगितः" (ऐत० ब्रा० । ५ । ३) इस स्थान पर सायण भी सीधा होकर अर्थ करता है "यथा लोके तादृशौ द्वे कन्यके सह वर्तेते तथेमे शकटे हविर्धाने" (ऐत० ब्रा० ५ । ३ सायण भाष्य) ॥

उपर्युक्त प्रमाणों से यह दिखलाया कि यम-यमी शब्दों का पति-पत्नी के लिये ही प्रयुक्त होना उचित है अब इस बात को भी सम्मुख रखते हैं कि यम-यमी शब्द जिनके वाचक हैं उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है।

६—वेदार्थ को त्रिविधदृष्टि अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक के कारण हमारा निश्चय इस सूक्त में कुछ और ही है। उक्त त्रिविध दृष्टि को हम इस प्रकार समझते हैं कि—

(!) परमात्मा और जीवात्मा सम्बन्धी विषय 'आध्यात्मिक' है।

(!!) ज्योतिष् विज्ञान (Science) और अग्निहोत्रादि यज्ञ विषयक चर्चा 'आधिदैविक' है।

(!!!) सुवर्ण आदि धातु (Material) ओषधि, रसायन और शिल्प-सम्बन्धी वृत्त 'आधिभौतिक' है।

परिचय के लिये (निरुक्त परि० २ । १३) आदि २ स्थल तथा ब्राह्मणों और उपनिषदों को देखें। वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था इन्हीं में यथासम्भव विभक्त होजाती है।

इस प्रकरण के विषय में हमारा विचार आधिदैविक दृष्टि से ज्योतिषपरक है। हम'यम-यमी' को 'दिन-रात' समझते हैं इसमें प्रमाण—

(अ) "यम-यमी" निघं० (अ० ५ । ४-५) अन्तरिक्षस्थान देवताओं में 'पद' नाम करके पढ़े हुए हैं। पद के तीन अर्थ ज्ञान, गमन, प्राप्ति हैं, सो दिन रात सदा गति करते हुये अन्तरिक्ष में विचरते हैं। अतः निघण्टु का पद नामों में अन्तरिक्षस्थान देवता करके स्वतन्त्ररूप से पढ़ना 'यम-यमी' को दिन-रात के अर्थों में लाने का अभिनायक है।

(इ) मुख्यशब्दार्थसमन्वय में हम ने सामान्यात्मक काल का वाचक

'यम' शब्द तथा "यम-यमी" पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के जोड़ में विशेषात्मक होकर "दिन-रात" का अर्थ सिद्ध किया हुआ है।

(उ) इसी प्रकरण का ७ वां मन्त्र 'यम-यमी' का अर्थ दिन-रात करने में हमें बाधित करता है इसको व्याख्या में स्पष्ट करेंगे। अतः इस वैदिक तात्पर्य से हम यम-यमी का दिन–रात अर्थ करते हैं।

यम-यमी (दिन–रात) को कोई एक नामान्तर से 'अश्विनौ' भी कहते हैं। जैसे "तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके०" (निरुक्त० दै० । ६ । १) द्यावापृथिवी, दिन रात, सूर्य चन्द्र ये मिथुन (जोड़े) हैं, इन्हीं को कुछेक "प्राण-रयि" भी कहते हैं, प्रश्नोपनिषद् में इस का स्पष्टीकरण किया है यथा "स मिथुनमुत्पादयते रयिञ्च प्राणञ्चेत्यतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यतः" प्रजापति ने 'प्राण-रयि' जोड़ा उत्पन्न किया कि ये दोनों मेरे लिये बहुत प्रकार की प्रजा उत्पन्न करेंगे। सो इस प्रकरण में "[१] आत्मा–अनात्म (पुरुष–प्रकृति), [२] अमूर्त–मूर्त, [३] सूर्य–चन्द्र, [४] उत्तरायण–दक्षिणायन, [५] शुक्लपक्ष–कृष्णपक्ष, [६] दिन–रात, [७] वीर्य्य–रजः" ये सात जोड़े वर्णन किये हैं, अन्यत्र शास्त्रों में "अग्नि–पृथिवी, सूर्य–चन्द्र, राजा–राणी" को भी यम-यमी कहा है। अतः "अश्विनौ, यम-यमी, प्राण-रयि" ये उक्त जोड़ों के अर्थवशात नामान्तर हैं। उक्त जोड़े परस्पर पुरुष–स्त्री (नर–मादी) धर्म से वर्तमान हैं क्योंकि एक अग्निप्रधान है और दूसरा जलप्रधान है यही बात निरुक्त में भी कही है "ज्योतिषाऽन्योरसेनान्यः" (निरुक्त० दै० । ६ । १) सुबोध के लिए निम्नक्रम देखिये:—

	अग्निप्रधान—	जलप्रधान—
[१]	द्यौः (अग्नि*)	पृथिवी
[२]	दिन	रात
[३]	सूर्य्य	चन्द्र
[४]	आत्मा (पुरुष)	अनात्म (प्रकृति)
[५]	अमूर्त	मूर्त

*"अग्निर्वै यमः, इयं (पृथिवी) यमी आभ्या ँ हीद ँ सर्वं यतम्" (श० ब्रा० २।१।१०) 'अग्नि = द्यौः' दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानम् (अथ० का १० । अनु० ४ । म० ३२) 'अग्निर्मूर्द्धा' (मुण्डको० २ । १)" वेद में 'द्यौः' शब्द से उपनिषद् में अग्नि शब्द से मूर्द्धा का वर्णन किया है तथा "अश्विना" 'द्यावापृथिव्यौ, इस निरुक्त वचन को सामने रखकर ऋषि

[६] उत्तरायण दक्षिणायन

[७] शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष

[८] वीर्य्य रजः

[९] राजा राणी

उक्त यम-यमी का सम्बन्ध 'पति-पत्नी' है दूसरा और कोई नहीं। प्रथम उपर्युक्त प्रश्नोपनिषद् के वचनों पर ही इस व्यवस्था को छोड़ देते हैं। देखिये वहां स्पष्ट ही मिथुन (जोड़ा) प्रजोत्पत्ति के लिये 'पति-पत्नी' सम्बन्ध से ही वर्णन है अन्यथा नहीं क्योंकि प्रजोत्पत्ति 'पति-पत्नी' होकर ही करते हैं॥

७—तथा पूर्वोक्त युग्मों में से कतिपय युग्म अन्यत्र शास्त्रों में पति पत्नी शब्दों से ही वर्णित हैं जैसे—"अग्ने पृथिवीपते" (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। ११।४।१) "पृथिव्यग्नेः पत्नी" (गोपथ ब्राह्मण। उ० २।९) वेद में 'द्यावा पृथिवी' का पत्नी भाव वर्णित है। "द्यौर्मे पिता······माता पृथिवी महीयम्" द्यौ को पिता और पृथिवी को माता कहा है, पिता और माता का सम्बन्ध पति-पत्नी ही होता है दूसरा कोई नहीं। एवं पूर्वोक्त जितने भी युग्म हैं उन सभी का परस्पर पति-पत्नी सम्बन्ध है। जो महाशय पूर्वोक्त युग्मों के पति-पत्नी भाव को स्व-स्वामी रूप में कहने का आग्रह करते हैं वे मानों प्राचीन ऋषियों की मर्यादा को उल्लांघने की धृष्टता करते हैं क्योंकि "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" (अष्टा० ४।१।३३) में सिद्ध है कि 'पत्नी' शब्द यज्ञसंयोग अर्थात् दाम्पत्य सम्बन्ध में ही है अन्यथा नहीं "इयं ब्राह्मणी ग्रामस्य पतिरस्ति न तु पत्नी" अतः दाम्पत्य सम्बन्ध से जो एक दूसरे पर अधिकार रखते हैं उनको ही 'पति-पत्नी' कहते हैं इसलिये यम-यमी का सम्बन्ध पति-पत्नी है।

८—'यम-यमी' के वाच्य 'दिन-रात' परस्पर पति-पत्नी हैं इस बात को ऋषि दयानन्द भी लिखते हैं "अथ रात्रिदिवसदृष्टान्तेन स्त्रीपुरुषौ कथं वर्तेयातामित्युपदिश्यते" (दयानन्दभाष्य ऋ० १।९२।८)

अब उपर्युक्त "वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्, व्याकरण और ऋषि दयानन्द के वचनों" से सिद्ध हुआ कि 'यम-यमी' परस्पर पति-पत्नी रूपमें वर्तमान हैं। 'यम-

---

दयानन्द लिखते हैं कि "द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण०' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-नौविमानप्रकरण) अतः "द्यावापृथिव्यौ "यम-यमी" कहलाये जैसे 'अग्नि-पृथिवी' को गोपथ ने मिथुन कहा है वैसे ही निरुक्त में उसी को अश्विनौ नाम से मिथुन कहा है, सायण भी "अश्विनौ अर्थात् द्यावापृथिवी, अहोरात्र, सूर्य चन्द्र को" "यम-यमी" समझता है (ऋ० ३।३९।२)

यमी" का 'भाई-बहिन सम्बन्ध मानने वालों को उक्त वचनों पर ध्यान देना चाहिये वरन् हम स्पष्ट शब्दों में कहने को तय्यार हैं कि इन उक्त प्रमाणों का प्रतिवाद किसी प्रकार भी नहीं कर सकते और न ही पुनः 'यम-यमी' का 'भाई-बहन' सम्बन्ध वेद, उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थों से सिद्ध कर सकते हैं। बृहद्देवता 'यम-यमी' का सम्बन्ध 'भाई-बहिन' ही मानता है और 'भाई-बहिन का ही संवाद समझता है, सो उपर्युक्त वेदादि वचनों का तिरस्कार करके उसकी कल्पना अमाननीय है।

जिज्ञासु—महाराज! "बलित्था महिमा वामिन्द्राग्नी पनिष्ठ आ। समानो वा जनिना भ्रातरा युवं यमाविहेह मातरा" (ऋ० ६। ५९। २) देखिये इस वेद मन्त्र में साफ 'यम-यमी' को 'भाई-बहिन' कहा है क्योंकि यमौ=यमश्चयमी च "पुमान् स्त्रिया" (अष्टाध्यायी १। २। ६७) से एक शेष रह गया तथा "भ्रातरा=भ्रातरौ-भ्राता च स्वसा च "भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्" (अष्टा० १। २। ६०) से एक शेष रहा अतः 'यम-यमी' भाई बहिन सिद्ध हो गये।

वैदिक—क्यों जी! यमश्च यमश्च=यमौ तथा भ्राता च भ्राता च=भ्रातरौ, भ्रातरा" इस प्रकार "स्वरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ" (अष्टा० १। २। ६४) से क्या एक शेष नहीं हो सकता है।

जिज्ञासु—हां यह प्रकार भी हो सकता है, पर कैसे निश्चय किया जावे कि आपका कथन ठीक है या मेरा विचार?

वैदिक—सुनो! हमने जो पीछे नव (९) जोड़े कहे हैं जिनको आचार्यों ने 'प्राण-रयि' 'अश्विनौ' यम-यमी, नाम दिये हैं, क्या उनमें से "इन्द्राग्नि" कोई जोड़ा है?

जिज्ञासु—नहीं! उनमें से कोई नहीं है।

वैदिक—तो फिर आपको निश्चय करना चाहिये कि "इन्द्राग्नि" "यम-यमी" नहीं हैं, क्योंकि यम-यमी कहने की शास्त्रीय मर्यादा उक्त जोड़ों के लिये ही है।

(!!) यह भी वहां पर ही बतला चुके हैं कि एक ज्योतिः प्रधान और दूसरा जल प्रधान है परन्तु यहां तो "इन्द्र (सूर्य), अग्नि" दोनों ही ज्योतिः प्रधान हैं॥

(!!!) निरुक्त में इन दोनों को 'यम' कहा है "यमोरश्मिभिरादित्यः" (निरु० दै० ६। २१) "अग्निरपि यम उच्यते" (निरु० दै० ४। २०) अतः इस उपस्थित वेद मन्त्र में दोनों 'यम' हैं। बस अब 'इन्द्र' भी यम और 'अग्नि' भी यम होने से

'यमश्च यमश्च=यमा तथा भ्राता च भ्राता च भ्रातरौ' ही हैं इसलिये 'इन्द्राग्नी' यम-यमी नहीं हैं जो 'भ्रातरा' शब्द को विशेषण देखकर 'भाई-बहिन' की कल्पना की जावे।

जिज्ञासु—हां ठीक ! इस मन्त्र से तो समझ में आगया कि यहां न 'यम-यमी' हैं न उनके लिए भाई-बहिन की कल्पना है प्रत्युत "नाना चक्राते यम्या वपूंषि तयोरन्यद्रोचते कृष्णमन्यत् । श्यावी च यदरुषी च स्वसारौ महद्देवानामसुरत्वमेकम्" (ऋ० ३ । ३५ । ११) इस मन्त्र में 'यम्या' शब्द से 'दिन-रात' भाई-बहिन बतलाया है क्योंकि इस मन्त्र का देवता 'अहोरात्रौ=दिन रात' है तथा 'स्वसारौ' शब्द से भाई-बहिन तात्पर्य है यहां 'भ्राता च स्वसा च=स्वसारौ' स्वसा एक शेष रह गया है वैदिक प्रयोग होने से। आप जिस 'दिन-रात' को 'यम-यमी' अर्थों में पति-पत्नी ले रहे हैं वे 'भाई-बहिन' इस मन्त्र से सिद्ध हो रहे हैं।

वैदिक—सुनो भाई ! यह कोई निश्चित नहीं है कि जिस मन्त्र में जो नामवाचक शब्द हो उसका अर्थ उस मन्त्र का देवता हो क्योंकि वृत्त सम्बन्धी वाक्य का देवता कभी उसका मूल, कभी फल, कभी छाया और कभी उसका स्वरूप होता है देखो यही 'यम्य' शब्द (ऋ० ५ । ५७ । ५) में आया और इस मन्त्र का देवता 'विश्वेदेवाः' है परन्तु सायण ने यहां 'यम्या' का अर्थ "यम्ये नियमनीये युग्मभूते" किया है तथा (ऋ०६ । ६८ । ३) में भी 'यम्या' शब्द आया है वहां 'पवमान सोम' देवता है परन्तु सायण ने इसका अर्थ "युगलभूते द्यावापृथिव्यौ" किया है। तथा (ऋ० ३ । ३९ । ३) में यमा=यमौ है किन्तु देवता 'इन्द्र' है अतः मन्त्रगत 'यम्या' शब्द का अर्थ इस मन्त्र का देवता ही हो यह आग्रह शिथिल होगया।

(B) "स्वसारौ" 'भ्राता च स्वसा च' स्वसृशब्द एक शेष वैदिक रूप में रह जावे सो यह भी नहीं हो सकता क्योंकि वेद की ऐसी स्वतन्त्र विधियों के लिये भी पाणिनि आदि ऋषियों ने व्याकरण के नियम बना दिये हैं, वह तत् २ स्थल में उपयोगी होते हैं जैसे "बहुलं छन्दसि, सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते, व्यत्ययो बहुलम्, परादिश्छन्दसिबहुलम्, वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ । धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्" इत्यादि वचनों का आश्रय लेते हुए अर्थ योजना होती है कल्पना से नहीं। हां 'भ्राता च स्वसा च'=भ्रातरौ के स्थान पर 'सर्वे विधयच्छन्दसि विकल्प्यन्ते' से भ्रातास्वसारौ हो सकता है। 'स्वसारा' नहीं अतः 'भाई-बहिन' नहीं किन्तु दोनों बहिनें हैं।

(C) "श्यावी च यदरुषी च स्वसारौ" में "स्वसारौ" शब्द श्यावी और

अरुषी का विशेषण है सो ये उक्त दोनों शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं, इससे भी भाई-बहिन नहीं किन्तु बहिनें हैं।

(D) आपके विचारानुसार 'यम्या' यदि दो व्यक्तियां हैं तो भी 'यम-यमी' नहीं किन्तु "यमी" शब्द का द्विवचन है अर्थात् 'यम्या=यम्यौ' 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छे०" (अष्टा० ७ । १ । ३६) सूत्र से आकारादेश हुआ। तब भी यह 'यम्या' शब्द 'श्यावी और अरुषी' का ही विशेषण होगा क्योंकि ये दोनों स्त्रीलिङ्ग और प्रकृत हैं। अतः यहां 'यम्या' से 'यम-यमी' की कल्पना दुःसाध्य ही नहां परन्तु असम्भव है

(E) ऋषि दयानन्द ने इस 'यम्या' शब्द का अर्थ 'रात्रि' किया है और साथ में 'यम्येति' रात्रिनाम (निघं० १ । ७) यह प्रमाण भी दिया है। यह स्थल अत्यन्त विचारणीय है क्योंकि 'यम्या' शब्द का प्रयोग केवल ऋग्वेद में ही आता है सो भी (ऋ० ३ । ५५ । ११), (ऋ० ५ । ४७ । ५), (ऋ०६ । ६८ । ३), इन तीन ही स्थलों में। निघण्टु के रात्रि नामों में 'यम्या' शब्द पढ़ा है, उक्त तीनों स्थलों में सायण ने 'यम्या' का रात्रि अर्थ कहीं भी नहीं किया है। ऋषि दयानन्द ने भी केवल (ऋ०३ । ५५ । ११) इसी स्थल पर रात्रि अर्थ किया है, किन्तु निघण्टु में "यम्या" (१ । ७) शब्द आद्युदात्त है प्रत्युत वेद में और पदपाठ में 'यम्या' स्वरितान्त है। नैघण्टिक "यम्या" शब्द "अजमेर मुद्रित, दुर्गाचार्य भाष्य और देवराज यज्वा के निघण्टु में भी आद्युदात्त ही मिलता है। किन्तु वेदों में कहीं भी आद्युदात्त नहीं है। उक्त तीन स्थलों पर ही है सो भी स्वरितान्त है। हां इसी 'यम्या' शब्द के आगे निघण्टु में 'नम्या' शब्द भी आद्युदात्त रात्रि नाम में पढ़ा है। यह "नम्या" शब्द यथास्वं आद्युदात्त (ऋ० १ । ५३ । ७) और (अथ० २० । २१ । ७) में ही आया है अन्य किसी वेद में नहीं। तथा मन्त्र भी एक ही है। यहां भी सायण दिशा भूल गये कहीं पर भी रात्रि अर्थ नहीं किया प्रत्युत ऋषि दयानन्द ने निघण्टु के अनुसार 'नम्या' का अर्थ रात्रि किया है "नम्येति रात्रिनाम०" निघ० १ । ७ (ऋ० १ । ५३ । ७) पर। अब उपस्थित (ऋ० ३ । ५५ । ११) में जहां ऋषि दयानन्द ने यम्या का अर्थ रात्रि किया है दो अनुमान किए जा सकते हैं वे ये कि (१) या तो इस (ऋ० ३ । ५५ । ११) मन्त्र तथा पदपाठ में 'यम्या' आद्युदात्त होगा। (२) अथवा निघण्टु में ही 'यम्या' शब्द स्वरितान्त होगा। पर मेरे पास इतने साधन नहीं हैं जो तत्काल इसका निर्णय कर सकूं और सामने रख सकूं। अनुमान की दोनों अवस्थाओं में ऋषि दयानन्द का 'यम्या' रात्रि अर्थ करना युक्त है।

जिज्ञासु—यहां तक जो आपने कहा है सो ठीक है और मेरी समझ में भी आगया है पर उक्त मन्त्र में "०तयोरन्यद्रोचते कृष्णमन्यत्०" इस 'तयोः' (उन दोनों में) इस पद को किधर लगावेंगे क्योंकि 'तद्' शब्द तो किसी का संकेत करता है 'यम्या' के साथ तो लग सकता नहीं क्योंकि 'यम्या' शब्द को आपने 'यम-यमी' नहीं है ऐसा सिद्ध कर दिया है और ऋषि दयानन्द की प्रणाली से 'रात्रि' का वाचक बना दिया है।

वैदिक—हम 'तयोः' शब्द को "श्यावी और अरुषी" के साथ लगावेंगे क्योंकि "तयोरन्यद्रोचते कृष्णमन्यत्" यह वाक्य "श्यावी और अरुषी" का वर्णन करता है।

जिज्ञासु—वे तो आगे पढ़ी हैं।

वैदिक—आगे हैं तो कोई हरज नहीं क्योंकि "यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्। (न्यायदर्शन अ० १ अ० २ वात्स्यायनभाष्य)।

२—"श्यावी च यदरुषी च = जो कि श्यावी और अरुषी" नाम से प्रसिद्ध हैं, यह वाक्य 'तयोः' को अपेक्षित करता है, यहां 'यत्' शब्द 'तयोः' की ओर योजना रखता है पूर्ण वाक्य इस प्रकार हो जावेगा "श्यावी च यदरुषी च तयोरन्यद्रोचते कृष्णमन्यत्"।

३—लोक में भी ऐसा वाक्य बन सकता है "तयोरेतद् गृहं देवदत्तश्च यद् विष्णुमित्रश्च"।

जिज्ञासु—हां ठीक है! आपकी योजना समझ में आगई। अब कृपया यह बतलावें कि इस मन्त्र का देवता जो 'अहोरात्र' है उसका इसके साथ क्या सम्बन्ध है तथा वे 'श्यावी और अरुषी' क्या वस्तु हैं और मन्त्र का संक्षिप्त भाव क्या है।

वैदिक—हम पीछे बतला चुके हैं कि यदि किसी वाक्य में किसी वृक्ष का वर्णन हो तो कभी उस वाक्य का देवता 'फल' होता है और कभी 'मूल' वा कभी 'छाया या शाखा आदि स्वरूप' एवं यहां 'अहोरात्र' फलरूप में देवता हैं 'अरुषी' भी उषा का नाम (निघं० १। ७) में है और 'श्यावी' रात्रि नाम है परन्तु यह 'यम्या' रात्रि का वाचक पढा है, अतः इस प्रकार 'यम्या श्यावी वा श्यावी यम्या' से उस रात्रि का ग्रहण है जो कारण-रात्रि उषा की सहयोगिनी है अर्थात् "उषा-श्यावी यम्या" ये दोनों क्रमशः दिन-रात की जननी हैं अब इस मन्त्र का भाव यह है कि:—

उक्त 'उषा-श्यावी यम्या' की स्थिति लोकदृष्टि से सूर्य और पृथिवी के भ्रमण से होती है यदि "सूर्य-पृथिवी" भ्रमण न करें तो "उषा-श्यावी यम्या" की स्थिति न हो कर "दिन-रात" भी न बन सकें। इसी भाव को वाचक लुप्तोपमालङ्कार के ढङ्ग में ऋषि दयानन्द हैं (ऋ० ३ । ५५ । ११) के भावार्थ में वर्णन करते हैं कि "अत्र वाचकलु०—यदि परमेश्वरो भूमेः सूर्य्यस्य च भ्रमणस्य व्यवस्थां न कुर्यात्तर्हि रात्रिदिने कथं सम्भवेतां येन जगदीश्वरेण पुरुषार्थाय दिनं शयनाय शर्वरी निर्मिता तमीश्वरं हृदि सर्वे ध्यायन्तु।"

विशेष—इस सूक्त सम्बन्धी यम-यमी को हमने उपर्युक्त वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्, व्याकरणादि के प्रमाणोंसे पति पत्नी रूप में दर्शा दिया है इसी रहस्य को वर्तमान समयके ऋषि दयानन्दने भी अनुभव किया था अत एव उन्होंने "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" को पति की ओर से पत्नी को नियोग की आज्ञा में लिखा है क्योंकि दयानन्द सायण के पीछे चलने वाली व्यक्तियों में न था जो यम-यमी को भाई-बहिन मानकर उसकी हां में हां करता किन्तु सायण आदिकों के अनर्गल-वाद का खण्डन तथा ऋषियों की अति प्राचीन मर्य्यादा का पुनरुद्धार करने आया था जो उन ऋषियों की श्रेणी का अङ्ग था। अस्तु!

२—'यम-यमी' का 'पति-पत्नी' भाव सिद्ध होने के अनन्तर अब जो दिन रात अर्थ करके अलङ्कार रूप में उनका संवाद स्पष्ट करेंगे सो यह भी ध्यान रहे कि दिन रात का भी उपर्युक्त प्रमाणों से पति पत्नी सम्बन्ध ही है।

३—अन्य सज्जनों के अनुसार हम दिन-रात की उत्पत्ति एक ही सरण्यू, उषा से नहीं मानते है किन्तु वैदिकसिद्धान्त के आधार पर दिन का पिता पूर्व दिशा में विराजमान (मित्र) सूर्य और माता उषा सरण्यू या सूर्या नाम से है और रात का पिता पश्चिम दिशा में वरुणदेव है क्योंकि पृथिवी गोल पर दिन का आगमन पूर्व दिशा से और रात का पश्चिम से एक साथ सिद्ध है। इसी प्रकरण के ७ वें मन्त्र से यह रहस्य टपकता है "बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रवः" मित्र (सूर्य) का धाम (दिनका पितृकुल) और वरुण का धाम (रात का पितृकुल) लम्बायमान दूर है—कैसे कोई वहां जाकर हमारे (दिन-रात के) दुःख को सुनावे। यही बात तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी कही है "मैत्रं वा अहः। वारुणी रात्रिः" (तै० ब्रा० १ । ७ । १०१)

(प्रश्न) क्या यहां पर देवता अर्थ में "मैत्रं वा अहः। वारुणी रात्रिः" का प्रयोग नहीं है?

(उत्तर) नहीं यहां तो केवल अपत्यार्थ में ही तद्धित है, देवतार्थ में आगे

चल कर यह प्रयोग है"अग्नये सायं हूयते सूर्य्याय प्रातः (६)"' आग्नेयी वै रात्रिः । ऐन्द्र-महः । यदनुदिते सूर्य्ये प्रातर्जुहुयात् । उभयमेवाग्नेयं स्यात्०" ॥ (तै०ब्रा० २ । १ । २ । ७) अतः पूर्वोक्त वचन "मैत्रं वा अहः । वारुणी रात्रिः" अपत्यार्थ में है इसी कारण वेद में भी दिन–रात का दुःख-सन्देश "मित्र-वरुण" के धाम अर्थात् अपने पितृकुलों में पहुँचाना युक्त है ।

मित्र का अर्थ सूर्य है "मित्रोदाधार पृथिवीमुतद्याम्० (ऋ० ३ । ५९ । १) ऋषि दयानन्द भी यहां मित्र का अर्थ सूर्य ही करते हैं । वरुण का अर्थ अभ्ररूप मेघ है क्योंकि जैसे दिन से प्रतिकूल रात है एवं सूर्य से प्रतिकूल अभ्ररूप मेघ है । सूर्य पार्थिव अग्नि की अपेक्षा सूक्ष्म है एवं अभ्र भी पृथिवीस्थ जल की अपेक्षा सूक्ष्म है अतः वरुण का अर्थ अभ्ररूप सूक्ष्म जल कणों का समुदाय हुआ । यही गोपथ ब्राह्मण में लिखा है "ता (आपः) यच्च वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरुणोऽअभवत्तं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण० (गो० पू० १ । ७) तथा अभ्र से रात्रि उत्पन्न होती है इसमें प्रमाण भी है "दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन यत्पृथिवीं व्युन्दन्ति" (तमः) अन्धकाराख्यां रात्रिम् (दयानन्द० ऋ० १ । ३८ । ६) तमो रात्रिनाम (निघण्टु० १ । ७) तथा "यमस्य माता पर्य्युह्यमाना" (ऋ० १० । १७ । १) वेद में सरण्यू (उषा) को यम की माता कहा है यम-यमी की नहीं, यहां सायण बड़ी खेंचतान करता है । 'यमस्य' के साथ 'यम्याश्च' यह एक पद अपने घर से रख देता है । प्रत्यक्ष भी उषासे दिन की ही उत्पत्ति देखने में आती है और ऋषि दयानन्द भी उषा से दिन की उत्पत्ति ही मानते हैं उनके वचन "उषसि सूर्यः किरणाख्यं वीर्यं दधाति तेन दिवसरूपमपत्यमुत्पद्यते" (ऋ० ३ । ३१ । १)* साहित्य ग्रन्थों में भी सूर्य को दिवाकर ही कहा है तैत्तिरीयारण्यककी परिभाषासे दिन-रात की मातायें भी अलग अलग हैं "तयोरेतौ वत्सावहोरात्रे पृथिव्या अहः । दिवो रात्रिः । ता अवसृष्टौ दम्पती एव भवतः (तै० आ० १ । १०) इस वचन में दिन-रात को पति पत्नी कहा है यह एक हमारे पक्ष का अत्यन्त साधक है । यास्क मुनि निरुक्तकार तो दिन-रात को ही नहीं बल्कि "अश्विनौ" को अलग २ माता से उत्पन्न हुए मानता है । उसके वचन "वासात्योऽन्य उच्यते, उषः पुत्रस्त्वन्यः" (निरु० दै० ६ । २) वसाति का अर्थ वही है जो 'यम्या श्यावी' का पीछे कर आये हैं । यहां दुर्गाचार्य अर्थ करते हैं कि 'वासात्यो रात्रेः पुत्रः' उषा की सहयोगिनी कारण रात्रि इष्ट है । अब बतलाइये । वेद,

* इन प्रजापति, त्वष्टा, सरण्यू, सवर्णा, सूर्या और अश्विनौ पर विशेष विचार फिर किसी अवसर पर करेंगे ।

ब्राह्मण ग्रन्थ, निरुक्त, व्याकरण, दयानन्द और प्रत्यक्ष सिद्ध की बात मानें या अन्य पोथियों की निराधार कल्पना। अस्तु इस प्रकार दिन रात के पितृकुल अलग २ हैं और दोनों का पति पत्नी सम्बन्ध है। यदि कोई वेद का विद्वान् इनको एक ही माता पिता से उत्पन्न हुए सिद्ध कर भी दे तो दिन रात का सामयिक पति-पत्नी सम्बन्ध ही है क्योंकि उत्पत्ति मात्र से ही भाई बहिन सम्बन्ध स्थिर नहीं किया जा सकता किन्तु दैविक नियमों से पति-पत्नी आदि सिद्ध सम्बन्ध होते हैं विशेषत: अमानुषी सृष्टि में केवल उत्पत्ति पर ही सम्बन्ध स्थिर नहीं हैं प्रत्युत दैविक नियम ही सम्बन्धके स्थापक होते हैं जैसे अन्न से पुरुष के शरीर में वीर्य पतिरूप से और स्त्रीके शरीर में रज पत्नी रूप से उत्पन्न होते हैं तो क्या स्त्री पुरुषों के समागम काल में वीर्य और रज असहयोग कर बैठेंगे कि हम दोनों नहीं मिलेंगे। क्योंकि अन्न हमारा पिता है उससे हमारी उत्पत्ति है हम दोनों भाई बहिन हैं ऐसा नहीं किन्तु दैविक नियम से "वीर्य्य और रज" पति-पत्नी ही हैं क्योंकि प्रजोत्पत्ति के लिये ही उनकी उत्पत्तिहै । इसी प्रकार दिन-रात भी चाहे एक ही पदार्थ से उत्पन्न क्यों न हुए हों परन्तु इनका वीर्य-रज के समान प्रजोत्पत्ति के लिये होने से पति-पत्नी सम्बन्ध ही है और पति-पत्नी भाव कोही लेकर दिन-रात उत्पन्न हुए हैं । एवं जड़ पदार्थों में उत्पत्ति से पिता, माता, भ्राता और भगिनी सम्वन्ध केवल कथन मात्र ही है प्रत्युत पदार्थ-विद्या का दर्शाना ही इसका ध्येय है। पशु और पक्षियों में प्रजोत्पत्ति के साथ २ भोग योनि के कारण भोग प्रधान है अत: वे भाई बहिन और माता पिता के सम्बन्ध को भोग समय गौण कर देते हैं। किन्तु मनुष्य जाति एक विचारशील है भोग के साथ साथ कर्म को प्रधान रखती है उसका उद्देश्य सभ्यता शिक्षा और धार्मिकता का अनुष्ठान करते हुए मुक्ति तक पहुँचना है। वेदविद्या भी मनुष्य के लिये ही है वेद उसको भाई बहिन आदि के परस्पर विवाह की आज्ञा नहीं देता है अत: यह भाई बहिन आदि का स्थायी सम्बन्ध केवल मनुष्य जाति में ही रहता है अपितु उत्पत्ति मात्र से विवाहित स्त्री-पुरुष (पति-पत्नी) भी भाई बहिन समझे जावेंगे, क्योंकि पिता दोनों का ईश्वर और माता पृथिवी है किन्तु ऐसा नहीं है प्रत्युत विवाह संस्कार हो जाने से पति-पत्नी सम्बन्ध ही स्थिर रहता है एवं "दिन-रात" आदि जड़वस्तुओं को प्रजापति ने प्रजोत्पत्ति का मिथुन (जोड़ा) बनाया मानो विवाह-संस्कार किया है सो वे उत्पत्ति की समानता से भाई बहिन नहीं है किन्तु पति पत्नी हैं।

इतिहासवादी—महाराज ! हम तो 'यम-यमी' को सहजात भाई बहन समझते हैं। आप तो दिन-रात के अलङ्कार में पति-पत्नी सम्बन्ध मानते हो।

वैदिक—क्यों नहीं, आप मानते होंगे कि पूर्वकाल में आपकी जाति में 'यम-यमी' सहजात हुए हैं और ईश्वर ने आकर आपके वंश की कथा लिखी होगी। क्या खूब ! वेद क्या है आपके घर के झगड़ों का चिट्ठा है । क्यों वेद पर कलङ्क लगाते हो वेद का प्रकाश आदि सृष्टि में हुआ और ईश्वरीयज्ञान और सत्य विद्याओं का भण्डार है उस को ऐतिहासिक भण्डार (Store) मत बनाओ कृपया वेद को वेद की दृष्टि से देखो।

काल्पनिक—महाशय ! हम 'यम-यमी' को यद्यपि सहजात भाई-बहिन समझते हैं पर यह नहीं मानते कि वे कभी वैदिक काल से पूर्व हुए, किन्तु भविष्यत् में वैदिक काल के पश्चात् होंगे और ऐसा मैथुनी संवाद करेंगे।

वैदिक—वैदिक काल से लेकर आज तक पृथिवी पर सहस्रों से अधिक ही सहजात भाई-बहिन हुए, उन में अभी तक तो ऐसी चर्चा नहीं उठी तो क्या सृष्टि के लय के अनन्तर यह भविष्यद् वाणी है ?

आशङ्की—हम भविष्यद् वाणी नहीं मानते प्रत्युत इस को वेद का आशङ्का-वाद मानते हैं। कदाचित् सहजात बहिन-भाई परस्पर मैथुन करलें तो उन के लिये मैथुन का निषेध है।

वैदिक—गर्भ में मैथुन करने की आशङ्का है या गर्भ से बाहिर ?

आशङ्की—गर्भ में तो समर्थ ही नहीं किन्तु बाहिर जवान होकर न कर सकें।

वैदिक—क्या वेद ने कोई ऐसा प्रबन्ध किया हुआ है कि जो वे मैथुन न कर सकेंगे या क्या ?

आशङ्की—केवल उपदेश है कि तुम भाई-बहिन हो तुम को आज्ञा नहीं है।

वैदिक—तो क्या सहजात से भिन्न एक माता से अलग २ समय में उत्पन्न हुए भाई बहिन नहीं हैं। या उन के लिये मैथुन का निषेध नहीं है ?

आशङ्की—हां इसमें तो सहजात बहिन-भाई के विवाह का निषेध है।

वैदिक—धिक् ! धिक् !! इससे तो एक माता से भिन्न २ समय में उत्पन्न हुए भाई बहिन का भी मैथुन आपको स्वीकार करना पड़ेगा।

सगोत्री—भाई हम तो 'यम-यमी' को सहजात आदि भाई-बहिन नहीं समझते किन्तु सगोत्र भाई बहिन मानते हैं।

वैदिक—क्यों भाई माता के पितृकुल में जो अपने भिन्न गोत्र होंगे वहां

मातुल की लड़की या पितृष्वस्रीया से मैथुन हो जावे ? यह ठीक नहीं है । पशु सदृश व्यवहार है, मनुष्य समाज में शिष्टाचार और सभ्यता पूर्ण सम्बन्धों के रखने की आवश्यकता है, एवं सम्बन्धों के कारण प्रथम भाई बहिन बनकर फिर पति पत्नी बनना ठीक नहीं और यदि सभ्यता पूर्वक सम्बन्धों का स्थिर रखना स्वीकार है तो फिर पूर्वोक्त भाई-बहिन कदाचित् मैथुन पर तय्यार हो जावें तो कोनसी श्रुति (कानून) से उन को रोकेंगे क्योंकि इस सूक्त की श्रुतियां तो सगोत्र तक परिमिति कर दी ?

(लेखक) अयि महाशयो ! इस प्रकार आलाप करना स्वतन्त्रता का मिथ्या प्रयोग है क्योंकि आप लोग ऋषि दयानन्द के परिपोषण में न रहकर सायण आदि की दिमागी गुलामी में आकर प्रमत्त गीत गाते हो । भ्रान्ति को दूर करो ऋषि दयानन्द के प्रदान किए प्रकाश से कुछ अब भी काम लो । स्यात् । अब हमारी व्याख्या देखिए और इसकी शब्दार्थ-योजना और क्रम पर ध्यान दीजिए ।

व्याख्या

सृष्टि के आरम्भ में जगत्-निर्माता परमात्मा का रचा हुआ सूर्य उत्पत्ति-क्रम से अपने प्रकाश और तेज से दूसरों को चेताने वाला जब कि क्रान्तिवृत में अन्तरिक्ष को प्राप्त हुआ तो पृथिवी लोक के प्रति प्रकाश और तेज का दान किया जिस से पूर्व दिशा से आकर पृथिवी के ऊर्ध्व भाग पर चलता हुआ दिन और पश्चिम की ओर से आकर पृथिवी के अधोभाग में गति करती हुई रात ये दोनों एक साथ बाहर प्रकट हुए । इससे पूर्व "दिन-रात" गर्भ में थे पूर्व दिशा में सौर अग्नि और पश्चिम में वरुण देव इन दिन रात के पितृस्थानीय हैं विवस्वान् प्रजापति देव ने इनका मिथुन (पति—पत्नी) रूप में प्रजोत्पत्ति के लिये स्थिर किया सूर्य्य देव की प्रेरणा से दोनों इकट्ठे रहने को पृथिवी तल (पार्श्वों) पर गर्भ से बाहर आगये इस स्थिति में प्रथम मन्त्र द्वारा रात्रि संवाद का प्रारम्भ करती है:—

ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरूचिदर्णवं जगन्वान् ।
पितुर्नपातमादधीत वेधा अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥१॥

(पुरूचित् तिरोऽर्णवं जगन्वान्) पुरूणां बहूनां पृथिव्यादीनां चित् चेतकः । सुपां सुपो भवन्तीति षष्ठी-बहुवचने प्रथमाद्विवचनम् । सूर्यस्तिरस्तीर्णं सुविस्तृतमर्णवं माध्यमिकं समुद्रमन्तरिक्षम् "अर्णवानर्णस्वतो माध्यमिकान्" (निरु० १० । ६) अर्णो जलं तद्वन्तमाकाशं जगन्वान् प्राप्तवान् अन्तरिक्षे स्थित इत्यर्थः । तदा किं जातमित्युच्यते (चित्सखायं सख्या, आववृत्यामु) चित्, हे चेतनाशील ! अस्मान्

चेतयितो दिवस ! अहं यमी रात्रिः सखायं त्वां पूर्वतः सखीभूतं पतिमित्यर्थः । सख्या सख्याय मित्रत्वाय । सख्यशब्दात् ङेस्थाने आकारादेशः "सुपां सुलुक्पूर्व-सवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (अष्टा० ७ । १ । ३९) * आ + ववृत्याम् + उ = अतिशयेनावर्तयाम्येव = सुतरामाह्वयामि हि । आङ् पूर्वकवृतुधातो लडर्थे लिङ् । "बहुलं छन्दसि" (अष्टा० २।४।७३) सूत्रेण शपश्लु र्व्यत्ययेन परस्मै पदं च । (अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः) अधिक्षमि पृथिव्या अधोभागे* । कुतः । यदहमत्र पृथिव्या अधोभागेऽस्मि

---

*(प्रश्न) आपने पदपाठ का विभाग करके प्राचीन मर्यादा के तोड़ने का साहस क्यों किया ?

(उत्तर) केवल मैंने ही यह साहस नहीं किया किन्तु सायण ने भी पदपाठ का विभाग किया है उदाहरणार्थ देखिये "इहो इति । इह उ, उ शब्दोऽवधारणार्थः" (अथर्व का० ३ । सू० १५ म० ४) "एषो इति" एषैव......उषाः (ऋ० १ । ४६ । १) और जो आपने यह कहा कि प्राचीन मर्यादा को तोड़ दिया सो नहीं किन्तु मैंने प्राचीन मर्यादा को स्थिर ही रखा है वस्तुतः आप को पदपाठ के नियमों का परिचय नहीं है । सुनो पदपाठ तीन प्रकार के शब्दों का होता है जो कि एक समस्त अर्थात् अवगृह्यपद दूसरे केवल पद और तीसरे प्रगृह्यपद हैं । प्रगृह्यपदों के पदपाठ के आगे सर्वदा इति शब्द का प्रयोग होता है जो उस के प्रगृह्य-स्वरूप का ज्ञान कराता है यह ऐसा यजुर्वेद के प्रातिशाख्य में लिखा है । प्रगृह्य पदपाठ दो प्रकार का होता है एक तो वह जो अष्टाध्यायी के "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् , अदसो मात्, शे, निपात एकाजनाङ् , सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे, उञ ऊँ ईदूतौ च सप्तम्यर्थे," इन सूत्रों से प्रगृह्य होता । जो एक पद में ही घटता है । दूसरा "ओत्" सूत्र से प्रगृह्य होता है जो दो पदों का भी होता है, कभी अनिपात और निपात का सन्निपात, जैसे ऊपर "इहो एषो" सायणभाष्य सहित दर्शाए हैं । और कभी दो निपातों का सन्निपात प्रगृह्यपद होता है किन्तु इस पद में "आङ्" के 'आ' का मेल होना आवश्यक है जिसका उपरि सूत्र के अनाङ् कहने से प्रतिषेध है जो कि "आ + उ = ओ" हो जाता है । यही 'ओत्' सूत्र पर महाभाष्यव्याकरण में लिखा है, और उदाहरण भी साथ दिया है "अथवा प्रतिषेधार्थोऽयमारम्भः । ओषु यातं मरुतः । ओषु यातं बृहती शक्वरी च ओ चित् सखायं सख्या ववृत्याम्" (अ० १ । पा० १ । आ० १५) अहो आश्चर्यं ! महाभाष्य में इस प्रकृत मन्त्र को भी उदाहरण में रखा है बस यह सन्तोष का परम स्थान है ।

* अधि-शब्दः "अधिरीश्वरे" (अष्टा०१ । ४ । ९७) इति सूत्रेण कर्मप्रवचनीयः "यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी" (अष्टा० २ । ३ । ९) अनेन च सप्तमी

तस्मान्मत्समीपमागत्येत्यर्थः । प्रतरं प्रकृष्टं तरन्ति जना दुःखमनेनेति प्रतरं पितृण-स्योन्नायकं योग्यसन्तानं दीध्यानो ध्यायन् लक्षयन्निति यावत् । (वेधा पितुर्नपातमादधीत) वेधा मेधावी मे पतिर्भवान् पितुर्नपातं जनकस्य नप्तारं स्वकीयपुत्रमित्यर्थः । आदधीत गर्भाधानरीत्या मयि स्थापयत्विति गर्भाधानस्य प्रस्तावः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पुरू) अपने प्रकाश और तेज से अनेक पृथिवी आदि लोकों को (चित्) चेताने वाले सूर्य्य ने (तिरः) सुविस्तृत (अर्णवम्) जलमय अन्तरिक्ष को जब (जगन्वान्) प्राप्त किया अर्थात् उस में स्थित हुआ । तब पृथिवी के निचले भाग में स्थित यमी = रात निज पतिरूप दिन से कहने लगी कि ऐ मेरे पते दिवस ! (सख्या) सखिपन के लिये प्रेम से (आववृत्याम्+उ) मैं आपको पुकारती हूँ, अवश्य आप (अधिक्षमि) इस पृथिवी तल पर नीचे आवें क्योंकि मैं पृथिवी के अधोभाग में हूँ एवं मेरे समीप आकर (प्रतरम) दुःख से तराने तथा पितृ-ऋण से अनृण कराने वाले योग्य सन्तान को (दीध्यानः) लक्ष्य में रखते हुए (वेधाः) आप मेधावी (पितुर्नपातम्) अपने पिता के पौत्र अर्थात् निज पुत्र को (आदधीत) गर्भाधान रीति से मेरे में स्थापन करो । यह मेरा एक प्रस्ताव है ॥ १ ॥

अब इस प्रकार अलङ्कार रचना द्वारा इस मन्त्र से मनुष्यों को क्या शिक्षा मिलती है इस पर ध्यान दीजिये—

शिक्षा—"पुरूचित् तिरोऽर्णवं जगन्वान्" हे मानव सन्तान ! देख जिस समय सृष्टि की रचना हुई थी उस समय [परमात्मा और प्रकृति से आकाश अवकाश पोलस्वरूप उत्पन्न हुआ फिर वायु तदनन्तर वायु से अग्नि-पुञ्ज उत्पन्न हुआ था परन्तु जब कि उस अग्नि पुञ्ज से जल तथा जल से पृथिवी उत्पन्न हुई तो उस अग्नि पुञ्ज से विभक्त हुआ] सूर्य्य जब स्वक्रान्तिवृतमें आकाश के भीतर निज स्वरूप में स्थिर किया गया था तब वह आकाश सूक्ष्म जल से सर्वत्र व्याप्त था और वह सूर्य्य अनेक पृथिवी आदि लोकों को अपने प्रकाश और तेज से चेष्टायमान कर रहा था ।

२—"अधिक्षमि" तथा हे महानुभावो ! पृथिवी के अधोभाग में रात थी

क्षमाशब्देऽधियोगे "सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते" इति वचनाच्च याडागमौ न भवतः, अन्यत्रापि वेदे "तन्वि" (ऋ० १ । २२ । ८) एवम् 'अधिक्षमि" भसंज्ञायामाकारलोपः "आतो धातोः" (अष्टा० ६ । ४ । १४०) इति सूत्रे भाष्योक्तयोगविभागात् "क्षमश्च-क्षिस्व ।" (अष्टा० ६ । ४ । १८) यथा ।

अतः ऊपर के भाग में दिन था यही स्थिति सिद्ध समझनी चाहिये क्योंकि सूर्य्य को अपेक्षित करके ऊर्ध्वगति दिन होता है अतः अधोगति रात होती है। ❀

३—"ओचिन् सखायं सख्या ववृत्याम्" हे गृहस्थ में प्रवेश करने वाली देवी तू इस अलङ्कार से यह शिक्षा ले कि "अधिक्षमि" पति से नम्र हो तथा अपने सखिपन के लिये पति का प्रेम से आह्वान कर।

४—"प्रतरं दीध्यानः" हे मनुष्य ! पितृ-ऋण से उऋण कराने तथा गृहस्थ में दुःख अवसर पर काम आने वाली अपनी सन्तान है उसको लक्ष्य में रखता हुआ गर्भाधान कर और उस समय पर यही एक लक्ष्य दृढ़ रहे, कामवश (बेताम्मुल) अथवा विना उक्त उद्देश्य के पत्नी-सङ्ग करना धर्म शास्त्र के बाहर समझ।

५—"वेधाः पितुर्नपातमादधीत" हे गृहस्थ पुरुष ! तुझको उचित है कि अपने पिता की सन्तति को आगे चला क्योंकि तेरे पिता ने तेरी उत्पत्ति में अनेक कष्ट सहे हैं जिसकी निष्कृति (बदला) बस यही है कि तू भी अपने पिता के समान अपनी सन्तान उत्पन्न करे। यह एक पितृ-ऋण का चुकाना है।

६—इस प्रकार गर्भाधान की प्रथम इच्छा और उत्तम सन्तानार्थ प्रस्ताव भी पत्नी की ओर से होने में वैदिक तात्पर्य है तदनन्तर गर्भाधान होना उचित है ॥१॥

यम (दिन) का उत्तरः—

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति ।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परिख्यन् ॥२॥

(सखा ते, एतत्सख्यं न वष्टि) हे रात्रे ! ते तव सखा "अहम्" पतिरेतद् गर्भाधानरूपं सख्यं मित्रत्वं न वष्टि नैव कांक्षति। कुतः (यत्सलक्ष्मा विषुरूपा भवाति) यत् पत्नी सलक्ष्मा समानलक्षणा समानगुणा। लक्ष्मेति लक्षणपर्य्यायो यथा वामनीये लिङ्गानुशासने "लिङ्गस्य लक्ष्म हि समस्य विशेषयुक्तमुक्तं मया परिमितं त्रिदशा इहार्थाः" (श्लोक० ३१) विषुरूपा विशेषेण सुरूपा सुन्दरीत्यर्थः। 'वि' अत्र विशेषार्थे यथा 'विसुदूरं गतः, अत्यन्तं दूरं गत इत्यर्थः' भवाति भवेत्। "लिङर्थे लेट्" (अष्टा० ३। ४। ७) प्रत्युत भवती तु न सुन्दरी किन्तु कृष्णरूपास्ति तथा च न मादृशी समान-गुणा। कथम्। अहं तु प्राणिनश्चेतयामि भवती तु तान् स्वापयति। एवं सत्यपि यदि

❀ ज्योतिष् के सिद्धान्त से खगोल के मध्यमें पृथिवी-गोल होने से सभी सूर्य्य आदि ग्रहों की स्थिति इससे ऊपर है केवल उत्तरध्रुव व दक्षिणध्रुव इसके समसूत्र में स्थित हैं। अतः प्रकाश से दिन पृथिवी के ऊपर ही स्थित होता है और नीचे रात की स्थिति समीचीन है।

चाहं तेऽनुकूलं सख्यमनुतिष्ठेयं तर्हीमे (उर्विया महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तारः परिख्यन्) उर्विया द्यावापृथिव्योर्मध्ये। "उर्वीति द्यावापृथिवीनाम (निघ० ३ । ३०) तस्माच्च डियाजादेशः । "इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्" (वा० ७ । १ । ३६) ये महस्पुत्रासो महतः प्रजापतेः पुत्राः पुत्रवद्वर्तमानाः प्रजारूपाः 'महः' इति महन्नाम (निघं० । ३ । ३) असुरस्य असून् प्राणान् राति ददातीति तस्य सूर्य्यस्य । "प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः" इति वचनात्। वीरा वीर्य्यवन्तः सैनिकाः सेनायामिव व्यूह-नियमेन गन्तारो दिवः प्रकाशस्य धर्तारो धारका नक्षत्रादयः परिख्यन् परिभाषेरन् निन्देयुः। 'ख्या प्रकथनेऽस्मादाशङ्कायां लेट्' (अष्टा० ३ । ४ । ८) ["उर्विया परिख्यन्" अस्य भाष्यं सायणेन न जाने कुतो न कृतम्] तस्माद् हे रात्रे ! क्षमतां नैतत् सख्य-मिच्छाम्यहम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—हे रात्रि ! (ते) तेरा मैं (सखा) पति (एतत् सख्यम्) इस गर्भाधान सम्बन्धी मित्रता को (न वष्टि) नहीं चाहता (यत्) क्योंकि गर्भाधान में पत्नी (सलक्ष्मा) समान लक्षण वाली अर्थात् समान गुण की। और (विषुरूपा) विशेष रूपवती अर्थात् सुन्दरी (भवाति) होनी चाहिये । किन्तु आप न सुन्दरी हैं बल्कि काले रङ्ग को तथा न मेरे जैसी समानगुणवाली हैं क्योंकि मैं प्राणियों को चेतावनी देता रहता हूँ और आप निद्रा में मूढ़ बनाती रहती हो, ऐसा होते हुए फिर भी यदि मैं गर्भाधान करके मैत्री का स्थापन करूँ तो ये (उर्विया) पृथिवी और द्युलोक के मध्य में (दिवो धर्तारः) प्रकाश-धारक चमकते हुए (महस्पुत्रासः) महान् प्रजापति के पुत्र। और (असुरस्य वीराः) सूर्य के वीर सैनिक, सेना में व्यूह क़वाईद नियम के समान चलने वाले नक्षत्रादि तारागण महानुभाव (परिख्यन्) हमारी कदाचित् निन्दाकर डाले यह एक बड़ी आशङ्का है ॥२॥

शिक्षा—"सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति" हे गृहस्थ लोगो ! इस में कुछ सन्देह नहीं कि गार्हस्थ्य धर्म के लिए पति भी सुरूप हो किन्तु यह अत्यावश्यक है कि पति की अपेक्षा पत्नी विशेष सुरूपवती होनी चाहिये तथा यह भी अत्यन्त अनिवार्य्य है कि पति के समान गुण वाली पत्नी हो अर्थात् समान गुणों द्वारा वर-वधू का वर्ण निश्चय करके विवाह करो, विपरीत नहीं। यही वेद का गर्भाधान शास्त्र और गार्हस्थ्य मर्यादा है।

२—"महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परिख्यन्" हे समाज के मुख्य महाशयो और राजपुरुषो ! तुम ऐसे नियम बनाओ जिससे असमान

लक्षणों वाले स्त्री पुरुषों के परस्पर विवाह न हो सकें और जो कोई इस मर्यादा को तोड़कर विवाह करलें उनको बुरा भला आदि कहकर यथोचित दण्ड दो ॥२॥

रात्रि का प्रत्युत्तर:—

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य ।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमाविविश्याः ॥३॥

(अमृतासस्ते घा, एकस्य मर्त्यस्यचिदेतत्त्यजसमुशन्ति) हे पते दिवस ! पूर्वोक्तेयं विचारणा तु दाम्पत्यसम्बन्धात्प्रागेव कर्तव्या न तु सम्प्रति । कुतः । दाम्पत्यसम्बन्धकाले तु नाहमेवं कृष्णरूपाऽसमानगुणा वाऽऽसं किन्तु रूपेण तु भवादृशी विपुरूपा सुन्दरी तथा सलक्ष्मा समानलक्षणैवासं प्रत्युत हे पते ! दैविकनियमानुल्लङ्घयितुं न कस्यापि सामर्थ्यम् । तस्माद्विवाहसम्बन्धादनन्तरमियं शङ्का न कार्य्या । यच्च भवान् ब्रवीति यदिमे दिवो धर्तारो नक्षत्रादयोऽस्मदपेक्षया ये—अमृतासोऽमराः सन्ति ते घाऽपि । "तुनघ०" इति दीर्घः । एकस्य मर्त्यस्य मनुष्यस्य सन्तानरूपस्य चिदवश्यमेतत्त्यजसं त्यागमुशन्ति काङ्क्षन्ति । अर्थात् एकस्मै बालकाय तु गर्भाधानमवश्यं कार्य्यमितीष्टं तेषामपि । कथम् । दाम्पत्यकालादनन्तरं दैवादुत्पन्नो दोषो न द्रष्टव्यः प्रत्युतैकापत्योत्पत्त्यर्थं तु निःशङ्कं गर्भाधानं कार्य्यं तस्माद्यत् (मनस्तेऽस्मे मनसि निधायि) ते तव मनस्तदस्मेऽस्माकम् "सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छे०" इत्यनेन आम् स्थाने 'शे' आदेशः । मनसि निधायि निधेहि स्थिरी कुरु ।" व्यत्ययो बहुलमित्यनेन लकारव्यत्ययो लोडर्थे लुङ्, बहुलं छन्दस्यमाङ् योगेऽपि (अष्टा० ६ । ४ । ७५) अनेनाऽडभावः । तथा च (जन्युः पतिस्तन्वमाविविश्याः) जन्युः पतिर्भूतस्त्वं मे तन्वं शरीरमाविविश्याः, आसमन्तात्सुतरां प्रविश । जायते-इति जन्युः "यजिमनिशुन्धिजनिभ्यो युच् (उ० । ३ । २०) पतिविशेषणमेतत् । न तु जनीशब्दस्य षष्ठ्यां कश्चिन्निर्देशो जन्युरिति व्युत्पत्तुं शक्यते तथा जायते जन्युरित्यत्र प्रमाणम् "पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ।" (ऐतरेय० । ३३ । १) ॥३॥

भावार्थ—हे पते द्युतिमन् दिवस ! पूर्वोक्त यह विचारणा तो विवाह सम्बन्ध से पहिले ही करनी चाहिये न कि अब, क्योंकि दाम्पत्य सम्बन्ध काल अर्थात् विवाहकाल में तो मैं इस प्रकार काले रङ्ग की और विपरीत गुणवाली न थी किन्तु आप के जैसी सुन्दरी और समानगुणा थी, प्रत्युत हे पते ! दैविक नियमों के उल्लङ्घन करने में किसी का भी सामर्थ्य नहीं है, अतः दाम्पत्य सम्बन्ध के

अनन्तर इस मेरी पूर्वोक्त सामयिक स्थिति में शङ्का न करनी चाहिये। और जो आपने कहा है कि ये जो "दिवो धर्तारः" तेजस्वी नक्षत्र आदि हमारी निन्दा करेंगे, सो नहीं किन्तु (ते) वे (अमृतासः) अमर धर्मी हमारी अपेक्षा मुक्त अव्याहत अर्थात् स्वतन्त्र गति से विचरने वाले महानुभाव (एतत्) यह (उशन्ति) चाहते हैं कि (घा) इस ऐसी अवस्था में भी (एकस्य मर्त्यस्य) एक सन्तान का (चित्) तो अवश्य ही (त्यजसम्) गर्भाधान द्वारा मेरे प्रति त्याग हो। ऐसा इनको भी इष्ट है। क्योंकि दाम्पत्यकाल के अनन्तर दैव से उत्पन्न हुआ दोष न देखना चाहिये। प्रत्युत एक सन्तान के लिये तो निःशङ्क गर्भाधान करना ही उचित है। इसलिये जो (ते) तेरा (मनः) मन है उसको (अस्मे) हमारे (मनसि) मन में (निधायि) स्थिर कर। अर्थात् मेरे मनोभाव के अनुकूल अपने मनोभाव बना और (जन्युः) पुनर्नव रूप में प्रकट होने वाले। (पतिः) तू मेरे पति (तन्वम्) मेरी काया में (आविविश्याः) सुतरां गम्भीर प्रवेश कर॥ ३॥

शिक्षा—"उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य" हे सर्वत्र विचरण करने वाले विरक्त संन्यासी आदि महानुभावों तथा सैनिक अर्थात् राजपुरुषो! तुम लोग गृहस्थियों को उपदेश और शासन द्वारा बाध्य करो कि दाम्पत्य अर्थात् विवाह काल के अनन्तर दैववशात् जब कोई किसी की पत्नी विरूप और पति के गुणों से विपरीत हो जावे तो उसको पति न त्याग सके प्रत्युत गर्भाधान क्रिया द्वारा कम से कम एक सन्तान तो अवश्य ही उत्पन करे फिर आगे सन्तान की उत्पत्ति करना पति की इच्छा पर निर्भर है करे या न करे परन्तु कम से कम एक सन्तान तो उत्पन्न करना अनिवार्य ही है॥

२—"ते मनोऽस्मे मनसि निधायि" हे गृहस्थ पुरुष! पूर्व जैसी अवस्था हो जाने पर भी पत्नी के मनोभावानुकूल अपने मनोभाव बनाना तेरा धर्म है अतः उस समय गर्भाधान कर॥

३—"जन्युः पतिस्तन्वमाविविश्याः" हे गृहस्थ पुरुष! दाम्पत्य सम्बन्ध अर्थात् गार्हस्थ्य धर्म को स्वीकार करके तू गर्भाधान द्वारा पुनर्नव होने वाला है अर्थात् अपनी जीवनी को गर्भाधान द्वारा मानो स्थायी रखने वाला है॥ ३॥

विशेष—सन्तान प्रजनन योग्य पति को "जन्यु" कहते हैं।

दिन का पुनः प्रत्युत्तर—

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ॥४॥

(ऋतं वदन्तः पुरा यत् चकृमा) हे रात्रे पत्नि ! ऋतं वेदरूपं सत्यं मन्त्रानिति यावत् । "सत्यं वा ऋतम्" (श० ७।३।१।२३) वदन्त उच्चारयन्तः पुरा–इदानीन्तनात्पूर्वे दाम्पत्यकाले यद् गार्हस्थ्यं सन्तानोत्पादनरूपं व्रतं चकृमा कृतवन्तः । 'अस्मदो द्वयोश्च' (अष्टा० १ । २ । ५९) अनेन द्विवचने बहुवचनम् । (तन्नूनं कद् ह नानृतं रपेम) तद् गार्हस्थ्यव्रतं नूनमद्यतनम् नूनमित्यस्यार्थोऽद्यतनम् । (निरुक्ते । १ । ६) कत्–ह कुतोऽपि "कच्चित्=कुतश्चित्" इत्यस्मात्कुतश्चिदर्थकात् 'कत्-चित्' शब्दाद्योगविभागः । "योगविभागादिष्टसिद्धिः" (महाभाष्ये) नानृतं वेदविरुद्धं नकाररूपं वचनं रपेम रपितुं वक्तुमर्हेम "अर्हे कृत्यतृचश्च" (अष्टा०३ । ३ । १६९) अनेनार्हार्थे लिङ् । अच्छ हे प्राणप्रिये ! अहं निश्चितवान् यदस्माभिर्दाम्पत्यं वेदमन्त्रैर्गर्भाधानार्थं प्रतिज्ञातं तदतिक्रम्य सम्प्रति नकाररूपमशास्त्रवचनं न कुतोऽपि वक्तुमर्हेम किन्तु गर्भाधानायोद्यताः स्मः प्रत्युत हा शोकम् (गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा) गन्धर्वोऽप्सु पतिरहमन्तरिक्षे "आप इत्यन्तरिक्ष नाम" (निघं० । १ । ३) अप्या च योषा त्वं पत्न्यप्यन्तरिक्षे (सा नौ नाभिः) सेयं पृथिवी नावावयोर्नाभिरस्ति यत आवामराख्पावहोरात्रौ तस्याः परितश्चक्रं वर्तेवहि । (तन्नौ परमं जामि) नावावयोर्मध्ये तत् परममत्यन्तं जामि, असमानजातीयं व्यवधायकं गर्भाधानक्रियायामिति शेषः । "जामि···वाऽसमानजातीयस्य··· उपजनः" (निरुक्ते । ४ । २०) ।। द्वयोर्बहूनां वा संयोगाभावकारणं व्यवधायकमेव भवति तच्चासमानजातीयं यथा 'न्द' अत्र द्वयोः संयोगाभावकारणम् "नुद" 'उ' अज्रूपं व्यवधायकमसमानजातीयमेवेति । हे प्रियेऽहं गर्भाधानसंयोगायोद्यतोऽस्मि किन्तु येयं पृथिवी यस्याः परित आवां दैवनियमेन भ्रमावः साऽऽवयोर्मध्येऽत्यन्तं व्यवधायकं वस्तु गर्भाधानसंयोगस्यास्ति किं करवाव विवशताऽत्रावयोः ।। ४ ।।

भाषार्थ—हे प्रिये पत्नि ! (पुरा) पूर्व दाम्पत्यकाल में (ऋतं वदन्तः) वेद मन्त्रों को उच्चारण करते हुए अर्थात् प्रजोत्पत्ति निमित्त ईश्वरीय नियमों को स्वीकारते हुए (यत) जो गार्हस्थ्य अर्थात् सन्तानोत्पादनरूप व्रत (चकृमा) हमने किया था । उसको (नूनम्) आज (अनृतम्) वेद विरुद्ध इनकार वचन (न) नहीं (रपेम) कह सकते । अर्थात् हे प्राणप्रिये ! यह निश्चय किया है कि हमने जो दाम्पत्य वेद मन्त्रों ईश्वरीय नियमों से गर्भाधान के लिये प्रतिज्ञाबद्ध किया था सो उसके उल्लङ्घन से इस समय नकाररूप अर्थात् इनकाररूप अशास्त्र वचन कथंचित् नहीं बोल सकते । किन्तु गर्भाधान के लिये उद्यत हैं । प्रत्युत (गन्धर्वः) गर्भाधान सम्बन्ध का इच्छुक मैं तेरा पति (अप्सु) अन्तरिक्ष में (योषा च) और तू गर्भाधान के चाहने वाली मेरी पत्नी भी (अप्या) अन्तरिक्ष में है एवं हम दोनों ही जल

प्रवाह की न्याईं निरन्तर गति कर रहे हैं। तथा जिस पृथिवी के नीचे ऊपर की ओर हम दोनों अन्तरिक्ष में हैं (सा) वह यह पृथिवी (नौ) हम दोनोंकी (नाभिः) नाभि है क्योंकि अरारूप धुरी की न्याईं हम दोनों पति पत्नी=दिन रात इस पृथिवी के चारों ओर चक्र काटते हैं (तन्) वस वह यह (नौ) हम दोनों के मध्य में (परमम्) अत्यन्त (जामि) असमानजातीय=व्यवधायक अर्थात् गर्भाधान क्रिया में रुकावट डालने वाला पदार्थ है। "क्योंकि दो व्यक्तियों के संयोगाभाव का कारण व्यवधायक मध्य में बैठा हुआ असमानजातीय ही होता है, जैसे "नुद" न्द् इन दो हलों के संयोग का व्यवधायक असमानजातीय 'उ' अच् है। हे प्रिये ! मैं गर्भाधान संयोग के लिये उद्यत हूँ किन्तु यह पृथिवी दोनों के मध्य में स्थित हुई गर्भाधान संयोग का अत्यन्त बाधक है। जिसके चारों ओर हम दोनों दैविक नियम से घूमते हैं। हा ! शोक क्या करें यहां हम दोनों ही विवश हैं ॥ ४ ॥

(**लेखक**) पाठक महाशयो ! रात के प्रति यह दिन की उक्ति खेद-पूर्ण है इस पृथिवी गोल पर दिन रात के चारों दिशाओं के सिरे [छोर] मिल गये हैं परन्तु मध्य में पृथिवी गोल होने से दोनों के शरीरों का संयोग नहीं हो रहा है, यही खेद-पूर्ण वृत्तान्त है। इस खेदयुक्त रहस्य का अनुभव उनको पति पत्नी को होता है जिनका गर्भाधान-काम के समय मुख से मुख मिला हो, टांगों से टांगे सङ्गत होगई हों और भुजाओं से भुजाएं लिपटी हों परन्तु ऐसे समय दोनों के बीच में कोई गोल पदार्थ आकर रहस्य का बाधक बन उनको खेद तरङ्ग में ढकेल दे ॥४॥

शिक्षा—"ऋतं वदन्तः पुरा यत् चकृमा" हे गार्हस्थ्य धर्म के इच्छुक मनुष्यो ! वेद मन्त्र द्वारा वर वधू दोनों प्रतिज्ञा पूर्वक विवाह संस्कार करो विना बैदिक संस्कार के स्त्री पुरुष का संयोग होना धर्म नहीं है किन्तु व्यभिचार समझो जो सर्वथा त्याज्य है।

२—"कन् ह नूनं नानृतं रपेम्" हे विवाहित स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों अनेक आपत्तियाँ और विघ्न आने पर भी विवाह समय की प्रतिज्ञा को उल्लङ्घन कर एक दूसरे को मत त्यागो [तलाक़ न दो]।

३—"गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ" हे विवाहित स्त्री पुरुष [पति-पत्नी] यदि तुम दोनों के गर्भाधान में कोई महान् रुकावट डालने वाला कारण उपस्थित हो जावे जिसका हटाना तुम्हारी सामर्थ्य से बाहर हो जैसा कि कठिन प्रसूत रोग या दूर देश में जाकर अधिक काल तक वियुक्त रहने को

अवसर हो जावे तो बाहर के साधनों से ही प्रेम प्यार रूप मेल रखना अपना धर्म समझो ।

४—"गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा" हे ज्ञानप्रिय महाशयो ! दिन और रात की स्थिति अन्तरिक्ष [पोल] में रहती है अर्थात् वे अपने समसूत्र में सर्वत्र व्याप्त रहते हैं ।

५—"सा नौ नाभिः" तथा वे 'दिन-रात' पृथिवी के चारों ओर धूरी के समान घूमते रहते हैं, इस से तुम पृथिवी पर दिन-रात की मर्यादा का परिज्ञान सीखो ।

६—"परमं जामि तन्नौ" 'दिन-रात' के मध्य में विराजमान पृथिवी एक प्रकार से उनको विभक्त करने वाली है परन्तु मध्य से अतिरिक्त आस पास में दिन-रात के भागों का मेल है इसी को सायं प्रातः के विज्ञान में समझो ॥४॥

विशेष—यहाँ वैदिक मर्यादा जनाती है कि कामवश पुरुष स्त्री को गन्धर्व और योषा कहते हैं ऐतरेय में स्त्री-काम पुरुष को गन्धर्व कहा भी है "स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः"(ऐ० ब्रा० '१ । १)

रात्रि का पुनः विलापपूर्ण वचनः—

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।
नकिरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥५॥

(विश्वरूपस्त्वष्टा सविता कर्देवो गर्भे नु नौ दम्पती जनिता) विश्वं संसारं रूपयति प्रकटयतीति विश्वरूपः, त्वक्षति सर्वेषां पदार्थानां कृत्यानीति त्वष्टा सविता कः प्रजापतिः "प्रजापतिर्वै कः" (गोपथे । उ० ।१।२२) देवो दिव्यगुणो गर्भे हि नावावां दम्पती "पतिपत्न्यौ" जनिता जनयिता सम्पादयिता* "जनिता मन्त्रे" (अष्टा० ६ । ४ । ५३) सूत्रेण णिजन्तो निपातितः । हा, कथं दैवनियमाः, यत्पूर्वतोऽपि दाम्पत्ये सिद्धेऽत्राहं गर्भाधानरहिता सन्तानशून्या वा तिष्ठेयम् । हा ! न मर्षये दुःखमेतत् । अस्य व्रतानि नकिः प्रमिनन्ति 'नकिर्' अव्ययमाकांक्षायाम् । यद्येवमेव दुःखपङ्के प्रजापतिसम्पादितदाम्पत्यस्य फलमन्तरेणावां स्थास्यावः । नकिरस्य व्रतानि प्रमिनन्ति' नकिर्नोचेत्-तह्यस्य प्रजापते व्रतानि सर्वे नियमाः प्रमिनन्ति प्रहिंसेयुर्विनश्येयुरिति सम्भाव्यमेतत् । "मीङ्-हिंसायां क्र्यादिस्तस्माल्लिङर्थे लेट्, सिब्बहुलं लेटीति

* यथा चान्यत्रवेदेऽप्युक्तम् "त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वा पतिम्" (अथ० का० ६ सू० ७८ । ३)

बहुलवचनाच्च न सिप्, श्नाप्रत्यय एव, "मिनातेर्निगमे" (अष्टा० । ७ । ३ । ८१) अनेन च ह्रस्वः (अस्य पृथिवी, उत द्यौर्नौ वेद) न चावामत्रासत्यवादिनौ । कुतः । अस्य प्रजापतेर्यद् द्यावापृथिव्यौ मिथुनमस्ति तन्मिथुनं नावावां दम्पती वेद जानाति । यत आवयोर्दाम्पत्यं विवाहं दृष्टवत्तस्मात्तन्मिथुनमावयोः साक्षि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(विश्वरूपः) संसारको प्रकट करनेवाला (त्वष्टा) सबके कृत्यों का नियामक (सविता) विवस्वान् (कः) प्रजापति (देवः) देव (गर्भे नु) गर्भ में ही अर्थात् पृथिवी तल पर आने से पूर्व ही (नौ) हम दोनों को (दम्पती) पति-पत्नी (जनिता) बना चुका है । हा ! दैव नियम कैसे हैं ? कि पूर्व ही से दाम्पत्य सिद्ध होने पर भी मैं गर्भाधान रहित या सन्तान शून्य रह जाऊं । हा ! मुझे यह दुःख सहन नहीं है । यदि हम प्रजापति के सम्पादित दाम्पत्य फल के विना ही इस घन दुःख पङ्क में रह जावेंगे (नकिः) तो फिर (अस्य) इस प्रजापति के (व्रतानि) सारे नियम (प्रमिनन्ति) टूट जाने चाहियें क्योंकि हम तो झूठ बोलते ही नहीं कि हमारा दाम्पत्य प्रजापति ने स्थिर किया था जिसके गर्भाधान फल के लिये हम विलाप कर रहे हैं, बल्कि (अस्य) इस प्रजापति का (पृथिवी उत द्यौः) द्यावा पृथिवी यह एक मिथुन अर्थात् जोड़ा भी (नौ) हम दोनों 'दिन-रात' के दाम्पत्य को (वेद) जानता है । क्योंकि हमारे दोनों के दाम्पत्य अर्थात् विवाह को इस जोड़े ने देखा है अतः यह 'द्यावापृथिवी' मिथुन भी हमारा साक्षी है ॥ ५ ॥

शिक्षा—"गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः" हे मनुष्यो ! सृष्टि की रचनालडी में जितने (जोड़े) हैं उनका नियामक प्रजापति देव है वही सबके रूप और कृत्यों का विधायक है, विवाह कराने वाले माता-पिता आदि सम्बन्धी और विद्वान् मनुष्य भी प्रजापति के सहायक सदस्य हैं किन्तु जड़ मिथुनों (जोड़ों) का विवाह प्रजापति देव स्वयं ही करता है यह एक सिद्ध नियम समझो । जो कोई इन दैवकृत जोड़ों को तोड़ कर केवल एक ही से सृष्टि में रह कर अपनी वृद्धि चाहता है वह कभी उन्नत नहीं हो सकता यह एक दैविक नियम समझना चाहिये ।

२—"नकिरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि" हे विज्ञान-प्रेमी महाशयो ! जब यह दैव सिद्ध जोड़े टूट जावेंगे तो संसार में उपस्थित सभी नियम विनष्ट होजावेंगे और संसार प्रलय के रूप को धारण कर लेगा, मानो इस सृष्टि की फैलावट का कारण ये नियम ही हैं अतः इनको प्रयत्न से जानो और बर्तो ।

३—"वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः" गृहाश्रम में प्रवेश करने वाले

नवयुवको ! तुमको चाहिये कि अपना विवाह दूसरे विवाहित स्त्री पुरुषों के सामने करो उन विवाहित गृहस्थों को अपने विवाह का साक्षी बनाओ यह तुम्हारे लिये वैदिक मर्यादा रूप आज्ञा है, विना इसके अकेले ही विवाह करना पाप समझो। तथा विवाह कराने वाले प्रजापति के रूप में विराजमान स्त्री या पुरुष को छोड़कर अन्य अमिथुन-व्यक्ति अर्थात् ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी, संन्यासी-संन्यासिनी, विधवा-मृतपत्नीक पुरुष विवाह संस्कार में न बैठें क्योंकि मिथुन को विवाह का साक्षी बनाना वेद को इष्ट है (इससे उन ब्रह्मचारी आदि का विरक्त रहना ही अभीष्ट है)।

४—दिन रात के जोड़े से पूर्व द्यावापृथिवी का जोड़ा थिर हो चुका था ॥५॥

यम का आश्वसन रूप वचनः—

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् ।
आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥६॥

(अद्य ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् आसन्निषून् हृत्स्वसो मयो-भून् गा धुरि को युङ्क्ते) हे यमि रात्रे ! अद्यास्मिन्नवसरे, ऋतस्य सूर्यस्य "ऋतमित्येष सूर्यः" (ऐ० ४।२०) शिमीवतः कर्मवतः क्रियाशीलान् गतियुक्तान् भामिनस्तेजोबलवतो दुर्हृणायूननिराकरणीयानासन्निषून् मुख इषवो गमनप्रेरककण्टका येषां तानश्वानिव हृत्स्वसो हृदयप्रेरणशब्दवतो मयोभून् सुखं भावयित्रीन् गा रश्मीन् धुरि पृथिवीरूपायां को युङ्क्ते पूर्वोक्तस्त्वदुक्तः प्रजापतिर्देवो युङ्क्ते योजयति (य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात्) यः पुरुष एषां रश्मीणां भृत्यां भरणक्रियां धारणात्मिकामृणधत् वर्धयेत् स जीवात् जीवति, अत आवाभ्यामपि रश्मिसहनं कार्यम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अद्य ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् गा धुरि को युङ्क्ते) इस अवसर पर सूर्य की गतिशील, तैजस-बलयुक्त, अनिराकरणीय, मुख में लगाम दिये जैसे घोड़ों के सदृश, हृदय में चालन प्रेरणशब्दयुक्त कल्याणकारी रश्मियों को वही प्रजापति देव जोड़ता है (य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात्) जो इनकी सहनशीलशक्ति को बढ़ाता है वह पृथिवी पर जीवित रहता है अतः हम दोनों को भी सूर्य रश्मियों के अधीन रहना चाहिये ॥ ६ ॥

शिक्षा—भुवन मार्ग में सूर्य अहर्निश अश्व रूप स्वरश्मियों से प्राप्त होता है तथा उसकी रश्मियों के सहचार या कारण से जीव मात्र के जीवन की स्थिरता होती है ॥ ६ ॥

पुनरपि रात्रि का आक्रन्दनरूप वचनः—

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्रवोचत्।

बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥ ७ ॥

(अस्य प्रथमस्याह्नः को वेद) हे दिवस! यद्यपि द्यावापृथिव्याविति मिथुनमावयोः साक्षि प्रत्युत हा! इहास्मत्सम्बद्धेऽन्तरिक्षे त्वस्य प्रथमस्याह्नः पूर्वस्य विवाहसमयस्य वृत्तं को वेद न कोऽपीत्यर्थः। तथा (क ईं ददर्श) क ईं गतं विवाहं ददर्श दृष्टवान् न कोऽपीतिभावः, अपि च (क इह प्रवोचत) कः श्रुत्वा प्रवोचत, यद् जातोऽनयोर्विवाह इति प्रवक्तुमर्हति न कोऽपीत्येव। कुतः। प्रत्यक्षवादिनो वै संसारिणः प्रत्यक्षं यत्पश्यन्ति तद्वदन्तीति (मित्रस्य वरुणस्य धाम बृहत् आहनः कत् उ नॄन् वीच्य ब्रवः) मित्रावरुणयोर्धाम स्थानं बृहल्लम्बायमानं दूरमित्यर्थः। आहनो हे हृदयपीड़क पते! कत् उ कुतो हि तद् धाम गत्वा तत्रस्थान् नॄन् वीच्य वीक्ष्य सम्मुखीकृत्य तान् ब्रवः कश्चिद् ब्रूयादेतदावयोर्दुःखवृत्तान्तमिति। मित्रः सूर्य्यस्ते पिता पूर्वस्यां दिशि वरुणश्च मे पिता पश्चिमायां दिशि, एवमुभयोः स्थानं गत्वैतद् दुःखवृत्तान्तं कः श्रावयेत्, न कश्चिदपि तत्र गन्तुमस्माकमत्र विद्यते। मित्रः सूर्य्योऽत्र प्रमाणम् "मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्०" (ऋ० ३। ५६। १) अत्र दयानन्दर्षिणाऽप्यस्य सूर्य्य एवाऽर्थो लिखितः। दिनस्य पिता मित्रः, रात्रेः पिता वरुणः, इत्थमेव तैत्तिरीयेऽप्युक्तम् "मैत्रं वा अहः, वारुणी रात्रिः" (तै० ब्रा० १। ७। १०। १) ॥ ७ ॥

भाषार्थ—हे दिवस! यद्यपि द्यावापृथिवी मिथुन हमारा साक्षी है प्रत्युत हा (इह) हमारे साथ सम्बन्ध रखने वाले इस अन्तरिक्ष में (अस्य प्रथमस्याह्नः) इस प्रथम दिन अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में हुए विवाह को (कः) कौन (वेद) जानता है, अर्थात् कोई नहीं और (ईम्) उस गत विवाह को (कः) किसने (ददर्श) देखा है, तथा (कः) कौन ही (प्रवोचन्) सुन कर कह सके कि हां इनका विवाह हुआ, अर्थात् कोई नहीं, क्योंकि संसार प्रत्यक्षवादी है जो कुछ प्रत्यक्ष देखता है उसीको कहता है। (मित्रस्य) मित्र का, और (वरुणस्य) वरुण का (धाम) स्थान (बृहत्) दूर है (आहनः) हे हृदयपीड़क पते! (कत्) कैसे (उ) ही। कोई उस स्थान को जाकर वहां के (नॄन्) मनुष्यों को (वीच्य) सम्मुख करके उनको (ब्रवः) हमारा यह दुःख वृत्तान्त कहे। मित्र अर्थात् सूर्य तेरा पिता पूर्व दिशा में और वरुण मेरा पिता पश्चिम में है। इस प्रकार अत्यन्त दूर हम दोनों के इन पितृकुलों में जाकर इस दुःख वृत्तान्त को सुना सके हमें कोई नहीं दिखलाई पड़ता ॥७॥

शिक्षा—"को अस्य·········नॄन्" हे विज्ञान प्रेमी लोगो! दिन का

पितृकुल पूर्व दिशा में है जहां सूर्य्यरूप अग्निदेव का अधिकार है और रात का पितृकुल पश्चिम दिशा में है जहां वरुणदेव अधिपति है। तात्पर्य यह है कि विवाह सम्बन्ध दूर देश में होने चाहियें।

२—"बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्य नॄन्" हे विवाहित स्त्री पुरुषो गृहस्थ में दुःख आने पर अपने २ पितृ-कुलों में अपने दुःख वृत्तान्त को भेजो जिससे वे सहायक हो सकें ॥ ७ ॥

रात्रि का पुनः आन्तरिक विलाप—

यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने योनौ सह शेय्याय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ८ ॥

(समाने योनौ सह शेय्याय) समान एके योनौ गृहे 'योनिरिति गृहनाम' (निघं० ३ । ४) सह शेय्याय सङ्गम्य शयितुम् "शीङ् धातोरचोयदिति यत्प्रत्ययो यत्वागमश्छान्दसः (यमस्य कामो मा यम्यमागन्) यमस्य दिनस्य मा यम्यं मां यमीं रात्रिं कामोऽभिलाषः, आगन् आगतः। किं कर्तुम्। जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्याम् यद् जायेव जायया यथाभाव्यं तथा तत्प्रकारेणेति यावत्। "जायेव" अत्र केचनैवमाचक्षते यद् "जाया=पत्नी, इव=उपमार्थे" तस्माद् भगिनी हि-अपत्नी सती पत्नीव प्रार्थयते। अत्रोच्यते। इवशब्द उपमार्थे हि प्रवर्तते नैष नियमः। कुतः। तस्यान्यार्थेऽपि दृष्टत्वात्। तद्यथा "परोक्षप्रिया इव हि देवा प्रत्यक्षद्विषाः" (ऐ० ३५ । ३०), (तै० १ । ६) अत्र सायणः "इवशब्द एवकारार्थः" तस्मादुपमार्थे हि, इवशब्द इत्याग्रहस्तु परास्तः। यद्यप्यत्र वयमुपार्थे हि योजयामस्तथापि जायाशब्दः पत्नीवाचीति न स्वीकुर्मो यतः "तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः" (ऐ० ३३ । १) सन्तानोत्पादनयोग्या स्त्रीव्यक्तिर्जायापदवाच्या भवति कामं पत्नी वा स्याद् भगिनी वा दुहिता वेति यथा जानश्रुतीरैक्वं निवेदयति निजदुहितरं लक्ष्यीकृत्य "इयं जायाऽयं ग्रामः" (छान्दो० ४ । २) तस्माद्युवतिरेव जायापदेनोच्यते न तु कन्या वृद्धा वा, तया गर्भं धारयितुं योग्यया यथाऽनुष्ठेयं तथाऽनुतिष्ठन्ती जायाधर्मं यथावत्पालयन्ती सती पत्ये पूर्वोक्ताय जन्यवे गर्भमाधापयितुं योग्याय निजपतये तन्वं स्वकीयशरीरं रिरिच्यां चित् समर्पयेयमेव। कस्मै प्रयोजनाय (विवृहेव रथ्येव चक्रा) विवृहेव यद् गार्हस्थ्यभारमुद्यच्छेव रथ्येव चक्रा रथस्य चक्रे इव यथा रथस्य चक्रे रथं वहतस्तद्वद् गार्हस्थ्यरूपं रथं वहेव ॥ ८ ॥

भावार्थ—(समाने योनौ) एक स्थान में (सह शेय्याय) मिलकर सोने को (यमस्य) तुझ यम दिन की (मा यम्यम्) मुझ यमी रात्रि को (कामः)

कामना (आगमन्) प्राप्त हुई कि (जायेव) पुत्रप्रजनन में योग्य स्त्री की न्याईं अर्थात् इस समय मैं जाया=गर्भधारण में समर्थ सन्तानोत्पन्न करने में योग्य हूँ। ब्राह्मण वचन से गर्भधारण करने योग्य स्त्री को जाया कहते हैं, कन्या या वृद्धा को नहीं। इसलिये गर्भधारण करने में योग्य स्त्री को जैसे अनुष्ठान करना चाहिये उसी प्रकार अनुष्ठान करती हुई (पत्ये) पति के लिये अर्थात् पूर्वोक्त जन्युः=गर्भाधान कराने में योग्य निज पति के लिये (तन्वम्) अपने शरीर को (रिरिच्यां चित्) समर्पण कर ही दूं। इसलिये कि (विवृहेव रथ्येव चक्रा) गार्हस्थ्यभार को हम दोनों रथ के पहियों के समान उठा ले चलें ॥ ८ ॥

शिक्षा—"यमस्य मा यम्यं काम आगन् समाने योनौ सह शेय्याय। जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां चित्" हे विवाहित देवि ! तू पति को प्रेम करती हुई एक स्थान में मिलकर सोने को पति के लिये पुत्रप्रजनन के योग्य (युवति) होती हुई लज्जा छोड़ अपनी काया को समर्पण कर दे।

२—"जायेव" पुत्र प्रजनन में योग्य (युवति) स्त्री पति के साथ शयन करे न कि छोटी अवस्था की या बांझ वा वृद्धा आदि जो पुत्रोत्पादन में अयोग्य हो वह पति सङ्ग न करे।

३—"विवृहेव रथ्येव चक्रा" हे विवाहित स्त्री पुरुषो ! तुम लोग गार्हस्थ्य धर्म को इस प्रकार आगे २ सेवन करते चलो जैसे रथ के पहिये रथ को अपने ऊपर उठाये हुए सम विषम स्थल और रोडी कण्टक आदि में भी नहीं त्यागते, एवं तुम भी इस अपने धर्म को मत त्यागो ॥ ८ ॥

विशेष—जैसे "जन्यु" शब्द गर्भस्थापन करने में योग्य पुरुष के लिये प्रयुक्त होता है एवं "जाया" शब्द गर्भधारण करने में योग्य स्त्री के लिये प्रयुक्त होना वैदिक मर्यादा है। अतः "जन्युः-जाया" अवस्था विशेष को प्राप्त पुरुष-स्त्री के उपनाम हैं ॥ ८ ॥

अत्यन्त शोक सागर में निमग्न रात्रि को देख कर दिन का दुःख अनुभव करते हुए दूसरे पुरुष के लिये सम्मति देना—

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन विवृह रथ्येव चक्रा ॥९॥

(देवानां स्पश इह ये चरन्ति) हे रात्रे ! यत्त्वया विलापं कुर्वत्योक्तम्। "बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रवः" यद्यपि मित्रस्य वरुणस्य धाम बृहद् लम्बाय-

मानं दूरं यदस्ति तद्धाम गन्तारो गमनशीलास्तु सन्तीहान्तरिक्षे ये चरन्ति चलन्ति प्रत्युत ते देवानां सूर्यादीनां स्पशः स्पशन्ति स्पृशन्तीति स्पशो ज्योतिर्विद्यया नक्षत्राण्युच्यन्ते प्रवहनामके वायुमार्गे वर्तमानाः सूर्य्यादीन् देवान् स्पृशन्तीति यतः "स्पश बाधनस्पर्शयोः" अन्येभ्योऽपि दृश्यत इति ताच्छीलिकः क्विप् । एवंस्वभावास्ते यात्रिणो भूत्वा सूर्य्यादीन् देवानभिगच्छन्ति, अन्योऽन्यस्य देवस्य वृत्तस्य प्रेषकाः (एते न तिष्ठन्ति न निमिषन्ति) एते न तिष्ठन्ति = न विरमन्ति, न निमिषन्ति = स्वकीयमार्गम्परित्यज्येतस्ततो न चेष्टन्ते, तर्हि हे रात्रे ! आवयोर्दुःखवृत्तान्तं को नयेत् कश्चास्मत्पितृकुलयोः श्रावयेन्न कश्चिदपीत्यर्थः । अतोऽसाध्यं दुःखमेतत् तस्मात् (आहनो मदन्येन तूयं याहि) हे हृदयपीडिके ! योऽयं मद्दिवसादन्यः पुरुषस्तेन सह सङ्गमनं तूयं शीघ्रं याहि प्राप्नुहि । (तेन विवृह रथ्येव चक्रा) तेन सह विवृह गार्हस्थ्यभारमुद्गच्छ रथ्येव चक्रा रथस्य चक्रे इव ॥ ६ ॥

भाषार्थ—हे रात्रि ! जो तुझ विलाप करती हुई ने कहा है कि "बृहन्मित्रस्य-वरुणस्य धाम कदु ब्रवः = मित्र और वरुण हमारे पितृस्थान दूर हैं कौन वहां इस दुःख को सुनावे" यद्यपि मित्र और वरुण के उस दूर धाम को जाने वाले भी हैं तो सही (ये) जो (इह) अन्तरिक्ष में चरन्ति) चलते हुए दीखते हैं । प्रत्युत वे (देवानाम्) सूर्य्यादि देवों के (स्पशः) स्पर्श करने वाले अर्थात् नक्षत्र जो प्रवह-नामक वायुमार्गमें वर्तमान, सूर्य्यादि देवों को स्पर्श करते हैं, ऐसे स्वभाव वाले वे यात्री बनकर सूर्य्यादि देवों के प्रति जाते हैं और एक देव का दूसरे देव के पास वृत्तान्त पहुँचाते हुए हलकारों के समान हैं । पर (एते) ये (न तिष्ठन्ति) न विराम करते हैं (न निमिषन्ति) न ही मार्ग को छोड़कर इधर उधर उन्मार्ग में चेष्टा करते हैं । तब हे रात्रे ! हम दोनों के दुःखमय वृत्तान्त को कौन लेजावे और कौन दुःख का सन्देश हम दोनों के पितृकुलों में सुनावे अथवा कौन हमें दुःख से छुड़ावे । अहो (आहनः) हे हृदय पीडिके ! यह तो असाध्य दुःख है इस लिये (मत्) मुझ से भिन्न (अन्येन) जो कोई अन्य पुरुष तुझे दिखलाई पड़े उसके साथ (तूयम्) शीघ्र (याहि) तू समागम को प्राप्त हो (तेन) उसी के साथ (विवृह) गार्हस्थ्य भार को उठा । और (रथ्येव चक्रा) रथ के पहियों के समान वहन कर ॥ ६ ॥

शिक्षा—"इह ये चरन्ति" हे ज्ञानप्रिय मानवसन्तान ! इस अन्तरिक्ष में सब नक्षत्र मण्डल गति शील हैं तथा "देवानां स्पशः" सूर्य्यादि ग्रहों को स्पर्श करते हैं अर्थात् इनकी गति के साथ सब का सम्बन्ध है अपिच "न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते" यह सब नक्षत्र मण्डल कभी विराम नहीं करता और न ही अपनी सरल गति

को छोड़कर कुटिल वा द्विविधा चाल चलते हैं इस प्रकार इनका गणित से ठीक विज्ञान प्राप्त करो ।

२—"अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन विवृह रथ्येव चक्रा" हे विवाहित पुरुष ! यदि सन्तानोत्पत्ति में कोई असाध्य बाधक आजावे तो सन्तानेच्छुक पत्नी को अन्य पुरुष से नियोग की अनुमति देदे यह एक तेरा धर्म है उस को किसी प्रकार बहकाकर धोखा न देना ॥ ६ ॥

विशेष—इस प्रकार प्रथम बार अनुमति देदेवे । अब अनुमति पाने के अनन्तर यदि पत्नी पुत्रैषणा से अनुरक्त है तो अवश्य दूसरे पुरुष से नियोग करे यदि पति-प्रेम, संसार सुधार व अन्य परोपकार के कारण पुत्रैषणा से विरक्तता आजावे तो नियोग न करे तो कोई दोष नहीं ब्रह्मचारिणी ही रह कर विशेषोपकार करे ॥६॥ दिन इस दुःखसे दूर हाने के कारण को विवेचन करता है—

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्य्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् ।
दिवा पृथिव्या मिथुना सम्बन्धू यमीर्यमस्य विभृयादजामि ॥१०॥

(अस्मा अहभीरात्रिभिर्दशस्येत्) हे प्रिये ! यद्यपि भवितुमर्हत्येतद्यत्प्रजापतिर्देवोऽस्मा एतं जामिरूपं पृथिवीलोकम् "सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्" (अष्टा० ७।१।३६) अत्र भाष्यवचनाद्-द्वितीयैकवचने 'स्मै' आदेशः । "तस्मा इन्द्राय गायत" (ऋ० १।२।४) इतिवत् । दशस्येत्-उपक्षिणुयात्-सूक्ष्मी कृत्यावयोर्मध्यात्पृथक् कुर्यात् 'दसु उपक्षये श्यन्विकणे लिङि रूपम्'। धातुमध्ये शकारागमश्छान्दसः "वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ । धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्" इति वचनात् ✽ तत्कथं पृथक् कुर्यादित्युच्यते । रात्रीभीरात्रिगणेन, अहभिरहर्गणेन सह, अर्थादहोरात्रगणाभ्यामस्य पृथिवीलोकस्य स्थितिसमयं समाप्य पृथक् कुर्यात्तदाऽऽवयोः सङ्क्रमनेन सम्भाव्यमित्यभिप्रायः । कुतश्च स्थितिसमयसाप्तिः । उच्यते । कालगणनया । सा च कालगणना भवति रात्रिगणेनाहर्गणेन च । अहोरात्रसंख्या च बह्वी कथं स्यात् तत्र हे रात्रे ! यद्यप्येक एवाहं भवती चाप्येका तथापि भवितुमर्हत्यावयोर्बह्वी संख्या । । तदित्थं यत् (सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्) सूर्य्यस्य चक्षुर्दर्शनरश्मिर्मुहुर्वारम्वारमुन्मिमीयादुद्गच्छेत्प्रकटी भवेल्लोकदृष्ट्येतिशेषः । यल्लौकिकाः सूर्य्यप्रका-

---

✽ सायण ने इस "दशस्येत्" का अर्थ "प्रयच्छतु" किया है उसने "दाश दाने" माना है जिसमें हमारे अर्थ की अपेक्षा गौरव दोष है क्योंकि दाश धातु को ह्रस्व तथा 'अस्' उपजन मानना पड़ेगा । हमारे यहां केवल 'श' उपजन ही है और अर्थ की सङ्गति ॥

शदर्शनेनाहोरात्रसंख्यां कुर्वन्तु तदा (दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू) दिवा पृथिव्या द्यावापृथिवीभ्यां तुल्यौ मिथुना मिथुनौ सबन्धू समानबन्धनौ सङ्गतौ भवेव तथा च (यमी यमस्य बिभृयादजामि) यमी यमी रात्रिर्भवती मे पत्नी यमस्य मे दिनस्य पत्युरजामि जामिराहित्यमर्थादव्यवधायकं संयोगं बिभृयाद्धारयेत् ॥ १० ॥

भाषार्थ—हे प्रिये ! यद्यपि यह सम्भव है कि प्रजापति देव (अस्मै) इस जामिरूप अर्थात् हमारे संयोग में रुकावट डालने वाले पृथिवी लोक को (दशस्येत्) सूक्ष्म बनाकर हमारे बीच में से अलग करदे वह इस प्रकार कि (रात्रीभिः) रात्रि-गण से (अहभिः) अहर्गण से । अर्थात् अहोरात्रगण से इस पृथिवीलोक के स्थिति-समय को समाप्त करके पृथक् कर दे, तब हम दोनों का सङ्गम होना सम्भव है । क्योंकि वह स्थितिसमय काल गणना से समाप्त हो सकता है और वह काल-गणना रात्रिगण और अहर्गण से हो सकती है । रहा यह कि अहोरात्र अर्थात् दिन-रात की अधिक संख्या किस प्रकार हो सकती है सो सुन हे रात्रे ! यद्यपि मैं भी पृथिवी के ऊपर अकेला हूँ और आप भी पृथिवी के नीचे अकेली हैं तथापि हम दोनों की संख्या अधिक हो सकती है वह ऐसे कि (सूर्यस्य) सूर्यदेव की (चक्षुः) दर्शन रश्मि (मुहुः) बारम्बार (उन्मिमीयात्) उगाली ले, लोक दृष्टि से प्रकट हो "जिससे लोग सूर्यप्रकाश के दर्शन से दिन-रात की गणना करते जावें तब (दिवा पृथिव्या) द्यावापृथिवी के समान (मिथुना) मिथुन (सबन्धू) समानाङ्ग=एकाङ्ग= सङ्गत होजावें (यमीः) यमी आप रात्रि (यमस्य) मुझ दिन के (अजामि) व्यव-धायकाभावता=विना रुकावट के संयोग को (बिभृयात्) धारण कर सकें ॥ १० ॥

शिक्षा—"सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयाद्रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्" हे विद्या-प्रेमी लोगो ! सूर्य्य की रश्मि बारम्बार जब प्रथम देखने में आवे तो उसको 'दिन-रात' संख्या से व्यवहार करो अर्थात् सूर्य के एक उदय होने से दूसरे उदय होने तक काल को एक अहोरात्र 'दिन-रात' समझो और इसी प्रकार संख्या की वृद्धि से व्यवहार करो ॥

२—"रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्" हे वैज्ञानिको ! यह पृथिवी लोक बहुत दिन और रातों के पश्चात् अर्थात् ऐसा एक समय प्रलय का भी आजावेगा जब कि यह पृथिवी घिस २ कर सूक्ष्म परमाणु रूप हो जावेगी इससे तुम सृष्टि के प्रलय का विज्ञान सीखो ।

३—"रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्" हे विवाहित स्त्री पुरुषो ! जब जब

तुम्हारे ऊपर कुछ सङ्कट ऐसा आवे कि जो तुम्हारे गार्हस्थ्य में बाधक हो तो तब तुम लोग अन्य स्त्री पुरुषों को इकट्ठा करो और सब मिलकर उस बाधक को हटा दो।

४—"दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमोर्यमस्य विभृयादजामि" हे विवाहित वर वधू ! तुम से पूर्व के गृहाश्रमी लोग जैसे परस्पर गार्हस्थ्य धर्म का सेवन करते हैं एवं तुम लोग भी विना विघ्न के गृहस्थ सुख का भोग करो ॥ १० ॥

रात्रि का मनोरथ शीघ्र सफल न होता देखकर दिन पति का रात्रि पत्नी को नियोग की आज्ञा दे देना—

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृण्वन्नजामि ।
उपबर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥११॥

(ता युगानि घा-उत्तरा-आगच्छान्) किन्तु हे रात्रे ! ता तानि युगानि घा तु, उत्तरा-उत्तराणि प्रलयसमकालानि-आगच्छानागमिष्यन्ति (यत्र जामयोऽजामि कृण्वन) यत्र प्रलययुगेपु जामयः = असमानजातीया मध्ये व्यवधायकाः करिष्यन्त्यजामिकर्माणि = असमानजातीयरहितकर्माणि = अव्यवधायककर्माणि = अविरुद्धकर्माणि । हे रात्रे ! न तावत्पर्य्यन्तं गार्हस्थ्यमन्तरेण त्वया पुत्राभिलाषिण्या स्थातुं शक्यते तस्मात्त्वम् (सुभगे वृषभाय बाहुमुपबर्बृहि मदन्यं पतिमिच्छस्व) "उपबर्बृहि-उपधेहि" (निरुक्ते ४ । २०) सुभगे ! वृषभाय वीर्य्यसेक्त्रे बाहुं प्रसारय तथा च मद्दिनादन्यं पतिमिच्छस्व स्वीकुरु ॥ ११ ॥

भाषार्थ—किन्तु हे रात्रे ! (ता) वे (युगा) युग अवसर (घा) तो (उत्तरा) प्रलयकालीन (आगच्छान) आवेंगे जब कि ये (जामयः) असमानजातीय व्यवधायक = मेल में रुकावट डालने वाले (अजामि) असमानजातीयरहितकर्म = अव्यवधायककर्म = अविरुद्धकर्म (करिष्यन्ति) करेंगे । परन्तु हे रात्रे ! तब तक तुझ पुत्राभिलाषी से विना गार्हस्थ्य के ठहरना दुष्कर है इस लिये मैं पुत्रोत्पन्न करने में असमर्थ होता हुआ तुझे आज्ञा देता हूँ कि (सुभगे) हे प्यारी ! (वृषभाय) वीर्य्य प्रदान करने में समर्थ पुरुष के लिये (बाहुम्) अपनी भुजा को (उपबर्बृहि) फैला और (मत्) मुझ दिन से (अन्यम्) भिन्न पुरुष को (इच्छस्व) स्वीकार कर ॥ ११ ॥

शिक्षा—"आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृण्वन्नजामि" हे विज्ञान प्रेमि मनुष्यो ! स्वभाव सिद्ध मिथुनों के व्यवधायक पृथिवी आदि लोक कालान्तर में अपने इस स्वभाव को छोड़ देंगे और एक बार फिर ऐसा समय

आ जावेगा कि यह सारे मिथुन अपने अलग २ स्वरूप न रखते हुए एकाङ्ग हो जावेंगे इस ऐसे प्रलय काल को सृष्टिक्रम से जानो।

२—"उपबर्बृहि बृषभाय वाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" हे विवाहित पुरुष ! जब तू गर्भाधान के स्थापन में असमर्थ सिद्ध हो तो पुत्राभिलाषी अपनी पत्नी को दूसरे पुरुष से सन्तानार्थ नियोग करने की आज्ञा दे दे ॥ ११ ॥

रात्रि का सामयिक स्थिति सम्बन्धी प्रश्नरूप वचन—

किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।
काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि ॥ १२ ॥

(किं भ्राताऽसद्यदनाथं भवाति) हे दिवस ! 'दैवकृतापत्त्या शरीरसंयोग-सम्बन्धे' * भवान् किं भ्राताऽसत्-अभवत्। अस् भुवि, लङि रूपम् "बहुलं छन्दसि" इत्ययेन शपो लुङ्न भवति तथाऽऽडागमोऽपि न "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि" (अष्टा० ।६।४।७५) यदनाथमविद्यमानो नाथो यस्मिन् तदनाथं नाथराहित्य-मपतित्वमिति यावत्—क्रियाविशेषणञ्चैतत् "नञ्सुभ्याम्" (अष्टा० ६ । २ । १७२) अनेन चान्तोदात्तत्वम्। भवाति भवेत् "लिङर्थे लेट्" (किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्नि-गच्छात्) किमु किञ्चाहं ते पत्नी स्वसाऽसत्-अभवत्। असदित्यनेनान्वयः। यत् यतो निर्ऋतिर्निरतिः = रतिमन्तरेण सम्भोगेन विना। "निर्ऋतिर्निरमणात्" (निरु० २ । ७) अत्र रमधातोः क्तिनि "बहुलं छन्दसि" (अष्टा० । ६ । १ । ३४) अनेन सम्प्र-सारणम्। निगच्छात् पुरुषान्तरं गच्छेत् "लिङर्थे लेट्" (काममूता बहु, एतद्र-पामि) काममूता कामेन बद्धा कामग्रस्ता कामवशा। मूङ्भ्वादिः, मूञ् क्र्यादिरुभावपि बन्धनेऽर्थे। बहुप्रकारेण हावभावाभ्यामेतद्रपामि निवेदयामि यत् (तन्वा मे तन्वं सम्पि-पृग्धि) तन्वा मे मम शरीरेण तन्वं स्वं शरीरं सम्पिपृग्धि सम्पृक्तं कुरु संयोजय ॥१२॥

भाषार्थ—हे दिवस ! दैवकृत आपत्ति से शरीर संयोग सम्बन्ध में (किम्) क्या अब आप (भ्राता) भाई (असत्) हो गये हो ? (यत्) जिससे इस प्रकार (अनाथम्) आपकी ओर से अनाथता अपतिपन (भवाति) हो जावे । और जो मैं तेरी पत्नी हूँ (किमु) क्या इस समय (स्वसा–असत्) बहिन हो गई (यत्) जिससे (निर्ऋतिः) विना सम्भोग के (निगच्छात्) दूसरे पुरुष को प्राप्त होवे। (काममूता) काम से बंधी हुइ (बहु) बहुत प्रकार से हावभाव दर्शाती हुई

* एष एवाध्याहारः केवलोऽस्माकमत्रविद्यते।

(एतत्) यह (रपामि) निवेदन करती हूँ कि (तन्वा मे) मेरी काया से (तन्वम्) अपनी काया को (सम्पिपृग्धि) सम्पृक्त कर अर्थात् मिलादे ॥ १२ ॥

शिक्षा—"किं भ्राताऽसद्यदनाथं भवाति किमुस्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।" हे विवाहित स्त्री पुरुषो ! तुम्हारे गार्हस्थ्य प्रसङ्ग में दैव से जब, कोई कठिन रोग आदि बाधक आ जावे तो तबतक तुम परस्पर सम्भोग मत करो और यदि उस दोष के कारण पति की ओर से दूसरे पुरुष के पास जाने की अनुज्ञा हो जावे तो उस समय तुम बहिन भाई के समान बरतो ॥

२—"किंभ्राताऽसद्......निगच्छतात्" हे मनुष्यो ! भाई अपनी बहिन का नाथ (पति) न बने और नही बहिन अपने भाई से सम्भोग की इच्छा करे अर्थात् भाई बहिन का परस्पर विवाह भी न हो ॥

३—"काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मे तन्वं सम्पिपृग्धि, न वा उ ते तन्वा तन्वं सम्पपृच्याम्—अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्" हे पुत्रोत्पादन रूप भोग में असमर्थ विवाहित पुरुष अपनी पत्नी को दूसरे पुरुष से पुत्रोत्पादन करने की आज्ञा दे देने के अनन्तर भी यदि तेरी पत्नी तुझे सम्भोग के लिये आगृहीत करे तो तू खुले शब्दों में स्पष्ट कहदे कि "मैं तेरा भ्राता हूँ मैं नहीं कर सकता जा दूसरे के साथ अपनी इच्छा पूर्ण कर" यह आज्ञा बलपूर्वक दे दे ॥१२॥

दिन के सामयिक भ्रातृत्वसम्बन्ध में रात्रि के प्रश्न का उत्तर—

न ते नाथं यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वः संपपृच्याम् ।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पस्यव न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥१३॥

(यमि ! अत्राहं ते नाथं नास्मि) हे यमि रात्रे ! अत्रास्मिन् काले दैवापत्त्यवसरेऽधुनाहं तव न नाथमस्मि न पतिरस्मि (तनूं ते तन्वो न सम्पपृच्याम्) तनूं स्वशरीरं तव तन्वः शरीरान्न सम्पपृच्यां संयोजयेयम् (मदन्येन प्रमुदः कल्पयस्व ते भ्राता सुभग एतन्न वष्टि) मत्तो भिन्नेन प्रमुदः पुत्रोत्पादनयोग्यान् भोगान् कल्पयस्व सम्पादय । अहं च साम्प्रतिकस्तव भ्राता त्वदुक्तमेतन्नेच्छति ॥१३॥

भावार्थ—(यमि ! अत्राहं ते नाथं नास्मि) हे रात्रे ! इस दैवापत्ति के अवसर पर मैं तेरा पति नहीं हूँ अतः (तनूं ते तन्वो न संपपृच्याम्) स्वशरीर को तेरे शरीर से मैं नहीं मिलाऊंगा (मदन्येन प्रमुदः कल्पयस्व ते भ्राता सुभग एतन्नवष्टि) हे सुभगे देवि ! मुझसे भिन्न के साथ पुत्रोत्पादन योग्य सुखोंको प्राप्त कर, मैं तेरा प्रासङ्गिक भाई इस तेरे आग्रह किये भोगको नहीं चाहता ॥१३॥

शिक्षा—सन्तानोत्पत्ति में दैवकृत असाध्य रोगादि में पति भ्रातृवत् रहे, मैथुन कर्म न करे ॥ १३ ॥

पुनरपि दिन की ओर से मैथुन निषेध का दृढ़ उत्तर—

न वा उ ते तनूं तन्वा संपपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय ॥१४॥

(तन्वा ते तनूं न वा उ सम्पपृच्याम्) हे रात्रे ! एवमस्तु यद् दैवकृतापत्त्याऽहमिदानीं सम्भोगानर्हत्वान्नियोगरयानुज्ञां दत्तवान् अतस्त्वदुक्तवचनानुसारमहं शरीरसंयोगसम्बन्धे भ्राताऽभवं त्वञ्च स्वसाऽभवस्तस्मात्ते तव शरीरेणाहं स्वशरीरं न वा उ नैव हि सम्पपृच्यां सम्पृक्तं कुर्याम (यः स्वसारं निगच्छात् पापमाहुः) यतो यः स्वसारं निगच्छान्निगच्छेत् जनास्तं पापमाहुर्ब्रुवन्ति (मनसो हृदो मेऽसंयदेतद्यद् भ्राता स्वसुः शयने शयीय) मम मनसो हृदो हृदयस्य चासंयदसंयमः "कृतो बहुलम्" इति भावे क्विप् । यद् भ्राता संश्चाहं स्वसुः शयने शय्यायां शयीय । असमर्थेन पत्या संयम एवानुष्ठेयः ॥१४॥

भाषार्थ—(तन्वा ते तनूं न वा उ संपपृच्याम्) हे रात्रे ! दैवकृतापत्ति से भोग में असमर्थ होने तथा नियोग की अनुज्ञा दे देने से सचमुच मैं भ्राता ही हो गया हूँ । अतः मैं तेरे शरीर से अपने शरीर को नहीं मिलाऊंगा (यः स्वसारं निगच्छात् पापमाहुः) क्योंकि जो बहिन के साथ विषयभोग करे उसको लोग पापी कहते हैं (मनसो हृदो मे ऽसंयदेतद् यद् भ्राता स्वसुः शयने शयीय) मेरे मन और हृदय की यह असंयमता कमजोरी है जो भ्राता बन के फिर स्वसा की शय्या पर सोऊं ॥ १४ ॥

शिक्षा—हे सभ्य पुरुषो ! किसी भी सम्बन्ध से जिनका भाई बहिन का नाता हो गया हो उनको परस्पर पतिपत्नी न बनने दो, जब कदाचित् कोई ऐसा करे तो उसको पापी कह कर निन्दित करो । भाई बहिन की प्रतिज्ञा के अनन्तर पुनः सम्भोग करना मन और हृदय की असंयमता या कमजोरी है जिसे कभी पास न आने देना चाहिये ॥ १४ ॥

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ॥१५॥

(यम बत बतोऽसि) हे यम दिवस ! बत हा खेदं किं कुर्य्यां यत्त्वं बतो

बलादतीतो विवशोऽसि "बतो बलादतीतः" (निरु० ६ । २२) कुतः । दैवकृतबाधकं न कश्चिदपि द्रागपकर्तुं शक्नोति । तस्मात् (मनस्ते हृदयं च नैवाविदाम) तव मनो हृदयं च नैवाविदाम नालभे "विद्लृ लाभे" तुदादिरुभयतोभाषः, अस्मदो द्वयोश्चेत्यनेनैकस्मिन् बहुवचनम् (अन्या किल कक्ष्येव युक्तं त्वां लिबुजेव वृक्षं परिष्वजातै) अन्या मद्भिन्ना काचित् स्त्री किल हि कक्ष्येव कक्षगता बन्धनरज्जुरिव युक्तं त्वां परिष्वजातै परिष्वजेत-आलिङ्गेत् । "लिङर्थे लेट्" अथवा लिबुजेव वृक्षं लता वृक्षं यथा परिष्वजेत ॥ १५ ॥

भाषार्थ--(यम) हे दिवस ! (बत) हा खेद (बतः) कि तू विवश (असि) है, क्योंकि दैवकृत बाधक को सहसा कोई भी नहीं हटा सकता, इसलिये (ते) तेरे (मनः) मन (च) और (हृदयम) वक्षःस्थल को मैंने (नैव) नहीं अविदाम) प्राप्त किया (अन्या किल) मुझ से भिन्न कोई भी स्त्री (कक्ष्येव युक्तम्) कक्ष 'काख-कांच' में बंधी पेटी के समान (त्वाम्) तुझको (परिष्वजातै) आलिङ्गन करे अथवा (लिबुजेव वृक्षम् 'परिष्वजातै') जैसे लता 'बेल' वृक्ष को लिपटती है वैसे तुझे भी लिपटे ॥ १५ ॥

शिक्षा—"बतो बतासि······वृक्षम्" हे विवाहित स्त्री यदि दैववश सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ तेरा पति तुझे दूसरे पुरुष से नियोग करने की अनुमति और आज्ञा दे देवे तो तू उसको अधिक तङ्ग मत कर किन्तु तू भी उसकी अनुकूलता के लिये अपनी ओर से भी उसको दूसरी स्त्री से नियोग करने की अनुमति और आज्ञा दे दे ॥ १५ ॥

दिन का रात्रि के प्रति नियोगार्थ अन्तिम आशीर्वाद—

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परिष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥१६॥

(त्वमन्यमू षु यमि, अन्य उ त्वां त्वं लिबुजेव वृक्षं परिष्वजातै) हे यमि रात्रे ! सु सुष्ठु त्वदुक्तमेतद्वचः । तस्मात् । त्वमु त्वमपि, अन्यं पुरुषं लिबुजेव वृक्षं परिष्वजेथाः, तथाऽन्य उ अन्यः पुरुषोऽपि त्वां परिष्वजातै परिष्वजेत (त्वं वा तस्य मन इच्छा स वा तव) त्वं वा त्वं च "वा चार्थे पठितः" (निरुक्ते १ । ४) तस्य पुरुषस्य मन इच्छा कामयस्व स वा स च तव मनः कामयताम् (अधा सुभद्रां संविदं कृणुष्व) अधा=अनन्तरम् (ऋ० १ । ७२ । ७ दयानन्दस्तथा च सायणः) निरुक्ते च "अध=अथ" (३ । ३) एवं जाते सति संविदं नियोगरूपां प्रतिज्ञां सुभद्रां सुसुखां कृणुष्व कुरु संवित् प्रतिज्ञा—'संविदा देयम्' (तैत्तिरियोपनिषद्) ॥१६॥

भावार्थ—(यमि) हे रात्रे ! (सु) हां तेरा पूर्वोक्त वचन ठीक है अतः (त्वमु) तू भी (अन्यम्) अन्य पुरुष को (लिबुजेव वृक्षम्) लता की न्याईं वृक्ष को आलिङ्गन कर तथा (अन्य उ) वह अन्य पुरुष भी (त्वाम्) तुझको (परिष्वजातै) आलिङ्गन करे (त्वं वा) और तू (तस्य) उस पुरुष के (मनः) मन को (इच्छा) चाह (स वा) और वह पुरुष (तवा) तेरे मन की चाह करे (अधा) इस के अनन्तर (सविदम्) नियोग रूप प्रतिज्ञा को (सुभद्राम्) अच्छे कल्याणयुक्त अर्थात् सुसन्तान वाली (कृष्णुष्व) बना ॥ १६ ॥

शिक्षा—"अन्यम्……सुभद्राम्" हे विवाहित पुरुष देवकृत विपद् से विवश हुआ सन्तानोत्पादन में असमर्थ जब तू दो बार पहिले भी सन्तानाभिलाषी पत्नी को अनुमति और आज्ञा दे चुका हो तथा वह भी स्वीकार भाव दर्शाकर तुझे भी दूसरी स्त्री के नियोगार्थ अनुमति दे चुकी हो तो तू अब फिर उस देवी को आशीर्वाद के वचनों में आज्ञा देकर विदा कर ॥ १६ ॥

विशेष—यहां नियोग की अनुमति और आज्ञा प्रसङ्ग में दोनों स्वतन्त्र हो चुके । किन्तु नियोग किया है या नहीं, इसकी चर्चा यहां नहीं है इस से यह भी एक वैदिक मर्यादा प्रतीत होती है कि स्त्री पुरुषों में सन्तानार्थ नियोग की अनुमति और आज्ञा हो जाने के अनन्तर भी यदि वे वैराग्य वा प्रेम के वश तथा परोपकारार्थ नियोग न करें तो पाप नहीं।

(प्रश्न) प्रजापति ने जब कि दिन रात को प्रजोत्पत्ति के लिये मिथुन 'जोड़ा' पति पत्नी रूप में बनाया था तो यहां यह क्या हुआ कि सन्तानार्थ उन का संयोग न हो सके ।

(उत्तर) प्रजापति ने जिस सृष्टि-क्रम में प्रजोत्पत्ति के लिये मिथुन बनाया था वह कार्य्य तो हो रहा ही है अर्थात् इस पृथिवी पर दिन और रात के विलास में मानो दिन का वीर्य्य और रात का रजः गिरते हैं एवं दिन रात के सन्धिवेला में दोनों रज वीर्य्य संगत होते हैं जिससे सारी पृथिवी अनेक प्राणी और औषधियों को उत्पन्न करती है । जिन स्थानों पर दिन-रात की सन्धि कम होती है वहां उत्पत्ति भी अत्यल्प है यह सिद्ध ही है । जैसे उत्तरध्रुव और दक्षिणध्रुव के समीपवर्ती देशों में । इनका संयोग स्त्री पुरुषों के समान नहीं होता क्योंकि ऐसा संयोग होना इष्ट ही नहीं है । यदि इनका ऐसा सयोग हो जावे तो सृष्टि का प्रलय हो जावेगा । हां एक समय प्रलय में इनका संयोग स्त्री पुरुषों के समान होगा जिसका वर्णन "रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्" मन्त्र में आया है ।

(प्रश्न) तो फिर इस संवाद में परस्पर संयोग का इतना आग्रह क्यों किया है ?

(उत्तर) ज्योतिष् के अनेक रहस्यों के दर्शाने तथा गार्हस्थ्य धर्म और गर्भाधान विद्या में स्त्री पुरुषों का शरीरसंयोग होना अत्यावश्यक है इस बात के जनाने को। क्योंकि यह रहस्य-विद्या है विना ऐसे अलङ्कार के शिक्षा का होना दुष्कर है। अतएव वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने से इतिहास का होना असम्भव है । एवं एक पन्थ दो काज "द्विगता अपि हेतवो भवन्ति" महाभाष्य व्याकरण (अ० १। पाद० १। आ० १) ज्योतिष् तथा विवाह पद्धति, गार्हस्थ्य धर्म, आपद्धर्म, गर्भाधान रहस्य और नियोग की शिक्षा दिन-रात के अलङ्कार में मिल जाना सुतराम् प्रकार है। अस्तु।

यदि कोई वेद का विद्वान् यम-यमी अर्थात् दिनरात को सहजात भाई बहिन सिद्ध कर भी दे तो दिन-रात का प्रजोत्पत्ति के लिये पृथिवी पर अपना वीर्य्य और रज छोड़ने से उनका प्रजापति सम्पादित पति-पत्नी सम्बन्ध तो उस अवस्था में भी सर्वदा सिद्ध ही रहेगा, वास्तव में इनको उत्पत्ति है ही परस्पर प्रजोत्पत्ति के लिये, भाई बहिन के मानने वालों को भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता है। शरीर संयोग इनका स्त्री पुरुषों की न्याई नहीं होता इस अवस्था में भ्रातृत्व (भाईपन) और स्वसृत्व (बहिनपन) ही सिद्ध रहे इसमें कोई आपत्ति नहीं।

(प्रश्न) तो क्या इस अवस्था में भाई बहिन परस्पर पति-पत्नी हो जावें यह इससे भाव निकल सकता है या नहीं ?

(उत्तर) कदापि नहीं क्योंकि दिन-रात की इस भाई बहिन अवस्था में शरीर संयोग नहीं होता है अतः इससे यह शिक्षा तो अवश्य मिल सकती है कि भाई-बहिन का कभी शरीर संयोग न हो। मनुष्यादि जङ्गम सृष्टि में विना शरीर संयोग के प्रजोत्पत्ति आदि होना असम्भव है अतः भाई बहिन का विवाह होना भी निषिद्ध हुआ।

यह केवल प्रजापति के नियम (ईश्वरीय नियम) ही ऐसे होसकते हैं जो विना शरीर संयोग के प्रजोत्पत्ति स्थावर (जड़) वस्तुओं से करता है यह पदार्थ-विद्या की विलक्षण बात है। इसी प्रकार उत्पत्ति मात्र से जड़ वस्तुएं "भाई-बहिन, पिता-दुहिता, पुत्र-माता" इत्यादि ही क्यों न हों क्योंकि इन का शरीर संयोग स्त्री पुरुषों के समान नहीं होता वस्तुतः प्रजोत्पत्ति के लिये ही इनकी स्थापना है, यह एक वैदिक

मर्म है। इनसे कदापि भाई बहिन आदि के शरीर संयोग की कुशिक्षा नहीं मिलती है। किन्तु पदार्थ ज्ञान ध्येय है॥

विज्ञप्ति—यह यम यमी का प्रकरण ऋग्वेद में भी आया है हम यहां ऋग्वेदान्तर्गत "सायण भाष्य" की समालोचना ही करते हैं क्योंकि अन्य लेखकों की अर्थशैली भी उस से मिलती हुई है।

समालोचना—

मन्त्र १ में—

१—"अत्रास्मिन्सूक्ते वैवस्वतयोर्यमयम्योः संवाद उच्यते,अस्यामृचि यमं प्रति यमी प्रोवाच—तिरः अन्तर्हितं अप्रकाशमानं निर्जनप्रदेशमित्यर्थः=विवस्वान् के लड़के लड़की यम यमी का इस सूक्त में संवाद है और इस ऋचा में यम के प्रति यमी का कथन है। यमी अप्रकाशमान निर्जन देश (को गई और यम से कहने लगी)

दोष—क्या यहां विवस्वान् कोई देहधारी मनुष्य है कि जिसके यम यमी सन्तानों की कथा वेद वर्णन करता है ? क्या वैदिक काल से पूर्व उन की उत्पत्ति हो चुकी थी अथवा अलङ्कार है जैसा कि नवीन लोग कहते हैं कि विवस्वान् सूर्य है उस का लड़का दिन और लड़की रात्री है ऐसा यदि मानते हैं तो वह अप्रकाशमान निर्जन देश कौनसा है जहां रात्री गयी।

२—"जगन्वान् गतवती यमी"

दोष—जगन्वान् पुंलिङ्ग को स्त्रीलिङ्ग का विशेषण करना बलात्कार ही है।

३—"ओववृत्याम्=आवर्त्तयामि=त्वत्सम्भोगं करोमि"

दोष—"त्वत्सम्भोगं करोमि=तेरा सम्भोग करती हूँ" यह कहना और सम्भोग की प्रार्थना भी करते जाना यह कितना विपरीत है।

४—"अधिक्षमि=अधि पृथिव्यां पृथिवीस्थानीयनभोदरे इत्यर्थः=पृथिवी स्थानीय नभोदर में।"

दोष—कितना असम्बद्ध कथन है कि स्थिति यमी की द्वीपान्तर में और गर्भाधान हो नभोदर में।

५—"पुत्रस्य जननार्थं आवां ध्यायन् आदधीत प्रजापतिः=पुत्र जननार्थ हम दोनों का ध्यान करता हुआ प्रजापति गर्भाधान करे।"

दोष-क्या खूब ! प्रस्ताव और प्रार्थना पति से और आधान करे प्रजापति।

मन्त्र २ में—

१—"सखा=गर्भवास लक्षणेन"

दोष—यहां 'सखि' पद मुख्यवृत्ति से भ्राता की ओर न घटते हुए देखकर सायण को खींचातानी का उक्त विशेषण लगाना पड़ा।

मन्त्र ३ में—

१—"ते प्रसिद्धा अमृतासः प्रजापत्यादयो देवा एतदीदृशं शास्त्रेणागम्यत्वेनोक्तम्०"।

दोष—यहां शास्त्र से अगम्य कहा है क्या वेद से पूर्व भी कोई शास्त्र था जिसका संकेत यम को यमी कर रही है।

२—"एकस्य चित्सर्वस्य जगतो मुख्यस्यापि प्रजापत्यादेः स्वदुहितृभगिन्यादीनां सम्बन्धोऽस्तीति शेषः"।

दोष—'एकस्य चित्' यहां 'एक' का अर्थ मुख्य करके प्रजापति आदि के अप्रासङ्गिक अध्याहार को पाठक विचारें।

३—"जन्युरिति लुप्तोपममेतत् जन्युरिव यथा जनयिता प्रजापतिः०"

दोष—प्रथम तो लुप्तोपमा मानना गौरव है दूसरे 'जायत इति जन्युः=जन्+युच् (उ० ३। २०) से युच् प्रत्यय हुआ है, णिजन्त से नहीं।

मन्त्र ४ में—

१—"पुरा पूर्वं प्रजापतेः यदगम्यागमनं अपरिमितसामर्थ्योपेतत्वात् कृतं तथा वयं न चकृम नाकुर्म"।

दोष—इस वाक्य में वाक्यरचना दोष भी है क्योंकि 'प्रजापतेः' शब्द में पञ्चमी है जो पूर्व शब्द के साथ अन्वित होजाती है कि प्रजापति से पूर्व जो अगम्यागमन अपरिमितसामर्थ्योपेत होने से 'कृतम्' किया। अब यहां प्रश्न हो जाता है कि 'केन कृतम्=किसने किया' यदि प्रजापति ने किया तो 'प्रजापतेः' के स्थान पर 'प्रजापतिना' होना चाहिये यदि 'प्रजापतिना' शब्द का अध्याहार करेंगे तो 'प्रजापतेः' में पञ्चमी किसलिये है ? तब क्या ऐसा वाक्यार्थ होना युक्त है कि प्रजापति से पूर्व प्रजापति ने किया है ?

२—"वयं ऋता ऋतानि सत्यानि वदन्तः अनृतमसत्यं कद्ध कदा खलु नूनं निश्चितं रपेम"=हम सत्य बोलते हुए असत्य कब बोल सकते हैं"॥

दोष—वे कौन सा सत्य बोलते थे जो यहां असत्य बोलना पड़ता था तथा 'कत्' को 'कद्' पदपाठ से विरुद्ध मानकर 'कदा' अर्थ किया है।

३—"अप्या अन्तरिक्षस्था सा प्रसिद्धा योषा आदित्यस्य भार्या"

दोष—यहां मन्त्रगत 'नाभिः' शब्द के साथ सम्बद्ध 'सा' शब्द को 'योषा

सा' उलटा विशेषण लगाया यदि 'योषा' को 'सा' शब्द से विशिष्ट करना है तो 'गन्धर्वः' को भी 'सः' शब्द का विशेषण देना चाहिये। पाठक सायण की इस अर्थ योजना पर ध्यान दें॥

४—"जामि बान्धवम्"

दोष—यह अर्थ निरुक्त के विरुद्ध है तथा बड़ा आश्चर्य तो यह है कि यहां पर तो 'जामि' का अर्थ "बान्धव" किया है और मन्त्र (६) में अजामि भ्राता। एवं अजामि भ्राता अर्थात् "जामि=अभ्राता"। मन्त्र (१०) में "जामि भगिनी" और अजामि अभ्राता अर्थात् "जामि=भ्राता"। अब सायणकृत जामि शब्द के अर्थ इसी सूक्त में निम्न प्रकार हुए:—

"जामि=बन्धुता[1], अभ्राता[2], भगिनी[3], भ्राता[4]" ये चार अर्थ हुए जो परस्पर विरुद्ध हैं पाठक सायण की अर्थ शैली पर विचार करें।

मन्त्र ५ में—

१—"न किः प्रमिनन्ति न केचित्प्रहिंसन्ति"

दोष—'न किः' शब्द पदपाठ में भी एक ही पढ़ा है और अव्यय है परन्तु विग्रह करके सायण का अर्थ करना ठीक नहीं है क्योंकि 'न-किः' इस प्रकार किम् शब्द का बहुवचन जस् में किसी वैदिक नियम से भी सिद्ध नहीं होसकता है।

मन्त्र ६ में—

१—"मित्रस्य वरुणस्य मित्रावरुणयोर्बृहन्महद्धाम स्थानमहोरात्रं यदस्ति"

दोष—"दिन और रात मित्रवरुण के धाम हैं" यह सायण का कथन विपरीत है क्योंकि 'दिन रात' स्थान नहीं हैं दूसरे यहां इस प्रकार कहने की आवश्यकता क्या है क्योंकि यदि दिन रात के पितृकुल मित्रवरुण के धाम माने जावें तब तो यहां दिन रात का संवाद अपने दुःखवृत्तान्त को सुनाना उचित ही है। जो हमारी अर्थयोजना के साथ सम्बन्ध रखता है।

२—"कदु ब्रवः किंवा ब्रवीषि"

दोष—यहां सायण ने 'कत्' पदपाठ का 'किम्' विरुद्धार्थ किया है पहले मन्त्र में 'कत्' का अर्थ 'कदा' और यहां उसी 'कत्' का 'किम्' अर्थ किया है। पाठक देखें यह सायण की योजना कहां तक ठीक है।

मन्त्र १० में—

१—"यत्र येषु कालेषु जामयो भगिन्योऽजाम्यभ्रातरं पतिं कृणवन्क-

रिष्यन्ति=जिन कालों में बहिनें भ्राता के प्रति अभ्रातृकर्म (पतिपन) करेंगी"।

दोष—'यमी' जो सायण के मत में भगिनी है वह इसी वैदिक समय में ही सम्भोग करने को तैयार है फिर यह कैसा हेतु वचन है ? हां यदि ऐसा वचन हो कि यम भ्राता अभ्राता का कार्य करेगा.ऐसा उत्तर-समय आवेगा तब तो सायण पक्ष में हेतु कुछ घट भी जाता, किन्तु यह तो सायण की अर्थ योजना के अनुसार हेतु-दोष है।

मन्त्र ११ में—

१—"यस्मिन् भ्रातरि सति स्वसादिकमनाथं नाथरहितं भवाति भवति स भ्राता किमसत् किं भवति न भवतीत्यर्थः किं च यस्यां भगिन्यां सत्यां भ्रातरं निर्ऋतिदुःखं निगच्छात् नियमेन गच्छति प्राप्नोति सा किमु किंवा भवति=जिस भ्राता के होते हुए बहिन आदि नाथ रहित हो वह भ्राता क्या है अर्थात् नहीं है तथा जिस बहिन के होते हुए भ्राता को दुःख प्राप्त हो वह बहिन क्या है कुछ नहीं है।"

दोष—इस स्थान पर सायण की खींचतान का कोई हद्दो हिसाब नहीं रहा 'अनाथम्' क्रियाविशेषण को 'स्वसा' का विशेषण बनाया है परन्तु 'अनाथम्' शब्द नपुंसकलिङ्ग है और 'स्वसा' शब्द स्त्रीलिङ्ग है इस लिये 'आदिकम्' शब्द अधिक जोड़ कर 'स्वसादिकम्' लिखना पड़ा यहां पर क्या भ्राता के साथ स्वसा से भिन्न-व्यक्ति का भी सम्बन्ध है जो 'आदिकम्' पद अधिक जोड़ा है यदि आदिकम् से दुहिता 'माता' भी सम्बन्ध रखते हैं तब तो भ्राता नहीं होगा किन्तु दुहिता के साथ पिता और माता के साथ पुत्र का सम्बन्ध होगा, अतः यह कल्पना ठीक नहीं है। तथा वह ऐसा भ्राता न होने के बराबर ही है जिसके होते हुए बहिन अनाथ रहे। यह उक्त हेतु भी निरर्थक है क्योंकि वह यम उस यमी को अविवाहित रहने का उपदेश तो दे ही नहीं रहा था। बल्कि पूर्व मन्त्र में आज्ञा दे चुका था "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्। १०।" फिर कैसे इस मिथ्या हेतु की वेद में यह स्थापना है ? इसी प्रकार वह बहिन भी कुछ नहीं, जिसके होते हुए भाई को दुःख प्राप्त हो। यह हेतु भी अयुक्त है। उस यम को क्या दुःख था ? क्या उसका कोई विवाह नहीं करता था ? क्या वह महादरिद्र था ? जिससे उसको दूसरी स्त्री न मिल सकती हो। इन ऐसे हेतुओं को अल्प बुद्धि के पुरुष भी नहीं मान सकते। इस प्रकार खींचतान की अनर्गल कल्पना करना कहां तक ठीक है पाठक विचारें।

मन्त्र १३ में—

१—मत्तोऽन्या काचित्स्त्री त्वां परिष्वजाते किल परिष्वजते।

दोष—सायण के अनुसार जब यमी को यह निश्चय है कि यम को कोई दूसरी आलिङ्गन कर रही है तो पूर्व मन्त्र ११ में सायणानुसार यह कहना कि बहिन के होते हुए भाई का सम्भोग दुःख हेतु निरर्थक रहा क्योंकि मन्त्र १३ के सायणानुसार वह दूसरी से यह सम्भोग कर रहा है। 'परिष्वजाते' यह लेट का रूप है 'लिङर्थे लेट्' से लिङ् में होता है किन्तु सायण लट् में अर्थ करता है यहां ही नहीं प्रत्युत सूक्त में सर्वत्र ऐसा किया है जैसा कि भवाति का अर्थ भवति इत्यादि। यह वैदिक व्याकरण को आदर न देते हुए खींचतान से अर्थ करना अमाननीय है। अस्तु। अब हम अपनी प्रकृत क्रमगत मन्त्रों की व्याख्या पर आते हैं—

त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वियेतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि ॥ १७ ॥

(कवयस्त्रीणि छन्दांसि पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणं वियेतिरे) कवयो वस्तुविद्याविदो वैद्यास्त्रीणि छन्दांसि छादनानि शरीररक्षणनिमित्तानि वस्तूनि पुरुरूपं बहुरूपनिमित्तं, दर्शतं दर्शयितव्यं प्रकटीभावनिमित्तं, विश्वचक्षणं सर्वप्रसिद्धिमूलं पृथक् पृथक् वियेतिरे वैद्यकरीत्योपयोगेषु निश्चितवन्तः (तान्यापो वाता ओषधयः) तानि "आपो विविधं जलं, वाता नाना वायवः, ओषधयोऽन्नादीनि" सन्ति (एकस्मिन् भुवन आर्पितानि) एकस्मिन् भुवने, एकस्मै शरीराय। निमित्तसप्तम्यत्र। आर्पितानि निश्चितानि ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(कवयस्त्रीणि छन्दांसि पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणं वियेतिरे) वस्तुविद्या के जानकारी वैद्य लोगों ने शरीररक्षणनिमित्त तीन साधन बताये हैं जो कि बहुविध आकृति के निमित्त, दिखलाने यानि वस्तु-प्रकटीभाव के हेतु सर्वप्रसिद्धि के मूल हैं। इस प्रकार पृथक् २ वैद्यक रीति से उपयोगों में निश्चित किये हैं। वे कौन हैं (तान्यापो वाता ओषधयः) वे तीनों "विविध जल, नाना वायु और अन्नादि ओषधियां" हैं (एकस्मिन् भुवन आर्पितानि) एक शरीर यानि प्रत्येक शरीर के लिये निश्चित की हैं ॥ १७ ॥

शिक्षा—आयुर्वेदशास्त्रियों ने वायु, जल और अन्नादि ओषधियों को प्रत्येक प्राणी के जीवनधारण और रोगनिवारण के लिये आवश्यक समझा है ॥१७॥

आवश्यक सूचना—पाठकों को इस मन्त्र तथा मन्त्रार्थ से पता लगा होगा कि इस में किसी यम या पितर की चर्चा नहीं है। वस्तुतः पूर्व १६ मन्त्रों तक यम-यमी का विषय था, वह समाप्त हुआ। आगे मन्त्रों में भी दूर तक कोई यम या

पितर का प्रकरण नहीं चलता है सायण भाष्य तथा "यम और पितर" ग्रन्थ में भी कुछ दूर तक यम और पितर सम्बन्धी अर्थ नहीं किये गये अतः हम ग्रन्थ बढ़ जाने के भय तथा समयाभाव से सब मन्त्रों का अर्थ न करेंगे अपि तु जिस मन्त्र में क्वचित् यम या पितर शब्द आ जावेगा। उस मन्त्र का अर्थ अवश्य करेंगे।

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति।
विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती॥ २३॥

(हर्यतो हृत्त इष्यतीयक्षति) यजमानो हर्यतो हर्तुं योग्यं हर्यं मनस्तस्माद् हर्यतो मनस्तो मनसो हृत्तो हृदयादग्निमिष्यतीच्छति। 'विकरणव्यत्ययेन श्यन्'। अत एव इयक्षति यष्टुमिच्छति। तस्मात् (जार आ भगं पितरा-उदीरय) हे अग्ने! जार-आ भगं सूर्येण तुल्यं स्वभगमैश्वर्यकर्म पितरा द्यावापृथिव्यौ प्रति त्वमुदीरयोद्गमय। "द्यौर्मे पिता···माता पृथिवी महीयम्" (ऋ० १। १६४। ३३) (वह्निर्विवक्ति स्वपस्यते) एवं वह्निरग्निर्ज्वलन् सन् विवक्ति विवधं शब्दायते स्वपस्यते सुष्ठु कर्माचरति सुप्रयतत इत्यर्थः (मखस्तविष्यते) मखो यज्ञः। "यज्ञो वै मखः" (तै० ३। २। ८। ३) तविष्यते बलमिवानुतिष्ठति बलवान् भवतीत्यर्थः (असुरो मती वेपते) असुरो दंश-मशकादिर्मती मत्या स्वान्तःकरणेन वेपते कम्पते पलायितुं प्रवर्तते॥ २३॥

भाषार्थ—(हर्यतो हृत्त इष्यतीयक्षति) यजमान मन से और हृदय से अग्नि को इष्ट समझता है क्योंकि उस से वह यज्ञ करना चाहता है। इस लिये (जार आभगं पितरा उदीरय) हे अग्ने! तू सूर्य के तुल्य अपने ऐश्वर्यकर्म को द्यावापृथिवी के प्रति प्रकट कर, फैला दे (वह्निर्विवक्ति स्वपस्यते) एवं अग्नि जलती हुई विविध शब्द करती है और ठीक कार्य करती है (मखस्तविष्यते) यज्ञ बलवान् होता है (असुरो मती वेपते) दंशमशकादि स्वान्तःकरण से कांपता है उड कर भाग जाता है॥ २३॥

शिक्षा—उचित रूप से यज्ञ में अग्नि प्रयुक्त होने से जहां सुप्रसन्नता करती है वहां दंश मशक आदि रोगोत्पादक जन्तुओं को भगा देती है॥ २३॥

अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे।
अहा यद् देवा असुनीतिमायन् मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम्॥३१॥

(द्यावाभूमी वामर्चामि) हे द्यावापृथिव्यौ! युवामहमर्चामि यज्ञकरणेना-नुतिष्ठामि (घृतस्नू अपो वर्धाय) घृतस्नू हे घृतस्योदकस्य प्रस्नावयित्र्यौ! अपः कर्मा-स्माकं क्रियाव्यापारं वर्धाय वृद्धये युवाम् (रोदसी मे शृणुतम्) रोदसी रोधसी सर्व-

जीवबन्धनस्थानवत्यौ। "रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ विरोधनात्" (निरु० ६। १।) मे यजमानस्य वचनं शृणुतं स्वीकुरुतम् (देवा यदहाऽसुनीतिमायन्) देवा द्युस्थानाः सूक्ष्मपदार्था यदहा यस्मिन् दिनेऽसुनीतिं प्राणनयननिमित्तां प्रावृडृतुमायन् प्राप्नुवन्ति (अत्र मध्वा नः पितरा शिशीताम्) तदाऽत्र देशे प्रान्ते वा मध्वोदकेन। "मधु-उदक-नाम" (नि० १। १२) नोऽस्मभ्यं पितरा आकाशभूमी शिशीतामुदकवर्षणेन व्याप्नुताम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—(द्यावाभूमी वामार्चामि) हे द्यावापृथिवी ! तुम को मैं यज्ञ द्वारा सेवन करता हूँ (घृतस्नू अपो वर्धाय) हे जल बरसाने वालो ! हमारे कर्म की वृद्धि के लिये (रोदसी मे शृणुतम) हे सर्वजीवों के बन्धनस्थानवाली द्यावा-पृथिवी तुम मेरे वचन को स्वीकार करो (देवा यदहाऽसुनीतिमायन्) द्युस्थानी सूक्ष्म पदार्थ जिस समय प्राणप्रद वर्षा ऋतु को प्राप्त हो जाते हैं (अत्र मध्वा नः पितरा शिशीताम) तब इस देश या प्रान्त में हमारे लिये आकाश भूमी जल वृष्टि से व्याप्त हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

शिक्षा—द्युस्थान में सूक्ष्म पृथिवी और जल के कण जब इकट्ठे हो जाते हैं तब वर्षा ऋतु होती है ॥ ३१ ॥

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद्द विषुरूपा भवाति।
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन् ॥ ३४ ॥

(यद्यत्र सलक्ष्मा नाम विषुरूपा भवाति) यद्यत्र सलक्ष्मा सगुणा विषु-रूपा सूक्ष्मबुद्धिवृत्तिः स्यात् (योऽमृतस्य यमस्य सुमन्तु दुर्मन्तु नाम मनवते) यस्तया च बुद्ध्या यमस्यैकरसस्य सूर्यस्य सुमन्तु सुगममन्तव्यं दुर्मन्तु कठिनमन्तव्यं च मनवते निश्चिनोति (ऋष्वाग्ने तमप्रयच्छन् पाहि) हे प्रेरकाग्निरूपसूर्य ! तमप्रमाद्यन् रक्ष ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(यद्यत्र सलक्ष्मा नाम विषुरूपा भवाति) यदि यहां इस जन्म में मनुष्य की सगुण और सूक्ष्म बुद्धि हो जावे तो (योऽमृतस्य यमस्य सुमन्तु दुर्मन्तु नाम मनवते) जो इस बुद्धि से एक रस सूर्य के सुगम और कठिन मन्तव्य को समझ सकता है (ऋष्वाग्ने तमप्रयच्छन् पाहि) हे प्रेरक अग्निरूप सूर्य ! तू निरन्तर विना प्रमाद के उसको पालता है ॥ ३४ ॥

शिक्षा—जो मनुष्य अपनी सूक्ष्म बुद्धि से सूर्य के साधारण और विशेष गुणों को जानता है उसको सूर्य से लाभ पहुँचता है ॥ ३४ ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥ ४२ ॥

(पितरो दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः सरस्वतीं हवन्ते) पितरो ज्ञानिन ऋत्विजो दक्षिणा वेद्या दक्षिणायां दिशि स्थित्वा यज्ञमभिनक्षमाणाः सेवमानाः सरस्वतीं वेदवाणीं हवन्त उच्चारयन्ति (अस्मिन् बर्हिष्यासद्य मादयध्वम्) अतो हे पितरः ! यूयमस्मिन्नासने निषद्योपविश्य मादयध्वमस्मान् प्रसादयत (अस्मे अनमीवा इष आधेहि) हे ऋत्विग्भिरुच्चरिते वेदवाणि ! अस्मेऽस्मभ्यमनमीवा रोगरहितानि इषोऽन्नानि त्वमाधेह्यास्थापय ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(पितरो दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः सरस्वतीं हवन्ते) ज्ञानी ऋत्विक् वेदि के दक्षिण में बैठ कर यज्ञको सेवन करते हुए वेदवाणी का उच्चारण करते हैं (अस्मिन् बर्हिष्यानिषद्य मादयध्वम्) अतः हे ज्ञानी ऋत्विग् लोगो ! तुम इस आसन पर बैठ कर हमको हर्षित करो (अस्मे अनमीवा इष आधेहि) हे ऋत्विजों से उच्चरित वेदवाणी ! तू हमारे लिये स्वास्थ्यकारक अन्नों को धारण करा ॥ ४२ ॥

शिक्षा—ज्ञानी ऋत्विग्वेदी के दक्षिण भाग में बैठ कर यज्ञ कराते हैं और वेदवाणी के सुन्दर उच्चारण से श्रोताओं को हर्षित करते हैं जिससे स्वास्थ्यजनक अन्नक्रिया का आरम्भ होता है ॥ ४२ ॥

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४३ ॥

(सरस्वति देवि या स्वधाभिरुक्थैः पितृभिर्मदन्ती सरथं ययाथ) सरस्वति हे वेदवाणि देवि ! या त्वं स्वधाभिः सत्क्रियाभिरुक्थैः प्रशंसावचनैश्च पितृभिर्ज्ञानिभिऋत्विग्भिः सह मदन्त्यस्मानानन्दयन्ती सरथ समानरमणस्थानं प्राप्नोषि (अत्र-सहस्रार्घमिडो भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि) अत्र जन्मनि सहस्रार्घं बहुमूल्यमिडोऽन्नस्य भागं रायस्पोषं धनपुष्टित्वं मह्यं यजमानाय धेहि धारय ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(सरस्वति देवि या स्वधाभिरुक्थैः पितृभिर्मदन्ती सरथं ययाथ) हे वेदवाणी देवी ! जो तू सत्क्रियाओं और प्रशंसा वचनों से ज्ञानी ऋत्विजों के साथ हम को आनन्द देती हुई एक ही यज्ञरूप रमणस्थान को प्राप्त होती है (अत्र सहस्रार्घमिडो भाग रायस्पोषं यजमानाय धेहि) इस जन्म में तू बहुमूल्य अन्न ऐश्वर्यके भाग तथा धनको पुष्टि या पुष्कलता को मुझ यजमान के लिये धारण करा ॥ ४३ ॥

शिक्षा—यज्ञ में विद्वानों का सत्कार और प्रशंसा करना मानो वेद विद्या या वेदवाणी की कदर करना है। वेदविद्या ही सचमुच बहुमूल्य धन को देती है॥ ४३ ॥

सूचना—अगले मन्त्र ऋग्वेद के सूक्तों में आ चुके हैं अतः उनके अर्थ वहां के अनुसार समझ लें या उधर देख लें। यहां पुनः पिष्टपेषण न किया जावेगा। परिचय संख्या दी जावेगी, यह क्रम सर्वत्र ग्रन्थ में होगा।

उदीरतामवर ····॥४४॥ (देखो सूक्तसमन्वय) ऋग्वेद १०।१५।१ (पृष्ठ ४१)
आहं पितॄन्········॥४५॥ " ऋग्वेद १०।१५।३ (पृष्ठ ४२)
इदं पितृभ्यो ····॥४६॥ " ऋग्वेद १०।१५।२ (पृष्ठ ४२)
मातली कव्यै ····॥४७॥ " ऋग्वेद १०।१४।३ (पृष्ठ २६)

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतोन्वस्य पीपवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु॥ ४८ ॥

इस मन्त्र का देवता सोम है। इस में सोम का महत्व वर्णन है। इस मन्त्र को 'यम और पितर' में संग्रह की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस मन्त्र का यम से या पितृशब्द से कोई सम्बन्ध नहीं। मन्त्र भी सरल है अतः हम इसका अर्थ न करेंगे। ऋषि दयानन्द कृत अर्थ के साथ सहमत हैं जो चाहें उनके (ऋ० ६।४७।१) भाष्य में देख लें।

परेयिवांसं प्रवतो···॥४९॥ (देखो सूक्तसमन्वय) ऋग्वेद १०।१४।१ (पृष्ठ १८)
यमो नो गातुं·· ····॥५०॥ " ऋग्वेद १०।१४।२ (पृष्ठ १९)
बर्हिषदः पितर········॥५१॥ " ऋग्वेद १०।१५।४ (पृष्ठ ४४)
आच्या जानु········॥५२॥ " ऋग्वेद १०।१५।६ (पृष्ठ ४५)

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥ ५३ ॥

(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति) "त्वष्टा दुहितुर्वहनं करोतीदं विश्वं भुवनं समेतीमानि च सर्वाणि भूतान्यभिसमागच्छन्ति" (निरु० १२।११) विश्वनिर्माता त्वष्टा मध्यस्थानः प्रकाशात्मको देव उषोरूपाया दुहितुर्वहनं विवाहमप्रेषणं वा करोति पुनश्चेमानि सर्वाणि भूतान्यभिसमागच्छन्त्युपतिष्ठन्ते त्वस्य-

प्रकृत्यनुसारेण प्रवर्तन्ते (यमस्य माता पर्युह्यमाना महो विवस्वतो जाया ननाश) "यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश रात्रिरादित्योदयेऽन्तर्धीयते" (निरु० १२।११) सा यमस्य दिवसस्य माता पर्युह्यमाना व्युह्यमाना परिसार्यमाणा यदाऽऽसीत् तदानीमेव महतो विवस्वत आदित्यस्य जाया रात्रिरन्तर्धीयते ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति) विश्वनिर्माता मध्यस्थान प्रकाशात्मक देव उषा रूप दुहिता का विवाह या अग्रगमन करता है। पुनः ये सब वस्तुएं उपस्थित हो जाती हैं या अपनी २ प्रकृति के अनुसार प्रवृत्त होती हैं (यमस्य माता पर्युह्यमाना महो विवस्वतो जाया ननाश) यह दिन की माता विवाही जाती हुई या फैलाई जाती हुई जब थी तो आदित्य की जाया रात्रि लीन होगई ॥ ५३ ॥

शिक्षा—उषा के उदय होने से सब प्राणी आदियों में क्रिया-सञ्चार उत्पन्न होता है और रात्रि का तिरोभाव हो जाता है ॥ ५३ ॥

प्रेहि प्रेहि पथि····॥५४॥ (देखो सूक्तसमन्वय) ऋग्वेद १०।१४। ७ (पृष्ठ ३१)

अपेत वीत वि····॥५५॥ ,, ऋग्वेद १०।१४। ९ (पृष्ठ ३२)

उशन्तस्त्वेधीम····॥५६॥ ,, ऋग्वेद १०।१६।१५ (पृष्ठ ६१)

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि ।
द्युमान् द्युमत आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥५७॥

अत्र मन्त्रे पूर्वमन्त्रापेक्षया द्युमत्त्वं दीप्तिमत्वमधिकं शिष्टं पूर्ववन्मन्तव्यम् ।
'उशन्तस्त्वा०'मन्त्र के समान अर्थ समझो केवल द्युमत्ता दीप्तिमत्ता अधिक है।

अङ्गिरसो नः····॥५८॥ (देखो सूक्तसमन्वय) ऋग्वेद १०।१४।६ (पृष्ठ २९)

अङ्गिरेभिर्यज्ञि····॥५९॥ ,, ऋग्वेद १०।१४।५ (पृष्ठ २८)

इमं प्रस्तरमा····॥६०॥ ,, ऋग्वेद १०।१४।४ (पृष्ठ २८)

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
प्रभूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ ६१ ॥

(एतेऽङ्गिरस इत उदारुहन् यथा पथा दिवस्पृष्ठान्यारुहन् भूर्जयः प्रययुः) एतेऽङ्गिरसः प्राणा इतः शरीरचक्रादुदारुहन्—उपरि गच्छन्ति ज्ञानसञ्चारं नेतुं यथा पथोचितेन मार्गेण दिवस्पृष्ठानि मूर्द्धापटलान्यारुहन्—आगच्छन्ति ।" दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानम्"

(अथ० १० । अ० ४ । ३२) एवं च भूर्जयो भूमिजयः प्राधान्येन शरीरभूमिविजेतारः सन्तः प्रययुः शरीरे प्रगच्छन्ति ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—(एतेऽङ्गिरस इत उदारुहन् यथा पथा दिवस्पृष्ठान्यारुहन् भूर्जयः प्रययुः) ये प्राण इस शरीर चक्र से ऊपर उठते हैं, सांवेदनिक विचारों या सूचनाओं से यथामार्ग यानि उस २ के मार्ग से मस्तिष्क के पटलों को प्राप्त होते हैं और शरीर भूमि पर पूर्ण अधिकार रखते हुए अपनी चाल चलते हैं॥ ६१ ॥

शिक्षा—शरीरमें वर्तमान इन्द्रियज्ञानके वाहक प्राण हैं वे ही मस्तिष्क पटलोंमें ज्ञानको पहुँचाते हैं। एवं उनका शरीर पर राज्य है ॥ ६१ ॥

सूचना—इस अनुवाक के मन्त्रों पर समालोचनीय विषयों की समालोचना यथाप्रसङ्ग साथ २ दे चुके हैं।

अथर्ववेद का० १८ अनु० २ ।

इस अनुवाकमें प्रथम काल उसका विच्छेदविज्ञान और शरीर तथा जीव के वियोग होजाने पर ईश्वर की ओर से सान्त्वना मिलना, पुनः शरीरावयवों का छिन्न भिन्न होजाना और जीव का स्वकर्मानुसार पुनर्जन्म में नूतन शरीरादि का प्राप्त करना, मृत देहका रोगकृमियों से व्याप्त होजाना अत एव शीघ्र से शीघ्र उसको नगर से बाहर अरथी आदि द्वारा श्मशान में लेजाना, एवं काल की व्यापकता सूर्यरश्मियों की प्रधानता तथा दहनक्रिया में उनका उपयोग, मृत्युदर्शन से निज जीवन में पुण्यका सञ्चार सत्कर्मसे उत्तम प्राण आदि की प्राप्ति और ब्रह्मचर्य तथा योगसे द्युलोक से ऊपर ब्रह्मलोकमें जाना तथा द्युलोक के तीन भेद, अन्त्येष्टि की अन्तिम परिणामता एवं देहान्तको प्राप्त होते हुए पिता आदिसे राजशासन और सेना-बलके स्थापनका अन्तिम उपदेश और अधिकार प्राप्ति आदिका वर्णन है जिनको पाठक स्थान २ पर देख सकेंगे।

यमाय सोमः ··· ॥ १ ॥	(देखो सूक्तसमन्वय)	ऋग्वेद १०।१४।१३	(पृष्ठ ३५)
यमाय मधुमत्त ···॥ २ ॥	„	ऋग्वेद १०।१४।१४	(पृष्ठ ३६)
यमाय घृतवत् ···॥ ३ ॥	„	ऋग्वेद १०।१४।१५	(पृष्ठ ३६)

तात्पर्य—काल (Time) को प्राणीमात्र के अनुकूल बनाने के लिये सोमादि ओषधिरस, मधु और घृत से मिश्रित हवियों को अग्नि में डालना उपयोगी

है। विना इसके कदाचित् प्राकृतिक उत्पातसे कालप्रकोप या ऋतुओंका हेर फेर प्राणियोंका नाश कर डालता है।

इन मन्त्रों का सप्रमाण शब्दार्थ देखो ऋ० १० । १४ । १३–१५ (सूक्त-समन्वय) यहां केवल एक दो शब्दों का हेरफेर है।

मैनमग्ने विदहो····॥४॥ (देखो सूक्तसमन्वय) ऋग्वेद १०।१६।१ (पृष्ठ ५३)

यदा शृतं कृणव····॥५॥ „ ऋग्वेद १०।१६।२ (पृष्ठ ५४)

तात्पर्य—वस्तुके छिन्न भिन्न होनेका कारण काल है। एवं तात्कालिक छिन्न भिन्न करने में अग्नि साधन है। अग्निमें वस्तु देखने में छिन्न भिन्न अवश्य होती है पर वह वस्तुतः सूक्ष्म बनकर सूर्यकी किरणोंको प्राप्त हो जाती है।

विशेष—काल और अग्नि ये दोनों संसार की सारी वस्तुओं को छिन्न-भिन्न करने वाले हैं। जिसमें काल तो धीरे २ वस्तुको छिन्न भिन्न करता है परन्तु अग्नि तत्काल सूक्ष्मीकरण कर देती है।

त्रिकद्रुकेभिः पत ···॥६॥ (देखो सूक्तसमन्वय) ऋग्वेद १०।१४।१६ (पृष्ठ ३७)

तात्पर्य— काल वस्तुओं को छिन्न भिन्न करने के धर्म से त्रिचक्रों (भूत–वर्तमान–भविष्यत्) से प्रभावित होता है और ऋतुओं का रूप धारण करता है एवं पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः तीनों लोको में परिणामका कारण है ॥ (पवते=गच्छति पू गतौ)

सूर्यं चक्षुषा ग····॥७॥ (देखो सूक्तसमन्वय) ऋग्वेद १०।१६।३ (पृष्ठ ५४)

अजो भागस्तप···॥८॥ „ ऋग्वेद १०।१६।४ (पृष्ठ ५५)

तात्पर्य—सजीव वस्तु के विच्छिन्न हो जाने से जीव अपने कर्मानुसार भिन्न २ योनियों को प्राप्त होता है तथा नानाविध साधनों की सहायता आदि का सेवन करता है। यह विषय १३ मंत्र तक चलता है।

यास्ते शोचयो रंहयो जातवेदो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम्।
अजं यन्तमनु ताः समृण्वतामथेतराभिः शिवतमाभिः शृतं कृधि॥९॥

(जातवेदस्ते या रंहयः शोचयो याभिरन्तरिक्षं दिवमापृणासि) जातवेदः सर्वत्र विद्यमानो योऽग्निरस्ति ते तस्य "पदार्थविद्यासामर्थ्यात् प्रथमपुरुषपरिणामः" या रंहयो गन्त्र्यो गतिस्वभावाः शोचयो ज्वाला दीप्तयः 'शोचतिर्ज्वलतिकर्मा' (नि० १।१७) याभिर्ज्वालाभिर्दीप्तिभिर्वा विद्युद्रूपाभिरन्तरिक्षं तथा च रश्मिरूपाभिर्दि-

वमापृणास्यासमन्तात्पूरयति । 'पॄ पालनपूरणयोः' (ता अजं यन्तमनु समृण्वताम्) ता उभयविधा दीप्तयो विद्युद्रूपा रश्मिरूपाश्चाजं जीवात्मानं यन्तं पुनर्जन्मप्राप्त्यर्थं गच्छन्तमनु समृण्वतां सम्प्राप्नुवन्तु सम्प्राप्नुवन्तीति सिद्धान्तः। 'ऋणु गतौ' तनादि। (अथेतराभिः शिवतमाभिः शृतं कृधि) अथानन्तर्ये। जीवनिर्गमनानन्तरमितराभिः पार्थिवरूपाभिः शिवतमाभिः शमनस्वभावाभिर्दीप्तिभिः शृतं पक्वं हविः कृधि कुरु करोति ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जातवेदस्ते या रंहयः शोचयो याभिरन्तरिक्षं दिवमापृणासि) सर्वत्र विद्यमान अग्नि की जो गतिशील ज्वालायें या दीप्तियां हैं जिन विद्युद् रूप दीप्तियों से अन्तरिक्ष तथा रश्मिरूप दीप्तियों से द्युलोक को पूरण करती है (ता अजं यन्तमनु समृण्वताम्) वे दोनों दीप्तियां पुनर्जन्म में जाते हुए अजन्मा जीवात्मा से सङ्गत होती हैं (अथेतराभिः शिवतमाभिः शृतं कृधि) जीव के निकल जाने के अनन्तर तीसरी पार्थिव दीप्तियों द्वारा जो पृथिवी पर हैं उनसे इसको हवि बनाती है ॥६॥

शिक्षा—पार्थिव, वैद्युत, सौररूप अग्नि की तीनों दीप्तियां पुनर्जन्म और दाहक्रिया में उपयोगी बनती हैं। द्युलोक की रश्मिरूप दीप्तियां तथा अन्तरिक्ष की विद्युत् रूप दीप्तियां अजन्मा जीव के पुनर्जन्म की सहायक बनती हैं और पृथिवी लोक की ज्वालाएं प्रेत-शरीर को जला देती हैं ॥ ६ ॥

अवसृज पुन····॥१०॥	(देखो सूक्तसमन्वय)	ऋग्वेद १०।१६।५	(पृष्ठ ४६)
अति द्रव श्वा····॥११॥	,,	ऋग्वेद १०।१४।१०	(पृष्ठ ३३)
यौ ते श्वानौ····॥१२॥	,,	ऋग्वेद १०।१४।११	(पृष्ठ ३४)
उरूणसावसु तृ····॥१३॥	,,	ऋग्वेद १०।१४।१२	(पृष्ठ ३५)
सोम एकेभ्यः····॥१४॥	,,	ऋग्वेद १०।१५४।१	(पृष्ठ ७०)
ये चित्पूर्व ऋ····॥१५॥	,,	ऋग्वेद १०।१५४।४	(पृष्ठ ७२)
तपसा ये अना····॥१६॥	,,	ऋग्वेद १०.१५४।२	(पृष्ठ ७१)
ये युध्यन्ते प्रध····॥१७॥	,,	ऋग्वेद १०।१५४।३	(पृष्ठ ७२)
सहस्रणीथाःक····॥१८॥	,,	ऋग्वेद १०।१५४।५	(पृष्ठ ७३)

तात्पर्य—निम्न पांच मन्त्रों (१४-१८) में यह दर्शाया है कि ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण या किसी भी

अवस्था में कोई भी मनुष्य हो, उसके मर जाने पर धर्म ही साथ जाता है या सहायक बनता है ॥

(ऋतसाताः=ऋतं सत्यं न्यायः सातः सम्भक्तो यैस्ते ऋतसाताः=न्यायशील क्षत्रिय जन । ऋतजाताः=ऋतेन विद्यया ज्ञानेन जाताः प्रसिद्धास्ते ऋतजाताः=ब्राह्मण) ।

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी ।
यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥ १९ ॥

(अस्मै पृथिवी निवेशन्यनृक्षरा स्योना भव) अस्मै मरणासन्नाय जीवाय पृथिव्येषा पृथिवी निवेशनी पुनर्जन्मनि स्थानदात्री, अनृक्षराऽकण्टका स्योना सुखाभव भवतु भवति। पुरुषव्यत्ययः (अस्मै सप्रथाः शर्म यच्छ) पूर्वोक्ताय जीवाय सप्रथाः सर्वतः पृथु शर्म शरणं यच्छ यच्छतु यच्छति वा। "अनृक्षरा अकण्टका स्योना सुखा शर्म शरणं यच्छ यच्छतु" (निरु० ६ । ३२) ॥ १६ ॥

भावार्थ—(अस्मै पृथिवी निवेशन्यनृक्षरा स्योना भव) इस मरणासन्न जीव के लिये यह पृथिवी पुनर्जन्म में स्थान देती है और नये ढङ्ग से कटङ्करहित सुखदायक होती है (अस्मै सप्रथाः शर्म यच्छ) पूर्वोक्त जीव के लिये सर्वतः फैली हुई शरण देती है ॥ १६ ॥

शिक्षा—देहान्त के अनन्तर पुनर्जन्म में पृथिवी सब प्रकार से अनुकूल सुख का हेतु बनती है ॥ १६ ॥

असंबाधे पृथिव्या उरौ लोके निधीयस्व ।
स्वधा याश्चकृषे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुतः ॥२०॥

(पृथिव्या असंवाध उरौ लोके निधीयस्व) अत एव पुनर्जन्मन्ययं जीवः पृथिव्या भूमेरसंबाधे संबाधारहिते शुद्धे नूतने, उरौ विस्तृते लोके स्थाने निधीयस्व निधत्तां निधत्ते स्थिरीभवतीत्यर्थः (जीवन् याः स्वधाश्चकृषे) जीवन् सन् याः स्वधा यान् स्वधारणधर्मान् चकृषे कृतवान् (ता मधुश्चुतस्ते सन्तु) हे जीव ! तास्ते धर्मा मधुश्चुतस्ते तुभ्यमुत्तमफलश्च्यावयितारः सन्तु सन्ति ॥ २० ॥

भावार्थ—(पृथिव्या असंबाध उरौ लोके निधीयस्व) इसलिये पुनर्जन्म में यह जीव भूमि के विस्तृत स्थान में कहीं बाधारहित नूतन शरीर में स्थिर होता है (जीवन् याः स्वधाश्चकृषे) जीते हुये स्वजीवन सम्बन्धी जो २ कर्म किये हैं (ता मधुश्चुतस्ते सन्तु) हे जीव ! वे सब तेरे लिये उचित फल के देने वाले हैं ॥ २० ॥

शिक्षा—पुनर्जन्म में जीव नये शरीर में पैदा होता है और स्वकृतकर्म फलों को प्राप्त करता है ॥ २० ॥

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उप जुजुषाण एहि ।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उपवान्तु शग्माः ॥२१॥

(मनसा ते मन इह ह्वयामि) मरणासन्नो जीवो यदा मृत्योरतिदुःखमसहमानोऽन्तस्तिष्ठति तदान्तर्यामी जगदीशस्तं म्रियमाणमाश्वासयतीव यद् हे म्रियमाणजीव ! मनसा कारणाख्येन समष्टिरूपेण मनसा ते तव मनः शरीरधारणस्यनिमित्तम् "मनः कृतेनायात्यस्मिन् शरीरे" (प्रश्नो० ३ । ३) इहास्मिन् काले ह्वयाम्याकर्षामि तस्मान्मा शोचीस्त्वम (जुजुषाण इमान् गृहानुपेहि) अत एव जुजुषाणोऽत्यन्तं प्रीयमाणः सन्निमान गृहान् पृथिव्यन्तरिक्षद्युस्थानान्युपेह्युपगच्छ "वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्" (कठो० १ । १ । ७) (पितृभिः सङ्गच्छस्व यमेन सम) तस्मात्त्वं पितृभिर्निजरक्षकैः सूर्यरश्मिभिः सह सङ्गच्छस्व सङ्गतो भव पुनर्यमेन सूर्येण सह सङ्गतो भव (शग्माः स्योना वातास्त्वोपवान्तु) शग्माः शक्तिप्रदास्तथा स्योनाः सुखदाश्च वाता वायवस्त्वोपवान्तु त्वामुपगच्छन्तु प्राप्नुवन्तु प्राप्ता भवन्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(मनसा ते मन इह ह्वयामि) मरणासन्न जीव जब मृत्यु के अतिदुःख को सहन न करता हुआ अन्दर रह जाता है तब अन्तर्यामी जगदीश देव उस मरते हुये जीव को आश्वासन देता है कि हे जीव ! कारण नामक समष्टिरूप मन से मैं तेरा मन जो कि शरीरधारण का निमित्त है उस को इस समय आकर्षित करता हूँ खींचता हूँ जो तेरे सुख दुःख का साधन है । अतः तू शोक मत कर (जुजुषाण इमान् गृहानुपेहि) इस लिये तू अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ इन पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युस्थान के यमगृहों यानि वायुपटलों को प्राप्त हो (पितृभिः संगच्छस्व यमेन सम्) वहां तू सूर्य की किरणों के साथ संगत हो पुनः सूर्य के साथ संगत हो (शग्माः स्योना वातास्त्वोपवान्तु) शक्तिप्रद तथा सुखकारक हवाएं तुझे प्राप्त हों या पुनर्जन्मार्थ शक्ति और सुख के निमित्त बन कर तुझे प्राप्त होती हैं ॥ २१ ॥

शिक्षा—मृत्यु के अन्तिम अतिदुःख में परमात्मा जीव को आश्वासन देता है, उस के सुखदुःख अनुभव के साधन मन को खींच लेता है पुनः जीव वायु के पटलों में से गुजरता हुआ सूर्यकिरणों तथा सूर्यसे सहयोग तथा जीवन काल को प्राप्त हो पुनर्जन्म के लिये शक्ति तथा सुख के निमित्त हवायें उसको प्राप्त होती हैं ॥ २१ ॥

उत् त्वा वहन्तु मरुता उद्‌वाहा उदप्रुतः ।

अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति ॥२२॥

(उद्वाहा उद्प्रुतो मरुतस्त्वोद्वहन्तु) उद्वाहा उदकवाहा जलवाहका उद्प्रुत उदकप्रेरका मरुतो वायवस्त्वामुद्वहन्तूर्ध्वं नयन्तु तव शान्त्यर्थं पुनर्जन्मार्थञ्च मेघपर्यन्तं प्रापयन्तु-प्रापयन्ति वा (अजेन वर्षेण शीतं कृण्वन्तो बालित्युक्षन्तु) अजेन गतिशीलेन 'अज गतौ' वर्षेण जलवर्षणेन शीतं त्वां शान्तं तापरहितं शुद्धं गतदुःखस्मृतिकं कृण्वन्तः सम्पादयन्तो बालित्युक्षन्तु बालित्येवं धाराप्रपातध्वनिं कृत्वा पृथिव्यां सिञ्चन्तु ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(उद्वाहा उद्प्रुतो मरुतस्त्वोद्वहन्तु) हे जीव ! जलवाहक तथा जलप्रेरक हवायें तुझे ऊपर ले जावें, मेघ पर्यन्त पहुँचावें या पहुँचाती हैं (अजेन वर्षेण शीतं कृण्वन्तो बालित्युक्षन्तु) गतिशील जलवर्षण से तुझको ठण्डा, शान्त, दुःखस्मृतिरहित करती हुई धाराध्वनि के साथ पृथिवी पर सिञ्चन करती हैं ॥२२॥

शिक्षा—जलवाहक और जलप्रेरक हवाओं के द्वारा मेघमण्डल तक पहुँच कर जीव पुनः वर्षा द्वारा मरणदुःख के ताप से शान्त हुआ पुनर्जन्मार्थ नीचे आता है ॥ २२ ॥

उदह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
स्वान् गच्छतु ते मनो अधा पितॄनुपद्रव ॥२३॥

(आयुरुदह्वमायुषे) हे म्रियमाण जीव ! अहमीश्वरस्तवायुरुदह्वमुदकर्षयमायुषे पुनरायुषे पुनर्जन्मने । तस्मात् (जीवसे दक्षाय क्रत्वे ते मनः स्वान् गच्छतु) जीवसे जीवितुमपरजन्महेतुभूतं जीवनं धारयितुं दक्षाय प्राणाय क्रत्वेऽपानाय ते मनः स्वान् धर्मान् गच्छतु । 'जीवसे' इत्यत्र "तुमर्थे सेसनसेअसेन्" (अष्टा० ३।४।९) इति तुमर्थेऽसे प्रत्ययः । अत एव प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः । "प्राणो वै दक्षः, अपान क्रतुः" (तै० सं० २ । ५ । २ । ४) (अधा पितॄनुपद्रव) देहपातानन्तरं पितॄन् सूर्यरश्मिसहितानृतूनुपद्रवोपगच्छ ॥२३॥

भाषार्थ—(आयुरुदह्वमायुषे) हे म्रियमाण जीव ! मैं ईश्वर तेरी आयु को फिर आयु देने अर्थात् पुनर्जन्म के लिये खोंचता हूँ । अतः (जीवसे दक्षाय क्रत्वे ते मनः स्वान् गच्छतु) जीवन यानि दूसरा जन्म प्राप्त करने के लिये प्राण और अपान के लिये तेरा मन निज धर्मों को प्राप्त हो (अधा पितॄनुपद्रव) पुनः सूर्यरश्मिसहित ऋतुओं को तू प्राप्त हो ॥२३॥

शिक्षा—जीव पुनर्जन्मार्थ पूर्व आयु को छोड़ दूसरी आयु को प्राप्त होता है और उसके लिये जीवनशक्ति के प्राण अपान के व्यवहार को धारण करता है एवं

मन स्वधर्मों कार्यों के अनुसार काम करने लगता है और जीव सूर्यरश्मियों के सहित ऋतुओं को प्राप्त हो जाता है ॥२३॥

मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते ।
मा ते हास्त तन्वः किं चनेह ॥ २४ ॥

(मा ते मनो मा तेसोर्माङ्गानां मा रसस्य मा ते तन्वः किञ्च नेह हास्त) हे म्रियमाण जीव ! ते मन इह मा हास्त तव मन इह सम्मुखोपस्थिते पौनर्जन्मिके देहे त्वां मा हास्त न त्यजति तथा तेऽसोः प्राणस्य, अङ्गानां रसस्य, तन्वः शरीरस्य किञ्चनापि वस्तु त्वां न त्यजति प्रत्युत प्राप्यमाणदेहे सर्वं लप्स्यसीत्यभिप्रायः ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(मा ते मनो तेसो र्माङ्गानां मा रसस्य मा ते तन्वः किञ्चनेह हास्त) हे म्रियमाण जीव तेरा मन इस सम्मुख उपस्थित पुनर्जन्म की देह से तुझ को नहीं त्याग सकता और न ही तेरा प्राण तेरे अङ्ग तेरे शरीर की रसधारण शक्ति या तेरे शरीर की कोई भी वस्तु तुझे त्याग सकती है ॥ २४ ॥

शिक्षा—देहान्त के पश्चात् दूसरे शरीर में पूर्व शरीर के समान मन, प्राण और अङ्ग आदि सभी देह के पदार्थ मिलते हैं ॥ २४ ॥

मा त्वा वृक्षः संबाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही ।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥ २५ ॥

(वृक्षस्त्वा मा संबाधिष्ट) वृक्षो वृक्षत्वयो जीवनिवासः संसारः "पश्यतात्र ग्रन्थे सूक्तसमन्वये ऋ० १०।१३५ सूक्तम्" त्वा त्वां मा संबाधिष्ट न बाधते न पीडयत्यनुकूलो भवतीत्यर्थः (देवी पृथिवी मही मा) देवी दिव्यगुणा सत्येषा पृथिवी प्रथिता विस्तीर्णाऽपि मही भूमिस्त्वां मा संबाधिष्ट न बाधते ऽनुकूलैव भवतीति मन्तव्यम् (यमराजसु पितृषु लोकं वित्त्वैधस्व) यमः सूर्यो राजा स्वामी येषां तेषु पितृष्वृतुसहचरिततद्रश्मिषु वर्तमानः सन् लोकमपरं शरीरं वित्त्वैधस्व गर्भशरीरं प्राप्य तद्वर्धय । "यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे······यमो रश्मिभिरादित्यः (निरु० १२ । २९) ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(वृक्षस्त्वा मा संबाधिष्ट) हे जीव ! यह जीवों का निवास स्थान जो संसार है वह तुझे कुछ पीड़ा नहीं देता अपि तु तेरे अनुकूल है (देवी पृथिवी मही मा) और यह दिव्यगुण युक्त विस्तृत भूमि भी तेरे अनुकूल है (यमराजसु पितृषु लोकं वित्त्वैधस्व) सूर्य जिन का राजा स्वामी या अधिष्ठाता है उन ऋतु सहचरित किरणों में वर्तमान होकर शरीर को प्राप्त कर के उस के अन्दर बढ़ और उस को बढ़ा ॥ २५ ॥

शिक्षा—जन्म धारण करने के लिये संसार और पृथिवी सब प्रकार से अनुकूल बनते हैं अत एव जीव एक देह को छोड़कर सूर्य की किरणों के साथ ऋतु नियम से दूसरे शरीर को प्राप्त करता है पुनः उस के साथ बढ़ता है ॥ २५ ॥

यत्ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः ।
तत्ते सङ्गत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरावेशयन्तु ॥ २६ ॥

(प्राणोऽपानो य उ वा ते परेतः पराचैर्यत्तेऽङ्गमतिहितम्) हे जीव ! य उ ते प्राणोऽपानः प्रेतस्तव शरीरात्पृथग्गतस्तस्मादेव कारणाच्च पराचैरिन्द्रियैः सह ते तव यदङ्गं शरीरमतिहितमतिगतमतीतं त्वत्तः पृथग्भूतम् "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः" (कठ० २ । १ । १) इति प्रामाण्यादत्र पराचैरिन्द्रियैरिति बोध्यम् (सनीडाः पितरः सङ्गत्य घासाद् घासं ते तत्पुनरावेशयन्तु) सनीडाः समानस्थानाः परस्परं सङ्गच्छमानास्ते ह्यृतुसहचरितरश्मयः सङ्गत्य त्वया सङ्गत्य घासाद् घासं यथैकस्मात्पकाद् घासशरीराद् बीजमपरं घासशरीरमावेशयन्ति तद्वत्त्वां ते तदपरं शरीरमावेशयन्त्वावेशयन्तीत्यर्थः ॥ २६ ॥

भावार्थ—(प्राणोऽपानो य उ वा ते परेतः पराचैर्यत्तेऽङ्गमतिहितम्) हे जीव ! यह जो तेरा प्राण और अपान तेरे शरीरसे निकल गया है इसी कारण इन्द्रियोंसे युक्त तेरा शरीर तुझसे पृथक् हो गया है (सनीडाः पितरः सङ्गत्य घासाद् घासं ते पुनरावेशयन्तु) इकट्ठी होकर वे ऋतुसहचरित सूर्यकिरणें तुझसे संगत हो कर जैसे एक पक घाससे बीजकी शक्ति लेकर दूसरे घासमें पहुँचाते हैं, उसी तरह तुझको दूसरे शरीर तक पहुँचाते हैं ॥ २६ ॥

शिक्षा—प्राण-अपान शक्ति के निकल जाने से देह और आत्मा का वियोग हो जाता है । पुनः वह आत्मा बीजशक्तिके रूपमें होकर दूसरे शरीर में प्रविष्ट हो कर शरीर धारण करता है ॥ २६ ॥

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परिग्रामादितः ।
मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयाञ्चकार ॥२७॥

(जीवा इममपारुधन्) जीवा रोगजन्तव इमं शवमपारुधन्नाक्राममन्नित्यर्थः । स्तस्मात् (तं गृहेभ्यो निर्वहत) तं शवं गृहेभ्यो यूयं निर्वहत निर्गमयत (इतो ग्रामात्परि) इतोऽस्माद् ग्रामान्नगरात् परिवहत दूरं नयत (मृत्युर्यमस्य दूत आसीत् पितृभ्योऽसून् गमयाञ्चकार) हे प्रेतबन्धुजनाः ! यूयं मा शोचत न च

विचारयत एष मृत्युस्तु यमस्य स्वायत्तीकर्तुः सूर्यस्य प्रचेताः प्राणापहरणायाति-सावधानो दूत आसीदस्ति। 'सामान्यकाले लङ् यमो रश्मिभिरादित्य इत्युक्तमेव पूर्वम्' यश्च पितृभ्य सूर्यरश्मिभ्योऽस्य मृतजनस्यासून् प्राणान् गमयाञ्चकार प्रेषयमास ॥२७

भावार्थ—(जीवा इममपारुधन्) रोगजन्तुओं ने इस शव को घेर लिया है इस लिये (तं गृहेभ्यो निर्वहत) उसको घरों से तुम बाहर निकालो (इतो ग्रामात्परि) इस ग्राम या नगर से दूर ले जाओ (मृत्युर्यमस्य दूत आसीत् पितृभ्योऽसून् गमयाञ्चकार) हे प्रेतबन्धुओ ! तुम शोच विचार मत करो, यह मृत्यु तो सब को स्वाधिकार में करने वाले सूर्यका अतिसावधान दूत था जो इसके प्राणों को किरणों के अन्दर लीन कर गया ॥२७॥

शिक्षा—शरीर से आत्मा के निकलते ही रोगजन्तुओं का उस पर आक्रमण हो जाता है। अतः उसको जल्दी घरसे निकाल कर नगरसे बाहर ले जाना चाहिये। घरके लोगोंको सान्त्वना देनी चाहिये कि यह तो अनिवार्य क्रम है। सविता सूर्यदेव जिसको उत्पन्न करता है उसे मृत्युके मुखमें भी पहुँचाता है ॥ २७ ॥

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्रधमाति यज्ञात् ॥२८॥

(ये दस्यवो ज्ञातिमुखाः पितृषु प्रविष्टाः) ये दस्यव उपक्षयकारिणः पूर्वोक्ता रोगजन्तवो ज्ञातिमुखा बन्धुकारणाः पितृषु रुग्णस्य पालकजनेषु प्रविष्टाः (अहुतादश्चरन्ति) अथ च येऽहुतादोऽहुतस्यापक्वशवमांसस्यात्तारश्चरन्ति (ये परापुरो निपुरो भरन्ति) ये परापुरः शवस्य बहिश्छिद्रान् निपुरोऽन्तश्छिद्रान् भरन्ति धारयन्ति निवसन्ति (अग्निष्टानस्माद् यज्ञात्प्रधमाति) अग्निस्तान् दस्यूनस्मात् क्रियमाणाद् यज्ञात्प्रधमाति प्रधर्षयति ॥ २८ ॥

भावार्थ—(ये दस्यवो ज्ञातिमुखाः पितृषु प्रविष्टाः) जो स्वास्थ्यनाशक रोगजन्तु प्रेतके बन्धुत्व निमित्तसे उसके पालक, सेवा आदि कर्म करने वाले महानुभावों में घुस गये हैं (अहुतादश्चरन्ति) और जो अभी अन्त्येष्टि-पाक से पूर्व कच्चे शवमांस को खाने वाले घूमते हैं (ये परापरो निपुरो भरन्ति) जो शवमांस के बाहरी छिन्द्रों तथा भीतरी स्थानों में आश्रय लेते हैं (अग्निष्टानस्मात् यज्ञात् प्रधमाति) अग्नि उन रोगजन्तुओं को इस सुगन्ध के साथ होने वाले यज्ञ से भगाती या नष्ट करता है ॥ २८ ॥

शिक्षा—मृत पुरुषके पालक जनोंमें सहयोग द्वारा जो स्वास्थ्यनाशक

कृमि घुस गये हैं और जो कृमि शवके बाहर भीतर चक्कर लगाते रहते हैं, यज्ञ द्वारा अग्नि उन कृमियोंको अस्त व्यस्त कर देती है ॥ २८ ॥

संविशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः ।
तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः ॥ २९ ॥

(स्वाः पितरो नः स्योनं कृण्वन्त आयुः प्रतिरन्त इह संविशन्तु) स्वा निजाः पितरः प्राणा नोऽस्मभ्यं स्योनं सुखं कृण्वन्तः कुर्वन्त आयुः प्रतिरन्तो विस्तारयन्त इहास्मिन् शरीरे संविशन्तु सन्तिष्ठन्ताम् (तेभ्यो हविषा नक्षमाणाः पुरूचीः शरदो ज्योग् जीवन्तः शकेम) तेभ्यस्तान् । 'विभक्तिव्यत्ययः' । हविषा हविर्दानेनाहुत्या नक्षमाणाः प्राप्नुवन्तः पुरूचीर्बह्वीः शरदो बहूनि वर्षाणीत्यर्थः, ज्योक् चिरञ्जीवन्तः शकेम शक्नुयाम ॥ २९ ॥

भावार्थ—(स्वाः पितरो नः स्योनं कृण्वन्त आयुः प्रतिरन्त इह संविशन्तु) हमारे अपने प्राण हमारे लिये सुख देते हुए, आयु का विस्तार करते हुए इस शरीर में स्थिर रहें (तेभ्यो हविषा नक्षमाणाः पुरूचीः शरदो ज्योग् जीवन्तः शकेम) उन को हम हविर्दान से संगत होते हुए बहुत वर्षों तक चिरजीवन को सम्पादन कर सकें ॥ २९ ॥

शिक्षा—उत्तम सुगन्धियुक्त पदार्थों के होम से जीवनवृद्धि होती है ॥ २९ ॥

यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम् ।
तेना जनस्यासो भर्ता योऽत्रासदजीवनः ॥ ३० ॥

(यां ते धेनुं निपृणामि) 'अत आरभ्य कतिपयमन्त्रपर्यन्तं विलापो विधीयते' यां ते तव धेनुं दुग्धदात्रीं गां निपृणामि वयं निपृणामो निपूरयामो दुह्मः । 'पॄ पालनपूरणयोः, अतो निपूरणमत्र दोहनम्—दुह प्रपूरणे यथा' । दुग्ध्वा च (क्षीरे यमु त ओदनम्) यस्या धेन्वाः क्षीरे दुग्धे यमु ते तुभ्यमोदनं स्थापयामः । प्रायेण वृद्धो वा युवादीरुग्णीभूत्वा वा म्रियते तादृशाय म्रियमाणाय केवलं दुग्धमोदनसहितं वा दीयत इति चिकित्सामतमत एव विलापेन स्मर्यते (तेना जनस्य भर्ताऽसो योऽत्राजीवनोऽसत्) तेना तया धेन्वा दुग्धदात्र्या गवा त्वं हे म्रियमाण प्रेष्ठ ! जनस्य मनुष्यस्य भर्ता पोषकाऽसो भवसि योऽत्राजीवना जीविकारहितोऽसदस्ति ॥ ३० ॥

भावार्थ—(यां ते धेनुं निपृणामि) 'इस मन्त्र से लेकर कुछ मन्त्रों तक

विलाप' है। हे मेरे म्रियमाण प्रेष्ठ ! जिस तेरी दूध देने वाली गायको हम प्रतिदिन दुहते हैं और दुहकर (क्षीरे यमु त ओदनम्) जिसके दूध में चावल, सागूदाना आदि डालते हैं। प्रायः बूढ़ा वा रोगी होकर जवान आदि मरता है उसके लिये केवल दूध या चावलसहित दूध दिया जाता है यह चिकित्सा शास्त्रका नियम है सागूदाना भी चावल की जाति है' (तेना जनस्य भर्ताऽसो योऽत्राजीवनोऽसत्) उस दूध देने वाली गाय से हे मेरे प्यारे ! तू उस मनुष्यका पोषक बना है जो यहां जीवन रहित है॥ ३०॥

शिक्षा—सम्बन्धी लोगों को चाहिये कि मृत व्यक्तिकी जो दूध वाली गाय घर में है उस गायको किसी गरीब आदमीको दे दे। न केवल गाय ही अपितु यह एक उदाहरणमात्र है। जो मृतक पुरुषकी प्रिय वस्तु प्रति दिन सामने आने वाली हो उसको भी किसी गरीबको दे देना चाहिये क्योंकि सामने रहने से मृतककी याद विलापके रूपमें बारम्बार न सता सके॥ ३०॥

अश्वावतीं प्र तर या सुशेवार्क्षाकं वा प्रतरं नवीयः।
यस्त्वा जघान वध्यः सोऽस्तु मा सो अन्यद् विदत भागधेयम् ॥३१॥

(अश्वावतीं प्रतर या सुशेवा) हे मम प्रिय प्रेत ! त्वमश्वावतीमश्वयुक्तां गन्त्रीं प्रतर प्रप्लवस्वारोहेत्यर्थः। याऽश्वावती गन्त्री सुशेवा सुसुखाऽस्ति। "शेवं सुखनाम" (नि० । ३ । ६) (ऋक्षाकं वा नवीयः प्रतरम्) 'क्वचिद्दृक्षाकामिति पाठः' ऋषगतावस्माद् धातोरौणादिकः सः प्रत्ययः किच्च' "स्नुवृश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्" (उणादि० ३। ६६) ऋक्षाकमश्वैर्विना सचक्रं हस्तयानम्, नवीयःप्र तरं वा सद्योनिर्मितं शय्यावदारोहणस्थानं लोकेऽरथीनाम्ना प्रसिद्धं वाऽऽरोह (यस्त्वा जघान स वध्योऽस्तु) हे प्राणप्रिय प्रेत ! यस्त्वां हतवान् स वध्यो वधयोग्यो भवतु (सोऽन्यद् भागधेयं मा विदत) स जनोऽन्यद् भागधेयं शुभफलं मा विदत न लभताम्॥ ३१॥

भाषार्थ—(अश्वावतीं प्रतर या सुशेवा) हे मेरे प्यार प्रेत ! तू अश्वयान पर चढ़ जो कि सुन्दर सुखदायक है (ऋक्षाकं वा नवीयः प्रतरम्) बग़ैर घोड़े के पहिये की हाथगाड़ी पर या अभी बनाई शय्या जैसी आरोहण गद्दी 'अरथी=रथी' पर चढ़ (यस्त्वा जघान स वध्यो ऽस्तु) हे प्राणप्रिय प्रेत ! हा, जिस ने तुझे मारा हो वह अवश्य वध करने योग्य होगा (सोऽन्यद्भागधेयं मा विदत) वह किसी भी शुभ फल को प्राप्त न कर सकेगा॥ ३१॥

शिक्षा—देहान्त के पश्चात् प्रेत को घोड़ागाड़ी, हाथ से चलने वाली चक्र-

गाड़ी या तत्काल बनाई हाथों पर उठाई जाने वाली शय्या के समान गद्दी (जिसे आज कल अरथी कहते हैं) तीनों में से किसी एक पर शव को रखकर शव स्थान में ले जाना चाहिये । कदाचित् किसी उस के शत्रु ने शस्त्र या विष आदि से उसे मार दिया हो तो उस मारने वाले को ईश्वर की ओर से अवश्य दण्ड मिलेगा । तथा यहां पर भी न्यायालय में दण्ड मिलना चाहिये ॥ ३१ ॥

यमः परोवरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किंचन ।
यमे अध्वरो अधिमे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥ ३२ ॥

(यमः परो विवस्वानवरः) यमो विश्वकालः परोऽस्ति यतो हि सर्वमपि भुवनमस्य वशे वर्ततेऽयं च विवस्वान्सूर्यो यस्माद्यमस्याभिव्यक्तिर्जाता सोऽवरोऽस्ति पृथिव्यादिलोकस्यैकस्मिन् पार्श्वे विद्यते (ततः परं किञ्चन नातिपश्यामि) ततो यमात्परमग्रे नातिपश्याम्यतिक्रम्य न किञ्चन पश्यामि (यमे मेऽध्वरोऽधिनिविष्टः) यमे विश्वकाले ममाध्वरः शरीरयज्ञोऽधिनिविष्टो वश्यं प्राप्यावस्थितः (विवस्वान् भुवोऽन्वाततान) विवस्वान् सूर्यस्तु भुवो भूलोकानन्वाततान स्वरश्मिभिराततो विद्यते ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(यमः परो विवस्वानवरः) विश्वकाल बहुत दूर तक फैला हुआ है और यह सूर्य केवल दृश्यमात्र ही है क्योंकि प्रत्येक पृथिवी आदि लोक के सम्मुख ही दिखाई देता है, सर्वत्र नहीं (ततः परं किञ्चन नातिपश्यामि) उस विश्वकाल से परे कुछ भी उल्लाङ्घ कर नहीं देखता हूँ (यमे मेऽध्वरोऽधिनिविष्टः) उसी विश्वकाल के अन्दर मेरा शरीर रूप यज्ञ वश्य हो कर अवस्थित है (विवस्वान् भुवोऽन्वाततान) और सूर्य तो केवल भूमिलोकों के सम्मुख स्वकिरणों से डटा हुआ है ॥३२॥

शिक्षा—विश्वकाल सारे भुवनमें व्याप्त है और सूर्य एक देश में ही । यद्यपि सूर्य से वह काल प्रकट होता है किन्तु प्रकटताके साथ ही व्याप जाता है जिस प्रकार जलाशयमें ढेला फेंकनेसे प्रकट चक्र-क्रिया सारे जलाशयमें व्याप्त हो जाती है और ढेला केवल एक देश में ही रहता है । तथा काल चक्रके अन्दर प्रत्येक प्राणी आदि की स्थिति है ॥ ३२ ॥

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्द यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥३३॥

(मर्त्येभ्योऽमृतामपागूहन्) मर्त्येभ्यो मनुष्येभ्यो मनुष्याणां प्रयोजनायेत्यर्थः । अमृतां सूर्येण सह सदा वर्तमानां सरण्यूमपागूहन् सूर्यरश्मयस्तिरोहिताम-

कुर्वन् (विवस्वते सवर्णां कृत्वाऽदधुः) विवस्वत आदित्याय सवर्णां समानवर्णां प्रभां कृत्वा ते हि रश्मयः स्वाश्रयेऽदधुर्धारितवन्तः (सरण्यूरश्विनावभरद् यत्तदासीद् द्वा मिथुनाजहात्) सरण्यूरुषाऽश्विनावहोरात्रौ गर्भरूपेणाधारयद् यत्तद् गर्भरूपमासीत् तौ द्वौ मिथुनावजहात् त्यक्तवती ॥ ३३ ॥

भावार्थ—(मर्त्येभ्योऽमृतामपागूहन्) प्राणियोंके लिये सूर्यके साथ सदा वर्तमान उषाको किरणों ने हटा दिया (विवस्वते सवर्णां कृत्वाऽदधुः) आदित्य के लिये समान रूपकी प्रभा बनाकर उन किरणा ने स्वाश्रय में धारण करी (सरण्यूरश्विनावभरद् यत्तदासीत् द्वा मिथुनाजहात्) उषा ने अश्वियों दिन रात को गर्भरूप से धारण किया, वह जो गर्भरूप था वह दो मिथुन के रूप में था जिसे उषा ने त्यागा था ॥ ३३ ॥

शिक्षा—सूर्यकिरणें प्रभात की उषा को हटाती हैं पुनः एक प्रभा का प्राणिमात्रके लिये प्रकाश करती हैं और उसीसे दिन रात को प्रकटता होती है ॥३३॥

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥३४॥

(ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धितास्तान् सर्वान् पितॄन् हविषेऽत्तवेऽग्न आवह) 'पूर्वमन्त्रे सूर्यरश्मीनां प्राधान्यं प्रदर्शितमत्र मन्त्रे तेषामुपयोगा अथ च भेदा वर्ण्यन्ते' यत्-ये पितरः सूर्यरश्मयो निखाताः पृथिव्यां ध्रुवीकृताः स्थिरीकृता यै रश्मिभिरियं पृथिवी नियन्त्रिताऽऽकाशे तिष्ठति, ये च रश्मयः पृथिव्यामन्तर्हिताः सन्तः सुवर्णादिधातूनोषधिबीजं च सम्पादयन्ति । ये परोप्ताः । ये सूर्यरश्मयोऽप्सु प्रसरिता यै रश्मिभिरेता आपः प्रसरणशीलाः सन्ति । 'निर्वपनं नीचैः स्थापनं यथा भवति तथा परावपनं प्रसरणमुच्यते "निर्वपेद् भुवि" (मनु० ३ । ६२) भोजनांशं नीचैः स्थापयेदित्यर्थः ।' ये दग्धाः । ये सूर्यरश्मयोऽग्नौ दीप्ताः । यै रश्मिभिरयमग्निर्दीपनधर्मः । 'दह धातुरत्र दीप्तौ । उक्तं च मुख्यशब्दार्थसमन्वये' "दहिक् दीप्तौ" (कविकल्पद्रुमः) ये चोद्धिताः । ये च सूर्यरश्मयो वायावुदीरिता यैरश्मिभिर्वायुरुच्चलनस्वभावः । तथाभूतान् तान् सर्वानपि पितॄन् सूर्यरश्मीनग्ने हविषेऽत्तवे मृतदेहरूपं हविरत्तुं ग्रहीतुमावह समन्तात्प्रापय प्रापयति वा । अग्नौ दहनक्रिययाऽस्मिन् मृतदेहे ये पृथिवीजलाग्निवायूनामंशास्तान् तत्र तत्र नियुक्ताः सूर्यरश्मयो नीत्वा यथास्थानं करिष्यन्ति । इति वैज्ञानिको विलापः ॥३४॥

भावार्थ—(ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धितास्तान् सर्वान् पितॄन्

हविषेऽत्तवेऽग्न आवह) पूर्व मन्त्र मेंसूर्य किरणों की प्रधानता दिखाई गई है इस मन्त्र में उन के उपयोगों और भेदों का वर्णन है कि निखात=जो सूर्य की किरणें पृथिवी में स्थिर की गई हैं जिन किरणों के द्वारा यह पृथिवी नियन्त्रित हुई आकाश में वर्तमान है तथा पृथिवी में घुसकर सुवर्णादि धातुओं और ओषधियों के बीजों का सम्पादन करती हैं। परोप्त=जो सूर्य किरणें जल में फैली हुई हैं जिनके द्वारा जल फैलने का स्वभाव रखता है। दग्ध=जो सूर्याकिरणें अग्नि में दीप्त हैं जिनके द्वारा अग्नि दीप्ति-धर्म रखती है। उद्धित=और जो सूर्य किरणें वायु में गमन करती हैं जिन के द्वारा वायु गति करती है। ऐसी उन सब किरणों को अग्नि मृतदेहरूप हवि के ग्रहण करने के लिये आकर्षण करती हैं। अग्निदहनक्रिया से मृत देह में जो पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के अंश हैं उन को वहां २ नियुक्त हुई सूर्यकिरणें ले जाकर यथास्थान कर देती हैं। यह एक वैज्ञानिक विलाप है॥ ३४॥

शिक्षा—अन्त्येष्टि-क्रियासे मृत देहमें जो पृथिवी, जल, अग्नि और वायुके अंश होते हैं उन सबको सूर्य किरणें यथास्थान पहुँचा देती हैं॥ ३४॥

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम्॥३५॥

(ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा दिवो मध्ये स्वधया मादयन्ते) येऽग्निदग्धा अग्निरिव दीप्ता विद्युत्वन्तः सूर्यरश्मयो ये अनग्निदग्धास्तद्विपरीता मेघवन्तः सूर्यरश्मयो दिवो मध्ये द्युलोकस्थे मेघवत आकाशस्य मध्ये। "द्यौर्वा अपां सदनं दिवि ह्यापः सन्नाः" (श० ७। ५। २। २६) तथा च मन्त्रः "दिवो वृष्टिमीरयत" स्वधयोदकेनोदकवृष्ट्या "स्वधेत्युदकनाम" (नि० १। १२) मादयन्ते प्राणिनो मादयन्ते तर्पयन्ति जीवयन्तीत्यर्थः। मद तृप्तियोगे चुरादिः (जातवेदस्त्वं तान् वेत्थ यदि ते स्वधया स्वधितिं यज्ञं जुषन्ताम्) जातवदस्त्वमग्निरेषः। 'पुरुषव्यत्ययः'। तान् सूर्यरश्मीन् वेत्थ लभते यदि यस्मात्ते स्वधयोदकेन वृष्टिजलसम्पादनहेतुना स्वधितिं यज्ञं दुःखनिमित्तं वज्ररूपं प्रेतदहनयज्ञमन्त्येष्टिं जुषन्तां सेवन्ते। "स्वधितिर्वज्रनाम" (नि० २। २०)॥ ३५॥

भाषार्थ—(ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा दिवो मध्ये स्वधया मादयन्ते) जो अग्नि के तुल्य दीप्त बिजलीके अन्दर सूर्य किरणें हैं और जो उनसे विपरीत मेघ के अन्दर रहने वाली रश्मियां हैं एवं ये दोनों प्रकारकी किरणें मेघ वाले आकाश के मध्य उदक-वृष्टिसे प्राणियोंको जीवनदेती हैं (जातवेदस्त्वं तान् वेत्थ यदि ते स्वधया स्वधितिं यज्ञं जुषन्ताम्) यह अग्नि उन सूर्य रश्मियोंको प्राप्त करती है इस

लिये वे सूर्य किरणें जलवृष्टि सम्पादनके हेतु इस वज्ररूप यज्ञ यानि दु:ख से की जाती हुई अन्त्येष्टि-यज्ञ का सेवन करते हैं ॥ ३५ ॥

शिक्षा—अग्नि द्वारा जितना भी होम किया जाता है वह सब मेघमण्डल में सूर्य की उन किरणों के वश हो जाता है जो मेघ और बिजली में वर्तमान होती है अतः अन्त्येष्टि में सुगन्धित द्रव्य का होम करना आवश्यक है ॥ ३५ ॥

शं तप मातितपो अग्ने मा तन्वं तपः ।
वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यद्धरः ॥ ३६ ॥

(अग्ने शं तप मातितपो मा तन्वं तपः) हे अग्ने ! एतं प्रेतदेहं शं तप शान्तं तप घनीभूय दह वर्णव्यत्ययेन वा सन्तप सम्यग्दह मातितपोऽतिक्रम्योल्लंघ्य वायुवेगादिना प्रेतदेहात्पृथग्भूय न दह तन्वं मा तपो न कस्यापि तन्वं शरीरं दह- 'तथा च सायणस्तन्वः शरीराणि अस्मत्सम्बन्धीनि मा तप मा धाक्षीः' (वनेषु ते शुष्मोऽस्तु) वनेषु पूर्वोक्तेषु सूर्यरश्मिषु ते तव जाज्वल्यमानस्य शुष्मः शोषणबलमस्तु गच्छत्वित्यर्थः । "वनं रश्मिनाम" (नि० १ । ५) यद्वा वनेषु काष्ठेषु तद्धितवद्व्यापारो यथा "अथापि चर्म च श्लेष्मा च । गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्व" (निरु० २ । ५) शुष्मो बलं दहनबलमस्तु भवतु । "शुष्मेति बलनाम" (निरु० २ । ६) (यद्धरः पृथिव्यामस्तु) हे अग्ने ! यच्च ते हरो ज्वलनं ज्वलनचिह्नं वा तत्पृथिव्यामस्तु तिष्ठत्वित्यर्थः । यतो हि पार्थिवस्त्वम् । "हरो ज्वलतो नामधेयम्" (नि० १ । १७) ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(अग्ने शं तप मातितपो मा तन्वं तपः) हे अग्नि ! इस प्रेत देह को तू घनी होकर भली भांति जला । वायु के वेग आदि से विचलित होकर मत जला और न ही किसी के शरीर को जला (वनेषु ते शुष्मो अस्तु) तेरा वस्तु-सुखाने का सारा बल पूर्वमन्त्र में कही हुई सूर्यकिरणों को प्राप्त हो या तेरा बल काष्ठों के अन्दर रहे (यद्धरः पृथिव्यामस्तु) और जो तेरा ज्वलन या ज्वलनचिह्न पृथिवी पर रहे ॥ ३६ ॥

शिक्षा—अन्त्येष्टि की अग्नि इस प्रकार जलनी चाहिये कि वह एक दम न जल जावे किन्तु शव को धीरे २ भली प्रकार जला सके और वायु के वेग से अग्नि तिरछी लपट से न उड़ जावे । इसके लिये उचित चिता बनानी चाहिये । अग्नि का बल लकड़ियों में खूब रहे और काष्ठ इतना अधिक हो कि भूमि पर जले का चिह्न भी खूब हो जावे ॥ ३६ ॥

ददाम्यस्मा अवसानमेतद्य एष आगन् मम चेदभूदिह ।
यमश्चिकित्वान् प्रत्येदाह ममैष राय उपतिष्ठतामिह ॥ ३७ ॥

(य एष इहागन्मम चेदभूदस्मा एतदवसानं ददामि) य एष मृतजीव इहान्तरिक्ष आगन्नागतः सन् मम चेद्यतोऽभूदस्मै जीवाय पुनर्जन्मतः पूर्वमेतत्कतिपयदिनपर्यन्तमवसानं ददामि (यमश्चिकित्वानेतत्प्रत्याहैष इह मम राय उपतिष्ठताम्) यमः कालो जानन् सन्नेतद्वचनं प्रत्याह प्रतिवदतीव स्पष्टं घोषयतीव यदेष जीव इहात्र मम राय उत्पत्तिसम्बन्धिबीजराशिधन उपतिष्ठतामुपस्थितो भवतु ॥ ३७ ॥

भावार्थ—(य एष इहागन् मम चेदभूदस्मा एतदवसानं ददामि) जो यह मृत पुरुषका जीवात्मा इस अन्तरिक्षमें आया और जिससे यह मेरा बन गया है अतः इसके लिये पुनर्जन्मसे पूर्व कुछ दिनोंका विश्राम देता हूँ (यमश्चिकित्वानेत्प्रत्याहैष इह मम राय उपतिष्ठताम्) काल सचमुच सावधान सा हुआ ऐसी घोषणा करता है कि यह आत्मा यहां मेरे उत्पत्तिसम्बन्धी बीजराशिरूप धनोंमें ठहर जावे ॥ ३७ ॥

शिक्षा—आत्मा शरीरसे निकल कर फिर दूसरे जन्ममें जाने से पहले कुछ कालतक अन्तरिक्षमें विश्राम करता है और उत्पत्ति के नियमरूप बीजधर्म को प्राप्त करता है ॥ ३७ ॥

इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥३८॥

(इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै) इमां मात्रां मीयते कालेन या तां स्वजीवनमात्रां जीवनावयवमिति यावत् । यावानप्यवशिष्यते तावन्तमेव स्वजीवनावयवं मिमीमह एवं कालेन निर्गमयेम यथाऽपरं किन्चन बाधनं पापं वा जीवनस्य शेषावयवे न मासातै समाविशेत् । अत आरभ्य निर्बाधनं निष्पापं वा स्वजीवनावयवं निर्वर्तयामः । तथ (शते शरत्सु पुरा नो) अथ च शते शरत्सु शतवर्षेभ्यः पुरा पूर्वं नो नैव मरणं स्यादित्यर्थः ॥ ३८ ॥

भावार्थ—(इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै) इस जीवन की मात्रा को, जोकि सौ वर्ष होनेमें शेष है, हम इस समयसे ऐसी गुजारें जिससे कोई दूसरा विघ्न या पाप न आसके (शते शरत्सु नो पुरा) और सौ वर्षोंके मध्यमें हमारी मृत्यु न हो सके ॥ ३८ ॥

शिक्षा—मनुष्योंको इस प्रकार अपने जीवनमें व्यवहार करना चाहिये कि

जिससे सौ वर्ष की आयु के बीच में मृत्यु न होसके तथा पूर्ण सुखपूर्वक रहसकें ॥ ३८ ॥

प्रेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥३९॥

अपेमां मात्रां	”	”	॥४०॥
वीमां मात्रां	”	”	॥४१॥
निरिमां मात्रां	”	”	॥४२॥
उदिमां मात्रां	”	”	॥४३॥
समिमां मात्रां	”	”	॥४४॥

(प्र–अप–वि–निर्–उद्–सम्) एषामुपसर्गाणां मिमीमह इत्यनेन क्रियापदेन सह सम्बन्धः । तस्मात् । प्रमिमीमहे तमेव जीवनावयवं प्रमाणीकृत्य व्यतीतं कुर्म आदर्शं संस्थाप्य वर्तामहे । अपमिमीमहे संसारप्रपञ्चेभ्यः पृथक् कृत्वा व्यतीतं कुर्मः । विमिमीमहे विशेषेण वर्तामहे । निर्मिमीमहे निश्चित्याश्रयामः । उन्मिममीमह उत्कर्षेण नयामः । सम्मिमीमहे सम्यगाचरामः ॥ ३९–४४ ॥

भाषार्थ—(प्र–अप–वि–निर्–उद्–सम् 'मिमीमहे') हम अपनी सौ वर्ष की आयु को, प्रमाणित या आदर्शरूप बनाकर व्यतीत करें । संसार के प्रपञ्चों से पृथक् रख कर बितायें । विशेष बनाकर बरतें । उद्देश्य का निश्चय करके जीवें । उच्च लाभ उठाते हुये ले जावें । सम्यक् आचरण से वर्तें जिससे सौ वर्ष के अन्दर कोई विघ्न या मृत्यु न सता सके यह भाव प्रत्येक मन्त्र में पहले के समान है ॥ ३९–४४ ॥

शिक्षा—मनुष्य को अपनी सौ वर्ष की जीवनयात्रा अपने और दूसरों के लिये अत्युत्तम और सुखमय बनानी चाहिये ॥ ३९–४४ ॥

अमासि मात्रां स्वरगामायुष्मान् भूयासम् ।
यथापरं न मासातै शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४५ ॥

(मात्राममासि स्वरगामायुष्मान् भूयासम्) निजजीवनयात्राममासि नियमितवान्, अत एव स्वः सुखमगां प्राप्तवान्, एवं संश्चायुष्मान् भूयासम् 'अग्रे पूर्ववत्' ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(मात्राममासि स्वरगामायुष्मान् भूयासम्) स्वजीवन की शेष आयु को मैंने नियमित कर लिया है इसी लिये मैं सुख को प्राप्त हुआ हूँ और आयु को धारण कर सका हूँ । 'आगे पहले के समान जानो' ॥ ४५ ॥

शिक्षा—जब मनुष्य अपनी जीवन यात्राकी उपयोगिता विविध प्रकारों से बना लेता है तभी उसको सुखी और जीवित समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय ।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ ॥ ४६ ॥

(प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुरपरिपरेण पथा दृशये सूर्याय यमराज्ञः पितॄन् गच्छ) प्राणोऽपानो व्यान आयुश्चक्षुरपरिपरेण निष्पापेन सरलेन पथा मार्गेण दृशये दर्शकाय सूर्याय । 'दृशेः क्विप्रत्ययः' । यमराज्ञो यमः सूर्यो राजा येषां तान् सूर्यरश्मीन् गच्छ गच्छतु ॥ ४६ ॥

भावार्थ—(प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुरपरिपरेण पथा दृशये सूर्याय यमराज्ञः पितॄन् गच्छ) प्राण, अपान, व्यान, आयु और आंख ये सब पाप रहित सरल मार्गसे दर्शक सूर्यके लिये, तथा सूर्य जिन का स्वामी है उन सूर्य किरणों को प्राप्त होवें ॥ ४६ ॥

शिक्षा—ठीक २ नियम से रहते हुये पुनर्जन्म में प्राण आदि उत्तमावस्था में रश्मियों द्वारा प्राप्त होते हैं ॥ ४६ ॥

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः ।
ते द्यामुदित्याविन्दत लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः ॥४७॥

(ये अग्रवोऽनपत्यवन्तो द्वेषांसि हित्वा शशमानाः परेयुः) येऽग्रवोगन्तारोऽनपत्यवन्तोऽगृहस्था ब्रह्मचारिणो द्वेषांसि वैराणि हित्वा त्यक्त्वा शशमाना अन्तर्यामिणमीश्वरं शंसमानाः परेयुर्म्रियन्ते (ते दीध्याना द्यामुदित्य नाकस्य पृष्ठे अधि लोकमविन्दत) ते दीध्याना ध्यानवन्तो योगिनो द्यामुदित्य द्योतमानमाकाशमुल्लङ्घ्य नाकस्य पृष्ठेऽधि सूर्यस्य पृष्ठोपरि लोकं ब्रह्मलोकमविन्दत प्राप्नुवन्ति । तथा चोक्तम्—"सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा" (मुण्डक०२।११) "नाक आदित्यो भवति नेता रसानां नेता भासां ज्योतिषाम्" (निरु० २ । १४) ॥ ४७ ॥

भावार्थ—(ये अग्रवोऽनपत्यवन्तो द्वेषांसि हित्वा शशमानाः परेयुः) यह जो प्रगतिशील ब्रह्मचारी जन वैरभाव को त्यागकर केवल परब्रह्म की स्तुति करते हुए मर जाते हैं (ते दीध्याना द्यामुदित्य नाकस्य पृष्ठे अधिलोकमविन्दत) वे योगी महानुभाव प्रकाशमय आकाश को उल्लांघ कर सूर्यके ऊपर ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं ॥ ४७ ॥

शिक्षा—ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवनयात्रा करते हुए प्राण त्यागने से ब्रह्मप्राप्ति होती है ॥ ४७ ॥

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा ।
तृतीया ह प्रद्युरिति यस्यां पितर आसते ॥४८॥

(उदन्वती द्यौरवमा) या-उदन्वत्युदकवती मेघवती द्यौर्द्युतिरस्ति सा अवमा । "द्योतमाना द्यौः" (निरु० २ । २०) "दिवो वृष्टिमीरयत" इति प्रामाण्यात् (पीलुमतीति मध्यमा) पीलुमती परमाणुमती द्यौर्द्युतिर्मध्यमा तदग्रे । 'पीलुः परमाणुरिति मेदनी ।' (तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर उपासते) तृतीया ह प्रद्यौः प्रकृष्टा द्युतिरस्ति यस्यां पितरो रश्मय उपासते, उपतिष्ठन्ते 'पितरो रश्मय इत्युक्तम्' एवं सूर्यदीप्तयस्त्रिधा सन्ति ॥ ४८ ॥

भावार्थ—(उदन्वती द्यौरवमा) मेघवाली द्युति ज्योति सबसे पहली है (पीलुमतीति मध्यमा) परमाणुवाली ज्योति उससे आगे है (तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर उपासते) तीसरी अत्युच्च ज्योति है जिसमें किरणें रहती हैं । एवं सूर्य की ज्योति तीन प्रकार से विभक्त होती है ॥ ४८ ॥

शिक्षा—पृथिवी से लेकर मेघमण्डल तक सूर्य की एक दीप्ति है । मेघमण्डल से ऊपर परमाणुमण्डल में दूसरी है और इससे भी आगे अत्यन्त प्रकाशमान स्वयं दीप्ति तीसरी है । वह सूर्यरूप दीप्ति किरणों का आश्रय है ॥ ४८ ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् ।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥४९॥

(ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः) ये नोऽस्माकं पितुः सूर्यस्य "एष वै पिता य एष सूर्यस्तपति" (श० १४ । १ । ४ । १५) पितरो मासा ये पितामहा ऋतव सन्ति । तथा चादित्यपुराणे "मासाश्च पितरो ज्ञेया ऋतवश्च पितामहाः" (य उर्वन्तरिक्षमाविविशुः) ये पूर्वोक्ता मासा ऋतवश्चोर्वन्तरिक्षे विस्तृतमन्तरिक्षमाविशन्ति (ये पृथिवीमुत द्यामाक्षियन्ति) ये पृथिवीं द्यां चाधितिष्ठन्ति (तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम) तेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यो मासेभ्य ऋतुभ्यश्च नमसा यज्ञेन विधेमाचरेम । "यज्ञो वै नमः" (श० ७ । ४ । १ । ३) " ॥ ४९ ॥

भावार्थ—(ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः) जो हमारे पितृतुल्य सूर्य के मास और ऋतुएं हैं (य उर्वन्तरिक्षमाविविशुः) जो पूर्वोक्त मास और ऋतुएं विस्तृत आकाश में अपने प्रभाव वर्तमान हैं (ये पृथिवीमुत द्यामाक्षियन्ति) जो

पृथिवी और द्यौ में भी वर्तमान होते हैं (तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम) उन मासों और ऋतुओं के लिये यज्ञ से आचरण करते हैं ॥ ४६ ॥

शिक्षा—मासों तथा ऋतुओं का प्रभाव पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ पर पड़ता है उनको यज्ञ द्वारा अनुकूल बनाया जा सकता है ॥ ४६ ॥

इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम् ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥५०॥

(भूम इदमिद् वा उ नापरम्) भूमे हे चयनभूमे चिते ! इदमिद् वा उ इदमेव हि मरणं यच्च सर्वेषामनिवार्यं यतोऽपरं न परिणामरूपं किञ्चित् (दिवि सूर्यं पश्यसि) त्वमेतत्प्रेतशरीरं दिवीव सूर्यं पश्यसि । अत्र लुप्तोपमालङ्कारः । अदित्यामिव स्थितं सूर्यं पश्येः । "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्" (यजुः २५ । २३) इति प्रसिद्धश्रुतेः । पश्यतीत्यत्र लिङर्थे लेट् (सिचा माता पुत्रं यथा) सिचा दुग्धसेचनपार्श्वेन माता पुत्रमिवाचरन्ती (एनमभ्यूर्णुहि) एनं शवमभ्यूर्णुह्यभ्याच्छादय । चितामध्ये पूर्णतया शवस्थापनसिद्धान्तः ॥ ५० ॥

भाषार्थ—(भूमे इममिद् वा उ नापरम) हे चयनभूमे चिता ! यह ही मरण सब जीवोंके लिये अनिवार्य है इससे आगे और कोई परिणामका रूप नहीं है यही जीवनका अन्तिम परिणाम है (दिवि सूर्यं पश्यसि) तू इस प्रेत शरीर को उषा में स्थित सूर्य के तुल्य अपने अन्दर देख (सिचा माता पुत्रं यथा) दूधसीञ्चने के पार्श्व से माता पुत्रको जिस प्रकार आश्रय देती है वैसे तू भी (एनमभ्यूर्णुहि) इसको आच्छादन कर । चिता में पूर्णतया शव को स्थापन करनेका सिद्धान्त है ॥ ५० ॥

शिक्षा—मौत से आगे और कोई परिणाम प्राणिदेहका नहीं है, यही अन्तिम परिणाम है । मृत देहको चितामें इस प्रकार छिपा देना चाहिये जिस प्रकार उषा में सूर्य या करवटमें माता पुत्र को छिपाये रखती है ॥ ५० ॥

इदमिद्द वा उ नापरं जरस्यन्यदितोपरम् ।
जाया पतिमिव वाससाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥५१॥

(भूम इदमिद् वा उ नापरं जरस्यन्यदितोऽपरम्) हे चयनभूमे चिते ! अस्य प्रेतस्येदमेव हि मरणं जरसि जरायां हीनावस्थायां वृद्धावस्थायां वाऽस्ति, इतोऽतोऽपरमन्यन्न भवति (जाया पतिमिव वाससाऽभ्येनं भूम ऊर्णुहि) जाया पतिमिव वाससा त्वमाच्छादय ॥ ५१ ॥

भावार्थ—(भूम इदमिद् वा उ नापरं जरस्यन्यदितोऽपरम्) हे चयनभूमि चिता ! यही मरण सब जीवोंके लिये अनिवार्य हैं इससे आगे और कोई परिणाम का रूप नहीं है। जो कि वृद्धावस्था के अन्तमें भी यही है इससे भिन्न नहीं है। (जाया पतिमिव वाससाभ्येनं भूम ऊर्णुहि) पत्नी जिस प्रकार पति को वस्त्र से छिपा लेती है एवं तू इस शवको आच्छादित कर ॥ ५१ ॥

शिक्षा—प्राणीकी वृद्धावस्था या जीर्णावस्था दूर होने पर उक्त मरणरूप परिणाम होता है। चितामें शवको छिपानेका प्रकार वस्त्र ढांपनेके तुल्य होना चाहिये ॥ ५१ ॥

विशेष—ऊपर दिये ५० और ५१ इन दोनों मन्त्रोंमें एक अलङ्कारका रूपक है। उषा जिस प्रकार सूर्यकी प्रकटताके कारण उसकी माता तथा उषासे दिन का आविर्भाव होने से सूर्य की पत्नी है। एवं उषा के तुल्य प्रकाशमान चिता मानो जीव के पुनर्जन्मके हेतु माता और वर्तमान जन्मकी समाप्तिमें आश्रय देनेसे पत्नी कही गयी है ॥ ५१ ॥

अभिस्त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया ।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि ॥५२॥

(भद्रया पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण त्वाऽभ्यूर्णोमि) भद्रया भद्रायाः सुखप्रदायाः। 'विभक्ति व्यत्ययः' पृथिव्या मातुर्मातृतुल्याया वस्त्रेण काष्ठरूपेण वाससा त्वामूर्णोम्याच्छादयामि (जीवेषु भद्रं तन्मयि पितृषु स्वधा सा त्वयि) जीवेषु जीवलोकेषु पृथिव्यामित्यर्थः। यद्भद्रं भोगः स मय्यस्तु, पितृषु सूर्यरश्मिषु स्वधा जलरूपः सूक्ष्मो भागः स त्वय्यस्तु ॥ ५२ ॥

भावार्थ—(भद्रया पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण त्वाऽभ्यूर्णोमि) सुखप्रदा पृथिवी माता के काष्ठरूप वस्त्र से मैं तुझको छिपाता हूँ (जीवेषु भद्रं तन्मयि पितृषु स्वधा सा त्वयि) जीवलोक पृथिवी में जो भद्र है वह मुझमें हो और सूर्य किरणों में जो जलरूप सूक्ष्म भाग है वह तेरे निमित्त हो ॥ ५२ ॥

शिक्षा—चिता में प्रेतदहन हो जानेसे इसका और जीवित सम्बन्धियों का वियोग हो जाता है। जीवित सम्बन्धी पार्थिवभोग भोगने वाला होता है और मृतजन सूर्य किरणोंमें सूक्ष्म जलके भोग भोगता है ॥ ५२ ॥

अग्नीषोमा पथिकृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं दधथुर्विलोकम् ।
उपप्रेष्यन्तं पूषणं यो वहात्यञ्जोयानैः पथिभिस्तत्र गच्छतम् ॥५३॥

(अग्नीषोमा पथिकृता देवेभ्यः स्योनं रत्नं लोकं विदधथुः) अग्नीषोमौ यमवरुणौ पथिकृतौ जन्ममरणकर्तारौ सन्तौ देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्राह्मणेभ्यः स्योनं सुखं रत्नं रमणीयं लोकमन्तरिक्षलोकं विदधथुर्विधत्ताम् (यः पूषणमुपप्रेष्यन्तं तत्राञ्जोयानैः पथिभिर्गच्छतम्) यश्च लोकोऽन्तरिक्षलोकः पूषणमुप सूर्यमुप सूर्यस्यसमीपं प्रेष्यन्तं मृतजीवं प्रेरयन्तं प्रवृत्तस्तत्राञ्जोयानैः सुगमयानैर्गच्छतं गमयताम् ॥ ५३ ॥

भावार्थ—(अग्नीषोमा पथिकृता देवेभ्य स्योनं रत्नं लोकं विदधथुः) यम और वरुण प्राणीके अन्त और जन्मके करने वाले बनकर विद्वान् ब्राह्मणोंके लिये सुखकारी और रमणीय अन्तरिक्ष लोकका सम्पादन करते हैं (यः पूषणमुपप्रेष्यन्तं तत्राञ्जोयानैः पथिभिर्गच्छतम्) यह जो अन्तरिक्ष लोक सूर्यके समीप मृत जीवको भेजते हुए मध्य में पड़ता है, वहां सुगम गतियों से ले जावें ॥ ५३ ॥

शिक्षा—प्रत्येक प्राणी को यम और वरुण अथवा आग्नेय और सौम्य तत्व मरण-जन्मके हेतु होकर संसार में घुमाते हैं परन्तु धार्मिकों के लिये वे सुख की यात्राका सम्पादन करते हैं ॥ ५३ ॥

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥५४॥

(अनष्टपशुर्भुवनस्य गोपा पूषा त्वा विद्वानितः प्रच्यावयतु) अनष्टपशुरनष्टा पशवो दर्शनहेतवो रश्मयो यस्य स भुवनस्य ब्रह्माण्डस्य गोपा रक्षकः पूषा सूर्यः । "अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति" (निरु० १२ । १७) त्वां विद्वान् लब्धवान् सन् । 'विद्लृ लाभे' । इतः स्थानात् प्रच्यावयतु पुनर्जन्मप्राप्तये प्रेरयति (सोऽग्निस्त्वैतेभ्यो देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः पितृभ्यः परिददत्) स एव सूर्योऽग्निरितरेभ्यो दिव्यगुणेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः सुज्ञाननिमित्तेभ्यः प्रकाशधर्मेभ्यः पितृभ्यो रश्मिभ्यः परिददत् परिददातु ॥ ५४ ॥

भावार्थ—(अनष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः पूषा त्वा विद्वानितः प्रच्यावयतु) निरन्तर और सदा वर्तमान दर्शनहेतु किरणों वाला, ब्रह्माण्डका रक्षक सूर्य तुझको प्राप्त करते ही इस स्थानसे पुनर्जन्मके लिये प्रेरित करता है (सोऽग्निस्त्वैतेभ्यो देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः परिददत्) वह सूर्य-अग्नि इन दिव्य गुण युक्त सुविज्ञानसाधक रश्मियों के लिये सुपुर्द करता है ॥ ५४ ॥

शिक्षा—सदा किरणों से वर्तमान सूर्य ब्रह्माण्डका रक्षक है । वही जीवों को स्वकिरणों द्वारा एक जन्मसे दूसरे जन्ममें पहुँचाता है ॥ ५४ ॥

आयुर्विश्वायुः परिपातु त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ।
यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥५५॥

(विश्वायुरायुस्त्वा परिपातु) तत्र पुनर्जन्मनि विश्वायुः सम्पूर्णायुष्मदायुर्जीवनन्त्वां परिपातु सर्वतो रक्षतु (पूषा त्वा पुरस्तात् प्रपथे पातु) पूषा सूर्यस्त्वां पुरस्ताद् पूर्वदिशातः प्रपथे प्रारम्भिकमार्गाय जन्मजीवनाय पातु रक्षतु (यत्र सुकृत आसते यत्र त ईयुस्तत्र सविता देवस्त्वा दधातु) जन्मप्राप्त्यनन्तरं यत्र पृथिवीलोके सुकृतः पुण्यकृत आसतेऽथ च यत्र पुण्यशरीरे त ईयुर्गताः सन्ति तत्र सविता देवस्त्वा दधातु धारयतु स्थापयतु ॥ ५५ ॥

भावार्थ—(विश्वायुरायुस्त्वा परिपातु) उस पुनर्जन्म में सम्पूर्ण आयु वाला जीवन तुझको सब ओरसे रक्षित रखे (पूषा त्वा पुरस्तात् प्रपथे पातु) सूर्य तेरी पूर्व दिशासे प्रारम्भिक मार्गरूप जन्म या जन्मोत्तर जीवनके लिये रक्षा करे (यत्र सुकृत आसते यत्र त ईयुस्तत्र सविता देवस्त्वा दधातु) जन्मप्राप्ति के अनन्तर जिस पृथिवीलोक में पुण्यकर्मी स्थिर होते हैं और जिस पुण्यशरीर में वे जाते हैं वहां सविता देव ! तुझ को भेज दे ॥ ५५ ॥

शिक्षा—पुनर्जन्म में जीवको पूर्णायुका फिर से अवसर मिलता है। सूर्य जन्मसे ही उसकी सारी रचनाओं में निमित्त है। पुण्यकर्मी अच्छी योनियों में जाते हैं ॥ ५५ ॥

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।
ताभ्यां यमस्य सादन समितीश्चावगच्छतात् ॥५६॥

(असुनीताय ते वोढव इमौ वह्नी युनज्मि) असुनीतायासुनीतं गतप्राणं ते त्वां वाढवे वोढुमिमौ वह्नी अश्वौ । "वह्निरश्वनाम" (नि० १ । १४) युनज्मि योजयामि (ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चावगच्छतात्) ताभ्यामश्वाभ्यां यमस्य सादनं श्मशानस्थानं समितीश्च समितिर्बान्धवजनसङ्घः "अन्येषामपिदृश्यते" अष्टा० ३ । १३७ दीर्घः । त्वं चावगच्छताद् गच्छसि । लडर्थे लाट् ॥५६॥

भावार्थ—(असुनीताय ते वोढव इमौ वह्नो युनज्मि) हे मेरे प्रिय प्रेत ! तुझ मरे हुये को ले जाने के लिये मैं इन घोड़ों को जोड़ता हूँ (ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चावगच्छतात्) उनके द्वारा श्मशान स्थान को तू जाता है और तुझे पहुँचाने के लिये बान्धवसङ्घ भी जाता है ॥ ५६ ॥

शिक्षा—प्रेत को श्मशान पहुँचाते समय बन्धु बान्धवों को भी जाना चाहिये ॥ ५६ ॥

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा ।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु ॥ ५७ ॥

(एतत्प्रथमं वासस्त्वा न्वागन्) एतत्प्रथमं वासः शरीरम् । 'त्वग्घि वासः" (श० ४ । ३ । ४ । २६) त्वा त्वां न्वागन् प्राप्तम् (यदिहाबिभः पुरैतदपोह) यच्छरीर-रूपं वासस्त्वमिहात्र परिवारे पुरा पूर्वमबिभो धारितवान् । 'भृ धारणपोषणयोः' । तदपोह तच्छरीररूपं वासस्त्यज त्यजसि वा (यत्र विबन्धुषु बहुधा दत्तम्) यत्र विबन्धुषु, अपरजनेषु ममत्वरहितेषु बहुधा प्राया यद् दत्तं तत् (इष्टापूर्तं ते विद्वाननुसंक्राम) इष्टापूर्तं ते त्वदीयं स्वकीयं विद्वान् जानन् सन्ननुसंक्रामानुगच्छ ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—(एतत्प्रथमं वासस्त्वान्वागन्) यह पूर्व शरीर जो तुझ को प्राप्त हुआ था (यदिहाबिभः पुरैतदपोह) जिस शरीर को तूने इस परिवारमें प्रथम धारण किया है उसको तू त्यागता है । अच्छा (यत्र विबन्धुषु बहुधा दत्तम्) जिन अपर जनों ममतारहित लोगोंमें परोपकार भावसे प्रायः जो तूने दान किया है। उस (इष्टापूर्तं ते विद्वाननुसंक्राम) इष्टापूर्तरूप दानको जो वस्तुतः तेरा धन है समझता हुआ उसके अनुसार आगे जन्मां वा फलोंको प्राप्त हो ॥ ५७ ॥

शिक्षा—शरीरको मनुष्य पुराने वस्त्रके तुल्य त्याग देता है और दूसरा शरीर अपने किये दान धर्मादिके अनुसार प्राप्त करता है ॥ ५७ ॥

अग्नेर्वर्म परि ...॥ ५८ ॥ (देखो सूक्तसमन्वय) ऋग्वेद १०।१६।७ (पृष्ठ ४७)

दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम ॥ ५९ ॥

(गतासोर्हस्ताद्दण्डमाददानः श्रोत्रेण वर्चसा बलेन सह त्वमत्रैव वयं सुवीरा विश्वा अभिमातीरिह जयेम) गतासोर्गता असवः प्राणा यस्य तस्य पुरुषस्य हस्ताद्दण्डं दण्डनीतिं भूम्यादिशासनाधिकारमाददानः स्वीकुर्वन् । अथ च । श्रोत्रेणो-पदेशेन वर्चसा योग्यत्वेन बलेन धारणशक्त्या सह स्वीकुर्वन् त्वमत्रैव परिवारे राष्ट्रे संसारे वा हे प्रेतसम्बन्धिजन ! अधितिष्ठ । वय चेहात्र त्वया सह सुवीरा विश्वा अभिमातीः सर्वानभिमन्यमानान् शत्रून् जयेम । इत्याश्वासनं सहयोगिजनानाम् ॥५९॥

भाषार्थ—(गतासोर्हस्ताद्दण्डमाददानः श्रोत्रेण वर्चसा बलेन सह त्वमत्रैव वयं सुवीरा विश्वा अभिमातीरिह जयेम) प्रेतपुरुष के हाथ से दण्डनीति शासन या

भूमि आदि का अधिकार लेता हुआ और फिर उस अधिकार को स्वाश्रय दाता प्रेत पुरुष के मरते समय के उपदेश सुनने, अपनी योग्यता और धारणशक्ति से स्वीकार करता हुआ तू हे प्रेत के सम्बन्धिजन ! इसी परिवार या राष्ट्र या संसार में स्थिर रह और हम तेरे सहयोगी जन अच्छे वीर होते हुए तेरे विरुद्ध सारे अभिमानी शत्रुओं को जीतते हैं । यह एक आश्वासन सहयोगी जनों की ओर से है ॥ ५६ ॥

शिक्षा—पिता आदिसे मरते समय उत्तराधिकारी को स्वाधिकार सम्भालने के लिये उपदेश लेना चाहिये । तथा अपनी योग्यता और शक्ति से उस अधिकार की रक्षा करनी चाहिये । अन्य सम्बन्धीजन तथा सहयोगी पुरुष उस उत्तराधिकारी को आश्वासन दें कि हम आपत्ति में तेरा साथ देंगे ॥ ५६ ॥

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।

समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम् ॥६०॥

(मृतस्यहस्ताद्धनुराददानः क्षत्रेण वर्चसा बलेन त्वमर्वाङ् भूरि पुष्टं वसु समागृभाय जीवलोकमुपेहि) मृतस्य योऽयं मृतस्तस्य जनस्य हस्ताद्धनुः सैन्य-बलमाददानः स्वीकुर्वन् । अथ च । क्षत्रेण क्षात्रधर्मेण क्षत्रभावेन योग्यत्वेन धारण-शक्त्या च स्वीकुर्वन् त्वं हे प्रेतसम्बन्धिजन ! अर्वाङ्वरस्थाने परिवारे राष्ट्रे संसारे वा बहु पुष्टं पर्याप्तं वसु धनं समागृभाय समादाय सङ्गृह्य स्वाधिकारे सम्पाद्य जीवलोकं जीवस्थानं प्रजावर्गमुपेहि प्राप्तो भव ॥ ६० ॥

भाषार्थ—(मृतस्य हस्ताद् धनुराददानः क्षत्रेण वर्चसा बलेन त्वमर्वाङ् भूरि पुष्टं वसु समागृभाय जीवलोकमुपेहि) जो यह मर चुका है उस पुरुषके हाथसे शस्त्रास्त्र सैन्य बलको स्वीकार करता हुआ और फिर क्षात्रधर्म या क्षात्रभाव, योग्यता और शक्तिसे धारण करता हुआ तू हे प्रेतसम्बन्धिजन ! अत्यन्त पर्याप्त धन को स्ववशमें करके प्रजावर्गको प्राप्त हो ॥ ६० ॥

शिक्षा—उत्तराधिकारी को चाहिये कि अपने पिता आदिसे शस्त्रास्त्र सैन्य बलका नियन्त्रण वीरता योग्यता और शक्तिके साथ सम्भाल लेवे । सहयोगी और सम्बन्धीजन इस उत्तराधिकारी को प्रजामण्डल में अधिकारी पद पर प्रसिद्ध करदें ॥ ६० ॥

समालोचना—

इस अनुवाक में विशेष समालोचनीय स्थल "ये निखाता···" मन्त्र ही है। इसके विषय में हम "प्रकीर्ण समन्वय" में चार प्रकारकी अन्त्येष्टिकी समालोचना

के समय विचार करेंगे। वहाँ से देख लेना। हां अर्थभेद तो मन्त्रों में बहुत है परन्तु समयाभाव और ग्रन्थविस्तार भय से उसके ऊपर कुछ लिखना उचित नहीं समझते।

अथर्ववेद का० १८ अनु० ३।

इस अनुवाक में मृतपुरुष की युवति स्त्रीको दूसरे पुरुषके साथ नियोगका आदेश तथा श्मशान भूमिके सम्बन्धमें कुछ व्यवस्था और प्रेतदाह तथा मृत पुरुषके प्रियजनको आश्वासन निज स्वास्थ्यकी स्थिरताका ध्यान रखते हुए स्व कर्तव्य कर्मों में लगनेका आदेश तथा शरीर की परिस्थितिका विज्ञान जीवका सृष्टिक्रमके अनुसार जन्मधारण तथा जीवोंकी आरम्भ सृष्टिका प्रकार और यज्ञ की महिमा आदि २ विषयोंका वर्णन है।

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥ १॥

(इयं नारी) इयं विधवा नारी (प्रेतम्) मृतं पतिं विहाय (पतिलोकं वृणाना) पतिलोकं गृहस्थरूपं पतिसुखं स्वीकुर्वती सती (मर्त्य) हे मनुष्य! (त्वोपनिपद्यते) त्वामुपगच्छति त्वां प्रति पत्नीभावेन प्राप्नोति (पुराणं धर्ममनुपालयन्ती) पुराणं वेदप्रतिपाद्यं सनातनं धर्ममनुपालयन्ती—उपनिपद्यत इति शेषः (तस्यै) विधवायै (इह प्रजां द्रविणञ्च धेहि) इहात्र गृहस्थधर्मे लोके वा सन्तानं धनं च धारय॥ १॥

भावार्थ—(इयं नारी) यह विधवा नारी (प्रेतम्) मृत पति को छोड़कर (पतिलोकं वृणाना) गृहस्थरूप पतिसुखको स्वीकार करती हुई (मर्त्य) हे मनुष्य! (त्वोपनिपद्यते) तुझको प्राप्त होती है (पुराणं धर्ममनुपालयन्ती) वेदोक्त सनातन धर्मका आचरण करती हुई (तस्यै) उस इस विधवाके लिये (इह प्रजां द्रविणं च धेहि) इस गृहस्थधर्म या इस लोकमें सन्तान और धन को अर्पित कर॥ १॥

शिक्षा—पति के देहान्त के पश्चात् यदि विधवा स्त्री सन्तानकी इच्छुका हो तो उसको दूसरे पुरुषको पति बनाकर सन्तान प्राप्त करलेनी चाहिये॥ १॥

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥२॥

(नारि) हे नारि! (एतं गतासुम्) एतं गतासुं गतप्राणं मृतं त्यक्त्वा (जीवलोकमभ्येहि) जीवलोकं जीवन्तं तं द्वितीयं पतिं प्राप्नुहि (हस्तग्राभस्य दधिषोः

पत्युस्तवेदं जनित्वमुदीर्ष्व) विवाहे गृहीतहस्तस्य धारयितुः पत्युस्तव चेदं जनित्वं सन्तानमुदीर्ष्वोत्पादय (अभिसंबभूथ) एवं त्वं सुखसम्पन्ना भव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(नारि) हे विधवा नारि ! तू (एतं गतासुम्) इस मृत को छोड़कर (जीवलोकमभ्येहि) जीवित पतिको प्राप्त हो (हस्तग्राभस्य दधिषोः पत्युस्तवेदं जनित्वमुदीर्ष्व) विवाहमें हाथ जिसने तेरा पकड़ा था उस पतिकी और अपनी सन्तानको उत्पन्न कर (अभि संबभूथ) तू इस प्रकार सुखसम्पन्न हो ॥ २ ॥

शिक्षा—विधवा अपने पूर्वपति की सम्पत्ति आदिके अधिकार भोगने तथा उसके प्रतिनिधि और अपनी सन्तानको उत्पन्न कर सकती है ॥ २ ॥

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् ।
अन्धेन यत्तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥ ३ ॥

(जीवां युवतिं मृतेभ्यः परिणीयमानामपश्यम्) कन्याया विवाहसंस्कारस्य विधाता पिता जनसमुदाये सभामध्ये वा ब्रवीत्येवं यदहं कन्यायाः पिता जीवितामेतां युवतिं मृतेभ्यो मृताय योऽयं मृतस्तस्मै पुरुषाय परिणीयमानां परिणयं विवावं प्राप्यमाणामपश्यं दृष्टवान् । 'मृतेभ्य इति वचनव्यत्ययः' (नीयमानाम) इदानीं चानेननियुक्तपतिना नीयमानां नियुज्यमानामेतामेव जीवितां युवतिं स्वकन्यामपश्यं दृष्टवान् । अतः (अन्धेन तमसा प्रावृतासीत) यतो हीयं युवतिरन्धेन तमसा शोकरूपेण घनान्धकारेण प्रावृताऽऽच्छादिता विमूढाऽऽसीत् (तदेनां प्राक्तोऽपाचीमनयम्) तस्मादेनां युवतिं प्राक्तः पूर्वदेशाद् विवाहितपतिस्थानादपाचीमपरदिशां साम्प्रतिकसभामनयमानीतवान् नियोगसम्बन्धं विधातुम ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(जीवां युवतिं मृतेभ्यः परिणीयमानामपश्यम्) कन्याका विवाह संस्कार करने वाला पिता सभाके बीचमें कहता है कि मैंने इस जीवित युवतिको जो यह मर चुका है उसके लिये विवाहती हुई देखी (नीयमानाम्) और इस समय इस नियुक्त पतिके साथ नियोग करती हुई को देखा। क्योंकि (अन्धेन तमसा प्रावृताऽऽसीत्) यह युवति शोकरूप घनान्धकारसे विमूढ़ होचुकी थी (तदेनां प्राक्तोऽपाचीमनयम्) अत एव इस युवति को पूर्वस्थान विवाहित पतिके घरसे यहां सभामें नियोग सम्बन्धके लिये लाया हूँ ॥ ३ ॥

शिक्षा—युवति कन्या जब विधवा होजावे तो उसके पिताको चाहिये कि वह उसको उसके श्वसुरगृह से लाकर जनसमुदाय में किसी दूसरे पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध करदे ॥ ३ ॥

प्रजानत्यघ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंचरन्ती ।
अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम् ॥ ४ ॥

(अघ्न्येजीवलोकं प्रजानती देवानां पन्थामनुसञ्चरन्ती) हेऽघ्न्ये दयनीये मे कन्ये ! जीवलोकमपत्यफलं प्रजानती लक्ष्यी कुर्वती देवानां विदुषां पन्थां पन्थानं मर्यादामनुसञ्चरन्त्यनुपालयन्ती सती (अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व) अयं सम्मुखं स्थितस्ते तव गोपतिरिन्द्रियपतिः शरीरपतिरित्यर्थः। तं नियुक्तपतिं जुषस्व कामयस्वेच्छ "जुषते कान्तिकर्मा (नि० २ । ६) (एनं स्वर्गं लोकमधि रोहय) एनं नियुक्तपतिं स्वर्गं सुखमयं लोकं काममधिरोहय प्रापय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अघ्न्ये जीवलोकं प्रजानती देवानां पन्थामनुसञ्चरन्ती) हे दयनीय मेरी पुत्रि ! सन्तानरूप फलको लक्ष्यमें रखती हुई तथा विद्वानोंकी बतलाई मर्यादा का पालन करती हुई (अयं ते गोपयति तं जुषस्व) यह सम्मुख स्थित तेरा नियुक्त स्वामी तू उसको चाह (एनं स्वर्गं लोकमधिरोहय) इस नियुक्त पति को सुखमय गृहस्थ धर्मको प्राप्त करा ॥ ४ ॥

शिक्षा—विवाह के अनन्तर दूसरे नियुक्त पति का नाम 'गोपति' है। उस के साथ सन्तान की इच्छुक-विधवा का नियोग करना चाहिये ॥ ४ ॥

उपद्यामुपवेतसमवत्तरो नदीनाम् । अग्ने पित्तमपामसि ॥५॥

(अग्ने नदीनां द्यां वेतसमुपावत्तरोऽसि) अग्ने हेऽग्ने त्वं नदीनां द्या न्यक्करणीं शराख्ययष्टिजातिम् । 'द्यै न्यक्करणे भ्वादिस्ततोऽच्' । वेतसं दीर्घपत्रक-लतामुपावत्तरः सम्यग्रक्षकोऽसि स्याः 'लिङर्थे लेट्' । अथ च (अपां पित्तम्-'उपाव-त्तरोऽसि') अपां पित्तमुपावत्तरोऽसीति वाक्यपूर्तिः । अपां तडागादीनां पित्तमा-वरकतटम् । 'अपिपूर्वकदेङः क्तप्रत्ययः' । जलरक्षकसुनिर्मिततटमुपावत्तारो रक्षकोऽसि स्याः । अर्थादेषां वस्तूनां शवदहनाग्निना हानिर्न जायेत, इत्येवं जनैर्दहनकृत्यं विधेयम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने नदीनां द्यां वेतसमुपावत्तरोऽसि) हे अग्ने ! तू नदियों की शरयष्टिजाति और लम्बे पत्तेवाली लताओंको जलानेसे अत्यन्त बचा तथा (अपां पित्तम्—'उपावत्तारोऽसि) तडाग आदि जलाशयोंके सुनिर्मित जलरक्षक किनारे को भी बचा ॥ ५ ॥

शिक्षा—शवदहन नदी या तालाब आदि जलाशयके किनारेपर करना चाहिये तथा इस बातका पूरा ध्यान होना चाहिये कि नदीपर लगी हुई शरयष्टियों

और वेतोंको आग न लग जावे तथा तालाब आदि जलाशयका जलरक्षक किनारा या बान्ध भी आगसे दूषित न हो जावे ॥५॥

यं त्वमग्ने समद····॥६॥ (देखो सूक्तसमन्वय) ऋग्वेद १०।१६।१३ (पृष्ठ ९१)

भावार्थ—जिस स्थान पर शव दहन किया है उस स्थान पर जल छिड़कना चाहिये और इतना अधिक छिड़कना चाहिये कि जिससे वहां विशिष्ट समर्थ शाखा वाला (शाण्डदूर्वा) उत्तम दूब उत्पन्न हो सके ॥६॥

इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा संविशस्व ।
संवेशने तन्वा चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सधस्थे ॥ ७ ॥

(इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा संवेशने संविशस्व) हे शव-दहन कर्तः ! मृतस्य शोकं मा कार्षीः । यतः । इदमुपस्थितं ते तवैकमपत्यं परः पर-स्तादन्यत्र प्रान्ते नगरे ग्रामे गृहे वा, एकमपत्यं मित्रं वा तृतीयेन ज्योतिषा तृतीयेन च मित्ररूपेणामृतेन ब्रह्मणा सह तत्स्मरणेन वा । "स नो बन्धुर्जनिता" इति चोक्तम् । संवेशने स्वगृहे संविशस्व प्रविश (परमे सधस्थे तन्वा देवानां चारुः प्रिय एधि) परमे सधस्थे कचिदुत्तमसत्सङ्गे तन्वा शरीरेण शरीरकर्मणा देवानां विदुषां चारुः शोभनः प्रिय एधि भव एवं तव शान्तिनिमित्तायान्ये ते बन्धवः परमात्मस्मरणं विद्व-त्सङ्गश्च सन्तीति निश्चेतव्यम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—(इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा संवेशने संविशस्व) हे शवदहनकरने वाले मृतक के प्रिय जन ! तू मृतकका शोक मत कर । क्योंकि तुझे कमी क्या है । एक यह तेरी सन्तान है । अमुक प्रान्त, नगर, ग्राम या घर में एक यह सन्तान या मित्र है । और तीसरा तेरा ईश्वर सच्चा मित्र तथा बन्धु है । उसका तू स्मरण कर सब तेरा सहाय करेगा । अतः अपने घरमें आनन्द से रह (परमे सधस्थे तन्वा देवानां चारुः प्रिय एधि) उत्तम सत्सङ्ग में जाकर अच्छा काम करके विद्वानों का प्रिय बन ॥ ७ ॥

शिक्षा—जिसका प्रिय जन मर गया है उसको अनेक प्रकार से सान्त्वना-देनी चाहिये । कहना चाहिये कि भाई तुमको फिकर क्या, तेरा यह एक सन्तान है दूसरा सन्तान या मित्र बन्धु वहां है और सबका सच्चा मित्र ईश्वर सदा तेरे साथ है उसका स्मरण कर वह तेरी मदद करेगा और कहीं धर्मसत्सङ्ग में जाना चाहिये या वहीं पर धर्मसत्सङ्ग, कथा आदि में पूरा भाग दिलाना चाहिये जिससे उसका शोक या चिन्ता दूर हो जावे ॥ ७ ॥

उत्तिष्ठ प्रेहि प्रद्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे ।

तत्र त्वं पितृभिः संविदानः संसोमेन मदस्व संस्वधाभिः ॥८॥

(उत्तिष्ठ, प्रेहि, आकः प्रद्रव) हे शवदहनकर्तः ! प्रेतस्य प्रियजन ! वा, त्वमुत्तिष्ठ, प्रेहि चल, ओकः स्वगृहं प्रद्रव प्रकृष्टं सावधनतया गच्छ । (सधस्थे सलिले कृणुष्व) सधस्थे सह तिष्ठन्ति यत्रेति तत्र सर्वैः सह सलिले जलाशये कृणुष्व स्नानादिक शौचं कुरु (तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सोमेन संमदस्व स्वधाभिः सम्) तत्र निजगृहे स्वपितृभिः पूज्यजनैः सह संविदान ऐकमत्यं गतः सोमेम सोमौषध्या समदस्व प्रसीद स्वधाभी रत्नादिपदार्थैः संमदस्व तृप्तो भव ॥ ८ ॥

भावार्थ—(उत्तिष्ठ, प्रेहि, ओकः प्रद्रव) हे प्रेत के प्रिय जन ! तू उठ, चल, अपने घर सावधानता से चल । अत एव (सधस्थे सलिले कृणुष्व) सब के साथ जलाशय पर स्नान आदि शुद्धि कर (तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सोमेन संमदस्व स्वधाभिः सम्) वहां तू पूज्य पुरुषोंकी सलाह मान उनके उपदेश और विचार सुन सोम ओषधिके सेवनसे प्रसन्न हो, और अन्नादि पदार्थोंसे तृप्त हो ॥ ८ ॥

शिक्षा—शवदहनके पश्चात् मृतक के प्रिय जनको अन्य लोग धीरज देते हुए श्मशानसे उठाकर, उसके घर जाने को कहें और नदी तड़ाग आदि जलाशय पर सबके साथ स्नान आदि शुद्धि करावें पुनः पूज्य जनोंके उपदेश और सान्त्वना पूर्ण विचारोंको सुना सोम ओषधिका सेवन* तथा भोजनसे तृप्त करावें ॥८॥

प्रच्यवस्व तन्वं संभरस्व मा ते गात्रा विहायि मो शरीरम् ।

मनोनिविष्टमनु संविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ॥ ९ ॥

(प्रच्यवस्व) हे भद्र जन ! प्रच्यवस्व मृतस्य शोकं त्यज (तन्वं संभरस्व) शरीरं सन्धारय संरक्ष (गात्रा ते मा विहायि) गात्रा ते तव गात्राण्यङ्गानि मा विहायि न विकृतानि स्युः (मो शरीरम्) शरीरं च ते न विकृतं स्यात् (मनोनिविष्टमनुसंविशस्व) मनोनिविष्टं मनाधृत जीविकादिकृत्यमनु संविशस्वाचर (यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ) यत्र भूमेर्भूम्यां जुषसे स्वकार्यं विदधासि तत्र त्वं गच्छ ॥९॥

भावार्थ—(प्रच्यवस्व) हे मृत के प्रियजन ! तू अब शोक को त्याग दे (तन्वं संभरस्व) अपने शरीर को संभाल (गात्रा ते मा विहायि) तेरे नेत्रादि अङ्ग पीडित न हो जावें (मा शरीरम्) तेरा शरीर अस्वस्थ न हो जावे (मनोनिष्टमनु

---

* संयुक्तप्रान्त में शवदहन करके स्नानादि के बाद निम्ब चबाने की प्रथा सम्भवतः इस सोमसेवन का अपभ्रंश हो ।

'विशस्व) मनोऽभीष्ट आजीविकादि जो तेरा कृत्य है उसको सेवन कर (यत्र भूमे जुषसे तत्र गच्छ) जिस भूमिस्थान में तू रहता है वहां जा ॥ ६ ॥

शिक्षा—मृतकके प्रियजन के साथ सहानुभूति रखने वाले लोगों को चाहिये कि वे उसको कुछ दिन देखभाल में रक्खें ऐसा न हो कि वह रोगी हो जावे अत एव उसको वारम्वार चेतावनो भी देते रहें और परम्परा से या वर्तमान आजीविका आदि का जो काम किया करता हो उसको शुरू करादें तथा जहां वह रहता हो वहां पहुँचा दें ॥ ६ ॥

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन ।
चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥ १० ॥

(सोम्यासो देवाः पितरो वर्चसा मधुना घृतेन मामञ्जन्तु) पूर्ववर्तनानन्तरं मृतस्य प्रियजनः प्रार्थयते यद् हे परमात्मन् ! सोम्यासः सोमसम्पादिनोऽन्नसम्पादिनः शरीरसम्पादिन इत्यर्थः "अन्नं सोमः" (कौ० ९ । ६) देवाः पितर ऋतवः । "ऋतवः खलु वै देवाः पितरः" (तै० १ । ३ । १० । ५) वर्चसा शरीरकान्त्या मधुना प्राणेन । "प्राणो वै मधु" (श० १४ । १ । ३ । ३०) घृतेनोदकेन शरीरान्तर्गतजलेन रक्तेनेति यावत् । मामञ्जन्तु व्यक्तीकुर्वन्तु पोषयन्तु (चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तः) चक्षुषे दर्शनाय यथार्थदर्शनाय मां प्रतरं नावमिव तारयन्तः (जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु) जरसे जरायै वृद्धावस्थापर्यन्तं मां जरदष्टिर्जरति—अष्टिर्व्याप-नशक्तिर्यस्य तमेवं वर्धन्तु सम्पादयन्तु ॥ १० ॥

भावार्थ—(सोम्यासो देवाः पितरो वर्चसा मधुना घृतेन मामञ्जन्तु) पूर्ववर्तनानन्तर मृत का प्रियजन ईश्वर से प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन् ! प्राणिमात्र के शरीर को सम्पादन करने वाली ऋतुएं शरीर कान्ति से, प्राण से, रक्त से मुझे पुष्ट करें (चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तः) यथार्थ दर्शन के लिये मुझे नौका की भांति तराते हुए (जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु) बुढ़ापे के लिये मुझे बुढ़ापे की शक्ति वाला बनावें ॥ १० ॥

शिक्षा—मृत के प्रियजनको मृतका शोक त्याग कर अपने शरीर को ऋतुओंके अनुकूल रखकर पुष्ट तथा स्वस्थ बनानेका यत्न करते रहना चाहिये ॥१०॥

वर्चसा मां समनक्त्वग्निर्मेधां मे विष्णुर्न्यनक्त्वासन् ।
रयिं मे विश्वे नियच्छन्तु देवाः स्योना मापाः पवनैः पुनन्तु ॥११॥

(अग्निर्वर्चसा मां समनक्तु) अग्निर्मां वर्चसा तेजसा समनक्तु संयोजयतु (विष्णु र्मे आसन् मेधां न्यनक्तु) विष्णुर्यज्ञः । "यज्ञो वै विष्णुः" (श० १।१।२।१३) ममासन् मस्तिष्के मेधां बुद्धिं न्यनक्तूत्पादयतु (विश्वेदेवा मे रयिं नियच्छन्तु) विश्वेदेवाः सर्वे दिव्यपदार्था मे मह्यं रयिं वीर्यं बलं नियच्छन्तु निरन्तरं ददतु (आपः स्योनाः पवनैर्मा पुनन्तु) आपः स्योनाः सुखरूपाः सत्यः पवनैः सह मां पुनन्तु पवित्री कुर्वन्तु नीरोगं स्थापयन्तु ॥ ११ ॥

भावार्थ—(अग्निर्वर्चसा मां समनक्तु) अग्नि मुझे तेज से संयुक्त करे। (विष्णुर्मे आसन् मेधां न्यनक्तु) यज्ञ मेरे मस्तिष्क में बुद्धिको उत्पन्न करे (विश्वेदेवा मे रयिं नियच्छन्तु) एवं सारे दिव्यगुण पदार्थ मेरे लिये बल का निरन्तर दान करें (आपः स्योनाः पवनैर्मा पुनन्तु) वायुधाराओंसे सुखरूप होकर जल मुझे नीरोग रखें ॥ ११ ॥

शिक्षा—मृतक के प्रियजन को घर में प्रतिदिन यज्ञ भी करना चाहिये क्योंकि यज्ञकी अग्नि उसके अन्दर तेज उत्पन्न करेगी और यज्ञकी सुगन्धि मस्तिष्क में बुद्धि शक्तिका विकास तथा आकाशमें वर्तमान सूर्य चन्द्र आदि दिव्य पदार्थ अपनी किरणोंसे बल प्रदान करेंगे, यज्ञमें वायुके उत्क्रमणसे घर का तथा वर्षा आदिका जल रोगनाशक बनेंगे ॥ ११ ॥

मित्रावरुणा परि मामधातामादित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु ।
वर्चो म इन्द्रो न्यनक्तु हस्तयोर्जरदष्टिं मा सविता कृणोतु ॥१२॥

(मित्रावरुणा मां पर्यधाताम्) मित्रावरुणा प्राणापानौ 'प्राणापानौ मित्रावरुणौ' (तै० ३ । ३ । ६ । ६) मां पर्यधातां परितः सर्वतोऽधत्ताम् (आदित्या स्वरवो वर्धयन्तु) आदित्या मासाः स्वरवः सुगतयः सन्तो मां वर्धयन्तु (इन्द्रो मे हस्तयो र्वर्चो न्यनक्तु) इन्द्रो विद्युन्मे मम हस्तयोर्वर्चः स्फुर्तिबलं न्यनक्तु नियोजयतु (सविता मा जरदष्टिं कृणोतु) सविता उत्पादयिता परमात्मदेवो मां जरदष्टिं जरावस्थापर्यन्तं शक्तिमन्तं कृणोतु करोतु ॥ १२ ॥

भावार्थ—(मित्रावरुणा मां पर्यधाताम्) प्राण और अपान मुझे सब तरफ से धारण करे रखें (आदित्याः स्वरवो वर्धयन्तु) महीने सुन्दर गति से मुझे बढावें (इन्द्रा मे हस्तयोर्वर्चो न्यनक्तु) विद्युत् मेरे हाथों में स्फूर्तिबल को नियुक्त करे (सविता मां जरदष्टिं कृणोतु) उत्पादक परमात्मदेव मुझे वृद्धावस्था तक जीने को शक्ति वाला बनावे ॥ १२ ॥

शिक्षा—पुनः उसी जनको अपने जीवनकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये प्राण अपान ठीक २ स्वस्थता के साथ आते जाते रहें। मास २ में जीवन वृद्धि होती रहे। पुरुषार्थसे विद्युत्-शक्ति हाथों में स्फूर्तिबल का प्रवेश करावे और परमात्मदेव पूर्णायु भोगने की शक्ति दे॥ १२॥

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत॥१३॥

(मर्त्यानां प्रथमो यो ममार) मर्त्यानां मरणधर्मिणां पदार्थानां मध्ये प्रथमः सन् यो ममार म्रियते नष्टो भवति (प्रथमो य एतं लोकं प्रेयाय) प्रथमः सन् य एतं लोकं मरणविषयकं प्रेयाय प्राप्नोति (जनानां सङ्गमनं वैवस्वतं यमं राजानं हविषा सपर्यत) जनानां जायमानानामुत्पद्यमनानां सङ्गमनं सङ्गमं वैवस्वतं विवस्वतः सूर्यस्य पुत्रं यम कालं हविषा हविर्दानेन यज्ञेन सपर्यतानुतिष्ठत। अन्तपरम्परया पूर्वं काल एव नाशं प्राप्नोति पश्चादेव वस्तुपातो भवतीति सृष्टिक्रमः॥१३॥

भावार्थ—(मर्त्यानां प्रथमो यो ममार) मरणधर्मीवस्तुओं में प्रथम ही जो मरता है, नष्ट होता है (प्रथमो य एतं लोकं प्रेयाय) प्रथम ही जो इस मरणरूप स्थिति को प्राप्त होता है (जनानां सङ्गमनं वैवस्वतं यमं राजानं हविषा सपर्यत) उत्पन्न होने वाली वस्तुओंके सहयोगी, सूर्यके पुत्र काल यानि समयको यज्ञाहुति से उपयोगी बनाओ। अन्तपरम्परा से प्रथम काल ही नाशको प्राप्त होता है पुनः वस्तुनाश होता है यह सृष्टिक्रम है॥ १३॥

शिक्षा—वस्तु नाश में प्रथम समयका अन्त होता है अतः समयका उचित उपयोग करना चाहिये॥ १३॥

परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात॥१४॥

(पितरः परायातायात च) पितरो हे मच्छरीरवर्तिनः पालकप्राणाः! यूयं परायातास्मिन् मद्देहे पराक्रम्य गच्छतायात च तथा समन्ताद्गच्छत (अयं वो यज्ञो मधुना समक्तः) एष वो युष्माकं यज्ञः शरीररूपो यज्ञो मधुना मधुनेव रसेन समक्तः सम्यगक्तः पुष्टश्चिरं स्थातुं योग्यः स्यादिति शेषः (इहास्मभ्यं द्रविणा दत्तो) अस्मिन् शरीरेऽस्मभ्यं द्रविणा नानाविधबलानि "द्रविणं बलनाम" (नि० २। ६) उ इत्यवश्यं दत्त प्रयच्छत (भद्रं सर्ववीरं च रयिं नो दधात) भद्रं सुखं सर्ववीरमपत्यपुत्रं रयिं वीर्यं नोऽस्मभ्यंदधात धारयत 'सर्वं वा अपत्यम्' (श० ११६। १। १६) 'पुत्रो वै वीरः' (श० ३। ३। १। १२) 'वीर्यं वै रयिः' (श० २। ३। ४। १३)॥१४॥

भावार्थ—(पितरः परायातायात च) हे मेरे शरीरपालक प्राणो ! तुम इस देहमें स्वाधिकार से सर्वत्र जाओ और आओ (अयं वो यज्ञो मधुना समक्तः) यह तुम्हारा शरीर-यज्ञ मधुर रस के समान शरीररस से सम्यक् पुष्ट हो, देर तक ठहरने के योग्य बने (इहास्मभ्यं द्रविणा दत्तो) इस शरीर में हमारे लिये नानाविध बल प्रदान करो (भद्रं सर्ववीरं रयिं च नो दधात) उस सुख को जो अक्षय्यपुत्रसम्बन्धी वीर्यरूप है हमारे में धारण कराओ ॥ १४ ॥

शिक्षा—मनुष्यको अपने प्राणोंकी उत्तम गति तथा वीर्यशक्तिके सम्पादानसे स्वजीवन कालको प्रशस्तरूपमें बढ़ाते रहना चाहिये ॥ १४ ॥

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः ।
विश्वामित्रोयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः ॥१५॥

(अयं कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनाना विश्वामित्रो जमदग्निरत्रिः कश्यपो वामदेवो नोऽवन्तु) पूर्वोक्तान् प्राणानेवात्रैकैकं कण्वादिनामभिर्विशिष्य 'तेऽवन्तु' इति प्रार्थ्यते । अत्र विवरणम्—

(अयं कण्वः) 'मार्जनवत् स्रष्ट्वा' एष कण्वः कणयति निमीलयतीति कण्वः 'कण् निमीलने' । नेत्रच्छदिरन्तर्वर्ती प्राणः (अयं कक्षीवान्) एष कक्षीवान् कक्षवान्, उभयकक्षसम्बद्धः प्राणः । "कक्षीवान्···अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्" (नि० ६ । १०) (अयं पुरुमीढः) एष पुरुमीढः पुरु बहुविधं मीढं मेहनं सेचनं वीर्यमूत्रादिनिःसारणं यस्यास्ति स उपस्थगुदावर्ती प्राणः (अयमगस्त्यः) अयमगं पर्वतं मेरुं पृष्ठदण्डं स्त्यायति स्तभ्नातीत्यगस्त्यः । मेरुदण्डपर्वसङ्घातवर्ती प्राणः । अगस्त्य इत्यत्र "आतोऽनुपसर्गे कः" अष्टा० ३ । २ । ३) (अयं श्यावाश्वः) श्यावाः कृष्णपीतमिश्रितवर्णा नीला अश्वा रक्तवाहिन्यो नाड्यो यस्य स तत्रस्थः प्राणः (अयं सोभरी) सुभरं सुपोषकं रक्तं यस्यास्ति स एष सोभरी प्राणो वक्षोवर्ती फुप्फुसप्राणः (अयमर्चनानाः) एषोऽर्चनानाः, अर्चनमनो यानं चलनयन्त्रं यत्राधिष्ठितं स मस्तिष्कस्थः प्राणः (अयं विश्वामित्रः) एष विश्वामित्रः सर्वमित्रो यश्च सर्वेषां हिताय शृणोति स एष श्रोत्रवर्ती प्राणः । "श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदनेन सर्वतः शृणोति" (श० ८ । १ । २ । ६) (अयं जमदग्निः) एष जमन्प्रकाशमानोऽग्निर्यस्य स नेत्रवर्तीप्राणो यश्च सर्वं प्रकाशयति "चक्षुर्वै जमदग्निर्यदनेन जगत्पश्यति" (श०८ । १ । २ । ३) (अयमत्रिः) एषोऽत्तीत्यत्रिर्मुखवर्ती प्राणः "वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यते" (श० १४।५।२।२) (अयं कश्यपः) एष कश्यपः कूर्मो नाभिस्थः प्राणः "स यत्कूर्मो नाम प्रजापतिः प्रजा असृजताकरोत्तदकरोत्तस्मात्कूर्मः कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्याः" (श० ७ ।

४ । १ । ४) (अयं वामदेवः) एष वामश्चासौ देवश्च स शरीरस्य वामभागे स्थितोऽथ च वननीयो हृदयस्थप्राणः । इत्येवं सर्वे मामवन्तु रक्षन्तु ॥ १५ ॥

भावार्थ—(अयं कण्व······वामदेवोऽवन्तु) पूर्वोक्त प्राणों को यहां एकैक कण्वादि नाम से वर्णित करके प्रार्थना है कि यह सब हमारी रक्षा करें । उनका विवरण निम्न है—

(अयं कण्वः) मार्जन के समान स्पर्श कर करके कथन है कि यह नेत्रच्छदिः यानि पलकमें रहने वाला प्राण (अयं कक्षीवान्) यह कक्षाओं में रहने वाला प्राण (अयं पुरुमीढः) यह बहुत प्रकारसे वीर्यमूत्रादिका निकालने वाला उपस्थ और गुदा का प्राण (अयमगस्त्यः) यह मेरुदण्डको स्तम्भन करने वाला प्राण (अयं श्यावाश्वः) काले पीलेरंगयुक्त नीली रक्तवाहिनी नाड़ियोंमें रहने वाला प्राण (अयमर्चनानाः) यह पूजायोग्य यन्त्रमें रहने वाला मस्तिष्कप्राण (अयं विश्वामित्रः) यह श्रोत्रमें रहने वाला प्राण (अयं जमदग्निः) यह सबका प्रकाशक नेत्रोंमें रहनेवाला प्राण (अयमत्रिः) यह खानेमें सहायक मुखवर्ती प्राण (अयं कश्यपः) यह कूर्म नाभि में रहने वाला प्राण (अयं वामदेवः) यह वाम भाग में रहने वाला हृदयस्थ प्राण । ये सब (अवन्तु) मेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥

शिक्षा—स्वरक्षार्थ नेत्रपलक, कक्ष, उपस्थ गुद, पृष्ठ दण्ड, रक्तवाहिनी नाड़ी, मस्तिष्क, श्रोत्र, नेत्रतिल, मुख, नाभि, हृदयमें रहने वाले प्राणों की स्थिरता का विशेष ध्यान रखना चाहिये । जरा भी खराबी न हो सके वा खराबी होने पर तत्काल चिकित्सा करानी चाहिये ॥ १५ ॥

विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव ।
शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः ॥ १६ ॥

(विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव) हे श्रोत्रसम्बन्धिन् ! चक्षुद्योतक ! वाणीप्रकाशक ! भरद्वाज मनोधारकप्राण ! "मनो वैभरद्वाज ऋषिः" (श० ८ । १ । १ । ६) गच्छतीति गौः स चातिशयितो गोतमः, एवं गोतम ! सर्वत्र प्राप्तवृत्ते व्यानप्राण ! वामदेव हृदयप्राण ! (शर्दिर्नो नमोभिरत्रिरग्रभीन्नः पितरः सुसंशासो मृडता) यथा नोऽस्माकं शर्दिःशरीरम् । "शॄ धातोर्बाहुलकादौणादिको दिच् प्रत्ययो वर्णव्यत्ययेन वा शर्दिश्छर्दिर्गृहनाम" (नि० ३।४) शरीररूपं गृहं नमोभिरन्नैरन्नभक्षणैरत्रिर्वक्त्रप्राणः । "वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति (श० १४।५।२।२) अग्रभीद् गृहीतवान् धृतवान् । तथा यूयं सर्वे नोऽस्माकं पितरो रक्षकप्राणाः सुसंशासस्तच्छरीरमतिसमीचीनं शासमानाः सुमार्गे रक्षन्तो मृडता सुखयत । वक्त्रप्राणोऽन्न-

भक्षणचर्वणग्रहणैः शरीरं धारयति तथैव श्रोत्रचक्षुजिह्वामनस्त्वङ्नासिकान्तर्वर्तिहृच्छक्तिरूपाः प्राणाः मनःसहितपञ्चज्ञानेन्द्रियवर्तिनः प्राणाः शरीरं सुमार्गे गन्तुं शासतीति विज्ञानम् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भारद्वाज गोतम वामदेव) हे श्रोत्रसम्बन्धी ! चक्षुर्द्योतक ! वाणीप्रकाशक ! प्राणों तथा हे मन के प्राण ! सर्वत्र प्राप्त व्यान प्राण ! हृदयप्राण ! तुम सब (शर्दि र्नो नमोभिरत्रिरग्रभीन्नः पितरः सुसंशासो मृडता) जिस प्रकार हमारे शरीर को अन्न भोजनों से यह वाणीगत प्राण धारण किये हुये हैं उसी प्रकार तुम सब प्राणों ! शरीरको समीचीनरूपसे शासन में रखते हुए हमको सुखी बनाओ । वाणीगत प्राण अन्न भोजनों यानि भक्षण चर्वण ग्रहणके द्वारा शरीरको धारण करना है एवं श्रोत्र जिह्वा चक्षु मन त्वचा नासिका हृदय में रहने वाले प्राण शरीरको सुमार्गमें ले जाते हुए सुख के हेतु बनें ॥ १६ ॥

शिक्षा—मन तथा ज्ञानेन्द्रियों के अन्दर वर्तमान प्राण शरीरको सुपथ पर चलने का सदा आदेश करने वाले बनें ॥ १६ ॥

कस्ये मृजाना अतियन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु ॥ १७ ॥

(कस्ये मृजाना रिप्रमतियन्त्यध प्रतरं नवीय आयुर्दधानाः प्रजया धनेनाप्यायमाना गृहेषु सुरभयः स्याम) कस्ये शासने पूर्वमन्त्रोक्तश्रोत्रादीनां शासने सुनियमे मृजानाः शुद्ध्यन्तः । 'कस गतिशासनयोः' "अघ्न्यादयश्च" (उणादि० ४ । ११२) शासनार्थे यक् । रिप्रं पापं दोषमहितमतियन्त्यतिक्रामन्त्युल्लङ्घयन्ति । अधानन्तरं वयं प्रतरं प्रकृष्टं नवीयोऽपूर्वं दीर्घमायुर्दधानाः प्रजया सन्तानादिकया धनेनैश्वर्येणाप्यायमाना गृहेषु सुरभयः कार्यस्य सम्यगारब्धारो धैर्येण कार्यसाधकाः स्याम भवेमेति निश्चयः 'सुपूर्वकरंभधातोरौणादिक इप्रत्ययः' । तथाच वाचस्पत्ये 'सुरभि र्धीर इतिधरणिः' ॥१७॥

भाषार्थ—(कस्ये मृजानाः) पूर्व मन्त्रोक्त श्रोतादिके शासनमें रहकर शुद्ध हुए (रिप्रमतियन्ति) पाप दोष या अहितको त्याग देते हैं (अध प्रतरं नवीय आयुर्दधानाः) पुनः उत्तम नूतन अपूर्व या दीर्घ आयुको धारण करते हुए (प्रजया-धनेनाप्यायमानाः) सन्तानादि प्रजा और ऐश्वर्य से परिपूरित हुए (गृहेषु सुरभयः स्याम) घरोंमें कार्यके सम्यक् आरम्भ करने तथा साधने वाले हो सकेंगे यह निश्चय है ॥ १७ ॥

शिक्षा—ज्ञानेन्द्रियोंके शासनमें रहते हुए मनुष्य अहितसे बचकर उत्तम आयु को प्राप्त करते हुए सन्तान और ऐश्वर्य के भागी बनते हैं ॥ १७ ॥

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते ।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमासु गृह्णते ॥१८॥

(मधुनाञ्जते व्यञ्जते समञ्जतेऽभ्यञ्जते क्रतुं रिहन्ति) पूर्वोक्तश्रोत्रादीन्द्रिय-प्राणा यदा मधुना रसेन शरीररसेन सह । "रसो वै मधु" (श० ६ । ४ । ३ । २) अञ्जते स्थिरी भवन्ति व्यञ्जते व्यक्ततां यान्ति समञ्जते शोभन्तेऽभ्यञ्जते कार्याभिमुखं समर्था भवन्ति तदा क्रतुं रिहन्ति मनोजवं गृह्णन्ति "क्रतुर्मनोजवः" (श० ३।३।४।७) रिहधातुरत्र तौदादिक आदानार्थे (सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं पशुं हिरण्य-पावा आसु गृह्णते) अनन्तरं सिन्धोः शरीरमध्ये रक्तवाहिनीनां नदीरूपाणां नाडीनां सिन्धुस्थानीयस्य हृदयस्योच्छ्वासे सञ्चलने पतयन्तं गच्छन्तं प्राप्नुवन्तम् । पत गतौ चुरादिरदन्तो वा' गतेरत्र प्राप्त्यर्थो गृह्यते । उक्षणं महान्तं महत्वयुक्तं । "उक्षा महन्नाम" (नि० ३ । ३) पशुं द्रष्टारं जीवात्मानम् । "आत्मा वै पशुः" (कौ० १२ । ७) हिरण्यपावा आयुश्शोधकाः सन्त आसु नाडीषु गृह्णते रक्षन्ति । "आयुर्हि हिरण्यम्" (श० ४ । ३ । ४ । २४) ॥ १८ ॥

भावार्थ—(मधुनाऽञ्जते व्यञ्जते समञ्जतेऽभ्यञ्जते क्रतुं रिहन्ति) पूर्वोक्त श्रोत्रादि इन्द्रिय-प्राण जब शरीररस के साथ स्थिर होते हैं, व्यक्त होते हैं, शोभित होते हैं, तथा कार्याभिमुख समर्थ होते हैं तब मन की अनुकूलता को ग्रहण करते हैं (सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं पशुं हिरण्यपावा आसु गृह्णते) पुनः शरीर में वर्तमान रक्तवाहिनी नदीरूप नाडियों के सिन्धुस्थानीय हृदय के सञ्चलने में प्राप्त महत्तायुक्त द्रष्टा जीवात्माको आयुके शोधक होकर वे प्राण उन नाडियों में जीवन रूप से स्वीकार करते वा सब नाडियों में उसकी जीवनशक्ति को स्थिर करते हैं ॥ १८ ॥

शिक्षा—शरीर रस श्रोत्रादिगत सभी प्राणोंको स्थिर, स्पष्ट, सुन्दर, कार्य में समर्थ बनाता है तथा मनकी अनुकूलता से गति कराता है । पुनः वे प्राण शुद्ध और स्वस्थ होकर जीवात्माकी शक्तिका फैलाव हृदयके उछ्च्छ्वासके साथ नाडी नाडी में कर देते हैं ॥ १८ ॥

यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत ।
ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥१९॥

(पितरो यद् वो मुद्रं सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत) 'अत आरभ्य सामान्ययज्ञप्रकरणमस्ति' । पितरो हे विद्वांसो वो युष्माकं यत्किञ्च वस्तु मुद्रं

हर्षप्रदं सोम्यं रोचकं स्यात् तेनो तेन हि यूयं सचध्वं सङ्गच्छध्वं पुनश्च स्वयशसो निजयशोनिमित्तका भूत भवत (तेऽर्वाणः सुविदत्राः कवयो हूयमाना विदथ आशृणोत) ते यूयमर्वाणो गन्तारः पर्यटनशीलाः सुविदत्राः सुविद्याः कवयः क्रान्तदर्शिनो विदथेऽस्मद्यज्ञे "विदथो यजनाम" (निरु० ३ । १७) आशृणोतास्माकं प्रार्थनादिकं स्वीकुरुत ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(पितरो यद् वो मुद्रं सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशो हि भूत) 'अब सामान्य यज्ञ का प्रकरण है।' हे विद्वानो ! तुम्हारो जो हर्षप्रद और इष्ट वस्तु हो उसीसे तुम सङ्गत हो जाओ पुनः स्वयश के बर्धक बनो (तेऽर्वाणः सुविदत्राः कवयो हूयमाना विदथ आशृणोत) वे तुम पर्यटनशील, उत्तमविद्यायुक्त, क्रान्तदर्शी महानुभावो ! हमारे यज्ञ में हमारी प्रार्थना को स्वीकार करो ॥ १९ ॥

शिक्षा—यज्ञ में विद्वानों की रुचिकर प्रियवस्तु दक्षिणा देनी चाहिये जिससे प्रसन्न होकर हमारे आवश्यक प्रश्नों का समाधान करसकें ॥ १९ ॥

ये अत्रयो अङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधानाः ।
दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥२०॥

(ये अत्रयो अङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधाना दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थास्मिन् बर्हिष्यासद्य मादयध्वम) येऽत्रयो तापत्रयरहिताः । "तस्मादत्रिर्न त्रय इति यास्कः" (निरु० ३ । १७) अङ्गिरसस्तेजस्विनो नवग्वा नवनीतगतयो नवनीततुल्याः स्निग्धाः कान्तिमन्त इष्टावन्तो विविधयज्ञक्रियावन्तो रातिषाचो विद्यादानक्षेत्राणि दधाना धारयन्तो दक्षिणावन्तो दक्षिणायोग्याः सुकृतः पुण्यकर्माणो य उ येऽपि यूयं स्थास्मिन् बर्हिषि यज्ञ आसद्य स्थित्वा मादयध्वं प्रसीदत ॥ २० ॥

भाषार्थ—(ये अत्रयो अङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधाना दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थास्मिन् बर्हिष्यासद्य मादयध्वम्) जो आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक तीनों तापों से रहित, तेजस्वी, मक्खनके तुल्य कान्ति तथा स्निग्धस्वभाव वाले, विविध यज्ञ करने वाले, विद्यादानके विद्यालय रखने वाले, दक्षिणा पाने योग्य, पुण्यकर्मा महानुभाव तुम हो अत एव तुम सब इस यज्ञ में स्थित होकर यथारुचि प्रसन्नता को प्राप्त होओ ॥ २० ॥

शिक्षा—यज्ञ में बैठनेवाले महानुभाव तीनों दुःखों से रहित, तेजस्वी, स्नेह करने वाले, यज्ञशील, विद्यादाता, दक्षिणा पाने के योग्य, पुण्यकर्मी होने चाहिये ॥२०

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशशानाः ।
शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन् ॥२१॥

(अग्ने यथा नः परासः प्रत्नासः पितर ऋतमाशशानाः शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तोऽरुणीरपवन्) हे अग्नेऽग्रणीर्विद्वन् ! यथा येन प्रकारेण नोऽस्माकं परासः श्रेष्ठाः प्रत्नासः प्राचीनाः पितरः पूर्वजा ऋतं यज्ञमाशशाना व्याप्नुवन्तः सेवमानाः शुचि वीर्यमिन्निःसन्देहमयन् प्राप्नवन्तः । "वीर्यं वै शुचि" (श० २ । २ । १ । ८) तथा दीध्यतो दीप्यमाना उक्थशासो मन्त्रवाचकाः क्षामा पार्थिवस्थानं कुण्डं हवनगर्तं 'क्षमा पृथिवी ततस्ताद्धितोऽण् । 'विभक्तेराकारादेशः' भिन्दन्तः खनन्तः सम्पादयन्तोऽरुणीरग्निज्वाला अपवृन् प्रकटयन्ति स्म तथा त्वं प्रकटय ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्रणी विद्वन् ! (यथा नः) जैसे हमारे (परासः) श्रेष्ठ (प्रत्नासः) प्राचीन (पितरः) पूर्वज (ऋतम्) यज्ञको (आशशानाः) सेवन करते हुए (शुचि-इद्-आयन्) वीर्य को निरन्तर प्राप्त हुए (दीध्यतः) दीप्तिमान् होते हुए (उक्थशासः) मन्त्र पढ़ने वाले (क्षामा) पृथिवी में हवनकुण्डको (भिन्दन्तः) खोदते हुए। पुनः उसमें (अरुणीः) अग्नि को ज्वालाओं को (अपव्रवन्) बाहर प्रकट करते थे वैसा तू प्रकट कर ॥ २१ ॥

शिक्षा—पृथिवी में यज्ञकुण्ड खोदकर उसमें मन्त्रों से आहुति इतनी तीव्र देनी चाहिये कि ऊपर कुण्ड के अग्निज्वालाएं लपलपाया करें ॥ २१ ॥

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुर्वीं गव्यां परिषदं नो अक्रन् ॥२२॥

(सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो देवा जनिमायो न धमन्तः) सुकर्माणः पुण्यकर्माणः सुरुचः सुरोचमाना देवयन्तः आत्मनो देवानिच्छन्तो देवा विद्वांसो जनिमा निजजन्मायो न लोहमिव धमन्तः सम्पादयन्तः (अग्निं शुचन्तः) यज्ञाग्निं शुचन्तो ज्वलयन्तः "शोचतिर्ज्वलतिकर्मा" (नि० १ । १६) (इन्द्रं वावृधन्तः) इन्द्रं विद्युदाख्यमग्निं च वावृधन्तो बर्धयन्तः (गव्यां परिषदं न उर्वीमक्रन्) वाक्सम्बन्धिनीं परिषदं सभां नोऽस्माकमुर्वीं महतीमक्रन् कुर्वन्ति 'सामान्यकाले लुङ्' ॥२२॥

भाषार्थ—(सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो देवा जनिमायो न धमन्तः) पुण्य-कर्मी, विद्यासे शोभायमान 'अपने आप देव बननेको इच्छा रखने वाले' विद्वान् लोग निज जन्मको लोहशोधने के समान उत्तम सम्पादन करते हुए (अग्निं शुचन्तः) यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करते हुए (इन्द्रं वावृधन्तः) विद्युद्रूप अग्नि को बढ़ाते हुए (गव्यां परिषदं न उर्वीमक्रन्) वाणी सम्बन्धी सभाको हमारे लिये महती तय्यार करते हैं ॥ २२ ॥

शिक्षा—धर्मात्मा विद्वान् महानुभाव जब यज्ञ रचते हैं तब मनुष्य हितका विचार करनेके लिये विद्वत्सभा भी करते हैं ॥ २२ ॥

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद्द देवानां जनिमान्त्युग्रः ।
मर्तासश्चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ २३ ॥

(उपरस्यायोर्वृधे मर्तासश्चिदुर्वशीरकृप्रन्) उपरस्य मेघस्यायोरयनस्य मेघायनस्य मेघमण्डलस्य "उपरो मेघः" (नि० १।१०) "आयोरयनस्य" (नि० ११।५०) वृधे वर्धनाय मर्तासो मनुष्या यजमानरूपा ऋत्विग्रूपाश्चोर्वशीर्व्यापनशीलानि ज्योतींषि महता यज्ञेनाकृप्रन् कल्पयन्ति सम्पादयन्ति "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" (अष्टा० ३।४।६) "उर्वशी-उर्वभ्यश्नुते" (बहु व्याप्नोति) निरु० ५ । १३ । "उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः" (लं० अत्रार्वशीसकाशान्मित्रावरुणयो रपत्यत्वं वासिष्ठं प्रदर्शितमथ चालङ्कारोऽत्र विद्यते, उर्वशी च विद्युज्ज्योतिः । अपरमन्त्रे चास्य समन्वयः) "विद्युतो ज्योतिः परिसञ्जिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा । तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठ०" (ऋ० ७ । ३३ । १०) दुर्गाचार्यश्चात्रार्वशीशब्दस्यार्थं विद्युदिति मन्यते तद्वचनम् "विशेषेण द्योतते देदीप्यत इति विद्युदुर्वशी" । अनन्तरम् (अर्यश्चियूथेव क्षुमति पश्वा देवानां जनिमान्त्युग्र आख्यत्) अर्यश्चित् कश्चित्स्वामी यूथेव क्षुमति यथाऽन्नवति घासवति समूहे पश्वः पशूनन्तिकं सामीप्येनाख्यद् व्यभजत, एवमुग्रो देदीप्यमानोऽग्निर्देवानां जनिम, जन्म निवर्तनं व्यक्तिभावमकरोत् । "क्षु इत्यन्ननाम" (नि० २ । ७) ॥ २३ ॥

भावार्थ—(उपरस्यायोर्वृधे मर्तासश्चिदुर्वशीरकृप्रन्) मेघस्थान-मेघमण्डल की वृद्धिके लिये यजमान और ऋत्विग् लोग व्यापने वाली ज्योतियोंको बड़े यज्ञ द्वारा सम्पादन करते हैं । (अर्यश्चियूथेव क्षुमति पश्वो देवानां जनिमान्त्युग्र आख्यत्) जैसे कोई स्वामी घासके समूहमें पशुओंको पास २ विभाग करता है यथोचित घास वितीर्णार्थ उनको नियुक्त करता है एवं यह यज्ञमें देदीप्यमान अग्नि देव अन्य सब देवोंके जन्म अर्थात् कार्य-कुशल व्यक्तित्वका सम्पादन करता है ॥ २३ ॥

शिक्षा—यज्ञाग्नि मेघमण्डलकी वृद्धिके निमित्त व्यापनशील विद्युत्को उत्पन्न करती है पुनः द्युस्थानके पदार्थोंमें उसका यथावत् सहयोग होने से वृष्टिका कार्यसम्भव है ॥ २३ ॥

अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः ।
विश्वं तद्द भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्द वदेम विदथे सुवीराः ॥२४॥

(ऋतं तेऽकर्म स्वपसो अभूम विभातीरुषसोऽवसन्) हे अग्ने! वयमृतं यज्ञं ते तुभ्यमकर्म कुर्याम तथा च स्वपसः सुकर्माणोऽभूम भवेम यदा विभातीर्देदीप्यमाना उषसो ज्वाला अवसन् तत्र यज्ञेऽवसन् वसन्ति । तदा (विश्वं यद् भद्रं तद्देवा अवन्ति) सर्वं यद् भद्रं सुखकरं हव्यं तद् देवा वाय्वादयोऽवन्ति रक्षन्ति । अग्नौ हुतं न विनश्यतीति भावः (विदथे सुवीरा बृहद् वदेम) वयं विदथे जनसङ्गतिरूपे यज्ञे सुवीराः सन्तो बृहत् प्रकृष्टं वदेम ॥ २४ ॥

भावार्थ—(ऋतं तेऽकर्म स्वपसोऽभूम विभातीरुषसोऽवसन्) हे अग्ने! हम यज्ञको तेरेलिये करें एवं सुकर्मी बनें जब तेरी ज्वालाएं यज्ञमें बस जावें तो (विश्वं यद् भद्रं तद्देवा अवन्ति) सब कुछ जो सुखकर हव्य है उसको वायु आदि देव रखते हैं। अर्थात् अग्निमें होम किया हुआ पदार्थ नष्ट नहीं होता (विदथे सुवीरा बृहद् वदेम) जनसङ्गतिरूप यज्ञमें हम सुवीर होते हुए तेरे गुणों को खूब वर्णन कर सकें ॥ २४ ॥

शिक्षा—अग्नि में होमी हुई वस्तु नष्ट नहीं होती किन्तु अनेक प्रकार से हितकर सिद्ध होती है ॥ २४ ॥

इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥२५॥

(इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु) इन्द्र ऐश्वर्यवान् सूर्यः "इन्द्र इत्येतमाचक्षते य एष 'सूर्यः' तपति" (श० ४ । ६ । ७ । ११) मां यजमान मरुत्वान् मरुतोऽस्य सन्तीति मरुत्वान् मरुद्भिः रश्मिभिः सह वर्तमानः "मरुतो रश्मयः" (तां० १४ । १२ । ९) प्राच्याः सम्मुखवर्तिन्या दिशः पातु रक्षतु (बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि) बाहुच्युता "बाहू वै मित्रावरुणौ" (श० ५ । ४ । १ । १५) ताभ्यामुभयबाहुभ्यामिव मित्रावरुणाभ्यामहोरात्राभ्यां च्युता गता पृथिवी यथा द्यां मेघमण्डलमुपरि पाति रक्षति स्थापयति (देवानां लोककृतः पथिकृतो हुतभागा इह स्थ) देवानां विदुषां मध्ये ये सन्ति लोककृतो लोकोपकारकर्तारः पथिकृतो मार्गनिर्मातारो हुतभागा दातव्यभागाधिकारिणस्ते सर्वे इहास्मिन् यज्ञे स्थ सन्ति सन्तु वा । अत्र पुरुषव्यत्ययः ॥ २५ ॥

भावार्थ—(इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु) सूर्य अपनी रश्मियों के साथ वर्तमान हुआ पूर्व या सम्मुख वाली दिशासेमेरी रक्षा करे (बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि) अहोरात्रसे प्राप्त पृथिवी जैसे मेघमण्डलकी रक्षा करती है

अपने ऊपर सदा वर्तमान रखती है (देवानां लोककृतः पथिकृतो हुतभागा इह स्थ) एवं विद्वानोंके मध्यमें जो लोकोपकार करने वाले तथा संसारयात्राके लिये मार्ग बनाने वाले दानपूजाके अधिकारी महानुभाव यहां हैं वे मेरी रक्षा करें ॥ २५ ॥

शिक्षा—यज्ञानुष्ठानसे सूर्य अपनी किरणों द्वारा पूर्व दिशासे हमारी रक्षा करता है एवं पृथिवी मेघवृष्टिके परिणामसे और विद्वान् परोपकार तथा पथप्रदर्शकता से रक्षा करते हैं ॥ २५ ॥

धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु बाहु० ॥ २६ ॥

(धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु) लोकानां धारयिता स एव सूर्यः "यः सूर्यः स धाता" (ऐ० ३ । ४८) निर्ऋत्या निरन्तररममाणक्रियया सह वर्तमानाया दक्षिणाया दक्षिणहस्तगताया दिशः पातु यतोऽहं दक्षिणाङ्गेन निरन्तररम-माणः कार्यकुशलो भवेयम् । अग्रे पूर्ववत् ॥ २६ ॥

भावार्थ—(धाता मा) लोकोंका धारक सूर्य मुझे (निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः) निरन्तर रमणशील दक्षिणहस्तकी दिशसे (पातु) सुरक्षित रखे जिससे मैं दक्षिणाङ्ग से कार्य कुशल बन सकूं ॥ २६ ॥

शिक्षा—दक्षिण दिशा या दक्षिण अङ्ग की तरफ भी सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा हमारी रक्षा करता है ॥ २६ ॥

अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्या दिशः पातु बाहु० ॥ २७ ॥

(अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्या दिशः पातु) अदितिः स एवाखण्डतेजाः सूर्यः मां यजमानमादित्यैरादानधर्मैः प्रतीच्याः पश्चिमायाः पृष्ठवर्तिन्या दिशायाः पातु ॥ २७ ॥

भावार्थ—(अदितिर्मा) अखण्डज्योतिः सूर्य मेरी (आदित्यैः प्रतीच्या दिशः) आदान धर्मों–आश्रय धर्मों के द्वारा पश्चिम या पृष्ठ की दिशासे मेरी रक्षा करे ॥ २७ ॥

शिक्षा—आश्रयधर्मोंके द्वारा सूर्य पश्चिम या पृष्ठकी तरफ से रक्षा करता है ॥ २७ ॥

सोमो मा विश्वैर्देवैरुदीच्या दिशः पातु बाहु० ॥ २८ ॥

(सोमो मा विश्वैर्देवैरुदीच्या दिशः पातु) सोमः स एव सूर्यो यः सुनोत्युत्पादयति मां सर्वैर्दिव्यगुणैरुदीच्या वामहस्तवर्तिन्या दिशः पातु० ॥ २८ ॥

भावार्थ—(सोमो मा) वही सबको उत्पन्न करनेवाला सूर्य मेरी (विश्वैर्देवैरुदीच्या दिशः) सब दिव्यगुणोंके द्वारा उत्तर या वाम हाथकी दिशासे (पातु) रक्षा करे ॥ २८ ॥

शिक्षा—सकल दिव्य गुणोंसे वर्तमान सूर्य उत्तरकी ओरसे मेरी रक्षा करता है ॥ २८ ॥

धर्ता ह त्वा धरुणो धारयाता ऊर्ध्वं भानुं सविता द्यामिवोपरि० ॥ २९ ॥

(धरुणो धर्ता ह त्वा धारयातै) धरुणो धारणशीलो धर्ता सूर्यस्त्वामवश्यं धारयातै धारयेत । (ऊर्ध्वं भानुं सविता द्यामिवोपरि) ऊर्ध्वं भानुं भासमानं रश्मिमण्डलमुपरि यथा धारयति० ॥ २६ ॥

भावार्थ—(धरुणो धर्ता) धारणशील सूर्य (त्वा धारयातै) अवश्यमेव तुझको धारण करे (ऊर्ध्वं भानुं सविता द्यामिवोपरि) ऊपर जैसे भासमान रश्मिमण्डलको धारण करता है ॥ २६ ॥

शिक्षा—सूर्यके आश्रय रश्मियां हैं अत एव सारे लोक लोकान्तर या प्राणी भी उसी के आश्रय हैं ॥ २६ ॥

प्राच्यांत्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामादधामि बाहु० ॥३०॥

(प्राच्यां दिशि त्वा पुरा संवृतः स्वधायामादधामि) सम्मुखवर्तिन्यां दिशि पुरा स्वात्मना "आत्मा वै पूः" (श० ७ । ५ । १ । २१) संवृतः सम्यग्वृतः सन् त्वां स्वधायां सद्भावनायामादधामि संस्थापयामि० ॥ ३० ॥

भाषार्थ—(प्राच्यां दिशि त्वा) सम्मुखवर्ती दिशामें तुझको (पुरासंवृतः) स्वात्मा से सम्यग् वर्तमान हुआ (स्वधायामादधामि) सद्भावना में संस्थापन करता हूँ ॥ ३० ॥

शिक्षा—पूर्व दिशा में सद्भावनासे सूर्यका सेवन करना चाहिये ॥ ३० ॥

दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामादधामि बाहु० ॥३१॥

प्रतीच्यां	**त्वा**	,,	,,	**॥३२॥**
उदीच्यां	**त्वा**	,,	,,	**॥३३॥**
ध्रुवायां	**त्वा**	,,	,,	**॥३४॥**
ऊर्ध्वायां	**त्वा**	,,	,,	**॥३५॥**

एवं सर्वत्र दिशाभेदेन समन्वयःकर्तव्यो नान्यः कश्चिद्विशेषः ॥३१-३५ ॥

भाषार्थ—दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुवा, ऊर्ध्वा के दिशाभेदसे पूर्वके समान अर्थ समझो ॥३१–३५ ॥

धर्तासि धरुणोसि वंसगोसि ॥ ३६ ॥

(धर्तासि) हे सूर्य ! त्वं सर्वेषां धर्तासि (धरुणोसि) आश्रयणीयोसि (वंसगोसि) सुखं प्रापयितासि, वंसं वननीयं गमयतीति यतः: ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(धर्तासि) हे सूर्य तू सब का धारक है (धरुणोसि) आश्रय-दाता है (वंसगोसि) सुख प्राप्त कराने वाला है ॥ ३६ ॥

शिक्षा—सूर्य संसारका धारक, आश्रयणीय और सुख सम्पादक है अतः सूर्य विज्ञानको सीखना चाहिये ॥ ३६ ॥

उदपूरसि मधुपूरसि वातपूरसि ॥ ३७ ॥

(उदपूरसि) जलप्रेरकोऽसि (मधुपूरसि) अन्नप्रेरकोसि (वातपूरसि) वायुप्रेरकोसि ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(उदपूरसि) जलका प्रेरक है (मधुपूरसि) अन्नका प्रेरक है (वातपूरसि) वायुका प्रेरक है ॥ ३७ ॥

शिक्षा—सूर्य प्राणियोंके योग्य अन्न, जल और वायु का सम्पादन करता है ॥ ३७ ॥

इतश्च मामुतश्चावतां यमे इव यतमाने यदैतम् ।
प्र वां भरन् मानुषा देवयन्त आसीदतां स्वमुलोकं विदाने ॥३८॥

(यमे इव यतमाने यदैतम) हे द्यावापृथिव्यौ युवां यमे इव सहजातकन्ये इव यद्यतोऽस्मिन् संसार ऐतमागच्छतमतो युवाम (इतश्चामुतश्च मावताम्) इतश्च पृथिवीतश्चामुतश्च दिवश्च माऽवतां रक्षतम् (मानुषा वां प्रभरन् स्वमुलोकमासीदताम) मानुषा मनुष्या वां युवां प्रभरन् प्रभरन्ति मातापितृरूपे धारयन्ति तस्मात् स्वमुलोकं स्थानं मानवशरीरं विदाने जानत्यौ समन्तात् प्राप्नुतम् ॥३८ ॥

भाषार्थ—(यमे इव यतमाने यदैतम्) हे द्यावापृथिवी तुम दोनों सहजात कन्याओंके तुल्य जिससे इस संसारमें आती हो अतः तुम दोनों (इतश्चामुतश्च-मावताम्) इधरसे यानि पृथिवी अपनी तरफसे और उधरसे यानि द्यौ अपनी तरफ़से मेरी रक्षा करें (मानुषा वां प्रभरन् स्वमुलोकमासीदताम) मनुष्य तुम दोनोंका मातापिताके रूपमें आश्रय लेते हैं अत एव तुम मानवशरीरको सुख सम्पादनार्थ सदा प्राप्त हो ॥ ३८ ॥

शिक्षा—संसार में 'अधः—ऊर्ध्व' या 'स्थूल—सूक्ष्म' की मर्यादा से 'पृथिवी और द्यौ' वर्तमान हैं जो प्राणी मात्रको अपने अन्दर धारण करती हैं ॥ ३८ ॥

स्वासस्थे भवतमिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः ।
वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् ॥३९॥

(इन्दवे नः स्वासस्थे भवतम्) द्यावापृथिव्यौ नोऽस्माकमिन्दवे यज्ञाय 'इन्दुर्यज्ञनाम' (नि० ३।१७) स्वासस्थे सुखसम्पादिके भवतम् (पूर्व्यं ब्रह्म वां नमोभिर्युजे) पूर्व्यं शाश्वतिकं ब्रह्म वेदं मन्त्रानिति यावत् । वां युवाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां नमोभिर्यज्ञैर्युजे युनज्मि । "यज्ञो वै नमः" (श० ७ । ४ । १ । २०) (श्लोको व्येति पथ्येव सूरिः) श्लोको मन्त्रो व्येति ध्वनिमेवं विशेषेण प्राप्नोति सूरिर्विद्वान् स्तोता पथ्यायामुच्चारणप्रक्रियायां यथा प्रवर्तेत (विश्वेऽमृतास एतच्छृण्वन्तु) सर्वेऽमृतास आत्मान एतत्स्वरं शृण्वन्तु ॥ ३९ ॥

भावार्थ—(इन्दवे नः स्वासस्थे भवतम्) द्यावापृथिवी हमारे यज्ञके लिये सुखसम्पादक हों (पूर्व्यं ब्रह्म वां नमोभिर्युजे) शाश्वतिक वेद यानि मन्त्रों को तुम्हारे प्रति यज्ञों द्वारा प्रयुक्त करता हूँ (श्लोको व्येति पथ्येव सूरिः) मन्त्र एवं ध्वनिको प्राप्त होना है जैसे अच्छे विद्वान्की उच्चारणप्रक्रिया में होनी चाहिये । (विश्वेऽमृतास एतच्छृण्वन्तु) और सब मनुष्य इस स्वरको सुन सकें ॥ ३९ ॥

शिक्षा—पृथिवी और मेघ मण्डल को उपयोगी बनानेके लिये यज्ञ करना चाहिये और यज्ञमें वेदपाठ होना चाहिये जिसकी ध्वनि अच्छे विद्वानोंके मुखसे निकली हुई सब लोग सुगमता से सुन सकें ॥ ३९ ॥

त्रीणि पदानि रुपो अन्वरोहच्चतुष्पदीमन्वैद्व्रतेन ।
अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि संपुनाति ॥ ४० ॥

(रुपस्त्रीणि पदान्यन्वरोहत्) रूपयति रूपं धारयतीति रूपो जीवस्त्रीणि पदानि त्रीणि शरीराणि स्थूलसूक्ष्मकारणाख्यानि, अन्वरोहदधितिष्ठति (व्रतेन चतुष्पदीमन्वैत् *) व्रतेन व्रताचरणेन चतुष्पदीं चतुर्थीमवस्थां तुरीयाख्यामन्वैल्लब्धवान् तत्र च (अक्षरेण प्रतिमिमीते) अक्षरेणाविनाशिब्रह्मणा सह प्रतिमिमीते साहचर्यं सादृश्यं प्राप्नोति । अथ च (ऋतस्य नाभावर्कं संपुनाति) ऋतस्य ज्ञानरूपवेदस्य नाभावाधाररूपे तस्मिन्नेवोङ्काराक्षरेऽर्कं स्वात्मानं सम्पुनाति निर्मलीं करोति शुद्धः सन् तिष्ठति "वेत्थार्कमिति पुरुषं ह वै तदुवाच" (श० १० । ३ । ४ । ५) "स एषोऽग्निरर्को यत्पुरुषः" (श० १० । ३ । ४ । ५) ॥ ४० ॥

---

* "अन्वैत्" इतिपाठः क्वचित् ।

भावार्थ—(रूपभीणि पदान्यन्वरोहत्) संसारमें प्रकट होने वाला जीव स्थूल सूक्ष्म और कारण के भेदसे तीन शरीरोंको प्राप्त होता है (व्रतेन चतुष्पदीमन्वैत्) व्रताचरणसे तुरीयनाम की चतुर्थावस्था को प्राप्त करता है (अक्षरेण प्रतिमिमीते) अविनाशि ब्रह्मके साथ सहयोग तथा सदृशताको प्राप्त होता है (ऋतस्य नाभावर्क संपुनाति) ज्ञानरूप वेदकी नाभि अर्थात् आश्रयभूत उसी अविनाशी ब्रह्म में अपने आपको अत्यन्त निर्मल बनाता या शुद्ध रखता है॥ ४० ॥

शिक्षा—जीव संसारमें आकर स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरको धारण करता है पुनः व्रताचरणसे तुरीयावस्था में पहुँच ब्रह्मके सहयोग और सदृशता को प्राप्त हो ज्ञानके केन्द्रमें अपने आपको कृतकृत्य करता है ॥४०॥

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वमा रिरेच ॥ ४१ ॥

(बृहस्पतिर्ऋषिर्देवेभ्यः कं मृत्युं नावृणीत) बृहस्पतिर्ऋषिर्बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी, ऋषिः सर्वद्रष्टा परमात्मा देवेभ्योऽधीतविद्येभ्यो विज्ञातात्मभ्यः कं कथञ्जातीयं मृत्युं नावृणीत न स्वीकृतवान् ? न तत्र देवानाममरत्वे बृहस्पतिः कारणम्, तेषां कर्माण्येवैवंविधानि यतस्ते मृत्युरहिता मोक्षं प्राप्ताः सन्ति (प्रजायै किममृतं नावृणीत) प्रजायै प्रकृष्टेन पुनः पुनर्जायते या तस्यै किञ्जातीयममृतं नावृणीत न स्वीकृतवान् ? न तत्र प्रजाया मरणत्वे बृहस्पतिः कारणमपितु पुनर्जन्मनिमित्तं कर्मैव कारणम् । (यज्ञं तनुते) बृहस्पतिस्तु केवलं यज्ञं सर्वेषां शरीररूपं यज्ञं तनुते विस्तारयति । किन्तु (यमः प्रियां तन्वमारिरेच) यमः काल एव प्रियामनुकूलां तन्वं तनुमारिरेच प्राणरिक्तां करोति ॥ ४१ ॥

भावार्थ—(बृहस्पतिर्ऋषिर्देवेभ्यः कं मृत्युं नावृणीत) आकाशादि बड़े बड़े लोकोंके स्वामी सर्वसाक्षी परमेश्वर ने कृतात्मविद्वानों के लिये किस प्रकार के मृत्युको नहीं दिया है ? देवों के अमरपन में बृहस्पति कारण नहीं है कर्म ही उनके इस प्रकार के हैं जो अमरपन यानि मोक्ष को प्राप्त होते हैं (प्रजायै किममृतं नावृणीत) पुनः पुनः जन्म लेने वाली प्रजा के लिये किस अमरपन को नहीं दिया है ? पुनर्जन्म का कर्म ही कारण है (यज्ञं तनुते) बृहस्पति तो केवल सबके शरीरयज्ञका विस्तार करते हैं किन्तु (यमः प्रियां तन्वमारिरेच) काल यानि समय ही इस प्यारी कायाका प्राणों से खाली कर देता है ॥ ४१ ॥

शिक्षा—जगदीश्वर देवोंको मृत्युसे अलग रहने और बारम्बार जन्मने वाले प्राणियों को अमरपन से अलग रहनेमें कारण नहीं है प्रत्युत उनके अपने अपने

कर्म ही कारण हैं जगदीश देव तो वस्तुतः संसारमें प्रत्येक प्राणी के शरीरको उत्पन्न करता है किन्तु समय बलवान् है वह ही उनकी प्यारी काया को उनसे खाली करा लेता है ॥ ४१ ॥

त्वमग्न इडि····॥ ४२ ॥ (देखो सूक्तसमन्वय) ऋग्वेद १०।१५।१२ (पृष्ठ ४६)

आसीनासो····॥ ४३ ॥ " ऋग्वेद १०।१५।७ (पृष्ठ ४५)

अग्निष्वात्ता····॥ ४४ ॥ " ऋग्वेद १०।१५।११ (पृष्ठ ४८)

उपहूता नः ···॥ ४५ ॥ " ऋग्वेद १०।१५।५ (पृष्ठ ४४)

ये नः पितुः····॥ ४६ ॥ " ऋग्वेद १०।१५।८ (पृष्ठ ४६)

ये तातृषु····॥ ४७ ॥ " ऋग्वेद १०।१५।९ (पृष्ठ ४७)

ये सत्यासो ॥ ४८ ॥ " ऋग्वेद १०।१५।१० (पृष्ठ ४८)

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम् ।
ऊर्णम्रदाः पृथिवी दक्षिणावत एषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ॥४९॥

(एतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवां भूमिं मातरमुपसर्प) हे जीव ! जन्म धारयितुं त्वमेतामुरुव्यचसं बहुशरीरव्यक्तिनिर्मात्रीं प्रथितां सुशेवां सुखसम्पादिकां भूमिं मातरमुपसर्पोपगच्छाश्रयस्व (दक्षिणावत एषा पृथिव्यूर्णम्रदाः) दक्षिणावते स्वकर्मफलशरीरधारणयोग्यजीवायैषा पृथिव्यूर्णवन्मृद्वी भवति (पुरस्तात्प्रपथे त्वा पातु) पुरस्तात् पूर्वसृष्टावारम्भसृष्टौ संसारयात्रायां पथाग्रे त्वां पालयतु ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—(एतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवां भूमिं मातरमुपसर्प) हे जीव ! जन्म धारण करनेके लिये तू इस बहुत प्रकार से जीव व्यक्तियों को प्रकट करने वाली विस्तृत और अनुकूलताको सम्पादिका भूमि रूपी माताको प्राप्त हो (दक्षिणावत एषा पृथिवी-ऊर्णम्रदाः) स्वकर्मफल शरीरके धारण योग्य जीवके लिये यह पृथिवी ऊनके तुल्य मृदु होजाती है (पुरस्तात्प्रपथे त्वा पातु) पूर्वसृष्टि अर्थात् आरम्भसृष्टिमें संसार यात्राके पथाग्र पर तेरा पालन करती है ॥ ४९ ॥

शिक्षा—आरम्भसृष्टिमें सब जीवोंकी एक मात्र माता पृथिवी ही होती है। अत एव उस समय मनुष्योंकी भी अमैथुनी सृष्टि होती है। नानाभेदों से मनुष्यादि शरीरों का प्रादुर्भाव होता है। आरम्भ सृष्टिमें पृथिवीका बाह्यतल ऊन के समान कोमल होता है ॥ ४९ ॥

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा निबाधथाः सूपायनास्मै भव सूपसर्पणा ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥

(पृथिवि उच्छ्वञ्चस्व मा निबाधथाः) हे पृथिवि त्वमुच्छ्वञ्चस्व जीवगर्भं धारयितुमुद्गच्छ पुलकितपृष्ठा भव 'श्वचि गतौ भ्वादिः' मा निबाधथा जीवं न पीडय (अस्मै सूपायना सूपसर्पणा भव) अस्मै जीवाय सूपायना शरीरधारणवर्धनयोग्या सूपसर्पणा सम्यगुपरि प्रेरयित्री भव (भूमे माता पुत्रं यथा सिचैनमभ्यूर्णुहि) हे भूमे ! माता यथा पुत्रं जननानन्तरं सिचा दुग्धसेचनपार्श्वेन स्तनपार्श्वेनाश्रयं ददाति तथा त्वमपि जीवरूपं पुत्रं प्रकटीकृत्य वनस्पतियुक्तेन निजपार्श्वेनाश्रयं देहि ॥ ५० ॥

भावार्थ—(पृथिवि, उच्छ्वञ्चस्व मा निबाधथाः) हे पृथिवि ! तू जीवगर्भ को धारण करनेके लिये पुलकित पृष्ठा–उफनी हुई हो जा, जिससे इस जीवको पीड़ा न दे सके (अस्मै सूपायना सूपसर्पणा भव) इसके लिये शरीरधारणवर्धन कराने योग्य तथा सम्यक् उपसरणे-ऊपर उभरने-बाहर प्रकट होने में निमित्त बन (भूमे माता पुत्रं यथा सिचैनमभ्यूर्णुहि) हे भूमे ! तू माता जैसे पुत्रको जननेके पश्चात् अपने दुग्धसेचन पार्श्वसे आश्रय में धारण करती है एवं तू भी जीवरूप निज पुत्रको जन्म देकर वनस्पतिसे युक्त अपने पार्श्वसे आश्रय दे ॥ ५० ॥

शिक्षा—जीवगर्भ जब भूमिमें आता है तो भूमि ऊपरके पृष्ठ पर पुलकित उफनी हुई पोली सी हो जाती है जिससे आसानीके साथ जीव बढ़सके और गर्भकी आवश्यकताओं को पूरा करती है, गर्भके पूर्ण होते ही उसको ऊपर उभरने–बाहर प्रकट करनेमें योग्य होती है तथा बाहर प्रकट होजाने पर ओषधियों से उसका पोषण भी करती है अतएव उस समय जीव सब प्रकार कुशल कुमारावस्था में उत्पन्न होते हैं ॥ ५० ॥

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सुतिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम् ।
ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ॥५१॥

(उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सुतिष्ठतु) यदा पुलकितपृष्ठा पृथिवी सुतिष्ठतु सम्यक् तिष्ठति तदा (सहस्रं मिथो ह्युपश्रयन्ताम्) सहस्रमसंख्याता जीवा मिथः परस्परं हि, उपश्रयन्तामुपतिष्ठन्ते (ते गृहासो घृतश्चुतोऽस्मै विश्वाहाऽत्र स्योनाः शरणाः सन्तु) जीवात्मने ते गृहासो गर्भकोशा घृतश्चुतो रसपूर्णाः सर्वदाऽत्र स्योनाः सुखकराः शरणाः शरण्याः सन्तु भवन्ति ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सुतिष्ठतु) जब पुलकितपृष्ठा उफनी हुई-पोलीसी बनी हुई पृथिवी तैयार हो जाती है तब (सहस्रं मिथो ह्यु पश्रयन्ताम्) असंख्य जीव परस्पर ही आश्रित रहते हैं (ते गृहासो घृतश्चतोऽस्मै विश्वाहात्र स्योनाः शरणाः सन्तु) जीवात्मा केलिये वे गर्भगृह रसपूर्ण सर्वदा सुखकारक आश्रय देने वाले होते हैं ॥ ५१ ॥

शिक्षा—जीवसृष्टिके लिये पृथिवी ऊपर पोली और मृदु कुछकाल तक रहती है पुनः उसमें असंख्य जीव परस्पर आश्रित रहते हैं अत एव आज तक भी स्व स्वजातीय सङ्घ में रहने का स्वभाव प्रायः सभी जीवों में वर्तमान है आत्माके लिये गर्भगृह स्वाभाविक रस देते हुए शरणीय हैं ॥ ५१ ॥

उत्ते स्तभ्नाभि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥५२॥

(पृथिवीं त उत्तभ्नामि) हे जीव ! तुभ्यमहमीश्वरः पृथिवीं जलमिश्राद् भूगोलादुपर्याकर्षामि (त्वदिमं लोगं परिनिदधन्मोऽहं रिषम्) त्वत् तव 'विभक्तिव्यत्ययः' । इमं लोगं लुङ्गं ग्रहणं गर्भकोशमित्यर्थः 'लुञ्जि हिंसाबलादाननिकेतनेषु । इदितो नुम् धातोरिति छन्दसि सर्वे विधयो विकल्प्यन्तेऽतो नुमभावः । अधिकरणार्थे घञ् । चजोः कुघिण्यतोरिति कुत्वम्' । परिनिदधत्समर्पयन् नैवाहं हिंसेयम् (एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति) एतां स्थूणामुपर्युत्थितां भूमिं पितरः सूर्यरश्मयो धारयन्ति (तत्र यमस्ते सादना कृणोतु) तत्र यमः सूर्यस्ते तुभ्यं सादना गर्भकोशान् सम्पादयति ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—(पृथिवीं त उत्तभ्नामि) हे जीव ! तेरे लिये मैं ईश्वर पृथिवीको जल मिश्रित भूगोलसे ऊपर खींचता हूँ (इमं ते लोगं परिनिदधत्) वहां तेरे इस गर्भकोश को रखता हुआ मैं पीड़ा नहीं देता हूँ (एतां स्थूणां पितरो धारयन्वि) इस ऊपर उठी हुई पृथिवीको सूर्यकिरणें धारण करती हैं (तत्र यमस्ते सादना कृणोतु) सूर्य तेरे लिये सब आवश्यक कोशों को बनाता है ॥ ५२ ॥

शिक्षा—आरम्भसृष्टि भूगोलके ऊंचे भाग पर होती है । वह भाग जल मिश्रित भूगोलसे पर्वत भूमि के रूप में ऊपर खींचा जाता है । उस उठे हुए भूभागको सूर्य की रश्मियां धारण करती हैं और सूर्य अपनी रश्मियोंद्वारा जीवात्माके गर्भादिको बनाता है अत एव उसका दूसरा नाम सविता है । ॥५२॥

इममग्ने चम····॥५३॥ (देखो सूक्तसमन्वय) ऋग्वेद १०।१६।८ (पृष्ठ ४८)

अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते ।
तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम् ॥५४॥

(अथर्वा यं पूर्णं चमसं वाजिनीवत इन्द्रायाबिभः) अथर्वा स्थिरकायो जीवन् जनो यं पूर्णं घृतेनपूर्णं चमसं वाजिनीवते वाजिनश्छन्दांसि मन्त्रास्तत्सम्बद्धा वाजिनीष्टिः सा विद्यते यस्य सोऽयं वाजिनोवानिन्द्रः, अत्र चाग्निरेवेन्द्र इदंदारणात् तस्मा अबिभर्बिभर्ति धारयति "छन्दांसि वै वाजिनः" (गो०क० १ । २० तै० १।६ । ३ ।८) "तर्हि हैषः (अग्निः) भवतीन्द्रः" (श० २ । ३ । २ । ११) (तस्मिन् सुकृतस्य भक्षं कृणोति) तस्मिन् चमसे सुकृतस्य सम्यक्कृतस्य सुहुतस्य भक्षं कृणोति करोति (तस्मिन् विश्वदानीमिन्दुः पवते) तस्मिन् चमस इन्दुर्यज्ञो विश्वदानीं सर्वदा पवते शुद्ध्यति पवित्री भवति । इन्दुर्यज्ञनामेत्युक्तम् । "विश्वदानीं सर्वदा" (निरु० ११ । ४४) 'पवतेऽत्र पूङ् पवने भ्वादिः' ॥ ५४ ॥ ?

भावार्थ—(अथर्वा यं पूर्णं चमसं वाजिनीवत इन्द्रायाबिभः) स्थिरकाय जीवित मनुष्य जिस घृतपूर्ण चमसको मन्त्रोच्चारण के साथ वर्तमान अग्नि में धारण करता अर्थात् रखता है (तस्मिन सुकृतस्य भक्षं कृणोति) उस चमसे में सुगन्धी आदि से सज्जितका भक्ष अग्निमें होमनेको बनाता है (तस्मिम् विश्वदानीमिन्दुः पवते) उस चमसेमें सदा यज्ञ शुद्ध होता है ॥ ५४ ॥

शिक्षा—दाह करने वाला जीवित पुरुष यदि मृतदेहको घृतचमासहुति के द्वारा अग्निमें होमता है तो उसकी दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है ॥ ५४ ॥

यत्ते कृष्णः····॥ ५५ ॥ (देखो सूक्तसमन्वय) ऋग्वेद १०।१६।६ (पृष्ठ २१)

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं पयः ।
अपां पयसो यत्पयस्तेन मा सह शुम्भतु ॥५६॥

(ओषधयः पयस्वतीर्मामकं पयः पयस्वत्) ओषधयः पयस्वत्यो रसवत्यः सारवत्यो भवन्तु यतो हि तासां पयसा मामकं मच्छरीरगतं पयो रसो रक्तं पयस्वत् वीर्यवद् भवतु । "रसो वै पयः" (श० ४ । ४ । ८ । ७) "रेतः पयः" (श० १२।४।१।७) (अपां पयसो यत्पयस्तेन सह मा शुम्भतु) अपामन्तरिक्षस्य पयसो जलस्य मेघस्थस्य यत्पयो वृष्टिजलं तेन सह मां शुम्भतु शुम्भयतु शोभयतु । अन्तर्गतोणिजर्थः ॥ ५६ ॥

भावार्थ—(ओषधयः पयस्वतीर्मामकं पयः पयस्वत्) ओषधियां रसवाली हों जिससे कि मेरा शरीरस्थ रक्त बलवान् बने (अपां पयसो यत्पयस्तेन सह मा

शुम्भतु) अन्तरिक्ष के मेघस्थ जलका जो वृष्टिरूप जल सार है उससे मुझको शोभित करे ॥ ५६ ॥

शिक्षा—सुगन्ध से यज्ञ या अन्त्येष्टि करने से ओषधियां विकृत नहीं होती अपि तु रस वाली होती हैं जिससे प्राणियोंका शरीरस्थ रक्त भी बलवान् होता है। अन्तरिक्षस्थ मेघजल और वृष्टिजल भी उत्तम होता है ॥ ५६ ॥ ?

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संस्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवा सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥५७॥

(इमा अविधवाः सुपत्नीर्नारीराञ्जनेन सर्पिषा संस्पृशन्ताम्) इमा अविधवाः सपतिकाः सुपत्न्यो नार्यः। 'अत्र सर्वत्र विभक्तिव्यत्ययः'। आञ्जनेन समन्तादञ्जनेन नेत्रमुखप्रक्षालनहेतुना सर्पिषा सर्पिरुदकं संस्पृशन्तां सङ्गृह्णन्तु। 'सर्पिरुदकनाम' (नि० १।१२) 'विभक्तिव्यत्ययः' (अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना जनयोऽग्रे योनिमारोहन्तु) अनश्रवोऽश्रुरहिता अनमीवाः स्वस्थाः सुरत्नाः सुरमणा जनयो युवतयोऽग्रे पूर्वत एव योनिमारोहन्तु गृहमधितिष्ठन्तु ॥ ५७ ॥ ?

भाषार्थ—(इमा अविधवाः सुपत्नीर्नारीराञ्जनेन सर्पिषा संस्पृशन्ताम्) यह जीवित पतिवाली सुशील नारियां भली प्रकार नेत्रमुखप्रक्षालनके कारण जल का सेवन करें (अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना जनयोऽग्रे योनिमारोहन्तु) आंसूरहित हुई स्वस्थ सुन्दर युवतियां श्मशान जाने से पूर्व ही घर को वापिस चली आवें ॥५७॥

शिक्षा—शव के साथ जाने वाली स्त्रियां जो पतिवाली और युवति हों वे किसी जलाशय तक पहुँचकर वहां नेत्र मुख आदि धोकर पुनः आंसुरहित स्वस्थ हुई घर को वापिस चली आवें ॥ ५७ ॥

सङ्गच्छस्व····॥ ५८ ॥ (देखो सूक्तसमन्वय) ऋग्वेद १०।१४।८ (पृष्ठ ३१)

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥५९॥

भाषार्थ—(ये नः पितुः पितरो ये पितामहः) जो हमारे पितृतुल्य सूर्यके मास और ऋतुएं हैं (य उर्वन्तरिक्षमाविविशुः) जो मास और ऋतुएं विस्तृत आकाशमें अपने प्रभाव से वर्तमान हैं (स्वराट् तेभ्योऽसुनीतिर्नोऽद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति) यज्ञ में प्रकाशमान अग्नि उनके द्वारा जो कि प्राणशक्तिका सञ्चार करने वाली हैं वह हमारे लिये अद्य यथोचित शरीरों सन्तानों का सम्पादन करती हैं ॥५९॥

शिक्षा—मास और ऋतुओंके द्वारा अग्नितत्व सन्तानों को युवतियों में उत्पन्न करता है ॥ ५९ ॥

इस मन्त्रके स्पष्टी करण के लिये देखो सूक्तसमन्वय अथर्व १८ । २ । ४९ पृष्ठ १४० में पूर्वार्द्ध तथा ऋ० १० । १५ । १४ पृष्ठ ५० में उत्तरार्द्ध ।

शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वावशीयताम् ।
शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।
मण्डूक्यप्सु शंभुव इमं स्वग्निं शमय ॥ ६० ॥

(नीहारस्ते शं भवतु) नीहारस्तुषारः खजलं तुभ्यं शमनुकूलं भवतु (प्रुष्वा ते शमवशीयताम्) प्रुष्वा वृष्टिस्ते तुभ्यं शमनुकूलमवशीयतामधः पततु । अग्रे ऋ० १० । १६ । १४ (पृ० ६२) व्याख्यातः ॥ ६० ॥

भावार्थ—(नीहारस्ते शं भवतु) तुषार ओस तेरे लिये अनुकूल हो (प्रुष्वा ते शमवशीयताम्) वृष्टि तेरे लिये अनुकूल गिरे (शीतिके............ऋ० १०।१६।१४) हे दूब घास और दूबयुक्त भूमि तथा सुन्दर वल्ली और वल्ली वाली भूमि, और हे मेण्डकी तू जलों में कल्याण साधक हो तथा शवाग्नि को शान्त कर । स्पष्टीकरण के लिये देखो ऋ० १० । १६ । १४ पृष्ठ ६२ ॥ ६० ॥

शिक्षा—शवाग्नि से जले हुए स्थानको ओस और वर्षा ठीक बना देती है एवं जल के सम्पर्क से वह भूमिमें पूर्वके समान घास मेण्डकी आदि से सुशोभित होजाती है ॥ ६० ॥ ?

विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः ।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥ ६१ ॥

(विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः) आदित्योऽस्मभ्यं भयराहित्यं करोति यश्च सम्यक् त्राता अथ चाऽऽजरावस्थं जीवनस्य प्रदाता सुदाता चास्ति (इहेमे वीरा बहवो भवन्तु) अस्मिन् संसार इमे पुत्रादयो वीरा बहवो भवन्तु (गोमदश्ववत्पुष्टं मय्यस्तु) गोयुक्तमश्वयुक्तं पुष्टं पोषकं धनं मयि भवतु ॥ ६१ ॥

भावार्थ—(विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः) सूर्य अपने प्रकाशसे हमको भयरहित करता है जो कि रक्षक और जरा अवस्था पर्यन्त जीवनका देने वाला दाता है (इहेमे वीरा बहवो भवन्तु) इस संसार में ये

पुत्रादि वीर बहुत होवें (गोमदश्वत्पुष्टं मय्यस्तु) गोयुक्त, अश्वयुक्त पोषकधन मुझ में स्थिर हो ॥ ६१ ॥

शिक्षा—सूर्य देव रोगादि भयसे पृथक् करता है जरा अवस्था पर्यन्त उस की किरणें जीवन की सहायक हैं ऐश्वर्य का नियन्त्रणबल भी प्रदान करता है ॥६१॥

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु ।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वेषामसवो यमं गुः ॥६२॥

(विवस्वान् नोऽमृतत्वे दधातु) आदित्योऽस्मानमृतत्वे स्वास्थ्ये धारयतु (मृत्युः परैतु) मृत्युभयं परागच्छतु दूरं तिष्ठतु (अमृतं न ऐतु) अमृतं मोक्षसुख-अस्मान् प्राप्नोतु (आजरिम्ण इमान् पुरुषान् रक्षतु) जरावस्थापर्यन्तमिमान् पुत्रादीन् पुरुषान् रक्षतु (एषामसवो यमं मो सुगुः) एषामसवः प्राणा यमं यन्तारं कालं मो नैव सुगुर्जरायाः पूर्वं गच्छन्तु ॥ ६२ ॥

भावार्थ—(विवस्वान् नोऽमृतत्वे दधातु) आदित्य हमको स्वस्थतामें धारण करे रखे (मृत्युः परैतु) मृत्यु भय दूर रहे (अमृतं न ऐतु) मोक्षसुख हमको प्राप्त हो (आजरिम्ण इमान पुरुषान् रक्षतु) बुढ़ापे तक इन हमारे पुरुषों को सुरक्षित रखे (एषामसवो यमं मो सुगुः) इनके प्राण अन्तक काल को न प्राप्त हों ॥ ६२ ॥

शिक्षा—सूर्य मनुष्य के स्वास्थ्यका हेतु है रोगोंके दूर होनेमें भी कारण है ॥ ६२ ॥

यो दध्रे अन्तरिक्षे न मह्ना पितॄणां कविः प्रमतिर्मतीनाम् ।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥६३॥

(यो मतीनां प्रमतिर्नान्तरिक्षे पितॄणां कविर्मह्ना दध्रे) यो मतीनां मेधाविनां प्रमतिः प्रकृष्टमेधावीवान्तरिक्षे पितॄणां रश्मीनां कविरादित्यस्तान् रश्मीन् मह्ना महत्वेन दध्रे धारयति "असौ वा आदित्यः कविः (श० ६ । ७ । २ । ४) विश्वमित्रास्तं हविर्भिरर्चत) हे सर्वमित्रा ऋत्विजस्तं हविर्भिराहुतिदानेनार्चतानुतिष्ठत (स यमो नो जीवसे प्रतरं धात्) स यम आदित्यः । "यमो रश्मिभिरादित्यः" (निरु० १२ । २१) जीवसे जीवनाय प्रतरं प्रतरणं धाद् धारयेत् ॥ ६३ ॥

भावार्थ—(यो मतीनां प्रमतिर्नान्तरिक्षे पितॄणां कविर्मह्ना दध्रे) जो मेधावियों में उच्च मेधावी के तुल्य अन्तरिक्ष में वर्तमान रश्मियों को आदित्य धारण करता है (विश्वमित्रास्तं हविर्भिरर्चत) हे सबके मित्र ऋत्विजो ! उसको आहुतिदान से

सेवन करो (स यमो नो जीवसे धात्) वह आदित्य हमारे लिये जीवनकी नौका को धारण करे ॥ ६३ ॥

शिक्षा—रश्मिनायक सूर्यका सेवन हवियों द्वारा करना मानों संसार सागर तरने के लिये नौकाका आश्रय लेना है ॥ ६३ ॥

आरोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन ।
सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥६४॥

(सोमपाः सोमपायिन ऋषय इदं वो हविः क्रियते) हे सोमपाः सोमपायिन ऋषयो रश्मयो वो युष्मभ्यमिद हविः क्रियते । "ऋषयो रश्मयः" (निरु०१२।३७) तदेतद् हविः पीत्वा (उत्तमां दिवमारोहत मा बिभीतन) उत्तमामुत्तमामन्तिमां तृतीयां दिवं रश्मिमण्डलं गच्छत तत्र गन्तु यूयं भयं न कुरुथेति प्रकृतिर्युष्माकम् (ज्योति रुत्तममगन्म वयमेवङ्कृतेन तद्रश्मिमण्डलमगन्म गच्छाम इत्येष प्रकारस्तत्रास्माकं गन्तुं नान्यथा ॥ ६४ ॥

भावार्थ—(सोमपाः सोमपायिन ऋषय इदं वो हविः कियते) हे रश्मियो ! तुम्हारे लिये यह हविकी जाती है, इस हविको पीकर (उत्तमां दिवमारोहत मा बिभीतन) जो सबसे ऊपर रश्मिमण्डल है वहां इस हवि को ले जावो किसी प्रकार का तुम भय नहीं करती हो यह तम्हारा स्वभाव है (ज्यातिरुत्तममगन्म) हम इस प्रकार इसरश्मिमण्डल को प्राप्त हो सकते हैं यानी उसका उपयोग ले सकते हैं ॥६४॥

शिक्षा—यज्ञ में डाली हुई हवि सूर्य किरणों द्वारा रश्मिमण्डल यानी सूर्य को प्राप्त होती है पुनः हम उससे लाभ उठाते हैं ।

प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ ६५ ॥

(अग्निर्बृहता केतुना प्रभाति) अग्निरेष सूर्यो बृहता महता केतुना रश्मिमण्डलेन प्रभाति प्रकाशते (वृषभो रोदसी आरोरवीति) वृषभो मेघवर्षणहेतुः सूर्यः "स एष आदित्यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्" (जै० उ० १ । २८ । २) रोदसी द्यावापृथिव्यौ "रोदसी द्यावापृथिवीनाम" (नि० ३ । ३०) मेघान्तर्गत आरोरवीति आक्रम्य रोरवीति (दिवश्चिदन्तान्मामुपोदानट्) दिव आकाशस्यान्तात् पर्यन्तादपि मामुप मत्समीपमुदानड्व्याप्तोऽस्ति (अपामुपस्थे महिषो ववर्ध) अपां जलानामुपस्थाने मेघमण्डल इत्यर्थः, महिष एषोऽग्निर्महान् देवो ववर्ध वर्धते "अग्निर्वै महिषः स हीदं जातो महान् सर्वमैक्षत" (श० ७ । ३ । १ । २३) ॥ ६५ ॥

भावार्थ—(अग्निर्बृहता केतुना प्रभाति) सूर्यरूप अग्नि अपने बड़े रश्मि-मण्डलसे विश्वभर में प्रकाश करता है (वृषभो रोदसी आरोरवीति) मेघ वर्षाने वाला सूर्य द्यावापृथिवी को अपने तेजोबलसे प्राप्त होकर शब्द करता है (दिवश्चि-दन्तान्मामुपोदानट्) आकाशकी सब ओर से मेरे समीप प्रकट है (अपामुपस्थे महिषो ववर्ध) जलों के स्थान यानी मेघ मण्डलमें यह अग्नि विद्युत् के रूपमें व्यापता है ॥ ६५ ॥

शिक्षा—आकाश के बीच वर्तमान सूर्य अपने बड़े भारी रश्मिमण्डल द्वारा संसार में प्रकाश करता है तथा मेघों के अन्दर रश्मियों द्वारा विद्युत् के रूपमें वर्तमान हो गर्जन रूप घोर शब्द करता है एवं सब तरफ आकाश में मेघमण्डल के अन्दर विद्युत् के रूपमें व्यापता है ॥ ६५ ॥

नाके सुपर्णमुप यत् पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥६६ ॥

(यमस्य योनौ भुरण्युं वरुणस्य दूतं सुपर्णं हिरण्यपक्षं शकुनं नाके त्वो-पपतन्तं हृदा वेनन्तो यदभ्यचक्षते) लुप्तोपमालङ्कारोत्र—यमस्य कालस्य योनौ मूलस्थाने भुरण्युं गमनस्वभावम् "भुरण्यति गतिकर्मा" (नि० २ । १४) वरुणस्य जन्मदानेन स्वीकर्तुर्देवस्य दूतं सुपर्णं शोभनपतनं हिरण्यपक्षं ज्योतिर्मयपक्षं शकुनं पक्षिणमिव वर्तमानं त्वां विवस्वन्तं नाके दिव्युपपतन्तमुपचरन्तं हृदा हृदयेन वेनन्तः कामयमानाः सर्वे प्राणिनो यद्यतो ह्यभ्यचक्षतेऽभिपश्यन्ति ॥ ६६ ॥

भावार्थ—(यमस्य योनौ) इस मन्त्रमें लुप्तोपमालङ्कार है-काल (Time) के मूल स्थानमें (भुरण्युम्) गति करते हुए को (वरुणस्य दूतं) प्राणियों के जन्म देनेसे स्वीकार करने वाले वरुण देवके दूतको (सुपर्णं हिरण्यपक्षं शकुनम्) शोभन गति वाले ज्योतिर्मय रश्मिरूप पक्ष वाले पक्षीके तुल्य वर्तमान (नाके त्वोपपतन्तम्) द्युस्थानमें ऊपर विचरते हुए तुझ सूर्य को (हृदा वेनन्तः) हृदय से चाहते हुए सभी प्राणी (यदभ्यचक्षते) अवश्य ही साक्षात् करते हैं अर्थात् तेरे प्रकाशको प्राप्त करते हैं ॥ ६६ ॥

शिक्षा—कालचक्रका केन्द्र सूर्यके अधीन है, प्राणियोंके जन्मका कारण सूर्य है, सारे प्राणी ज्योतिर्मय पङ्ख वाले इस सूर्यको पक्षीके तुल्य आकाशमें विचरते हुए देख कर जीवनयात्रा को व्यतीत करते हैं ॥ ६६ ॥

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥६७॥

(इन्द्र पिता पुत्रेभ्यो यथा नः क्रतुमाभर) इन्द्र हे सूर्य ! पिता पुत्रेभ्यो यथा वर्तते तथा त्वं वर्तमानः सन् नोऽस्मभ्यं क्रतुं कर्म पुरुषार्थमाभर प्रवेशय (शिक्षा णः) अस्मान् शिक्ष प्रेरय । यतो वयम् (अस्मिन् यामनि पुरुहूत जीवा ज्योतिरशीमहि) अस्मिन् यामनि यातव्ये गन्तव्ये जगति । 'या धातोर्मनिन् प्रत्ययः' "सर्वधातुभ्यो मनिन्" (उ० ४ । १४५) पुरुहूत हे बहुप्रकारेण ह्वातव्य देव ! जीवा वयं जीवन्तो ज्योतिर्जीवनज्योतिरशीमहि प्राप्नुयाम ॥ ६७ ॥

भावार्थ—(इन्द्र पिता पुत्रेभ्यो यथा नः क्रतुमाभर) हे सूर्य ! जैसे पिता पुत्रोंके लिये रक्षादि कर्मसे वर्तता है वैसे तू हमारे लिये हमारे अन्दर सामर्थ्य का प्रवेश करा (शिक्षा णः) और हमको प्रेरितकर यानि बुद्धि-शक्ति हमारे अन्दर प्रदान कर । जिससे (अस्मिन् यामनि पुरुहूत जीवा ज्योतिरशीमहि) इस गन्तव्य जगत् में हे बहुत प्रकारसे ग्रहण करने योग्य देव ! हम जीवित जन जीवनज्योतिको प्राप्त कर सकें ॥ ६७ ॥

शिक्षा—सूर्य संसारके प्राणिमात्रकी उत्पत्ति और रक्षादि कर्म द्वारा पिताके तुल्य बर्त्ताव करता है, उसको रश्मियां प्राणिगर्भ और जीवनस्थिरताको हेतु हैं उनसे यथोचित लाभ उठाना चाहिये ॥ ६७ ॥

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ६८ ॥

(देवा यानपूपापिहितान् कुम्भान् तेऽधारयन्) देवा यज्ञकलाविदा विद्वांसः "विद्वांसो वै देवाः" (श० ३ । ७ । ३ । १०) यानपूपापिहितानपूपैः सपुगन्धैः सुसंस्कृतपक्वान्नविशेषैः पूर्णान् कुम्भान् द्वादशाङ्गुलान् षोडशाङ्गुलान् षट्त्रिंशदङ्गुलान् विस्तारोन्नतशालिनो बृहतो यज्ञपात्रविशेषान् ते तुभ्यमिन्द्र ! 'प्रकरणादिन्द्रो देवतात्र गृह्यते' अधारयन् धारयन्ति (ते स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतस्ते सन्तु) ते स्वधावन्तोऽन्नवन्तो गोधूमाद्यन्नैः सम्पन्ना मधुमन्तो नानाविधमधुररसवन्तो घृतश्च्युतो घृतप्रचुरा अपूपास्ते तुभ्यं सन्तु भवन्तु । इन्द्राय विविधं हविरिष्टान्नस्य देयमिति विज्ञेयम् ॥६८॥ ?

भावार्थ—(देवा यानपूपापिहितान् कुम्भान् तेऽधारयन्) यज्ञकलाके जानने वाले विद्वान् उत्तम सुगन्धयुक्त सुसंस्कृत पक्वान्न विशेषों से पूर्ण द्वादशाङ्गुलादिविस्तृत

परिमाण वाले बड़े यज्ञपात्रोंको हे सूर्य ! तेरे लिये तैयार रखते हैं (ते स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्च्युतस्ते सन्तु) व पक्वान्न गेहूँ आदि अन्नोंके बने हुए नानाप्रकारके मिठास से युक्त और घृतपूर्ण तेरे लिये यज्ञमें आहुतिरूपमें प्राप्त हों ॥ ६८ ॥

शिक्षा—यज्ञविद्याको जानने वाले लोग सूर्यरश्मियोंका वैज्ञानिक लाभ उठानेके लिये यज्ञमें उत्तम सुगन्धि वाले नाना प्रकारके मीठे रसोंसे युक्त घृतपूर्ण मिष्टान्नसे हवन करते हैं ॥ ६८ ॥

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्ता ते यमो राजानुमन्यताम् ॥६९॥

(याः स्वधावतीस्तिलमिश्रा धानास्तेऽनुकिरामि) याः स्वधावतीर्विविधस्वादून्नसम्पन्नास्तिलमिश्रा धाना भक्तास्ते तुभ्यमिन्द्र ! अनुकिराम्यत्र यज्ञाग्नौ क्षिपामि "बभ्रू ते हरी धाना उप ऋजीषं जिघ्रताम्" (नि० ५ । १२) (तास्ते विभ्वीः प्रभ्वीः सन्तु) ता धानास्ते तुभ्यं विभ्वोर्विशिष्टभावाः प्रभ्वीः प्रकृष्टभावाः सन्तु भवन्तु (तास्ते यमो राजानुमन्यताम्) तव धाना यमो राजा गार्हपत्यो यज्ञाग्निरनुमन्यतामनुकूलं कुरुताम् । "अथैष एव गार्हपत्यो यमो राजा" (श० २ । ३ । २ । २) ॥६९॥

भावार्थ—(या स्वधावतीस्तिलमिश्रा धानास्तेऽनुकिरामि) जो विविध स्वादु अन्नयुक्त तिलसहित धाना हे इन्द्र ! तेरे लिये यज्ञ में डालता हूँ, (तास्ते विभ्वीः प्रभ्वीः सन्तु) वे धाना तेरे लिये विशिष्टप्रभाववाली तथा उत्तम परिणाम देने वाली हों (तास्ते यमो राजानुमन्यताम्) उन तेरी धानाओंका गार्हपत्य यज्ञाग्नि रश्मियों में व्यापने वाली बनादे ॥ ६९ ॥ ?

शिक्षा—यज्ञाग्निमें तिल और धाना भी उत्तम २ मिष्टान्नों के साथ डालनी चाहिये एवं वे यज्ञाग्निमें डाली हुई वस्तुएं सूर्यरश्मियां में फैलने के योग्य बन जाती हैं ॥ ६९ ॥ ?

पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि ।
यथा यमस्य सादन आसातै विदथा वदन् ॥७०॥

(वनस्पते य एष त्वयि निहितः पुनर्देहि) वनानां रश्मीनां पते स्वामिन्निन्द्र सूर्य ! "वनं रश्मिनाम" (नि० १ । ५) य एषोऽपूपादिरुत्तमपदार्थस्त्वयि त्वन्निमित्ते निहितोऽग्नौ निक्षिप्तः । 'त्वयीति निमित्तसप्तमी' पुनर्देहि तं पुनर्देहि (यथा यमस्य सादने विदथा वदन्नासातै) एवं कृत्वा पुनर्देहि यद् यमस्य सादने यमसदने यम-

लोकेऽन्तरिक्षे विदथा वेदनानि यज्ञवेदनानि वदन् ध्वनयन् प्रकाशयन्-आसातै-आसीतोपतिष्ठेत ॥ ७० ॥ ?

भाषार्थ—(वनस्पते य एष त्वयि निहितः पुनर्देहि) हे रश्मियोंके स्वामिन् सूर्य ! जो ये अपूपादि हवन किया हुआ पदार्थ तेरे निमित्त यज्ञाग्नि में डाला है इसको फिर हमको दे (यथा यमस्य सादने विदथा वदन्) जिस प्रकार यह होमा हुआ पदार्थ अन्तरिक्षमें यज्ञकी सूचनाओंको प्रकाशित करता हुआ ठहर सके ॥ ७० ॥

शिक्षा—यज्ञ में होमा हुआ पदार्थ अन्तरिक्षमें पहुँच कर दूर २ स्थानों तकमें भी यज्ञकी सूचना देता है यानि इसकी सुगन्ध सूक्ष्म होकर दूर २ स्थान तक मनुष्यों के अनुभव में आती है और सूर्यरश्मियों द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर जैसे ही ऊपर मेघमण्डल में जाती है वैसे ही मेघवृष्टि द्वारा सूक्ष्म स्वरूप में हम तक पहुँचती है ॥ ७० ॥

आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते ।
शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ७१ ॥

(जातवेदस्ते तेजस्वद्धरोऽस्तु,आ रभस्व) हे जातवेदो जाते जाते विद्यमानेन्द्र सूर्य देव ! ते तव तेजस्वद् हरो ज्वलनं दीपनं यत्तद् आरभस्व प्रकाशय "हरो ज्वलतो नामधेयम्" (नि० १।१७) (अस्य शरीरं संदह) अस्य हुतपदार्थस्य शरीरं शीर्णशीलं मेघं संदह संदेहि सम्पादयेत्यर्थः । "शरीरं मेघः शरीरं शृणातेः शमनातेर्वा" (निरु० २।१६) तथा "विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार" (निरु० २ । १७) संदहेत्यत्र दह-धातुर्न भस्मीकरणार्थः, अपितु दानार्थः । अत्र प्रमाणम । "नूनं सा ते……माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः । मास्मानतिदंहीर्मा मास्मानति हाय दाः । (निरु० १।७) 'नूनं सा ते' इन्द्रदेवत्येयमृक् ,तत् वदेम विदथे सुवीराः, इति समाचारः । तद्वदत्रापि प्रकृत-प्रकरण मिन्द्रदेवत्यम् , विदथा वदन् च समाचारः, तथा चान्यत्र सायणः "त्वमतिधक् दहेर्दानार्थस्य लुङि मन्त्रे घसेत्यादिना च्लेर्लुक् नोस्मानतिक्रम्यान्येभ्यो दक्षिणामदाः" (ऋ० २ । १२ । २१) (अथैनं सुकृतामु लोके धेहि) हे इन्द्र ! अथानन्तरं तं सम्पा-दितं मेघं सुकृतां पुण्यकृतां यज्ञकर्तॄणां लोके स्थानेऽवश्यं धेहि धर पातय । तत्पातनप्रकारश्चोत्तरमन्त्रे ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—(जातवेदस्ते तेजस्वद्धरोऽस्तु, आरभस्व) प्रत्येक उत्पन्न पदार्थमें स्वकिरणों से वर्तमान सूर्य देव ! यज्ञाग्निमें होमके अनन्तर तेरो दीप्ति या रश्मिज्वलन

तेजस्वी होना चाहिये अत एव तू अपने तेजसे होम किये हुए पदार्थको अति सूक्ष्म करना आरम्भ कर (अस्य शरीरं संदह) पुनः इस होमे हुये पदार्थ का शीर्णशील करके फिर पृथिवी पर झरने योग्य मेघ बना (अथेनं सुकृतामु लोके धेहि) हे इन्द्र ! फिर उस सम्पादित मेघको यज्ञकरने वाले महानुभावोंके स्थान तथा देशमें अवश्य गिरा ॥ ७१ ॥

शिक्षा—हवन हो चुके पदार्थका सूर्य अपनी तेजस्वी किरणों द्वारा मेघ बनाता है, पुनः वह मेघ जिस स्थानपर बड़ा यज्ञ किया गया हो वहां अवश्य बर्षता है ॥ ७१ ॥

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥ ७२ ॥

(ये ते पूर्वे परागताः पितरो ये चापरे तेभ्यो घृतस्य कुल्या शतधारा व्युन्दत्येतु) हे इन्द्र ! ये ते पूर्वे परागता मेघमण्डलं विद्युद्रूपेण प्राप्ताः पितरो रश्मयो ये चापरे वर्तमाना रश्मयस्तेभ्यः सकाशात 'अपादाने पञ्चमी' घृतस्योदकस्य कुल्या नदी शतधाराऽसंख्यातधारा व्युन्दती पृथिवीमार्द्री कुर्वती-एतु-आगच्छतु "घृतमुकनाम" (नि० १ । १२) ॥ ७२ ॥

भावार्थ—(ये ते पूर्वे परागताः पितरः) हे सूर्य ! जो तेरी मेघमण्डलको विद्युत्रूप से प्राप्त पहिली किरणें हैं (ये चापरे) और जो वर्तमान किरणें हैं (तेभ्यः घृतस्य कुल्या) उन सभी किरणों से ताड़ित होकर जलकी नदी (शतधारा व्युन्दत्येतु) असंख्य धाराओं में बहती हुई पृथिवी को गीला करती हुई आवे ॥ ७२ ॥

शिक्षा—मेघमण्डलमें मेघसम्पादनकाल की सूर्य किरणें तथा पश्चात् धारणकाल की किरणें विद्युत् के रूपमें वर्तमान होकर मेघको ताड़ित करती हैं जिससे मेघ असंख्य धाराओंकी नदीके रूपमें गीला करता हुआ पृथिवी पर आता है ॥ ७२ ॥

एतदा रोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते ।
अभि प्रेहि मध्यतो मा पहास्थाः पितॄणां लोकं प्रथमो यो अत्र ॥७३॥

(एतद्वय उन्मृजान आरोहेह स्वा बृहदु दीदयन्ते) हे इन्द्र ! एतद् वयोऽग्निधूममुन्मृजान ऊर्ध्वगत्या शोधयन्नारोह प्राप्तो भव "धूमो वा अस्याग्नेः अन्नो वयः स ह्येनममुष्मिन् लोके भावयति" (श० ७ । ३ । १ । २९) तथा "वयसा कृतम् धूमेन

गच्छ" (श० ४ । ४ । ४ । २) इहाग्निधूमे स्वा उ स्वकीया एव रश्मयो बृहद् दीद्यन्ते दीप्यन्तेऽतः (मध्यतो मापहास्थाः) मध्यतो मध्ये मापहास्था मा त्याक्षीः। अपितु (पितॄणां लोकमभिप्रेहि प्रथमो योऽत्र) पितॄणां लोकं रश्मिलोकमभिप्रेहि-अभिप्रेरय योऽत्र प्रथमो यश्चात्र प्रथमो लोको मेघमण्डलमस्ति ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—(एतद्वय उन्मृजान आरोहेह स्वा बृहद्दु दीद्यन्ते) हे सूर्य देव। हमारे इस यज्ञाग्नि धूमको ऊर्ध्व गतिसे शोभन करता हुआ प्राप्त हो क्योंकि इस यज्ञाग्नि धूममें तेरी अपनी ही किरणें दीप्त हो रही हैं अतः (मध्यतो मापहास्थाः) इसको मध्यमें मत त्यागा अपितु (पितॄणां लोकमभिप्रेहि प्रथमो योत्र) रश्मि लोक के प्रति इस धूमको प्रेरित कर जोकि सबसे प्रथम मेघ मण्डल नामसे प्रसिद्ध है ॥७१॥

शिक्षा—यज्ञाग्नि का सुगन्धि धूम सूर्य किरणों द्वारा मेघ मण्डलमें अवश्य जाता है कारण कि सूर्य किरणोंका कार्य यज्ञाग्निके साथसे ही शुरू होजाता है और वे ऊर्ध्वगतिसे उसको मेघमण्डल तक पहुँचाती हैं ॥ ७१ ॥

समालोचना—

यहां पर विशेष समालोचना न करेंगे कारण कि प्रायः प्रत्येक मन्त्र में अन्य भाष्यकारों का समालोचनीय लेख है, ग्रन्थ विस्तार का भय है। पाठक स्वयं ही हमारे अर्थ और उनके अर्थों का तुलनात्मक अध्ययन करें। इसलिये केवल इतना ही लिखना चाहते हैं कि अन्य लेखकों की पद्धति को जिसको उन्होंने अपने हृदयमें रख कर अर्थ किये हैं वह स्वयं उन्हींको ही सन्तोषजनक नहीं है। अत एव इस अनुवाक में ५, ७, १३, १८, २३, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ४०, ५१, ५२, ७१ संख्या वाले मन्त्रों पर यह लिखना पड़ा कि इनका अर्थ समझमें नहीं आता या इनका भाव व्यक्त नहीं होता। हां निम्न मन्त्र पर अवश्य कुछ लिखना है।

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्० ॥१३॥

"इस मन्त्र से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्यों में से सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान् का पुत्र पहिले इस लोकमें आकर मरा" (कोई विद्वान्)

दोष—प्रतीत होता है कि वादी वेदमें मनुष्योंका इतिहास भी मानता है, आजतक जितने इतिहास ग्रन्थ सृष्टिक्रम सम्बन्धी उपलब्ध होते हैं उनमें कहीं ऐसा इतिहास नहीं मिलता, थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जावे कि विवस्वान् का पुत्र कोई यम था, यम से पहले विवस्वान् के पिताके मरने का अवसर प्रथम है फिर

उस वैदिक काल में पुत्रके प्रथम मरने का सम्भव अनुचित है इसलिये यह कल्पना ठीक नहीं है।

(२) "और फिर सबसे पहले यमलोक में गया अतः उस लोकका नाम उसके नाम से यमलोक ऐसा पड़ा।" (वादी)

दोष—उस लोक में यम से पहले क्या कोई नहीं रहता था ? यदि वहां कोई रहते थे तो वे कहां से आये ? यदि वह लोक बिलकुल खाली था तब वहां पर वह यम किस प्रकार निर्वाह कर सका क्योंकि किसी भी प्रकार के मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, कृमि और वृक्षादि योनि का कोई भी जीव वहां नहीं हो सकता यदि वहां इनका होना सम्भव हो तो फिर यम का मरकर प्रथम यमलोकमें जाना सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि यमलोक वादीके मन्तव्यसे मृतजीवोंके पहुँचनेका स्थान है। अतः उस शून्य स्थान में जहां कि किसी भी आहारादि की सम्भावना नहीं और न किसी की सङ्गतिका अवसर फिर ऐसे स्थानमें यम जाकर क्या करेगा, अच्छा होता वह सबसे प्रथम न मरता किन्तु उसके साथ सैकड़ों से अधिक जीव मर कर यम लोक को जाते, जिससे वह उनके द्वारा कुछ व्यवस्था करा सकता।

(३) "इसका अभिप्राय यह हुआ जो मनुष्य सब से प्रथम मरता है वह इस कल्प में यम बनता है" (वादी)

दोष—सबसे प्रथम मनुष्यके मरने का सम्भव नहीं है कारण कि "शतायुर्वै पुरुषः" (कौ० ११ । ७) "अपि हि भूयाꣳसि शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति (श० १ । ९ । ३ । १९) सौ या सौ वर्षों से अधिक मनुष्य का आयु होता है, इसलिये मनुष्य की अपेक्षा अन्य जीव का यमलोक में जाना सम्भव है। परन्तु यमलोक में जाकर यम बनता है जिस यम को वादी अन्य प्राणियों का मारने वाला मानते हैं तो क्या यम स्वयं ही मरा, उसको किसी ने नहीं मारा ?

(४) "सङ्गमन का अर्थ है जिसमें प्राणी जाकर जमा होते हैं"। (वादी)

दोष—यम का विशेषण सङ्गमन है और सङ्गमन का अर्थ जिसमें प्राणी जाकर जमा होते हैं ऐसा करते हैं। क्या यमलोकमें पहुँच कर यम (सबसे प्रथम मरा हुआ पुरुष) दूसरे मरे हुये प्राणियों का घर बन जाता है ? जब कि यम सदैव के लिये यम लोक का राजा बन जाता है और वहां पर मर कर गये हुए सब जीव उसकी प्रजा बनती हैं तब पुनर्जन्म का सिद्धान्त जोकि वैदिक है उसके विपरीत यम और यमलोक के जीवों का वहां पर स्थायी रहना असम्भव अनुचित और अमाननीय है। अतः इस मन्त्र का सत्यार्थ यह नहीं है। अस्तु।

अथर्ववेद का० १८ अनु० ४ ।

इस अनुवाक में मुख्यतः समष्टि और व्यष्टि यज्ञ का वर्णन है। समष्टि-यज्ञ के अन्दर अग्नि विद्युत् सूर्य मुख्य देव, फलग्राही यजमानरूप में जीवात्मा तथा उसका सृष्टिक्रम के साथ सम्बन्ध स्वकर्मानुसार योनिप्रवेश, गर्भ-स्थिति शरीर के अन्दर वर्तमान शुक्रादि वस्तुओं के कोश, वात पित्त कफरूप शारीरिक मूलतत्व, शरीरधारक सप्तधातु, फुप्फुस हृदयादि रक्ताशयों का वर्णन, इड़ा पिङ्गला सुषुम्ना नाड़ियों की प्रधानता, रक्तवाहक नाड़ियों और उनके साथ ग्रन्थियों आदि शरीरावयवों का विज्ञान और शरीरधारण के अनन्तर उसके पालन पोषण और शिक्षण की व्यवस्था, आहार द्वारा रस रक्तादि का परिणामविज्ञान, गर्भ के अन्दर वर्तमान जीव की भावनाएं तथा गर्भ से बाहिर आकर उसके स्वाभाविक विकास, माता पिता तथा वृद्ध जनों के प्रति वर्तन, कुटुम्ब सहवास नगर प्रान्त तथा राष्ट्र के पूज्य और रक्षक महानुभावों के प्रति सत्कार का आचरण और अन्त में परमपूज्य परमपालक उपास्य जगदीशदेव की आराधना करने का विधान है। एवं विविध उपयोगी कृत्यों का इस अनुवाक में वर्णन है ॥

आरम्भ के सूक्त (१ से १० मन्त्रों) में तीन अग्नियों का विषय है। प्रथम मन्त्र में उनको "जातवेदसः" कहा गया है और फिर उन्हीं को चतुर्थ मन्त्र में "त्रयः सुपर्णाः" शब्दोंसे किसी विज्ञानमें रखा है। आगे चलकर मन्त्र ८ में "अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः" पुनः ६ वें मन्त्रमें भी "पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात्तपतु गार्हपत्यः। दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतः०" उन्हीं अग्नियों का वर्णन है। अतः उक्त तीन अग्नियों का एक से दश तक मन्त्रों के सूक्त में समष्टियज्ञ में उपयोग है। "आरोहत जनित्रीम्" इस प्रथम मन्त्रमें उक्त समष्टि और व्यष्टि यज्ञ का श्लेषालङ्कार है। पाठक उक्त विषयों का परिचय यथास्थान कर सकेंगे। प्रकरण में व्याख्येय तीन अग्नियों का बोधक कोष्ठक नीचे देखिये।

अग्नियों का कोष्ठक चित्र—

आदित्यः	अग्निः	इन्द्रः	(समष्टि-अग्नियां) "नैरुक्तपक्षः"
आहवनीयः	गार्हपत्यः	अन्वाहार्यपचनः	(होमाग्नियां) "याज्ञिकपक्षः"
पूर्वाग्निः	गार्हपत्याग्निः	दक्षिणाग्निः	"अङ्गिरसामयनं पूर्वोग्निः०" (अथ० १८।४।८)

(पुरस्तात्तपतु)	(पश्चात्तपतु)	(उत्तरतस्तपतु)	"पूर्वोऽग्निष्ट्वा तपतु......" (अथ० १८ । ४ । ९)
शर्मः	कर्म	दर्मः	"शर्म इत्याहवनीयः । कर्मेति गार्हपत्यः । दर्म इत्यन्वाहार्यपचनः" (जै० उ० ४।२६।१५)
प्राणः	अपानः	व्यानः	"प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद् गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः (प्रश्नो० ४।३)

आरोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि ।
अवाड्ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके ॥१॥

(जातवेदसो जनित्रीमारोहत) जातवेदसो जाते जाते विद्यमाना हे अग्नीन्द्र-सूर्याः ! यूयं जनित्रीं सर्वप्राणिनां जनयित्रीं द्यावापृथिवीमयीमेतां समष्टिसृष्टिमारोहत सन्तिष्ठध्वम् (पितृयाणैवः समारोहयामि) अहं प्रजापतिरीश्वरः पितृयाणैः पितृभिः पालकैर्यथा यातव्यं तथाभूतैर्यातव्यमार्गैर्वा युष्मान् समारोहयामि संस्थापयामि (इषितो हव्यवाहो हव्याऽवाट्) इषितो मया प्रेरितो हव्यवाहो जीवो हव्या हव्यानि स्वशक्तिरूपाणि युष्मत्सु हुतवान् । तस्मात् (युक्ता ईजानं सुकृतां लोके धत्त) यूयमेतादृशमाजानं यजमानं युक्ताः सर्वे मिलताः सुकृतां लोके सुकर्मिणां स्थाने योनौ धत्त धारयत ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जातवेदसो जनित्रीमारोहत) हे प्रत्येक उत्पन्न हुए पदार्थमें वर्तमान अग्नि-विद्युत्-आदित्य ! तुम, सब प्राणियों के जन्मदेने वाली द्यावा-पृथिवीरूप समष्टि-सृष्टि को भली प्रकार प्राप्त होओ पितृयाणैर्वः समारोहयामि) मैं प्रजापति ईश्वर तुमको पालकोंके रूपमें इस सृष्टिमें छोड़ता हूँ, इसमें जैसे पालक लोग अपने पालनरूप कर्तव्यमार्गों से वर्तमान होते हैं वैसे संस्थापित करता हूँ (इषितो हव्यवाहो हव्याऽवाट्) मुझसे प्रेरित हुये जीवात्मा ने अपने शक्तिरूप हव्यों को तुम्हारे अन्दर समष्टि-यज्ञ में होम दिया है । अतः (युक्ता ईजानं सुकृतां लोके धत्त) यजमान रूप जीवात्माको तुम सब मिलकर सुकर्मी जीवोंकी योनि में धारण करो ॥ १ ॥

शिक्षा—द्यौ से लेकर पृथिवीपर्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि में उत्पन्न होने वाले सभी

जीवोंके शरीरकी उत्पत्ति और धारण आदि परिणामयज्ञ का समष्टि में अग्नि, विद्युत् और आदित्य तीनों देव या अग्नियां आरम्भ कर रही हैं और जीव निज साधनों का हवन करता हुआ इसके परिणामरूपफलको प्राप्त करता है क्योंकि उक्त तीनों अग्नियां इसको कर्मानुसार यथास्थान पर ले जाती हैं और यह सारी व्यवस्था ईश्वरके अधीन है। यह समष्टिसम्बन्धी अर्थ हैं ॥ १ ॥

व्यष्टि में—

(जातवेदसो जनित्रीमारोहत) जातवेदसो हे प्राणापानव्यानाः ! "प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति । गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनः । यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः" (प्रश्नो० ४।३) जनित्रीं जीवकलानां जनयित्रीं तनुं सन्तिष्ठध्वम् (पितृयाणैर्वः समारोहयामि) पितृयाणैः पालकधर्मैरत्र तन्वामहं प्रजापतिरीश्वरो वो युष्मान् संस्थापयामि (इषितो हव्यवाहो हव्याऽवाट्) अयं च जीवात्मा मया प्रेरितो हव्या हव्यान्यादेयानि निजकर्मफलानि युष्मत्स्ववाड् ऊढवान् तस्मात् (युक्ता ईजानं सुकृतां लोके धत्त) ईदृशमीजानं यजमानं सुकृतां श्रेष्ठानां लोके स्थाने स्वरूपे वा धत्त धारयत ॥१॥

भावार्थ—(जातवेदसो जनित्रीमारोहत) हे प्राण अपान व्यानरूप शरीर अग्नियो ! तुम जीवनकला की जन्म देने वाली कायामें स्थिर रहो (पितृयाणैर्वः समारोहयामि) तुमको पालक धर्मों से इस कायामें मैं प्रजापति ईश्वर संस्थापित करता हूँ (इषितो हव्यवाहो हव्याऽवाट्) इस जीवात्माने मुझसे प्रेरित हो भोगने योग्य निजकर्मफलों को तुम्हारे अन्दर अर्पित किया है इसलिये (युक्ता ईजानं सुकृतां लोके धत्त) इस यजमानको श्रेष्ठजनोंके स्थान या स्वस्थ स्वरूपमें धारण करो ॥ १ ॥

शिक्षा—शरीर यज्ञमें प्राण अपान और व्यानरूप तीन अग्नियां स्थिर हैं जो पालक धर्मों से वर्तमान हैं। ईश्वरसे प्रेरित जीवात्मा कर्मफलोंका भोग उन के आधार पर करता है इस लिये प्राण, अपान और व्यानरूप प्राणों का विशेष ध्यान रखना चाहिये ॥ १ ॥

देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि ।
तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् ॥ २ ॥

(देवा यज्ञमृतवो हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि कल्पयन्ति) हे जीव ! देवा दिव्यगुणा अग्न्यादयो द्योतमानाश्च रश्मयो यज्ञमेतं समष्टिरूप यज्ञमथ च तत्र

यज्ञे ऋतवो वसन्तादयो हविः पुरोडाशं स्रुच एवं यज्ञायुधान्यावश्यकवस्तूनि कल्पयन्ति समर्थयन्ते (तेभिर्देवयानैः पथिभिर्याहि) हे जीव ! त्वं तैर्देवयानमार्गैः संसारयात्रायां प्रकृष्टं गच्छ (यैरीजानाः स्वर्गं लोकं यन्ति) यैरीजाना यज्ञं कुर्वाणाः स्वर्गं सुखनिमित्तं लोकं शरीरं प्राप्नुवन्ति ॥ २ ॥

भावार्थ—(देवा यज्ञमृतवो हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि कल्पयन्ति) हे जीव दिव्यगुण अग्नि आदि और द्योतमान सूर्यरश्मियां इस समष्टिरूप यज्ञके तथा वसन्तादि ऋतुएं उसके योग्य हविः पुरोडाश और स्रुवा इत्यादि यज्ञ साधनों का सम्पादन करते हैं (तेभिर्देवयानैः पथिभिर्याहि) उन देवयान मार्गों से संसारयात्रामें तू भली प्रकार चल (यैरीजानाः स्वर्गं लोकं यन्ति) जिनके अनुसार यज्ञ करने वाले सुखनिमित्त शरीर को प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

शिक्षा—समष्टियज्ञ को दिव्यगुण अग्नि आदि पदार्थ और द्योतमान सूर्य-रश्मियां तथा उस समष्टि-यज्ञ में नाना प्रकारके परिणाम तथा विकार हवि आदियोंके रूपमें वसन्त आदि ऋतुएं सम्पादन करती हैं, जीवात्मा उक्त यज्ञमें सृष्टिक्रम के नियमों द्वारा अपने शरीरको धारण करता रहता है ॥ २ ॥

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति ।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके
अधि वि श्रयस्व ॥ ३ ॥

(ऋतस्य पन्थामनु पश्य येन सुकृतोऽङ्गिरसः साधु यन्ति) हे जीव ! ऋतस्यास्य समष्टिरूपस्य यज्ञस्य पन्थां मार्गं सृष्टिक्रममनुपश्य विजानीहि येन सृष्टि-क्रममार्गेण बाध्यमाना अङ्गिरसोऽग्नयः "अङ्गिरा वाग्निः" (शत० ६ । ४ । ४ । ४) पूर्वोक्ता जातवेदसोऽग्निविद्युत्सूर्याः सुकृतः सुकर्माणः संसारवाहकाः सन्तः साधु यन्ति सम्यग्गच्छन्ति (तेभिः पथिभिः स्वर्गं याहि) हे ! जीव तेभिरग्न्यादीनां मार्गैस्त्वं प्रथमं तु स्वर्गं स्वरुदकं गमयतीति मेघमण्डलं जलवतीं दिवं याहि गच्छ (यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति) यत्रादित्याः सूर्यरश्मयो मधूदकं भक्षयन्ति—उदकेन पूर्णा भवन्तीत्यर्थः (तृतीये नाके अधिविश्रयस्व) तत्र तृतीये नाके पुनर्जन्मार्थमात्मनामाश्रयणीयेऽधि दिवि विश्रयस्वाश्रयस्व "आत्मा वै नाकसद्:" (श० ८ । ६ । १ । १२—१३) ॥ ३ ॥

भावार्थ—(ऋतस्य पन्थामनुपश्य येन सुकृतोङ्गिरसः साधु यन्ति) हे जीव ! इस सृष्टिरूप यज्ञके सृष्टिक्रम का परिचय कर जिस सृष्टिक्रम मार्गसे बाधित हो कर पूर्वोक्त अग्नि, विद्युत्, सूर्य ठीक २ अपना २ कार्य करते हुए संसार वाहक

बनकर समीचीन रूपसे गति करते हैं (तेभिः पथिभिः स्वर्गं याहि) उन अग्नि आदि देवोंके नियमित मार्गोंसे तू प्रथम मेघमण्डल को प्राप्त हो (यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति) जहां पर सूर्य रश्मियां जलपूर्ण होती हैं (तृतीये नाके अधिविश्रयस्व) उस तृतीय स्थानमें जोकि पुनर्जन्मार्थ आत्माओंका आश्रयस्थान है वहां तू आश्रय प्राप्त कर ॥ ३ ॥

शिक्षा—जिस प्रकार अग्नि, विद्युत्, सूर्य इस समष्टिमें सृष्टिक्रम के विधायक और उसमें वर्तमान हैं एवं जीवात्मा भी स्वकर्मवश सृष्टिक्रमके साथ २ जन्म धारण करनेके लिये प्रथम मेघमण्डलको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः ।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम् ॥४ ॥

(त्रयः सुपर्णा विष्टप्यधिश्रिताः) त्रयः सुपर्णाः पूर्वोक्तास्त एव त्रयोऽग्नयो विष्टपि भुवनेऽधिश्रिता अधिष्ठिताः सन्ति (नाकस्य पृष्ठेऽधि-उपरस्य मायू) तेषां द्वौ विद्युत्सूर्यौ नाकस्य पृष्ठेऽधि मेघमण्डले–उपरस्य मेघस्य मायू निर्मातारौ स्तः "उपर इति मेघनाम" (नि० १ । १०) (स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठाः) स्वरुदकं गताः पुनर्जन्मप्राप्तये मेघमण्डलस्था लोका जना जायमानस्वभावा जीवा अमृतेन स्वामरधर्मेण विष्ठाः स्थिताः सन्ति (यजमानायेषमूर्जं दुह्राम्) यश्च तेषु यजमानः पुनर्जन्मप्राप्तये स्वात्माहुतिं बीजभावेन प्रयच्छन् सङ्गच्छमानस्तस्मा इमे त्रयोऽग्नय इषमूर्जमुत्पत्तिनिमित्तभूतेऽन्नरसात्मके शुक्रशोणिते दुह्रां सम्पादयन्ति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(त्रयः सुपर्णा विष्टप्यधिश्रिताः) पूर्वोक्त जो तीनों अग्नियां इस भुवनमें वर्तमान हैं (नाकस्य पृष्ठेऽधि–उपरस्य मायू) उनमें से दो विद्युत् और सूर्य तो मेघमण्डलमें मेघको बनाने वाली हैं (स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठाः) मेघमण्डलस्थ उत्पन्न होने वाले जीवात्मा वहां अपने अमर धर्मसे स्थित हैं (यजमानायेषमूर्जं दुह्राम्) और उनमें जो जीवात्मा पुनर्जन्म प्राप्तिके लिये अपने आत्माक आहुतिको बीजभावसे त्यागनेको तैयार है उसके लिये यह अग्नियां शुक्रशोणितका सम्पादन करती हैं ॥ ४ ॥

शिक्षा—विद्युत् और सूर्य मेघ बनानेमें हेतु हैं, मेघमण्डलमें जीवात्माएं अपने अमर धर्मसे प्राप्त होते हैं वहां से जब कोई आत्मा जन्मधारण करनेके लिये तैयार होता है तो उसके लिये उक्त अग्नियां शुक्र शोणित यानी वीर्य और रज का सम्पादन करती हैं ॥ ४ ॥

जुहूर्दाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम् ।
प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामं कामं यजमानाय दुह्राम् ॥५॥

(जुहूर्द्यां दाधारोपभृदन्तरिक्षम्) समष्टियज्ञे लौकिकयज्ञवत्साधानि, तत् लौकिके या जुहूर्हविः प्रक्षेपसाधनमस्त्यत्र समष्टियज्ञे द्यां दिवं द्युरूपं दाधार धारयति तथैव जुहूरूपया दिवा प्राणिबीजानि जलानि हूयन्ते, उपभृद् या चोभृदस्ति साऽन्तरिक्षमन्तरिक्षरूपं धारयति (ध्रुवा प्रतिमां प्रतिष्ठां पृथिवीं दाधार) ध्रुवा हविःस्थानरूपा स्थिरा वेदिरत्र समष्टियज्ञे प्रतिमा स्थूला प्राणिनामाधाररूपा या पृथिवी तां तद्रूपं धारयति (स्वर्गा घृतपृष्ठा लोका यजमानाय कामं कामं दुह्राम्) स्वरादित्यं-गामिनो लोका लोक्यन्ते ये ते रश्मयो घृतपृष्ठा घृतं जलं पृष्ठे येषा ते जलवाहकाः सन्तो यजमानाय सर्वहुताय गर्भे सङ्गच्छमानाय कामं कामं कर्मानुकूलं योनिफलं दुह्रां दुहन्ति सम्पादयन्ति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(जुहूर्द्यां दाधारोपभृदन्तरिक्षम) समष्टियज्ञमें होमयज्ञके समान कल्पना है कि होमयज्ञ में जो जुहू हविडालनेका पात्र होता है वह समष्टियज्ञमें द्यौके रूपको धारण करता है उस जुहू रूप द्यौ से प्राणियों के बीज जलमय होकर समष्टि यज्ञमें गिरते हैं और जो होमयज्ञमें उपभृत् है वह यहां अन्तरिक्ष रूपको धारण करती हैं (ध्रुवा प्रतिमां प्रतिष्ठां पृथिवीं दाधार) होमयज्ञमें हवि स्थानरूप जो वेदी है वह यहां समष्टि यज्ञमें प्राणियोंका आधार रूप पृथिवी के रूपको धारण करती है (स्वर्गा घृतपृष्ठा लोका यजमानाय कामंकामं दुह्राम्) आदित्यको प्राप्त होने वाली रश्मियां जलवाहक होती हुई गर्भमें जाने हुए जीवात्मरूप यजमानके लिये कर्मानुकूल योनिफलको सम्पादन करती हैं ॥ ५ ॥

शिक्षा—होमयज्ञमें जिसप्रकार जुहू, उपभृत, ध्रुवा मुख्यसाधन होते हैं एवं समष्टि यज्ञमें उनके तुल्य द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी उनका स्थान लेते हैं क्योंकि इस समष्टि यज्ञमें द्यौ से प्राणिबीज जलमय अवस्थामें गिरता है सूर्यकी रश्मियां जलवाहक उनको लाती हैं और कर्मानुकूल योनिरूप फलोंका सम्पादन करती हैं ॥ ५ ॥

ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व ।
जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं स्रुवेण वत्सेन दिशः प्रपीनाः
सर्वा धुक्ष्वाहृणीयमानः ॥६ ॥

(ध्रुवे विश्वभोजसं पृथिवीमारोह) तस्मादत्र समष्टियज्ञे हे ध्रुवे त्वं विश्व-

भोजसं सर्वभोगायतनरूपां पृथिवीमारोह यतस्तव धारणकार्यमत्र समष्टियज्ञे पृथिवी विधास्यति (उपभृदन्तरिक्षमाक्रमस्व) हे उपभृत्त्वमन्तरिक्षमाक्रमस्वारोह यतस्ते मध्यमं कार्यमन्तरिक्षं करिष्यति (जुहु द्यां गच्छ) हे जुहु ! त्वं दिवं गच्छ ते सेचनकार्यं समष्टियज्ञे द्यौर्विधास्यति (यजमानेन वत्सेन स्रुवेण साकं सर्वा दिशः प्रपीनाः) हे यजमान जीव ! त्वया वत्सेन गर्भे शिशुरूपेण स्रुवेण साकं सर्वादिशः प्रपीना व्यक्ता आधानयोग्याः सन्ति (आहृणीयमानो धुक्ष्व) तस्मात्त्वमाहृणीयमानः शान्तः सन्तोषं कुर्वन् । "हृणीयते क्रुध्यति कर्मा" (नि० २ ।१२) धुक्ष्व स्वानुकूलं रसं मातृदुग्धं वा पिब जन्म धारयेत्यर्थः । ॥ ६ ॥

भावार्थ—(ध्रुवे विश्वभोजसं पृथिवीमारोह) अतएव इस समष्टि यज्ञमें हे ध्रुवा तू सर्व भोगोंके आयतन रूप पृथिवीको प्राप्त हो क्योंकि तेरा धारण कार्य यहां समष्टि यज्ञमें पृथिवी करेगी (उपभृदन्तरिक्षमाक्रमस्व) हे उपभृत् तू समष्टि-यज्ञमें अन्तरिक्ष को प्राप्त हो क्योंकि तेरा मध्यम कार्यअन्तरिक्ष करेगा (जुहु द्यां गच्छ) हे जुहू ! तू समष्टि यज्ञमें द्यौ को प्राप्त हो क्योंकि तेरा सेचन कार्य द्यौ करेगी (यजमानेन वत्सेन स्रुवेण साकं सर्वा दिशः प्रपीनाः) हे यजमानरूप जीव ! स्रुवा से घृत होमके तुल्य गर्भमें शिशु रूप में वर्तमान तेरे साथ सारी दिशायें आधान योग्य हैं (आहृणीयमानो धुक्ष्व) इसलिये तू सन्तोष करता हुआ स्वानुकूल माताके दूध का पान कर यानी पुनर्जन्मको धारण कर ॥ ६ ॥

शिक्षा—होमयज्ञकी ध्रुवा समष्टि यज्ञमें पृथिवीको अपना प्रतिनिधि बनाती है । उपभृत् अन्तरिक्षको और जुहू द्यौको तथा गर्भगतशिशु यजमानके रूप में हो कर सृष्टिक्रमके नियमोंसे प्रेरित हुआ शान्तिसे स्वानुकूल माताके दूध वा मातृरसका पान करता है ॥ ६ ॥

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ॥ ७ ॥

(प्रवतो महीस्तीर्थेन तरन्तीति येन यज्ञकृतः सुकृतो यन्ति) प्रवतः प्रगता विस्तृता महीर्भूमयो योनयस्तीर्थेन वेदाध्ययनादिशुभकर्मणा तरन्ति पारयन्ति, इति हेतोर्येन तेन तीर्थेन जनाः यज्ञकृतः सुकृतश्च सन्तो यन्ति जीवनयात्रायां गच्छन्ति (दिशो भूतान्यकल्पयन्त) सर्वा दिशा भूतानि वस्तूनि यद्यतोऽकल्पयन्त सम्पादयन्ति तस्मात्(यजमानायात्र लोकमदधुः) यजमानाय जीवायात्र समष्टौ लोकं शरीररूपं स्थानमदधुर्धारयन्ति ॥ ७ ॥

भावार्थ—(प्रवतो महीस्तीर्थेन तरन्तीति येन यज्ञकृतः सुकृतो यन्ति) विस्तृत योनियां वेदाध्ययनादि शुभकर्मसे जीवको पार करती हैं। अतएव उससे यज्ञ करने वाले पुण्य कर्मी होकर जीवन यात्रा करते हैं (दिशो भूतान्यकल्पयन्त) सारी दिशायें वस्तुओंका निर्माण करती हैं। इसलिये (यजमानायात्र लोकमदधुः) जीवरूप यजमानके लिये यहां समष्टिमें शरीरको धारण करती हैं ॥ ७ ॥

शिक्षा—वेदाध्ययनादि शुभकर्मसे मनुष्य संसार सागरसे तैर सकता है, समष्टिमें सब तरफसे जैसे अन्य वस्तुएं बनती हैं वैसे जीवशरीर की उत्पत्ति भी होती है ॥ ७ ॥

**अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणा-
नामयनं दक्षिणाग्निः। महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः
सर्व उप याहि शग्मः ॥ ८ ॥**

(अङ्गिरसामयनं पूर्वोग्निः) अङ्गिरसामङ्गरसानां प्राणानां प्राणशक्तीनामयनं स्थानं निमित्तं पूर्वोग्निः सूर्योऽस्ति, अत एव सर्वजीवबीजशक्तिरुत्पद्यते (आदित्यानामयनं गार्हपत्यः) आदित्यानामादानधर्माणां प्रजानां प्राणिनामयनं स्थानं निमित्तं गार्हपत्यः पृथिवीस्थानोऽग्निरस्ति। "आदित्या वै प्रजाः" (तै० १। ८। १) अङ्गिरसः प्राणा आदित्यान् प्राणिनः प्राप्नुवन्ति। "एतेन वा अङ्गिरस आदित्यानाप्नुवन्" (तां० १६। १४। २) (दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः) दक्षिणानां गमनशीलानामन्तरूष्मणामयनं स्थानं निमित्तं दक्षिणाग्निरन्तरिक्षस्थानो वायुर्वैन्द्रो वास्ति (सर्वः समङ्गः शग्मो ब्रह्मणा विहितस्याग्नेर्महिमानमुपयाहि) सकलः सम्यगङ्गः सुशरीरः शक्तः संस्त्वं हे जीव! ब्रह्मणा जगदीश्वरेण विहितस्य विरचितस्याग्नेर्महिमानमुपगच्छ ॥ ८ ॥

भावार्थ—(अङ्गिरसामयनं पूर्वोग्निः) प्राणशक्तियोंका निमित्त सूर्य है, उसीसे सर्व जीवोंकी बीजशक्तिका आगमन होता है (आदित्यानामयनं गार्हपत्यः) शरीरधारी जीवों का निमित्त पृथिवी स्थान अग्नि है (दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः) शरीरके अन्दर विचरण करनेवाली उष्मा–हरारत का निमित्त अन्तरिक्ष स्थान वायु सहित विद्युत् है जगदीश्वरकी रची हुई अग्निकी यह महिमा है (सर्वः समङ्गः शग्मो ब्रह्मणा विहितस्याग्नेर्महिमानमुपयाहि) सब कलाओं से युक्त तथा उत्तम अङ्गों वाला समर्थ शरीरधारी बनकर हे जीव तू अग्नि तेजकी महिमाको प्राप्त हो ॥ ८ ॥

शिक्षा—सूर्य, अग्नि और विद्युत्, वायु प्राणीमात्रके प्राण शक्तियों शरीरों

और शरीरके अन्दर की जीवन योग्य उष्माका कारण हैं, जगदीश देव की रची हुई अग्नि की यह महिमा है, इसके अधीन होकर जीव कर्म करनेके लिये संसार में शरीर धारण करता है ॥ ८ ॥

पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः ।
दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद् दिशो
दिशो अग्ने परिपाहि घोरात् ॥ ९ ॥

(पूर्वो अग्निष्ट्वा पुरस्ताच्छं तपतु) पूर्वोऽग्निः सूर्यस्त्वा पुरस्तात् सम्मुखतः शं कल्याणाय तपतु प्राणशक्तिं प्रयच्छतु (गार्हपत्यः पश्चात् शं तपतु) गार्हपत्यः पृथिवीस्थानोऽग्निष्ट्वा शं कल्याणाय पश्चात् तपतु (दक्षिणाग्निष्टे शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतः तपतु) दक्षिणाग्निरिन्द्रस्ते शर्म ब्राह्मणस्थानं वक्त्रं मुखं वर्म क्षत्रिय-तुल्यं भुजस्थानं तपतु (उत्तरतो मध्यतोऽन्तरिक्षाद्दिशो दिशो घोरादग्ने परिपाहि) उत्तरतो मध्यतोन्तरिक्षाद्दिशो दिशो हे अग्ने ! त्वं घोराद् दुःखात् परिरक्ष ॥ ६ ॥

भावार्थ—(पूर्वो अग्निष्ट्वा पुरस्ताच्छं तपतु) हे जीव ! तुझको सूर्य सामनेकी तरफ से कल्याणके लिये तपाये एवं प्राणशक्ति को प्रदान करे, (गार्हपत्यः पश्चात् शं तपतु) पृथिवीकी अग्नि तुझे पृष्ठकी तरफ कल्याणके लिये तपावे एवं तेरे जीवनका आश्रय बने (दक्षिणाग्निष्टे शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतः तपतु) वायुके साथ विद्युत् तेरे ब्राह्मण-स्थानीय मुख और क्षत्रियके तुल्य भुजास्थानको तपावें एवं वाणीशक्ति और बलका प्रदान करें (उत्तरतो मध्यतोन्तरिक्षाद्दिशो दिशो घोरादग्नेः परिपाहि) उत्तरसे मध्यसे अन्तरिक्षसे दिशादिशा से हे अग्ने ! दुःख मात्रसे मेरी रक्षा कर ॥ ६ ॥

शिक्षा—सूर्य, अग्नि, वायु-विद्युत् शरीर धारणके लिये सब तरफसे जीव की रक्षा करते हैं ॥ ६ ॥

यूयमग्ने शंतमाभिस्तनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं मदन्ति ॥१०॥

(अग्ने यूयं शंतमाभिस्तनूभिरीजानं स्वर्गं लोकं पृष्टिवाहोऽश्वा भूत्वा वहाथ) अग्ने हेऽग्नयः ! 'वचनव्यत्ययः' । यूयं शंतमाभिःकल्याणसाधिकाभिस्तनूभिः स्वज्वालारूपाभिरीजानं जीवनयज्ञं कुर्वाणं जीवात्मनं स्वर्गं लोकं मेघमण्डलं पृष्टिवाहो रेतःसेचनकर्तारः प्राणिबीजवाहका अश्वा भूत्वा वहाथ वहथ स्म "पृष्ट्यो वै रेतः सिचः" श० ८ । ६ । २ ।७ (यत्र देवैः सधमादं मदन्ति) यत्र मेघमण्डले देवैः सूर्यरश्मिभिः सह सधमादं सहयोगं मदन्ति सेवन्ते ॥१०॥

भावार्थ—(अग्ने यूयम्) हे अग्नियो ! तुम (शंतमाभिस्तनूभिः) कल्याण साधक स्वदीप्तियों से (ईजानम्) जीवन यज्ञ करनेवाले जीवात्माको (स्वर्ग लोकम्) मेघमण्डलके प्रति (पृष्टिवाहोऽश्वा भूत्वा वहाथ) वीर्यरूप प्राणियोंके बीजके वाहक घोड़े बनकर तुम वहन करते हो (यत्र देवैः) जिस मेघमण्डलमें सूर्य रश्मियोंके साथ सब जीवात्मा (सधमादं मदन्ति) सहयोगका सेवन करते हैं ॥ १० ॥

शिक्षा—अग्नि, विद्युत्, सूर्य तीनोंकी सूक्ष्म दीप्तियां मेघमण्डलमें प्राप्त जीवात्माओंको जन्म धारण करनेके लिये हेतु बनती हैं ॥ १० ॥

शमग्ने पश्चात् तप शं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमधरात् तपैनम् ।
एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्यगेन धेहि सुकृतामु लोके ॥ ११ ॥

(अग्न एनं पश्चाच्छं तप) हे अग्ने ! एनमेतं जीवं पश्चात्कल्याणाय तप (पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमधराच्छं तप) तथा पुरस्तात्कल्याणायोत्तराच्च कल्याणायाधराच्च कल्याणाय तप (एकस्त्रेधा विहितो जातवेद एनं सुकृतामु लोके सम्यग्धेहि) स्वरूपत एक एव पदार्थस्त्रेधा त्रिधाऽग्निविद्युत्सूर्यनामभिस्त्रिप्रकारो विहितो नियोजितो हे जातवेदोऽग्ने त्वमेनं जीवं सुकृतामु कल्याणवतां हि लोके शरीरे सम्यक् स्थापय ॥ ११ ॥

भावार्थ—(अग्न एनं पश्चाच्छं तप) हे अग्ने ! इस जीवको पश्चिम दिशामें कल्याणकेलिये अपना तेज दे (पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमधराच्छं तप) पूर्व दिशामें उत्तर दिशामें पश्चिमदिशामें कल्याणके लिये तेज दे एवं किसी भी दिशामें इसका जन्म हो सर्वत्र कल्याण सम्पादन कर (एकस्त्रेधा विहितो जातवेद एनं सुकृतामु लोके सम्यग्धेहि) स्वरूपतः एक ही होता हुआ अग्नि, विद्युत, सूर्य नामों से तीन प्रकारके स्वरूपमें पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ स्थानके भेदसे नियुक्त है, एवं हे अग्नि ! इस जीवका पुण्यकर्मियोंके शरीरमें अच्छी तरह स्थिर कर ॥ ११ ॥

शिक्षा—जीवका जन्म किसी भी दिशामें क्यों न हो सब जगह अग्नितत्व इसमें निमित्त बनता है, जो कि स्थान भेदसे अग्नि, विद्युत्, सूर्यके नामसे प्रसिद्ध है वही इसको उत्तम से उत्तम शरीरमें भी धारण कराती है ॥ ११ ॥

शमग्नयः समिद्धा आ रभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १२ ॥

(जातवेदसोऽग्नयः समिद्धाः प्राजापत्यं मेध्यं शमारभन्ताम्) जाते जाते विद्यमाना अग्नयः समिद्धाः स्वस्वलोके पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि प्राप्तबलाः सन्तः प्राजा-

ह्येवेदं सर्वमनु प्रजायते" (श० ४ । ५ । ५ ।१३) मेध्यं शुद्धं शं कल्याणायारभन्तामासमन्तात्सर्वत्र यथायोग्यं नयन्तु नयन्तीत्यर्थः। (शृतं कृण्वन्त इह मावचिक्षिपन्) शृतं पक्वं सम्पन्नं कृण्वन्तः कुर्वन्तोऽग्नय इहात्र संसारे मावचिक्षिपन् न कदापि अस्तं व्यस्तं कुर्वन्तु कुर्वन्ति वा ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(जातवेदसोऽग्नयः समिद्धाः) उत्पन्न मात्र वस्तुओंमें विद्यमान अग्नियो तुम अपने २ लोक यानि पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ में बलवाली होती हुई (प्राजापत्यं मेध्यम्) प्राणधारणयोग्य शुद्ध गर्भको (शमारभन्ताम्) कल्याणके लिये यथोचित रूपमें आरम्भ करो (शृतं कृण्वन्तः) परिपक्व करते हुए (इह-मावचिक्षिपन्) यहां मध्यमें कदापि न अस्तव्यस्त करो या करते हो ॥ १२ ॥

शिक्षा—अग्नि, विद्युत् और सूर्य अपने २ स्थानमें बलिष्ठ होते हुये प्राण धारण करने योग्य नूतन गर्भको बनाते हैं, तथा पूर्णावस्था तक भी पहुँचाते हैं ॥१२॥

यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह मावचिक्षिपन् ॥ १३ ॥

(कल्पमानो यज्ञो वितत ईजानं स्वर्गं लोकमभ्येति) कल्पमानः कल्पयमानः कल्पं संसारं कुर्वाणः । 'अन्तर्गतो णिजर्थः' । यज्ञः समष्टियज्ञो विततो विस्तृतः सन्, ईजानमात्मानं स्वर्गं सुखसाधकं लोकं शरीरमभ्येति नयति (तं सर्वहुतं प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसोऽग्नयो जुषन्ताम्) तं सर्वहुतमात्मसमर्पिणं जीवं प्राजापत्यं प्राणप्रयोजनकं मेध्यं शुद्धहवीरूपं जातवेदसोऽग्नयो जुषन्तां सेवन्ताम् (शृतं कृण्वन्त इह मावचिक्षिपन्) पूर्ववत् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(कल्पमानो यज्ञो विततः) कल्प को बनाने वाला समष्टियज्ञ विस्तृत होता हुआ (ईजानम्) आत्मा को (स्वर्ग लोकम्) सुखसाधक शरीरके प्रति (अभ्येति) ले जाता है (तं सर्वहुतम्) उस आत्मसमर्पी जीवको (प्राजापत्यं मेध्यम्) प्राणप्रयोजनवाले शुद्ध हविरूपको (जातवेदसोऽग्नयः) उत्पन्न मात्र वस्तुओंमें विद्यमान अग्नियां (जुषन्ताम्) उपयुक्त करें (शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन्) पूर्व मन्त्रके अनुसार इसका अर्थ समझिये ॥ १३ ॥

शिक्षा—कल्पनिर्माण करनेके लिये समष्टियज्ञ विस्तृत होकर जीवात्माको उसके अनुकूल शरीरमें ले जाता है और इस कार्यमें अग्नि, विद्युत्, सूर्य उपयुक्त होते हैं ॥ १३ ॥

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्त्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः ॥१४॥

(ईजानो नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् चितमग्निमारुक्षत्) ईजानः स एव जीवात्मा नाकस्य सूर्यस्य पृष्ठान्मण्डलात् । "नाक आदित्यो भवति नेता रसानां नेता भासां ज्योतिषां प्रणयः" (निरु० २ । १४) दिवं मेघमण्डलमुत्पतिष्यन्नुद्गमिष्यन् सन् चितमग्निं पृथिवीलोकमारुक्षच्छरीरधारणायारोहति । "अयं वाव लोकोऽग्निश्चितः" (श० १० । १ । २ । २) (तस्मै सुकृते नभसो ज्योतिषीमान् देवयानः स्वर्गः पन्थाः प्रभाति) तस्मै सुकृते पुण्यकृते जीवाय नभस आकाशस्य ज्योतिषीमान् प्रकाशयुक्तो देवयानो रश्मियानः स्वर्गः सुखसाधको मार्गः प्रभाति प्रकटी भवति ॥ १४ ॥

भावार्थ—(ईजानः) पूर्वोक्त जीवात्मा (नाकस्य पृष्ठात्) सूर्यमण्डल से (दिवमुत्पतिष्यन्) मेघमण्डल की ओर पक्षी की तरह उड़ता हुआ (चितमग्निम्) शरीर धारण करनेके लिये पृथिवी लोक को (आरुक्षत्) आता है । (तस्मै सुकृते) उस कर्मशील जीवके लिये (नभसः) आकाश का (ज्योतिषीमान्) प्रकाशमय (देवयानः) रश्मियान (स्वर्गः) सुख साधक (पन्थाः) मार्ग (प्रभाति) प्रकट है ॥ १४ ॥

शिक्षा—जीवात्मा सूर्य रश्मि से जब मेघमण्डलमें चला जाता है तब पुनः वहां से शरीर धारण करनेकी शक्तिको प्राप्त करके आकाशके मध्यसे प्रकाशयुक्त रश्मिमार्ग से पृथिवी पर आता है । ॥ १४ ॥

अग्निर्होताध्वर्युष्टे बृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिणतस्ते अस्तु ।
हुतोयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम् ॥ १५ ॥

(अग्निष्टे होता बृहस्पतिरध्वर्युरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिणतस्तेऽस्तु) 'इतो व्यष्टियज्ञ आरभ्यते' हे जीव ! तव शरीरधारणाय व्यष्टियज्ञे शरीरयज्ञेऽग्निः पृथिवीस्थानोऽग्निर्होताऽस्ति बृहस्पतिर्वर्षाधिपतिर्देवस्तेऽध्वर्युरस्ति, इन्द्रो मध्यवर्ती विद्युद्रूपो देवस्ते दक्षिणतो ब्रह्माऽस्ति । इमे तव यज्ञरक्षका इति मन्तव्यम् । (अयं हुतः संस्थितो यज्ञ एति यत्र हुतानां पूर्वमयनम्) अयं हुतो मया हुतः संस्थितो योनिसम्बन्धे निहितो यज्ञ एति गच्छति हुतानां मया हुतानां जीवानां पूर्वं प्रथममयनं स्थानं यत्र भवति तत्रोषधिगर्भे मातापितृबीजभावे वा ॥ १५ ॥

भावार्थ—(अग्निष्टे होता) 'इस मन्त्रसे व्यष्टि यज्ञ प्रारम्भ होता है' । हे जीव ! तेरे शरीर धारणके लिये व्यष्टियज्ञमें पृथिवी स्थानी अग्नि होता है (बृहस्पति-

रध्वर्युः) वर्षाका स्वामी द्यु स्थानी बृहस्पतिदेव तेरा अध्वर्यु है (इन्द्रो ब्रह्मा दक्षिण-तस्तेऽस्तु) मध्यस्थानी विद्युत् यज्ञके दक्षिणमें बैठने वाला ब्रह्मा है। यह सब तेरे शरीरयज्ञके रक्षक हैं। (अयं हुतः संस्थितो यज्ञः) यह व्यष्टियज्ञ हुत होकर योनि सम्बन्धमें नियत हुआ (एति यत्र) जाता है जहां (हुतानां पूर्वमयनम्) व्यष्टि यज्ञमें प्राप्त हुये जीवोंका प्रथम स्थान जो ओषधिगर्भ या मातापिताका बीज भाव है ॥१५॥

शिक्षा—जीवोंके व्यष्टि यज्ञमें पार्थिव अग्नि, वर्षाका स्वामी द्यु स्थानी बृहस्पति, मध्यस्थानी इन्द्र क्रमशः होता अध्वर्यु और ब्रह्माका कार्य करते हैं, उक्त यज्ञ जीवात्माओंके सबसे प्रथम स्थान गर्भरूपमें प्राप्त होता है यानि गर्भ समयसे व्यष्टि-यज्ञ अथवा शरीरयज्ञका प्रारम्भ हो जाता है॥ १५ ॥

अपूपवान् क्षीरवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥१६॥

(क्षीरवानपूपवांश्चरुरिहासीदतु) अत्र प्राजापत्ये शरीरात्मके व्यष्टियज्ञे क्षीरवान् पयस्वान् रेतस्वान् शुक्रवान। "रेतः पयः" श० । १२ । ४ । १ । ७) "पयसो वै प्रजाः सम्भवन्ति" (श० २ । ५ । १ । १४) अथवा क्षीरं पय इव रेतो विद्यते यस्मिन् स रेतस्वान् शुक्रवान्—अपूपवान् मधुमक्षिकागृहमिव सच्छिद्रं जालं विद्यते यस्मिन् स सच्छिद्रजालवान् "असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः…" (छान्दो० ३ । १ । १) अत्रोपनिषद्वचने मधुमक्षिकाणां सच्छिद्रगृहस्यापूप इति नाम स्पष्टी भवति । यश्च लोके खाद्योऽपूपः स खल्वपूप इवापूप उपमयैवास्ति। अद्यत्वीनोऽपि लोके "गुलाब-जामन" इति फलं पर्वतेषु तदिव घृतपक्वं यन्मिष्टान्नमुच्यते "गुलाबजामन" इति नाम्ना। चरुर्भाग इहास्मिन् शरीर आसीदतु—आसीदति स्थिरो भवति । अर्थात्—शुक्रवानपूपवांश्चरुः=शुक्रधारककोशो वा शुक्रवान् शरीरकोशो वा शुक्रकोशः "शुक्र Cell" मधुमक्षिकागृहमपूपः, स च कोशशब्देन वेदेऽपि व्यवहृतः "…मधुकोशो अक्षरत्" (ऋ० १ । ११२ । ११) शरीरे स्थिरो भवतीत्यायुर्वेदविज्ञानम् । (ये देवानां हुतभागा लोककृतः पथिकृत इह स्थ यजामहे) ये देवानां दिव्यगुणवतां पदार्थानां हुतभागा गृहीतभागा लोककृतः शरीरसम्पादकाः पथिकृतः सर्वप्राणिजीवनयात्रायाः संस्थापका प्राणापानव्यानरूपा आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्नयो यूयमिह शरीरे स्थातो यजामहे यजध्वम् 'पुरुषव्यत्ययः' ॥ १६ ॥

भावार्थ—(क्षीरवान्) शुक्रवाला या शुक्रमय (अपूपवान् मधुमक्षिका

गृहतुल्य सछिद्र जालवाला (चरुः) टुकड़ा (आसीदतु) शरीर यज्ञमें स्थिर होता है। अर्थात् शुक्रकोश "शुक्र Cell" शरीरमें स्थिर रहता है (ये देवानां हुतभागाः) जो दिव्यगुण वाले पदार्थोंके अंश ग्रहण किये हुये (लोककृतः पथिकृतः) शरीर सम्पादक सारेप्राणियों की जीवनयात्राके संस्थापक प्राण अपान व्यान रूप आहवनीय गार्हपत्य दक्षिणाग्नि (इह स्थ यजामहे) इस शरीर यज्ञमें तुम स्थित हो अत एव उक्त शुक्रकोशका यजन करते हो उसको परिणामपर पहुँचाते हो ॥ १६ ॥

शिक्षा—शरीरयज्ञमें आहवनीय आदि तीन अग्नियोंके रूपमें प्राण, अपान, और व्यान वर्तमान होकर शरीरयज्ञके साधक प्राणियोंकी जीवनयात्राके संस्थापक हैं और उक्त यज्ञमें शुक्रमय कोशकी पहिली आहुतिका परिणाम करते हैं ॥ १६ ॥

अपूपवान् दधिवांश्चरुरेह.................... ॥ १७ ॥

अपूपवान् द्रप्सवांश्चरुरेह.................... ॥ १८ ॥

अपूपवान् घृतवांश्चरुरेह.................... ॥ १९ ॥

अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह.................... ॥ २० ॥

अपूपवानन्नवांश्चरुरेह सी.................... ॥ २१ ॥

अपूपवान् मधुमांश्चरुरेह.................... ॥ २२ ॥

अपूपवान् रसवांश्चरुरेह.................... ॥ २३ ॥

अपूपवानपवांश्चरुरेह सी.................... ॥ २४ ॥

(१) क्षीरवानपूपवांश्चरुः = रेतस्वान् सछिद्रजालवान् भागः = रेतोधारकशरीरकोशः (रेतः Cell ❀) ॥ १६ ॥

(२) दधिवानपूपवांश्चरुः = धारणात्मकशरीरधातुः श्लेष्मा तद्वान् श्लेष्मवान सछिद्रजालवान् भागः = श्लेष्मधारकशरीरकोशः (श्लेष्म Cell) ॥ १७ ॥

(३) रसवानपूपवांश्चरुः = रसवान् लसिकावान् सछिद्रजालवान् भागः = रसधारकशरीरकोशः (रस Cell) ॥ २३ ॥

(४) द्रप्सवानपूपवांश्चरुः = शोणितविन्दुमान् सछिद्रजालवान् भागः = शोणितविन्दुधारकशरीरकोशः (शोणित Cell) ॥ १८ ॥

(५) मांसवानपूपवांश्चरुः = मांसवान् सछिद्रजालवान् भागः = मांसधारकशरीरकोशः (मांस Cell) ॥ २० ॥

❀ कठिन, मृदु, विलीन तन्तुओंसे पूर्ण शुक्रादि अंश यहां कोश हैं स्यात् Cellसे कहे जा सकें

(६) मधुमानपूपवांश्चरुः = मेदस्वान् सच्छिद्रजालवान् भागः = मेदोधारक-शरीरकोशः (मेदः Cell) ॥ २२ ॥

(७) अपवानपूपवांश्चरुः = प्राणवान् स्नाववान् सच्छिद्रजालवान् भागः = प्राणधारकस्नावमयशरीरकोशः (स्नाव Cell) ॥ २४ ॥

(८) अन्नवानपूपवांश्चरुः = अस्थिमान् सच्छिद्रजालवान् भागः = अस्थिधारकशरीरकोशः (अस्थि Cell) ॥ २१ ॥

(९) घृतवानपूपवांश्चरुः = मज्जवान् सच्छिद्रजालवान् भागः = मज्जधारक-शरीरकोशः (मज्ज Cell) ॥ १९ ॥

अत्र समन्वयः

"रेतसः[१] श्लेष्मा संभवति, श्लेश्मणो[२] रसः, रसाच्छोणितम्[३], शोणितान्मांसम्[४], मांसान्मेदः[५], मेदसः[६] स्नावा, स्नाव्नोऽस्थीनि[७], अस्थिभ्यो[८] मज्जा[९]" (निरु० १४ । ६) एते नव-पदार्थाः शरीरे सदा कोशेषु वर्तन्ते । तथा "शरीरमिति कस्मात् । अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते ······मुखे आहवनीय उदरे गार्हपत्यो हृदि दक्षिणाग्निः" (गर्भोपनिषत् । ५) ॥१६-२४॥

भाषार्थ—

१—(क्षीरवानपूपवांश्चरुः) रेतोधारक शरीरकोश यानि शुक्र Cell ॥ १६ ॥
२—(दधिवानपूपवांश्चरुः) श्लेष्मधारक शरीरकोश यानि श्लेष्म Cell ॥ १७ ॥
३—(रसवानपूपवांश्चरुः) रसधारक शरीरकोश यानि लसिका Cell ॥ २३ ॥
४—(द्रप्सवानपूपवांश्चरुः) शोणितविन्दुधारक शरीरकोश यानि रक्त Cell ॥ १८ ॥
५—(मांसवानपूपवांश्चरुः) मांसधारक शरीरकोश यानि मांस Cell ॥ २० ॥
६—(मधुमानपूपवांश्चरुः) मेदोधारक शरीरकोश यानि मेदः Cell ॥ २२ ॥
७—(अपवानपूपवांश्चरुः) प्राणस्नायुधारक शरीरकोश यानि स्नायु Cell ॥२४॥
८—(अन्नवानपूपवांश्चरुः) अस्थिधारक शरीरकोश यानि अस्थि Cell ॥२१॥
९—(घृतवानपूपवांश्चरुः) मज्जधारक शरीरकोश यानि मज्ज Cell ॥१९॥

शिक्षा—शुक्र, श्लेष्मा, लसिका, रक्त, मांस, मेदः, स्नायु, अस्थि और मज्जा के कोशों (Cells) को शरीरके अन्दर वर्तमान प्राण, अपान और व्यानरूप अग्नियां शरीरयज्ञ में हवन कर रही हैं अर्थात् शुक्रादि धातुओंका परिणाम शरीर के अन्दर गर्भसे लेकर मृत्यु पर्यन्त प्राणाग्नियां करती रहती हैं अतः प्राणोंकी विद्या का सम्यक् परिचय करके जीवन लाभ लेना चाहिये ॥ १६—२४ ॥

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ २५ ॥

(देवास्ते यानपूपापिहितान् कुम्भानधारयन्) देवा अग्न्यादयस्ते तुभ्यं यान् पूर्वोक्तान् अपूपापिहितान् कुम्भान् जालान्तर्गतान् शुक्रादिमयान् कोशानधारयन् धारयन्ति (ते ते स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्च्युतः सन्तु) ते ते तुभ्यं स्वधावन्तोऽन्नवन्तो मधुमन्तो रसवन्तो घृतवन्तः स्नेहवन्तो वृक्षेषु फलरूपेण संसारे सन्तु सन्तीत्यर्थः "रसो वै मधु" (शत० ६ । ४ । ।३ । २) अन्नरसस्नेहपरिणामास्ते कोशाः सन्तीति विज्ञानं प्रकट्यते ॥ १५ ॥

भावार्थ—(देवास्ते यानपूपापिहितान्) अग्नि आदि देव तेरे लिये पूर्वोक्त जिन जालान्तर्गत (कुम्भानधारयन्) शुक्रादि कोशों को धारण करते हैं (ते ते) वे तेरे लिये (स्वधावन्तः) अन्न वाले (मधुमन्तः) रस वाले (घृतवन्तः) स्नेह वाले वृक्षों में फलरूपके समान (सन्तु) संसारमें हों ॥ २५ ॥

शिक्षा—शरीरके अन्दर शुक्रादि कोश, अन्न, रस और स्नेहके आहारसे बनते हैं स्वास्थ्यजनक उक्त वस्तुओंके सेवन करनेसे शरीरान्तर्गत शुक्रादि वस्तुओंका स्वास्थ्यजनक परिणाम हो सकता है ॥ २५ ॥

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानुमन्यताम् ॥ २६ ॥

(यास्ते तिलमिश्राः स्वधावतीर्धाना अनुकिरामि) हे जीव ! तुभ्यं यास्तिलमिश्रास्तिलमिव मांसग्रन्थिस्तिलस्तेन मिश्राः सहिताः स्वधावतीः स्वधारणाशक्तिमती र्धाना धारणशीला धमनीरनुकिरामि जाले क्षिपामि तनोमीत्यर्थः । 'ललाटेऽङ्गुष्ठमात्रं चिह्नं तिलं तिलकं वाऽभिधीयते, नेत्रे कृष्णं मध्यचिह्नं नेत्रतिलमुच्यते तदेतादृशमुपमयैव भवति तथैवात्रापि विज्ञेयम् (तास्ते उद्भ्वीः प्रभ्वीः सन्तु) ता धाना धमन्यस्ते तुभ्यमुद्भ्वीरुद्भाविका उत्तानिकाः प्रभ्वीः प्रतानिकाश्च सन्ति (तास्ते यमो राजानुमन्यताम्) तास्ते धमनीर्यमो राजा जीवनकालोऽनुमन्यतामनुकूलं नयतु ॥ २६ ॥

भावार्थ—(यास्ते तिलमिश्राः) हे जीव ! जो तेरे लिये तिलके समान मांस ग्रन्थियोंसे युक्त (स्वधावतीर्धानाः) स्वधारणशक्तिवाली धमनियोंको (अनुकिरामि) शरीरजालमें फैलाता हूँ । (तास्ते उद्भ्वीः प्रभ्वीः सन्तु) उक्त धमनियां तेरे लिये तानेंबानेंके रूपमें विद्यमान हैं (तास्ते यमो राजा) उनको तेरा जीवनकाल (अनुमन्यताम्) अनुकूलरूपसे जीवनके लिये फैला दे या स्थिर रक्खे ॥ २६ ॥

शिक्षा—शरीरके अन्दर मांसग्रन्थियोंके साथ शिरायें तानें बानेके रूपमें फैली हुई हैं। जो वातादि वाहक होनेसे जीवनकालको स्थिर रखने वाली हैं ॥ २६ ॥

अक्षितिं भूयसीम् ॥ २७ ॥

(भूयसीमक्षितिम्) भूयसीमत्यधिकामक्षितिं जीवनीम्, यमो राजाऽनुमन्यतामिति वर्तते ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(भूयसीम्) अत्यधिक (अक्षितिम) जीवनीको जीवनकाल अनुकूलरूपमें स्थिर रखे ॥ २७ ॥

शिक्षा—पूर्वोक्त वातादिवाहक शिराओंके नियमित और उचित सञ्चलन व्यवहारसे जिन्दगी उन्नत होती है ॥ २७ ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ २८ ॥

(द्रप्सः पृथिवीं द्याश्चानु–इमञ्च योनिमनु चस्कन्द) द्रप्सो दृप्यतिमुह्यतीति द्रप्सः संसारे मुह्यमानो जीवः "अनीशया शोचति मुह्यमानः" (मुण्डके ३।१।२) मोहनार्थाद्दृप धातोः सः प्रत्ययः। द्यावापृथिवीभ्यां सह तयोरुत्पत्तिसमकालमेव। इमं योनिं मनुष्यादिं योनिमनु शरीरंप्रति चस्कन्द स्कन्दति गच्छति (यश्च पूर्वः) यश्च स पूर्वः पुरातनः शाश्वतिकः (समानं योनिमनुसञ्चरन्तं द्रप्सं सप्तहोत्रा अनु जुहोमि) समानं कर्मप्रमाणं कर्मानुसारं यथोचितं योनिं शरीरं प्रति सञ्चरन्तं सम्यग् गन्तारं द्रप्सं जीवं सप्त होत्रा अनु सप्तसंख्याका होत्रा यज्ञान् आदानधर्मान् सुषुम्नाकेन्द्ररूपान् प्राणयज्ञान् "होत्रो यज्ञनाम" (नि० ३। १७) जुहोमि प्रयच्छामि संस्थापयामि ॥२८॥

भाषार्थ—(द्रप्सः) संसारमें मुह्यमान जीव (पृथिवीं द्याश्चानु) द्यावापृथिवीके साथ अर्थात् उनकी उत्पत्तिके समकाल ही (इमञ्च योनिमनु) और इस मनुष्य आदियोनि को (चस्कन्द) प्राप्त होता है (यश्चपूर्वः) जो कि शाश्वतिक अर्थात् नित्य है (समानं योनिमनु) कर्मानुसार यथोचित योनिके प्रति (संचरन्तं द्रप्सम्) सृष्टिक्रमसे जाते हुए जीवको (सप्त होत्रा अनु) सात संख्या वाले यज्ञों अर्थात् सुषुम्ना नाड़ीके सप्त प्राणचक्ररूपी यज्ञोंके साथ (जुहोमि) संस्थापित करता हूँ ॥ २८ ॥

शिक्षा—द्यावापृथिवीकी उत्पत्तिके साथ ही जीवोंकी उत्पत्ति भी होती है। वह नित्यस्वरूप वाला जीव अपने कर्मानुसार मनुष्यादि योनियोंको प्राप्त होता है। शरीरमें प्राप्त हुए जीवका विशेष आश्रय सुषुम्ना नाड़ीगत सप्त प्राणचक्र हैं ॥ २८ ॥

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम् ।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम् ॥२९

(नृचक्षसः शतधारं वायुं स्वर्विदमर्कं रयिमभिचक्षते) नृचक्षसो देवा इन्द्रियाणि "देवा वै नृचक्षसः" (शत० ८ । ४ । २ । ५) शतधारमसंख्यधारायुतमसंख्यनाड़ीप्रवाहयुक्तं वायुं वातं स्वर्विदं तजोविदं सुखहेतुकमर्कमग्नितत्वमुष्माणं पित्तमितियावत् "अग्निर्वा अर्कः" (१० । ४ । १ । २३) रयिमुदकं पुष्टिदं श्लेष्मतत्वम् "अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवे दिवे" इत्युक्तं च । अभिचक्षतेऽभिपश्यन्ति-अनुभवन्ति-अभिगच्छन्ति । शरीरे वातपित्तकफरूपेण वाय्वग्निजलानि वर्तन्ते । उक्तं च सुश्रुतचरकयोः—

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा । धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥

अत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति ? आहोस्वित्पित्तमेवाग्निरिति ? अत्रोच्यते न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् ॥

"......श्लेष्मा मधुरशीतलः । स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य च उदककर्मणा अनुग्रहं करोति ।" सुश्रुते (सूत्र० अ० २१ । ८ । ६ । १४)

"वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम् ०।

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति तद्यथा पक्तिमपक्तिं दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रत्वमुष्मणः० ॥

सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति तद्यथा दार्ढ्य शैथिल्यमुपचयं कार्श्यम्० ।" (चरके । सू० १२ । ८, ११, १२)

(ये च सर्वदा पृणन्ति प्रयच्छन्ति) ये च वातादय आन्तरिकपदार्थाः सर्वदा शरीरं पृणन्ति प्रकृतिभूताः सन्तः पालयन्ति, प्रयच्छन्ति विकृताश्च प्रशाम्यन्ति, उक्तं यथा "विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च" (अष्टांगहृदये० सू० १ । ८) (ते सप्तमातरं दक्षिणां दुह्रते) त एव वातादयः सप्तमातरं सप्तमातारो निर्मातारो यस्यास्तां दक्षिणां भोगरूपां दुह्रते प्रपूरयन्ति सम्पादयन्ति शुक्रादिभिः सप्तधातुभिः सम्पन्नो भोगोऽत्र दक्षिणा ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(नृचक्षसः) प्राणियों को स्व स्व व्यापार में प्रवृत्त करने वाली इन्द्रियाँ (शतधारं वायुम्) असंख्य नाड़ी प्रवाहोंसे युक्त शरीरान्तर्गत आयुर्वैदिक वात तत्वको (स्वर्विदमर्कम्) तेजनिमित्तक पित्त तत्वको (रयिम्) पुष्टिकारक कफ धातुको (अभिचक्षते) प्राप्त होती हैं (ये च सर्वदा) जो वात, पित्त,कफ सदा (पृणन्ति)

शरीर का पालन करते हैं (प्रयच्छन्ति) विकृत होकर शरीरका शमन करते हैं (ते सप्तमातरम्) वे वात, पित्त, कफ शुक्रादि सात धातुओं से निर्मित (दक्षिणां दुहृते) भोगार्थ प्राप्त होने वाली कायारूप दक्षिणाको सम्पादन करते हैं ॥ २६ ॥

शिक्षा—शुक्रादि सात धातुओंसे युक्त तथा इन्द्रियोंके आयतन भोगरूप शरीरको वात, पित्त, कफ मूलतत्व जीवनधारण और पोषणकी शक्ति प्रदान करते करते हैं ॥ २६॥

कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये ।
ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥ ३० ॥

(अग्ने जनेष्विडां धेनुं मधुमतीमूर्जं मदन्तीमदितिं मा हिंसीः) अग्ने हे वैश्वानराग्ने ! त्वं जनेषु जायमानेषु प्राणिषु वर्तमानामिडामिडानाम्नीं धेनुं धेनुरूपां नाडीं मधुमतीं धेनुं पिङ्गलां नाडीमूर्जं मदन्तीं धेनुमूर्जं विराजं चेतनां मदन्तीं हर्षयन्तीम् "ऊर्ग्विराट्" (तै० १ । २ । २ । २) "वैराजो वै पुरुषः" (तां० २ । ७ । ८ । १६) अदितिं धेनुमखण्डनीयां सुषुम्नानाडीम् । "छिद्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते" (क्षुरिकोपनिषदि १८) "या प्राणेन सम्भवति-अदितिर्देवतामयी गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायते" (कठो० ४ । ७) प्राणेन सह सङ्गच्छतेऽदितिः सुषुम्नानाडी तत्र च सप्तचक्राणि प्राणकेन्द्राणि प्राणमर्माणि मुण्डके यथा "सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः" (मुण्ड० २ । १ । ८) मा हिंसीर्न विनाशय । यतो हीमा नाड्यः (परमे व्योमन् स्वस्तये कोशं चतुर्बिलं कलशं दुहन्ति) परमे पूर्णे शतवर्षके व्योमन् संवत्सरे काले "व्योमा हि संवत्सरः" (शत० ८ । ४ । १ । ११) स्वस्तये सु-अस्तित्वे समीचीनस्थिरत्वे कोशं प्रत्येकं फुप्फुसयकृत्प्लीहादिकं चतुर्बिलं चतुश्छिद्रं कलशं कलनस्वभावं रक्तप्रवेशनिकासशब्दवन्तं जीवनसमयसंख्यानप्रवृत्तिकं हृदयरूपं कलशं दुहन्ति चेतनया प्रपूरयन्ति । 'कल शब्दसंख्यानयोः' ॥ ३० ॥

भावार्थ—(अग्ने) शरीरके अन्दर वर्तमान हे वैश्वानर अग्ने ! तू (जनेषु) उत्पन्न हुए सभी प्राणियोंके अन्दर वर्तमान (ईडां धेनुम्) ईडा नाम वाली धमनी को या नाड़ी को (मधुमतीम्) पिङ्गला नाड़ी को (ऊर्जं मदन्तीमदितिम्) जीवरूप चेतना को हर्षाती हुई अखण्डनीय सुषुम्ना नाड़ीको (मा हिंसीः) मत हिंसित कर । क्योंकि ये सभी नाड़ियां (परमे व्योमन्) पूर्णकाल अर्थात् सौ वर्षकी आयु तक (स्वस्तये) स्थिरताके लिये (कोशम्) प्रत्येक फुप्फुसयकृत् स्रोहा आदि को (चतुर्बिलं कलशम्) और चारछिद्र वाले रक्तप्रवेश-निकासके कलकल शब्दयुक्त जीवन-

संमयकी संख्या करने वाले हृदय को (दुहन्ति) चेतनासे प्रपूरण करती हैं ॥ ३० ॥

शिक्षा—प्राणियोंके अन्दर ईडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाड़ियां प्रधान रूपसे विद्यमान हैं जो प्राणियोंकी पूर्ण आयुपर्यन्त जीवनीके लिये यकृत् प्लीहा आदि पिण्ड और हृदयको जीवनरससे पूर्ण करती हैं ॥ ३० ॥

एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ ३१ ॥

(सविता देव एतद् वासो भर्तवे ते ददाति) सविता उत्पादको देव एतद् वासः शरीरं भर्तवे भर्तुम् 'तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः' ते तुभ्यं ददाति "त्वगेव वासः" (शत ४। ३।४।२६) (त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तत्तार्प्यं चर) हे जीव त्वं यमस्य यमनशीलस्य कालस्य राज्ये वसानो धारयन् तच्छरीरं तार्प्यं तर्पणीयं सुखमयं चर सम्पादय ॥ ३१ ॥

भावार्थ—(सविता देवः) उत्पादकदेव (एतद् वासः) इस शरीरको (भर्तवे ते) तेरे लिये धारण करनेको (ददाति) देता है (त्वं यमस्य राज्ये) हे जीव ! तू यमनशील समयके अधीन (वसानः) धारण करता हुआ (तत् तार्प्यम्) उस शरीर को सुखनिमित्त (चर) सम्पादन कर ॥ ३१ ॥

शिक्षा—ईश्वरने संसारके अन्दर प्रेयः और श्रेयः सुखोंके सम्पादन करनेके लिये जीवात्मा को शरीर प्रदान किया है अतः यावत् जीवनकाल है उसके अन्दर उक्त शरीरको सुखसम्पादन का हेतु बनाना चाहिये ॥३१॥

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलो भवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति ॥ ३२ ॥

(धाना धेनुरभवत् तिलोऽस्या वत्सोऽभवत्) धानाऽस्मिन् शरीरे धारणशीला नाडी धेनुरभवद् । तिलो मांसादिग्रन्थिरस्या अस्या धेन्वा वत्सोऽभवत् (यमस्य राज्ये तां वै अक्षितामुपजीवति) यमस्य राज्ये कालस्य राज्ये तां नाडीरूपां धेनुमेष ग्रन्थिरूपो वत्स उपजीवत्याश्रयति ॥३२॥

भावार्थ—(धाना धेनुरभवत्) इस शरीरमें धारणशील बन्धनरूप नाड़ी धेनु के समान है (तिलोस्या वत्सोऽभवत्) मांसादि ग्रन्थि उस धेनुका वत्सके तुल्य है (यमस्य राज्ये) कालके अधीन (तां वै अक्षिताम्) उस नाड़ी रूप धेनुका (उपजीवति) उक्त मांसादि ग्रन्थि आश्रय लेती है ॥३२॥

शिक्षा—शरीरके अन्दर रक्तवाहक नाड़ियां विद्यमान हैं और उनके साथ

कश्चित् २ मांस ग्रन्थियां या नाड़ीग्रन्थियां भी हैं । जो उक्त नाड़ियोंमें से रिसते हुए रक्तको अपने अन्दर ग्रहण करती हैं ॥ ३२ ।

एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु । एनीः श्येनीः
सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ॥ ३३ ॥

(असौ त एता धेनवः कामदुघा भवन्तु) असौ हे जीव ! एता धेनवो धेनुरूपाः शिराः कामदुघा आनुकूल्यसम्पादका भवन्तु (अत्रैनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सास्त्वोपतिष्ठन्तु) अत्र शरीरे एनीररुणा वातवहाः शिराः, श्येनीर्गौर्यः श्वेताः कफवहाः शिराः, विरूपा नीलाः पित्तवहाः शिराः, सरूपा रोहिण्यो रक्तवहाः शिराः । शिराणां चातुर्विध्यं सुश्रुते वर्णितम्—

तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना शिराः ।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्यः स्थिराः कफात् ॥
असृग्वहास्तु रोहिण्यः शिरा नात्युष्णशीतलाः ॥ (सुश्रुते ७ । २०)

तिलवत्साः कोशवत्सास्त्वोपतिष्ठन्तु त्वामाश्रयन्तु त्वदधीना भवन्त्वित्यर्थः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(असौ ते) हे जीव ! तेरे लिये (एता धेनवः) ये धेनुरूप शिरायें (कामदुघा भवन्तु) अनुकूलता की सम्पादक हों (अत्र) इस शरीरमें (एनीः) अरुण रङ्गकी वातवाहक शिरायें (श्येनीः) श्वेत रङ्गकी कफवाहक शिरायें (विरूपाः) नीले रङ्गकी पित्तवाहक शिरायें (सरूपाः) रक्तरङ्गकी रक्तवाहक शिरायें (तिलवत्साः) मांसग्रन्थियोंको वत्सतुल्य साथ रखती हुई (त्वोपतिष्ठन्तु) तेरे शरीरका आश्रय हैं ॥ ३३ ॥

शिक्षा—शरीरके अन्दर चार प्रकारकी शिरायें स्व स्व ग्रन्थियोंके साथ फैली हुई हैं । जो कि वातवाहक, कफवाहक, पित्तवाहक और रक्तवाहक हैं ॥ ३३ ॥

एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते ।
तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः ॥३४॥

(अस्यैनीर्धाना हरिणीः श्येनीः कृष्णा रोहिणीर्धाना धेनवस्तिलवत्सास्तेऽस्मै विश्वहोर्जं दुहाना अनपस्फुरन्तीः सन्तु) अस्य जीवस्य ताः पूर्वोक्ता धानाः शिरा एन्यः श्येन्यः कृष्णा रोहिण्योऽपि तिलवत्सा ग्रन्थिवत्सा अस्मै जीवाय हरिण्यो भरिण्यः पोषिका धाना धारणधर्माः शिरा विश्वाहा सर्वदोर्जं देहरसं रक्तादिं दुहानाः प्रपूरयन्त्योऽनपस्फुरन्तीरुचितं स्फुरमाणाः सञ्चलन्त्यः सन्तु ॥ ३४ ॥

भावार्थ—(अस्य) इस जीवकी (एनीः धाना हरिणीः श्येनीः कृष्णा रोहिणीर्धाना धेनवरितलवत्साः) पूर्वोक्त अरुण रङ्ग वाली वातवाहक, श्वेतरङ्गकी कफवाहक, नीले रङ्गकी पित्तवाहक, रक्तरङ्गकी रक्तवाहक शिरायें ग्रन्थियोंके साथ (अस्मै ते) इस तुझ जीवके लिये (विश्वाहा) सदा (ऊर्जं दुहानाः) जीवनके लिये आवश्यक रस आदिको सम्पादन करती हुई (अनपस्फुरन्तीः सन्तु) उचितरूप से स्फुरती हुई अपने २ कार्यके लिये गति करती हुई विद्यमान रहें ॥ ३४ ॥

शिक्षा—पूर्वोक्त रक्तवातादिवाहक शिरायें स्व स्व ग्रन्थियोंके साथ उचित रूपसे स्पन्दन करती रहती हैं ॥ ३५ ॥

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम् ।
स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः ॥३५॥

(वैश्वानरे-इदं साहस्रं शतधारमुत्सं हविर्जुहोमि) वैश्वानरेऽग्नौ शरीरान्तवर्तिन्यग्नौ "अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्य घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैतं घोषं शृणोति" (श० १४।८।१०।१) साहस्रं सहस्रप्रकारं शतधारमसंख्यनाडीशाखमुत्सं कोशाख्यं हविर्जुहोमि स्थापयामि (स पिन्वयानो बिभर्ति) यतः स वैश्वानरः पिन्वमान एवं सेवमानो बिभर्ति त्वां हे जीव ! धारयति पोषयति (पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति) तव पितरं पितामहान् प्रपितामहांश्च बिभर्ति धारयति पोषयति ॥ ३५ ॥

भावार्थ—(वैश्वानरे) शरीरके अन्तवर्ती अग्निमें (इदं साहस्रं शतधार मुत्सं हविः) सहस्र प्रकारसे असंख्य नाड़ी शाखाओंसे युक्त कोशरूप हविको (जुहोमि) रखता हूँ (स पिन्वमानो बिभर्ति) जिससे कि वह सेवित हुई अग्नि तुझको धारण करती है (पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति) न केवल तुझे ही अपितु वह वैश्वानर अग्नि तेरे पिता, पितामह, प्रपितामहको भी धारण करती रही है ॥ ३५ ॥

शिक्षा—शरीरके अन्दर वैश्वानर नामसे अग्नि विद्यमान है जो अपनी उष्मा सब कोशों आशयों और शिराओंको पहुँचाती हुई मनुष्य का धारण पोषण करती है ॥ ३५ ॥

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे ।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः ॥ ३६ ॥

(सलिलस्य पृष्ठे सहस्रधारं शतधारमुत्सं व्यच्यमानमक्षितमूर्जं दुहान-

मनपस्फुरन्तं पितरः स्वधाभिरुपासते) सलिलस्योदकस्य मेघस्य पृष्ठे वर्तमानं सहस्रं शतधारमुत्सं जलमयं तनुबीजं पितरो जनकाः स्वधाभिः स्वधारणशक्तिभिरक्षितमविनाशिनं व्यच्यमानं व्यक्तिभावमाप्नुवन्तमूर्जं दुहानं खाद्यरसं गृह्णन्तमनपस्फुरन्तं स्वशक्त्या गतिमन्तमुपासते सेवन्ते ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(सलिलस्य पृष्ठे) मेघमण्डलमें (सहस्रधारं शतधारमुत्सम्) असंख्यजलविन्दुमयसमूहको, जो गर्भबीज (व्यच्यमानम्) पुरुषादि शरीरके व्यक्तिभावको प्राप्त होनेवाले (अक्षितम्) अविनाशी जीवशक्तिको (ऊर्जं दुहानम्) शरीरधारणार्थ रस ग्रहण करते हुए को (अनपस्फुरन्तम्) कुटिलगतिरहितको (पितरः) अपने जनक (स्वधाभिः) स्वधारण शक्तियोंसे (उपासते) सेवन करते हैं या ग्रहण करते हैं ॥ ३६ ॥

शिक्षा—मेघमण्डलमें सब जीवोंका गर्भबीज है उसको माता-पिता लोग अपने अन्दर निज शक्तियोंसे धारण करते हैं जोकि पुरुषादि व्यक्तिशरीरमें प्रगट होता है ॥ ३६ ॥

यहां पर व्यष्टियज्ञका प्रकरण समाप्त होता है और जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जीवनचर्याका प्रकरण प्रारम्भ होता है—

इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् सजाता अवपश्यतेत ।
मर्त्योयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु ॥ ३७ ॥

(इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत्सजाता अवपश्यतेत) इदं कसाम्बु गतिमज्जलमिव पुरुषबीजमात्मतत्वं चयनेन स्वकर्मचयनेन निजकर्मानुसारं प्राप्तं तद् यूयं सजाता बन्धवोऽवपश्यत, अत एव-इत-आगच्छत । (अयं मर्त्योऽमृतत्वमेति तस्मै यावत्सबन्धु गृहान् कृणुत) अयं मर्त्यो मनुष्योऽमृतत्वं ध्येयरूपेणामृतत्वं मोक्षपदमेति तस्मात् तस्मै जीवाय यूयं यावत्सबन्धु सर्वेऽपि बन्धवो गृहान् तद्योग्यानि स्थानानि कृणुत कुरुत ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(इदं कसाम्बु) यह गतिशील जलके समान पुरुषबीज (चयनेन चितम्) निजकर्मों से युक्तहुआ हुआ है (तत्सजाताः) तुम बन्धुजन (अवपश्यत) इसको देखो (एत) इसके समीप आओ या प्राप्त होओ (अयं मर्त्यः) यह सन्तान (अमृतत्वमेति) ध्येयरूप मोक्षपदको प्राप्त करता है । इसलिये (तस्मै यावत्सम्बन्धु) उसके लिए तुम सब बन्धुजन (गृहान् कृणुत) योग्य स्थानोंको बनाओ ॥ ३७ ॥

शिक्षा—मनुष्य कर्मानुसार जन्मता है, जन्मे हुए बालकके लिये उसके योग्य स्थानों का प्रबन्ध करना चाहिये संसारमें मनुष्यजन्म का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है इसलिये अपने और अपनी सन्तानके प्रति ऐसे साधन और कर्मोंका सञ्चय करना चाहिए जिससे ध्येयरूप मोक्ष प्राप्त हो सके ॥ ३७ ॥

इहैवैधि धनसनिरिहचित्त इहक्रतुः ।
इहैधि वीर्यवत्तरो वयोधा अपराहतः ॥ ३८ ॥

(इहैव धनसनिरेधि) इहास्मिन्नेव शरीरे त्वं धनसनिरैश्वर्यसम्भागी भव (इहचित्त इहक्रतुः) इह शरीरे चित्तं चेतनत्वं यस्य सोऽयमिहचित्तः शरीरे चेतनशील एधि भव, इहक्रतुः, इह शरीरे क्रतुः कर्म यस्य स इहक्रतुः शरीरे कर्मशीलो भव "क्रतुः कर्मनाम" (नि० २ । १) (इहवीर्यवत्तरो वयोधा अपराहत एधि) हे जीव ! इह शरीरे त्वं वीर्यवत्तरोऽतिवीर्यवान् वयोधा आयुर्धारकोऽपराहतोऽनाघातः स्वस्थ एधि भव इत्याशीर्वादः ॥ ३८ ॥

भावार्थ—(इहैव धनसनिरेधि) हे बालक ! तू इस शरीरमें ऐश्वर्यका भागी हो (इहचितः) इस शरीरमें तू सावधान बुद्धिमान् हो (इहक्रतुः) इसी शरीरमें तू पुण्यकर्मशील बन (इह वीर्यवत्तरः) इस शरीरमें तू अत्यन्त बलवान् (वयोधाः) आयुवाला (अपराहतः) स्वस्थ (एधि) रह ॥ ३८ ॥

शिक्षा—सन्तानके जन्म होने पर अर्थात् जातकर्म संस्कारके समय बन्धु बान्धव और इष्टमित्र बालकको आशीर्वाद दें कि हे बालक ! तू ऐश्वर्यभागी, बुद्धिमान्, कर्मशील, अतिबलवान्, आयुष्मान्, तथा स्वस्थ रह ॥ ३८ ॥

पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः ।
स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥३९॥

(इमा मधुमतीरापः पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीः) इमा मधुमतीराप ओषधिरसाः "ओषधयो मधुमतीः" (तै० ३ । २ । ८ । २) पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्त्यः सत्यः (पितृभ्योऽमृतं स्वधां दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु) अथ च पितृभ्योऽपि स्वधामन्नमन्नशक्तिममृतं प्राणं च दुहानाः प्रपूरयन्त्यः सत्य आपो देवीर्दिव्य उभयान् सन्तानं पितृंश्च तर्पयन्तु । "प्राणा वा अमृतम्" (श० १४ । ४ । ४ । ३) ॥ ३९ ॥

भावार्थ—(इमा मधुमतीरापः) यह ओषधि जल (पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीः) पुत्र पौत्रादि नवजात सन्तानको तृप्त करता है (पितृभ्योऽमृतं स्वधां दुहानाः) और

माता पिता आदिको अन्नशक्ति और प्राणशक्तिको देनेवाला (आपो देवीः) उत्तदिव्य गुणजल (उभयांस्तर्पयन्तु) सन्तान और सन्तानके माता पिता आदिको एवं दोनोंको तृप्त करता है ॥ ३६ ॥

शिक्षा—नवजात बालकको उसकी स्वस्थताके लिये ओषधिजल तथा प्रसूता माता को भी औषधसेवन कराना चाहिये ॥ ३६ ॥

आपो अग्निं प्रहिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम् ।
आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नियच्छान् ॥४०॥

(आपो अग्निं पितॄन् प्रहिणुत) आपः पूर्वोक्ता ओषधिरसा ओषधिसारा अग्निं जठराग्निं पितॄन् प्राणान् प्रति प्रहिणुत प्रेरयन्ति यतो हि ओषधिरसैः जठराग्निः प्रदीप्यते स च प्राणानाप्नोति अत एव (इमं यज्ञं मे पितरो जुषन्ताम्) इमं यज्ञं शरीरे पाकरूपं यज्ञं मे पितरः प्राणा जुषन्तां सेवन्ते (य आसीनामूर्जमुपसचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नियच्छान्) ये प्राणा आसीनामुपस्थितामूर्जमन्नमात्रामुप सचन्ते परिणमन्ति पचन्ति ते प्राणा अस्मभ्यं रयिं पुष्टिभोगं सर्ववीरं नियच्छान् नियच्छन्तु स्थापयन्ति । लडर्थे लोट् ॥ ४०॥

भावार्थ—(आपः) पूर्वोक्त ओषधिरस (अग्निम्) जाठराग्निको (पितॄन्) प्राणोंको (प्रहिणुत) प्रेरित अर्थात् उत्तेजित करते हैं (इमं यज्ञम्) शरीरके अन्दर पाकरूपमें वर्तमान यज्ञ को (मे पितरः) मेरे प्राण (जुषन्ताम्) सेवन करें या सेवन करते हैं (य आसीनाम्) जो उपस्थित (ऊर्जम्) अन्नमात्रा को (उपसचन्ते) पकाते है (ते नः) वे हमारे लिये (रयिं सर्ववीरम्) सब प्रकारसे वीर्ययुक्त पुष्टियुक्त भोग को (नियच्छान्) नियत करते हैं ॥ ४० ॥

शिक्षा—आयुर्वैदिक रीतिसे ओषधियोंका सेवन करके शरीरस्थ जाठराग्नि और प्राणोंकी शक्तिको बढ़ाना चाहिये क्योंकि उक्त ओषधिमात्राके सेवनसे शरीरमें पुष्टि प्राप्त होती है ॥ ४० ॥

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।
स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान् ॥४१॥

(घृतप्रियममर्त्यं हव्यवाहं समिन्धते) घृतप्रियं रसप्रियममर्त्यं यावज्जीवं तावत्सततं वर्तमानं हव्यवाहं ग्राह्यरसवोढारं जाठराग्निमयं जीवः समिन्धते त्रिविध-भोजनैर्दीपयति । यतः (स निहितान् निधीन् परावतो गतान् पितॄन् वेद) सोऽन्तरा-

ग्निर्निहितान् शरीरे स्थितान् निधीन् कोशान् अवयवान् परावतो गतान् सर्वत्र विस्तृतान् पितृन् प्राणान् वेद प्राप्तवानस्ति ॥ ४१ ॥

भावार्थ—(घृतप्रियम्) अन्न रसको चाहने वाले (अमर्त्यम्) यावज्जीवन वर्तमान (हव्यवाहम्) अन्नरसके वहन करने वाली जाठराग्निको (समिन्धते) यह जीव विविध भोजनद्वारा प्रदीप्त करता है (स निहितान् निधीन्) वह अन्तराग्नि शरीरके अन्दर वर्तमान कोशों को या अवयवोंको (परावतो गतान्) सर्वत्र फैले हुए (पितॄन्) प्राणों को (वेद) प्राप्त है ॥ ४१ ॥

शिक्षा—जाठराग्नि जो कि अन्नरसकी क्षुधा उत्पन्न करती और यावज्जीवन शरीरके अन्दर उक्त खाद्यरसका परिणाम शरीरके प्रत्येक कोश अवयव और प्राणतन्तुओंतकमें पहुँचाती है उसको विविध उचित भोजनोंसे प्रदीप्त करना चाहिये ॥ ४१ ॥

यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥४२॥

(यं ते मन्थं यमोदनं यत्ते मांसं निपृणामि) हे जीव ! ते तव शरीरे यं मन्थं मन्थनीयं रक्तमोदनमुन्दनीयं रेतः "रेतो वा ओदनः" (शत० १३ । १ । १ । ४) यद्वा मांसं निपृणामि यथास्थानं यथावश्यकं नियोजयामि । अतः (ते ते स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतवन्तः सन्तु) ते ये स्वधावन्तोऽन्नवन्तो मधुमन्तो रसवन्तो घृतवन्तः स्नेहवन्तस्ते तुभ्यं सन्तु सन्ति तानुपयुङ्क्ष्व ॥ ४२ ॥

भावार्थ—(यं ते मन्थम्) हे जीव ! तेरे शरीरमें जिस मन्थनीय रक्तको (यमोदनम्) जिस शुक्ररूप सारपदार्थको (यत्ते मांसम्) तथा जिस मांसको (निपृणामि) यथास्थान आवश्यकतानुसार नियुक्त करता हूँ । अतः उनके पोषण के वास्ते (ते स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतवन्तः) वे अन्नवाले रसवाले और स्नेहवाले पदार्थ (ते सन्तु) तेरे लिये हैं तू उनका उपयोग कर ॥ ४२ ॥

शिक्षा—मनुष्य के शरीर में रक्त, शुक्र और मांस ये तीन धातुएं विशेषतः जीवनधारणके निमित्त हैं । इनके पोषणार्थ उत्तम अन्न रस और स्नेह वाले पदार्थों को सेवन करना चाहिये ॥ ४२ ॥

यास्ते धाना····॥४३॥ (देखो सूक्तसमन्वय) अथर्ववेद १८।४।२६ (पृष्ठ १६८)

इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥४४॥

(इदं नियानं पूर्वमपरं येना ते पूर्वे पितरः परेताः) हे जीव ! इदं नियानं निरयणं नियतस्थानं शरीरं पूर्वं पूर्वतः प्रवृत्तमपरं परभावरहितमग्रेऽपि प्रवर्तिष्यमाणमस्ति येन शरीरेण ते तव पूर्वे पुरातनाः पितरः परेताः संसारयात्रां प्राप्ताः सन्ति (येऽस्य पुरोगवा अभिशाचः) येऽस्य शरीरस्य पुरोगवा नेतारोऽभिशाचोऽभिसेवमानाः सन्ति (त्वा सुकृतां लाकं वहन्ति) त्वां सुकृतां पुण्यकृतां स्थानं वहन्ति नयन्ति ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(इदं नियानम्) हे जीव ! यह शरीर (पूर्वमपरम्) पहलेसे ही चला आने वाला और आगे भी प्रवृत्त होने वाला है (येना) जिस शरीर के साथ अर्थात् शरीर धारण करके (पूर्वे ते पितरः) तेरे पूर्वज माता पिता आदि कुटुम्बी (परेताः) संसार यात्रा करते हैं और करते थे (येऽस्य पुरोगवाः) जो इस शरीर के पूर्व नेता जीवित कुटुम्बी (येऽभिशाचः) और जो इस शरीरकी सदा देख-भाल करने वाले हैं (त्वा सुकृतां लोकं वहन्ति) तुझे उत्तम पुरुषांको अवस्थामें ले जाते हैं अर्थात् योग्य बनाते हैं ॥ ४४ ॥

शिक्षा—जीवका शरीरधारण करना केवल इसी समयके लिये ही नहीं है किन्तु आत्माके नित्य होनेसे पहलेसे ही चला आता है और आगे भी चलता रहेगा । अतः माता पिता आदि कुटुम्बी जनोंको चाहिये कि अपनी सन्तानको पुण्यवान् बनानेके लिये उसके शरीरका रक्षण पोषण आदि व्यवहार इस प्रकार करें कि जिससे इस जन्म और भविष्य जन्मके लिये उपयोगी हो सके ॥ ४४ ॥

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥४५॥

(देवयन्तः सरस्वतीं हवन्ते) देवयन्त आत्मानं देवं सम्पादयन्तो जनाः सरस्वतीं वाणीं वेदविद्याम् "सरस्वतीति वाङ्नाम" (नि० १ । ११) हवन्ते स्वीकुर्वन्ति । (तायमानेऽध्वरे सरस्वतीम्) तायमाने वर्धमानेऽध्वरे वेदारम्भसंस्कारयज्ञे सरस्वतीं वाणीं स्वीकुर्वन्ति (सुकृतः सरस्वतीं हवन्ते) सुकर्माणः सरस्वतीं धारयन्ति (सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्) सरस्वती वाणी विद्या दाशुषे दत्तमनसे जीवाय वार्यं वरणीयं वस्तु दात् ददाति "न विद्यया विना सौख्यम्" इत्युक्तञ्च ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(देवयन्तः) अपने आपको विद्वान् बनानेके इच्छुक जन

(सरस्वतीं हवन्ते) अध्ययनरूप वाणीका स्वीकार करते हैं (तायमानेऽध्वरे सरस्वतीम्) अध्ययनरूप यज्ञमें या वेदारम्भसंस्कारयज्ञमें अभ्यास द्वारा वाणीका स्वीकार करते हैं (सुकृतः सरस्वतीं हवन्ते) सुकर्मी भाग्यशाली जन ही विद्याका स्वीकार करते हैं। (सरस्वती दाशुषे) वाणीरूप विद्या मनदेनेवाले पुरुषके लिये (वार्यं दात्) उत्तम सुखका प्रदान करती है ॥ ४५ ॥

शिक्षा—उच्चकोटि का विद्वान् बननेके लिये विद्यासे अत्यन्त प्रेम करनेकी आवश्यकता है निज अध्ययन और अध्यापन कालमें भी सदा विद्याभ्यास स्वाध्याय विद्याप्रचार करना चाहिये। विद्याप्राप्ति अपने सौभाग्य और पुण्यकर्मसे ही होती है। जो मनुष्य विद्याप्रचारके लिये अपना तन मन धन देता है विद्या उसीके लिये अपूर्व सुख प्रदान करती है ॥ ४५ ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आधेह्यस्मे ॥ ४६ ॥

(पितरो दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः सरस्वतीं हवन्ते) पितरः शिक्षका दक्षिणा दक्षिणतो यज्ञं ब्रह्मयज्ञं विद्याध्यापनमभिनक्षमाणा अनुतिष्ठन्तः सरस्वतीं वाणीं हवन्ते प्रयुञ्जते (अस्मिन् बर्हिष्यासद्य मादयध्वम्) अस्मिन् बर्हिषि यज्ञ आसद्य मादयध्वं यूयं सर्वेऽपि हर्षयत (अस्मे अनमीवा इष आधेहि) हे सरस्वति ! अस्मेऽस्मभ्यमनमीवा आरोग्यकरा इष इषितव्याः क्रियाः सम्पादय ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(पितरो दक्षिणा) शिक्षक लोग शिष्यके दक्षिणमें बैठकर (यज्ञमभिनक्षमाणाः) विद्याध्यापन रूपी यज्ञका सेवन करते हुए (सरस्वतीं हवन्ते) वाणीका प्रयोग करते हैं (अस्मिन् बर्हिषि) इस अध्यापन स्थानमें (आसद्य) बैठकर (मादयध्वम्) विद्यादानसे प्रसन्न करो (अस्मे अनमीवाः) तथा हमारे लिये आरोग्यकारक (इष आधेहि) इष्ट क्रियाओंका हे सरस्वति ! तू आधान करा अर्थात् उचित आचरणकी तरफ ले चल ॥ ४६ ॥

शिक्षा—शिक्षक लोग शिक्षणालयमें बैठकर विद्यार्थियोंको विद्याध्यापन और सत्याचरणादिके उपदेशसे सब प्रकार योग्य बनावें ॥ ४६ ॥

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४७ ॥

(या सरस्वति देव्युक्थैः स्वधाभिः पितृभिर्मदन्ती सरथं ययाथ) या

सरस्वति सरस्वती देवी वाक्शक्तिरुक्थैर्मन्त्रोच्चारणैः स्वधाभिः सत्कारैः सह पितृभिः शिक्षकैः सङ्गता मदन्ती जनान् हर्षयन्ती सती सरथमेकशरीरं ययाथ याति प्राप्नोति। 'अत्र पुरुषलकारव्यत्ययौ' (अत्र सहस्रार्घमिडो भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि) अत्राध्ययनाध्यापनयज्ञे सा सहस्रार्घं रायस्पोषं भूमानमसंख्यातगुणमिडो भागं स्तवनभागं विद्याप्रकाशं यजमानाय अध्येत्रे जनाय धेहि धारयति। "भूमा वै रायस्पोषः" (श० ३।५।२।१२)॥ ४७॥

भाषार्थ—(या सरस्वति देवि) यह जो अध्ययनाध्यापनरूप विद्या है वह (उक्थैः) मन्त्रोच्चारणों तथा (स्वधाभिः) सत्कारोंके साथ (पितृभिः) शिक्षकोंसे सङ्गत हुई (मदन्ती) मनुष्योंको सुख पहुँचाती हुई (सरथम्) एक शरीर होकर (ययाथ) प्राप्त होती है (अत्र सहस्रार्घं रायस्पोषमिडो भागम्) अध्ययनाध्यापन रूपी यज्ञमें बहुत गुणयुक्त विस्तृत या महान् विद्याप्रकाशको (यजमानाय) अध्ययन करने वालेके लिये (धेहि) धारण कराती है॥ ४७॥

शिक्षा—विद्वानोंका सत्कार और सत्सङ्ग करके विद्याध्ययन करना चाहिये मनुष्यके ज्ञानका विकास विद्याध्ययन से ही होसकता है॥ ४७॥

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्रतिरात्यायुः।
परापरैता वसुविद्वो अस्त्वधामृताः पितृषु सं भवन्तु॥ ४८॥

(पृथिवीं त्वा पृथिव्यामावेशयामि) पृथिवीं पृथिवीरूपं पार्थिवशरीरयुक्तं त्वा त्वां हे बालक! पृथिव्यां भूमावावेशयाम्यासयामि (धाता देवो न आयुः प्रतिराति) धाता धारको जगदीशदेवो यश्च नोऽस्माकं गुरुशिष्याणामायुः प्रतिराति विस्तारयति (वसुविद् वोऽस्तु) यश्च वो युष्माकं बालकानां वसुविद् विद्याध्ययनरूपयज्ञवेत्ता भवतु भवति "यज्ञो वै वसुः" (श० १।७।१।९) (अधामृताः पितृषु सम्भवन्तु) अत्र विद्याध्ययनानन्तरं सर्वेऽपि शिष्या अमृताः सन्तः पितृषु अस्मादृशेषु शिक्षकेषु सम्भवन्तु सम्पन्ना भवन्तु। तस्मात् (परापरैत) यूयं गुरुशिष्यपरम्परया व्यवहरत॥ ४८॥

भाषार्थ—(पृथिवीं त्वा) हे बालक तू पार्थिव शरीरको धारण किये हुए है। अत एव तुझे (पृथिव्यामावेशयामि) मैं पृथिवी पर बिठलाता हूँ ब्रह्मचर्यकाल में पृथिवी पर ही सोने आदि की आज्ञा देता हूँ। (धाता देवः) विश्वका धारक जगदीशदेव (आयुर्नः प्रतिराति) हम गुरु शिष्योंकी आयुको बढ़ाता है (वसुविद् वोऽस्तु) जोकि तुम्हारे अध्ययनरूप यज्ञोंका जानने वाला है (अधामृताः पितृषु

सम्भवन्तु) विद्याध्ययन के अनन्तर मरणभयसे रहित हुए हमारे जैसे शिक्षकोंमें हो जाओगे (परापरैत) इसलिये तुम गुरुशिष्य परम्परासे व्यवहार करो ॥ ४८ ॥

शिक्षा—गुरुकुलमें विद्याध्ययन करते हुए विद्यार्थियों को गृहस्थोंके समान उत्तम शय्या आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिये । इस प्रकार विद्याध्ययन की तपस्यामें जगद्रक्षक परमेश्वर सहायक होता है । विद्यासमाप्तिके पश्चात् अपने गुरुओंके समान अध्यापन आदि द्वारा विद्या प्रचार करना आवश्यक है ॥ ४८ ॥

आ प्र च्यवेथामप तन्मृजेथां यद्वामभिभा अत्रोचुः ।
अस्मादेतमघ्न्यौ तद्वशीयो दातुः पितृष्विहभोजनौ मम ॥ ४९ ॥

(यदभिभा अत्रोचुस्तद्वां प्राच्यवेथामपमृजेथम्) हे दम्पती ! यत्किञ्चिद-भिभा निजोपदेशेन विद्यादानेनान्यान सम्यग् भान्ति ये ते विद्वान्सोऽत्र गृहस्थ-धर्मं उचुरुपदिष्टवन्तस्तद्युवां प्राच्यवेथां प्रकृष्टं गृहीतम, अपमृजेथां विचारेण संशोध्याचरतम् (अघ्न्यावस्मात पितृष्वेतम्) अघ्न्यौ हे अहिंसनीयौ दम्पती ! युवा-मम्माद्-मार्गान पितृषूपदेशकेषु निरन्तरं स्थित्वा विद्यां प्राप्नुतम (मम दातुर्वशीय इह भाजनौ) मम विद्याप्रयच्छतुर्भोग्यमिह पालयितारौ युवां स्थः । वसीय इति सायण-सम्मतपाठः ॥ ४६ ॥

भावार्थ—(यद्वामभिभा अत्रोचुः) हे पतिपत्नी ! जो तुमको उपदेशक लोग गृहस्थ धर्म के सम्बन्धमें उपदेश करें (तत्प्राच्यवेथामपमृजेथाम्) तुम उसको ग्रहण करो और विचारके द्वारा संशोधन करके उसका आचरण करो (अघ्न्यावस्मात् पितृष्वेतम्) हे दयनीय पतिपत्नी ! इस मार्ग से तुम उपदेशकोंके अन्दर बारम्बार स्थिर होकर विद्या प्राप्त करो (मम दातुर्वसोयः) मुझ विद्यादान देने वालेके इस भोग्य धन के (इहभोजनौ) इस संसार में तुम रक्षा करने वाले होवो ॥ ४६ ॥

शिक्षा—गृहस्थमें पतिपत्नीको धार्मिक विद्वानोंसे उपदेश ग्रहण करना और तदनुसार आचरण करना चाहिये जहां कहीं भी विद्वानोंका सत्सङ्ग प्राप्त हो वहां पहुँचकर लाभ उठाना चाहिये। इस प्रकार धर्मोपदेशोंके अनुसार गृहस्थमें रहने से दुःखोंसे अलग हो सकते हैं। धार्मिक विद्वानोंकी विद्या तथा उनके उपदेशों की रक्षा तन मन धन द्वारा करना गृहस्थजनोंका कर्तव्य है ॥ ४६ ॥

यहां तक जीवनवृत्त था अब कायापरिणाम और देहान्तकी परिस्थितियों का आरम्भ होता है—

एयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः ।
यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उप सं पराणयादिमान् ॥५०॥

(अनेन दत्तेयं दक्षिणा सुदुघा वयोधा नो भद्रत आगन्) अनेनेश्वरेण दत्तेयं दक्षिणा तनुरूपा दक्षिणा या चैकोनत्रिंशत्तममन्त्रोक्ता "दक्षिणां सप्तमातरम्" वयोधा आयुर्धरा नोऽस्मभ्यं भद्रतः कल्याणहेतोरागन् आगच्छति (यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा इमान् पितृभ्य उपसम्पराणयात्) सा तनुरूपा दक्षिणा कर्मफलरूपा तनुर्यौवने युवावस्थायां जीवान सर्वान् प्राणिन उपपृञ्चती सम्यक् प्राप्नुवती सा जरा जीर्णा सती पितृभ्य ऋतुसहचरितसूर्यरश्मिभ्य उपसम्पराणयादुपसमर्पयेत्। लिङर्थे लेट् ॥५०॥

भाषार्थ—(अनेन दत्तेयम्) इस सर्वव्यापक जगदीश देव की प्रदानकी हुई (दक्षिणा सुदुघा वयोधाः) कायारूप दक्षिणा जोकि कर्म फल को दोहन करती है वह आयुको धारण करने वाली (भद्रतो न आगन्) हमको कल्याणके हेतु प्राप्त हुई है (यौवने जीवान् उपपृञ्चती) यौवनकालमें जीवों को उत्तम रूपसे प्राप्त होती है (जरा-इमान् पितृभ्यः) जीर्ण हुई काया इन सब प्राणियोंको ऋतुसहचरित सूर्यरश्मियोंके लिये (उपसम्पराणयात्) समर्पण कर देती है ॥ ५० ॥

शिक्षा—प्राणियोंके कर्मफल भोगार्थ देह प्राप्त होती है जो प्राणी को उस की आयु का सेवन कराते हुए यौवन काल में सम्यक् पूर्ण होकर जब जीर्ण होजाती है तब इन प्राणियों को अर्थात् जीवात्माओं को सूर्यरश्मियों के प्रति समर्पण कर देती है अर्थात् देहपात के अनन्तर जीव पुनर्जन्म आदि के लिये सूर्यरश्मि को प्राप्त होते हैं ॥ ५० ॥

इदं पितृभ्यः प्र भरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि ।
तदारोह पुरुष मेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ॥५१॥

(पितृभ्य इदं बर्हिः प्रभरामि) पितृभ्यः सूर्यरश्मिभ्यो जीवात्मानमिदं बर्हिरिदं मेघमण्डलं मेघोदकं शरीरबीजं प्रभरामि प्रधरामि प्रस्थापयामि "बर्हिरुदकनाम" (नि० १ । १२) (उत्तरं जीवं देवेभ्यः स्तृणामि) उत्तरं तदनन्तरं जीवं देवेभ्योऽग्न्यादिभ्यः स्तृणामि क्षिपामि त्यजामि । एवमत्रोदकेन जीवोत्पत्तिर्दर्श्यते "तोयेन जीवान् विससर्ज भूम्याम् (महानारायणोपनिषद् १ । ४) (तदा मेध्यो भवन् पुरुष आरोह) तदा मेध्यो यज्ञियो गर्भाधानयज्ञयोग्यो भवन् हे पुरुष ! आरोह-उत्पद्यस्व 'रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च' (पितरस्त्वा परेतं प्रतिजानन्तु) पितरस्ते जनकादयस्त्वां परेतं परागतं प्रगतं प्राप्तं प्रकटीभूतं प्रतिजानन्तु स्वीकुर्वन्ति । ईश्वरोक्तिरियं विज्ञेया ॥५१॥

भ.वार्थ—(पितृभ्यः) देहपातानन्तर सूर्यरश्मियोंमें प्राप्त जीवात्माको उन सूर्यरश्मियोंसे (इदं बर्हिः) इस मेघमण्डल में (प्रभरामि) पहुँचाता हूँ (उत्तरं जीवम्) इसके अनन्तर जीवात्माको (देवेभ्यः स्तृणामि) अग्नि आदि देवोंके प्रति पुनर्जन्म धारण करानेके लिये छोड़ देता हूँ (तदा मेध्यो भवन्) उस समय गर्भाधान के योग्य होता हुआ (पुरुष आरोह) हे जीव ! तू उत्पन्न हो। (पितरस्त्वा परेतं प्रतिजानन्तु) माता पिता आदि जनक शरीरमें प्रकट हुये तुझको स्वीकार करें ॥५१॥

शिक्षा—देहान्तके पश्चात् जीवात्मा सूर्यरश्मियोंको पहुंचकर पुनः मेघमण्डलमें जाता है। वहां गर्भाधानके योग्य बनकर जन्मधारण करता है। माता पिता आदि उसको अपना लेते हैं ॥ ५१ ॥

एदं बर्हिरसदो मेध्यो भूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम्।
यथापरु तन्वं सं भरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि ॥ ५२ ॥

(इदं बर्हिरासदः) हे जीव ! त्वमिदं बर्हिरुदकं शरीरबीजमासद आसीदसि (मेध्यो भूः) अत एव मेध्यो गर्भयोग्योऽभूर्भवसि (पितरः परेतं त्वा प्रतिजानन्तु) पितरस्ते जनकादयः परेतं प्राप्तं त्वां प्रतिजानन्तु स्वीकुर्वन्ति (यथापरु तन्वं संभरस्व) यथापरु यथासन्धि यावत्सन्धि सन्ध्यनुसारं समग्रोचितसन्ध्यनुसारं तन्वं शरीरं सम्भरस्व धारय (गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि) गात्राण्यङ्गानि तेऽहमीश्वरो ब्रह्मणा स्वकीयब्रह्मरूपेणोत्पादनशक्त्या कल्पयाम्युत्पादयामि ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—(इदं बर्हिरासदः) हे जीव ! तू इस मेघमण्डलको प्राप्त होता है (मेध्यो भूः) अत एव गर्भयोग्य होता है (पितरः परेतं त्वा प्रतिजानन्तु) तेरे माता पिता आदि जनक तुझे अपनाते हैं इसलिये निश्चिन्त होकर (यथापरु तन्वं सम्भरस्व) जैसी और जितनी सन्धि होनी चाहियें उन समग्र सन्धियोंके साथ शरीर को धारण कर (गात्राणि ते) तेरे अङ्गोंको (ब्रह्मणा कल्पयामि) मैं ईश्वर स्वकीय ब्रह्मरूप उत्पादन शक्तिसे उत्पन्न करता हूँ ॥ ५२ ॥

शिक्षा—जीव गर्भमें पहुँचकर शरीरकी सन्धियों और अङ्गोंको निजयोनि के अनुसार प्राप्त होता है। सम्पूर्णप्राणियोंके शरीररूपी कलाओंका निर्माण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् जगदीश देव करता है ॥ ५२ ॥

पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन्।
आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ५३ ॥

(पर्णो राजा चरूणामपिधानम्) पर्णो राजा पर्णवती सोमौषधिश्चरूणा

सर्वेषां चरणीयानां भक्षणीयानामपिधानमपिधीयन्त आश्रियन्ते यस्मिंस्तद्रक्षकमस्ति। यतः (ऊर्जो बलं सह ओजो न आगन्) ऊर्जो रसो बलं सह उत्साह ओजस्तेजश्च नोऽस्मभ्यं जीवेभ्य आगन्-आगच्छति। 'लडर्थे लेट्' (जीवेभ्यः आयुर्विदधत् शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) स च सोमो जीवेभ्य आयुर्विदधाति शतशारदाय शत-वार्षिकाय दीर्घजीवनाय ॥ ५३ ॥

भावार्थ—(पर्णो राजा) पर्णवालो सोम ओषधि (चरूणामपिधानम्) समग्र भक्षणीय ओषधियों का आश्रयीभूत है। क्योंकि इसीसे (ऊर्जो बलं सह ओजो न आगन्) रस, बल, उत्साह और तेज हमारे लिये प्राप्त होता है (जीवेभ्य आयुर्विदधत्) जो कि जीवोंके लिये जीवन प्रदान करती है (शतशारदाय दीर्घायु-त्वाय) सौ वर्षकी लम्बी आयु के लिये ॥ ५३ ॥

शिक्षा—सोम ओषधिके अन्दर सभी सेवनीय ओषधियोंका सार है क्योंकि सोम ओषधि सेवन करनेसे मनुष्यके शरीरमें रस, बल, उत्साह और तेज प्राप्त होते हैं जो मनुष्यको स्वास्थ्यपूर्ण शतवार्षिक आयुको प्रदान करते हैं ॥ ५३ ॥

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥५४॥

(ऊर्जो भागो योऽश्मा-इमं जजान) ऊर्जो रसस्य भागो योऽश्मा स्थिरो-ऽश्मेवेमं जीवं जजानोत्पादितवान् कृतवानित्यर्थः (अन्नानामाधिपत्यं जगाम) सोऽ-न्नानामद्यमानानामाधिपत्यं स्वामित्वं जगाम प्राप्तवान् (स यमो नः प्रतरं जीवसे धात्) स यमो यमनशीलो नोऽस्मान् प्रतरं जीवसे जीवनाय प्रकृष्ट धारयेत् (विश्वमित्रास्तं हविर्भिरर्चत) अतो यूयं विश्वमित्राः सन्तस्तं हविर्भिराहुतिभिरर्चत सेवध्वम् ॥५४॥

भावार्थ—(ऊर्जो भागो योऽश्मा) इस सोम ओषधिका जो रस भाग स्थिर था वज्रतुल्य प्रभावशाली है (इमं जजान) इस सेवन करने वालेको सामर्थ्यवान् बना देता है (अन्नानामाधिपत्यं जगाम) क्योंकि सोम सभी खाद्य ओषधियोंके आधिपत्यको प्राप्त हुआ २ है (स यमो नः प्रतरं जीवसे धात्) वह यमनशील हमको उत्तम जीवन के लिये धारण करता है। अतः (विश्वमित्रास्तं हविर्भिरर्चत) सबके हितचिन्तक बनते हुए उस सोम को आहुतियोंसे यज्ञमें उपयुक्त करो ॥ ५४ ॥

शिक्षा—सोम ओषधि का रस वज्रतुल्य प्रभावशाली है। जहां वह प्राप्त करनेसे उत्कृष्टजीवन प्रदान करता है वहां इसकी आहुतियां यज्ञमें देनेसे सर्वहित सिद्ध होता है ॥ ५४ ॥

यथा यमाय हर्म्यमवपन् पञ्च मानवाः ।
एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोसत ॥५५॥

(यथा पञ्च मानवा यमाय हर्म्यमवपन्) यथा पञ्च मानवाः पञ्चजना ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राश्चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चमः "पञ्चजनाः······चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चमः" (निरु० ३ । ८) यमाय यन्तुं शीलाय जीवाय सन्तानार्थं हर्म्यं हर्तुं धारयितुं योग्यं जीवगृहं गर्भबीजं स्त्रियामवपन् वपन्ति । 'सामान्ये काले लङ्' । "हर्म्यं गृहनाम" (नि० ३ । ४) (एवा हर्म्यं वपामि) एवमहमीश्वरो हर्म्यं तदेव जीवगृहं गर्भबीजं सृष्ट्यां वपामि (यथा मे भूरयो असत) यथा मे प्रजारूपा यूयं भूरयो बहवोऽसत भवत । अल्पपाठभेदेनैष मन्त्रस्तैत्तिरीयारण्यके पठ्यते—

"यथा यमाय हार्म्यमवपन्पञ्च मानवाः । एवं वपामि हार्म्यं यथाऽसाम जीवलोके भूरयः" पूर्वञ्चैतस्मात्—

"प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते सुवः । इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसाऽवति" (तै० आ० ६ । ६ । २)

अत्र प्रकरणे वृष्टिद्वारेण काचिदुत्पत्तिविद्या लक्ष्यते तद्वच्चास्माभिर्व्याख्यातम् ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—(यथा पञ्च मानवाः) जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद पांचों (यमाय हर्म्यमवपन्) शरीर का नियन्त्रण करने वाले जीव के लिये यानि सन्तानके लिये गर्भ बीजको स्त्रीके अन्दर बोते हैं (एवा हर्म्यं वपामि) इसी प्रकार मैं ईश्वर उक्त गर्भ बीजको सृष्टिके अन्दर बोता हूँ (यथा मे भूरयोऽसत) जिससे तुम जीवरूप मेरी प्रजायें बहुत हो सको ॥ ५५ ॥

शिक्षा—जिस प्रकार मनुष्योंकी ओरसे शरीर उत्पत्तिके लिये स्त्रियोंमें शरीरोंका बीजारोपण किया जाता है। एवं सृष्टिके अन्दर नाना प्रकार की प्रजाकी उत्पत्तिका बीजरोपण पृथक् २ ईश्वर करता है ॥ ५५ ॥

इदं हिरण्यं बिभृहि यत् ते पिताबिभः पुरा ।
स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम् ॥ ५६ ॥

(इदं स्वर्गं हिरण्यं बिभृहि) इदं स्वर्गं सुखप्रापकं हिरण्यं पूर्वोक्तं हर्म्यं जीवगृहं गर्भबीजं रेतो वा शुक्रं वा बिभृहि धारय "रेतो हिरण्यम्" (तै० ३ । ८ । २।४) "शुक्रं हिरण्यम्" (तै० १ । ७ । ६ । ३) (यत्ते पिता पुराऽबिभः) यद्रेतस्ते पिता

जनकः पूरा पूर्वमबिभो निजशरीरे धारितवान् (यतः पितुर्दक्षिणं हस्तं निमृड्ढि) जीव ! अतस्त्वमेवं जन्म गृहीत्वा पितुर्जनकस्य दक्षिणं हस्तं संसारकृत्यसम्पादनाय तद्वंशपरम्पराचालनाय निमृड्ढि स्वलङ्कुरु शोभस्व । 'मृजू शौचालङ्करणयोः' ॥५६॥

भाषार्थ—(इदं स्वर्गं हिरण्यम्) इस सुखहेतु गर्भबीज शुक्रको (बिभृहि) हे जीव ! तू धारण कर (यत्ते पिता) जिसको तेरे जनक पिता ने (पुराऽबिभः) प्रथम निज शरीरमें धारण किया था (पितुर्दक्षिणं हस्तम्) हे जीव ! तू इस प्रकार जन्मधारण करके स्वजनक पिताके दक्षिण हाथको संसारकृत्यसम्पादनार्थ या वंशपरम्परा चलानेके लिये (निमृड्ढि) शोभायमान कर ॥ ५६ ॥

शिक्षा—जीव अपने कर्मफल भोगनेके लिये मनुष्य शरीरमें गर्भको प्राप्त होता है, जिस गर्भका मूलस्वरूप शुक्र पिताके शरीरमें स्थिर होता है अत एव सन्तान निजपिताके कर्तव्यभारको हाथमें लेकर अपनी वंशपरम्पराको अलङ्कृत करता है ।॥ ५६ ॥

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युदन्ती ॥ ५७ ॥

(ये जीवा ये च मृता ये च जाता ये च यज्ञियाः) ये जीवा मृता मृत्युंगता ये च जाता विद्यमाना ये च यज्ञिया गर्भाधानयज्ञार्हा गर्भाधानान्तर्गता जनिष्यमाणा एवं कालत्रये वर्तमानाः सर्वेऽपि ये जीवाः सन्ति (तेभ्यो मधुधारा व्युन्दती घृतस्य कुल्यैतु) तेभ्यो जीवेभ्यो घृतस्य कुल्या जलवृष्टिः "घृतमुदकनाम" (नि० १।१२) मधुधारा प्राणसम्पादिका "प्राणो वै मधुः" (शत० १४ । १ । ३ । १०) व्युदन्ती पृथिवीमार्द्रीं कुर्वती सत्येतु गच्छतु ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—(ये जीवा ये च मृताः) जीवोंमें जो मृत्युको प्राप्त हो गए हैं (ये च जाताः) और जो विद्यमान हैं (ये च यज्ञियाः) तथा जो गर्भाधानान्तर्गत अर्थात् उत्पन्न होने वाले हैं । इस प्रकार तीनों कालोंमें वर्तमान जितने भी जीव हैं (तेभ्यो घृतस्य कुल्या) उनके लिये जलवृष्टि (मधुधारा) प्राण सम्पादन करने वाली (व्युन्दती) पृथिवीको गीला करती हुई (एतु) प्राप्त होती है ॥ ५७ ॥

शिक्षा—मेघवृष्टि मृतजीवों को पुनर्जन्म देने, विद्यमान जीवोंको जीवित रखने, गर्भगत उत्पन्न होनेवाले जीवोंको प्राणशक्ति प्रदान करनेके लिये पृथिवी पर प्राप्त होती है ॥ ५७ ॥

वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः ।
प्राणः सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया ॥५८॥

(मतीनां वृषा विचक्षणः पवते) अस्मिन् शरीरे मतीनां मननक्रियाणां नेत्रादीन्द्रियवृत्तीनां च वृषा वर्षितृरूपं सञ्चारनिमित्तं मनः । "वृषा हि मनः" (श० १ । ४ । ४ । ३) विचक्षणो विविधतया द्रष्टृ सत् पवते गच्छति प्राप्नोति "पवते गतिकर्मा" (नि० २ । १४) (दिव उषसामह्नां प्रतरिता सूरः) 'अत्र लुप्तोपमाऽलङ्कारः' यथा दिवो रश्मिमण्डलादन्तरिक्षादुषसामह्नां दिवसानां च प्रतरिता प्रतारकः सूरः सूर्य्योऽस्ति । तथा (प्राण इन्द्रस्य हार्दिमाविशन् मनीषया सिन्धूनां कलशानचिक्रदत्) प्राणः प्राणवायुरिन्द्रस्य जीवात्मनो हार्दिं हृत्कमलमाविशन्-अन्तः स्थितः सन् । 'हृदय-शब्दाच्छान्दस इञ् ताद्धितः' मनीषया हृच्छक्त्या सह सिन्धूनां स्यन्दमानानां रक्तवाहिनीनां नदीरूपाणां नाडीनां कलशान् रक्ताशयानचिक्रदत् पुनः पुनः कम्पयति 'क्रद वैक्लव्ये वैकल्ये चेत्यन्ये भ्वादिः' "तद्यदेतैरिदं सर्वं सितं (बद्धम्) तस्मात्सिन्धवः" (जै० उ० १ । २६ । ६) "प्राणो वै सिन्धुश्छन्दः" (श० ८।२।२।४) ॥५८॥

भाषार्थ—(मतीनां वृषा) मननक्रियाओं नेत्रादि-इन्द्रियवृत्तियों का सञ्चार निमित्त मन (विचक्षणः पवते) विविध रूपसे उनका द्रष्टा प्राप्त होता है (दिव उषसामह्नां प्रतरिता सूरः) जैसे रश्मि-मण्डल से दिनों का प्रेरक सूर्य है । तथा (प्राण इन्द्रस्य हार्दिमाविशन्) प्राणवायु जीवात्मा के हृदयकमल में स्थित होकर (मनीषया हिन्धूनाम्) हृदय की शक्तिसे स्यन्दमान रक्तवाहिनी नाड़ियों के (कलशानचिक्रदत्) रक्ताशयोंको बारम्बार कम्पाता है ॥ ५८ ॥

शिक्षा—सारी मनन क्रियाओं और इन्द्रिय वृत्तियों का वहनकर्ता और आधार मन है । जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे दिनके प्रकाशका निमित्त या प्रेरक है एवं प्राण जीवात्माके हृदयमें प्रवेश करके सभी रक्तवाहिनियोंके व्यापार-प्रकाशनका निमित्त है ॥ ५८ ॥

त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षंछुक्र आततः ।
सूरो नहि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ५९ ॥

(शुक्रस्ते त्वेषो धूमः सन दिव्याततः, ऊर्णोतु) हे जीव ! शुक्रः शुक्रम् । 'लिङ्गव्यत्ययः' । तव त्वेषो धूमो देदीप्यमानोऽर्चिरिव सद् दिवि मस्तिष्के स्थितं तव ते शरीरमूर्णोतु-आच्छादयतु (सूरो न द्युता त्वं पावक कृपा रोचसे) सूरो न द्युता

सूर्यो यथा दीप्त्या तथा त्वं पावक हे स्वभावतः शुद्धस्वरूप जीव ! कृपा निजसामर्थ्येन । 'कृपू सामर्थ्ये' । रोचसे प्रतिभासि ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—(शुक्रस्ते त्वेषो धूमः) हे जीव ! तेरा शुक्र अर्चिके समान दीप्त होता हुआ (दिव्यातत ऊर्णोतु) मस्तिष्कमें स्थित हुआ सारे शरीरको व्याप्त होता है (सूरो न द्युता) जिस प्रकार सूर्य अपनी दीप्तिसे वर्तमान है वैसे (त्वं पावक कृपा रोचसे) स्वरूपसे शुद्ध हुआ तू भी निज सामर्थ्यसे प्रकाशमान है ॥५६॥

शिक्षा—मनुष्यका शुक्र तेजस्वी होकर मस्तिष्कमें स्थिर होता है जोकि सम्पूर्ण शरीरमें व्याप जाता है इस प्रकार शुक्ररूपी सामर्थ्यसे ब्रह्मचारी मनुष्य सूर्य की भांति तेजस्वी बनता है ॥ ५६ ॥

प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः ।
मर्य इव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा ॥ ६० ॥

(इन्द्रस्य निष्कृतिं वै-इन्दुः प्रैति) इन्द्रस्य जीवस्य निष्कृतिं वै प्रतिष्ठापनं प्रति इन्दुर्जीवनोदकं रक्तं प्रैति प्रकर्षेण गच्छति । "इन्दुरुदकनाम" (नि० १ । १२) (सखा सख्युर्न प्रमिनाति सङ्गिरः) यथा कश्चन सखा निजसख्युः सङ्गिरः संवादाननुज्ञाश्च प्रमिनाति प्रमाणयति-अनुसरति वा तथा (मर्य्य इव योषाः सोमः कलशे शतयामना पथा समर्षसे) अथवा यथा मनुष्यो भार्य्याः समभ्येति तथा सोमो रसः रक्तमिति यावत् । कलशे हृत्कोशे वर्तमानं शतयामना शतं यामानो यातव्यस्थानानि यस्मिन् तेन पथा । समभ्येति ॥ ६० ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य निष्कृतिं वै) शरीर के अन्दर जीव की प्रतिष्ठाके लिये (इन्दुः प्रैति) रक्त प्रगति करता है (सखा सख्युर्न सङ्गिरः) जैसे कोई मित्र अपने मित्र की अनुज्ञाओं और संवादोंको (प्रमिनाति) प्रमाणित और स्वीकार करता है । तथा (मर्य्य इव योषाः) जैसे मनुष्य भार्य्याके प्रति प्राप्त होता है एवं (सोमः कलशे) पूर्वोक्त रक्त हृदयकोशमें वर्तमान हुआ (शतयामना पथा समर्षसे) असंख्य यातव्य स्थानों वाले मार्गसे सम्पूर्ण शरीरको प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

शिक्षा—जीवात्माकी शरीरमें विद्यमानता रक्तसंचार पर निर्भर है । रक्त हृदयकोशमें वर्तमान होता हुआ अन्य सभी रक्ताशयोंको सूक्ष्म तथा असंख्य तन्तुओं वाले मार्गमें से होता हुआ सम्पूर्ण शरीरमें प्रगति करता है । एक रक्ताशय का दूसरे रक्ताशयमें रक्तसंचारका क्रम या अनुकूलता इस प्रकार वर्तमान है जैसे

एक मित्र दूसरे मित्रकी अनुज्ञाका पालन करते और संवाद एक से दूसरे तक पहुँचाते हैं। या जैसे पतिपत्नी आपस में सहमत होकर वर्तते हैं ॥ ६० ॥

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥

(अक्षन्नमीमदन्त हि प्रियानवाधूषतास्तोषत) एवं सति शतयामनि पथि प्राणा अक्षन् भक्षितवन्तोऽमीमदन्तोपचितवन्तश्च प्रियानङ्गानवाधूषतावकम्पितवन्तोऽस्तोषत निजसञ्चरणशब्दैरनुष्ठितवन्तः (स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे) एवं प्राणसुसञ्चारे वयं स्वभानवो निजदीप्तिमन्तश्चेतनावन्तो विप्रास्तथा यविष्ठा युवतमाः सन्त ईमहे प्रार्थयामहे। "ईमहे याञ्चाकर्मा" (नि० ३ । १९) ॥ ६१ ॥

भावार्थ—(अक्षन्नमीमदन्त हि) पूर्वोक्त शतयामन् रक्तमार्गमें शरीरके अन्दर सारे प्राण उक्त रक्तको भक्षण करते हैं और वे बढ़ते हैं। (प्रियानवाधूषतास्तोषत) पुनः वे अपने २ प्रिय अङ्गों को कम्पित करते और निज सञ्चरणशब्दों से उनको प्राप्त होते हैं (स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे) अतः उक्त प्राणों को हम सावधान हुवे बुद्धि के साथ और विद्वान् तथा बलवान् होते हुवे शरीर में सदा स्थिर रखना चाहते हैं ॥ ६१॥

शिक्षा—रक्ताशयों में रक्त घूमता हुआ शरीरके अन्दर वर्तमान सभी प्राणों को प्राप्त होता है जिससे वे प्राण बलवान् होकर अपने २ सम्बन्ध के अङ्गों को चलाते और निज संचार शब्दों से प्राप्त होते हैं। अतः मनुष्योंको बड़ी सावधानी बुद्धिमत्ता आदि उत्तम व्यवहारोंसे उक्त प्राणोंकी सुस्थितिका ध्यान रखना चाहिए ॥ ६१ ॥

आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः ।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥६२॥

(सोम्यासः पितरो गम्भीरैः पितृयाणैः पथिभिरायात) हे सोमसम्पादिनो रससम्पादिनः पितरः प्राणा गम्भीरैः सुरक्षितैः पितृयाणैः प्राणनाडीयानैः पथिभिर्मार्गैरायातः शरीरे प्राप्नुत (अस्मभ्यमायुः प्रजां दधतः) अस्मभ्यमायुः प्रजां प्रजननशक्तिम्। 'एकवचनत्वात्' दधतो धारयन्तः (रायश्च पोषैर्नोऽभिषचध्वम्) यूयं रायो धनरूपाः सन्तो हे प्राणा नोऽस्मान् पोषैः पोषणैरभिषचध्वं संसेवध्वम् ॥ ६२ ॥

भावार्थ—(सोम्यासः पितरः) शरीरके अन्दर रस बनाने वाले प्राणो

(गम्भीरैः पितृयाणैः पथिभिरायात) सुरक्षित प्राण नाडीरूप मार्गों से शरीरमें प्राप्त हो (अस्मभ्यमायुः प्रजां दधतः) हमारे लिए स्वजीवन तथा सन्तानोत्पादक-शक्तिको धारण कराते हुए (रायश्च पोषैर्नोऽभिषचध्वम्) तुम सुख दायक होते हुवे हमको विविध पोषणों से युक्त करो ॥ ६२ ॥

शिक्षा—शरीरके अन्दर प्राण सुरक्षित प्राणतन्तुओं द्वारा सम्पूर्ण शरीर को प्राप्त होते हैं और शरीरके अन्दर जीवनशक्ति तथा प्रजननशक्तिको स्थिर करते हुवे हर प्रकारसे पुष्ट करते हैं ॥ ६२ ॥

परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः ।
अधा मासि पुनरायात नो गृहान् हविरत्तुं सु प्रजसः सुवीराः ॥६३॥

(सोम्यासः पितरो गम्भीरैः पूर्य्याणैः पथिभिः परायात) सोमसम्पादिनो रससम्पादिनः शुद्धरक्तनिर्मातारः पितरः प्राणा गम्भीरैर्गहनैः पूर्याणैः पुरं शरीरं समग्रदेहं यान्ति यैस्तैः पथिभिर्मार्गैः प्राणतन्तुभिः परायात सर्वत्र विस्तृता भवत । पूः शरीरमत्र प्रमाणानि—"नवद्वारे पुरे देही" (श्वेताश्वतरो० ३ । १८) "पुरमेकादशद्वारम्" (कठो० ५ । १) "अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः" (बृहदा० २ । ५ । १८) "प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति" (प्रश्नो ४ । ३) (अधा मासि पुनरायात) अधा अनन्तरं मासि । 'मस् परिणामे ततो णिजन्तात् क्विप्' । मासयति परिणमयति रक्तं शोधयतीति तादृशि फुप्फुसाद्यङ्गे मांसपिण्डे पुनरायात पुनरागच्छत (सुप्रजसः सुवीरा नो गृहान् हविरत्तुं पुनरायात) सुप्रजसः सुप्रजायन्ते—इति सुप्रजसः सम्यगुत्पत्ति-शक्तिमन्तः सुवीराः सुबलिष्ठाः सन्तो नो मम "अस्मदो द्वयोश्च" (अष्टा० १ । २ । ५९) गृहान् पूर्वोक्तान् कोशान् हविरन्नमत्तुं ग्रहीतुं पुनरायात वारं वारं प्राप्नुत । 'मास् शब्दो-मांसवाची सायणेनापि मतः "माः मांसानि" (ऋ० ५ । २१ । ८) ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—(सोम्यासः पितरो गम्भीरैः पूर्य्याणैः पथिभिः परायात) शुद्ध रक्तके निर्माण करने वाले प्राणो ! शरीरके अन्दर तन्तुरूप गहन मार्गों से इस सम्पूर्ण शरीरमें फैल जाओ (अधा मासि पुनरायात) पश्चात् रक्तका परिणाम करने वाले फुप्फुसादि अङ्गमें फिर प्राप्त होवो (सुप्रजसः सुवीरा नो गृहान् हविरत्तुं पुनरायात) इस प्रकार अङ्गादिकोंकी उत्तम उत्पत्ति शक्ति वाले तथा सुबलिष्ठ होते हुए मेरे शारी-रिक कोशोंको रसादि धातुओंके ग्रहण करनेके लिये बारम्बार प्राप्त होवो ॥६३॥

शिक्षा—रक्तका शोधन तथा निर्माण करने वाले प्राण शरीरमें वर्तमान सूक्ष्मतन्तुमार्गों से रक्तको साथ लेकर सम्पूर्ण शरीरमें भ्रमण करते हैं पुनः उक्त

रक्तका परिणाम उत्तम बनानेके साधनरूप फुफ्फुस जैसे अङ्गमें प्राप्त होते हैं। वहां रक्त शुद्धि होती है जिससे प्राण बलवान् हो अङ्गोंकी निर्माण शक्तिको प्राप्त करके पुनः रक्त बननेके सामग्रीरूप रसको साथ लेकर गतिचक्र चलाते हैं ॥ ६३ ॥

यद्व वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयँ जातवेदाः ।

तद्व व एतत् पुनरा प्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् ॥६४॥

(यदग्निर्वः पितृलोकं गमयन्नेकमङ्गमजहात) हे प्राणाः ! यद्यतोऽग्निर्वैश्वानरः शरीरचालकोग्निः पितृलोकं प्राणस्थानं देहं गमयन् युष्मान् प्रापयन्नेकमङ्गमेकमप्यङ्गमजहात् त्यजेत् पूरणं न कुर्यात (तद्व एतत् पुनराप्याययामि) तद्वो युष्माकमेतदङ्गं पुनराप्याययामि पुनः पूरयामि (पितरः साङ्गाः स्वर्गे मादयध्वम्) पितरो हे प्राणाः ! साङ्गाः सर्वैरङ्गैः सह सङ्गता यूयं स्वर्गेऽस्मिन् सुखहेतुके मे शरीरे मादयध्वं मां प्रसादयत ॥ ६४ ॥

भावार्थ—(यदग्निर्वः पितृलोकं गमयन्) हे प्राणो ! जिससे कि वैश्वानर अग्नि देहके प्रति तुमको पहुँचाती हुई (एकमङ्गमजहात्) एक भी अङ्गको छोड़ देवे तो (तद्व एतत् पुनराप्याययामि) मैं जीवात्मा अपनी इच्छाशक्तिसे तुम्हारे उस अङ्गको पूर्ण कर दूंगा (पितरः साङ्गाः स्वर्गे मादयध्वम्) अतः हे प्राणो ! तुम सभी अङ्गोंके साथ सङ्गत हुए सुख निमित्त शरीरमें मुझको स्वस्थ रक्खो ॥ ६४ ॥

शिक्षा—शरीरकी वैश्वानर अग्नि प्राणोंको अङ्ग २ में पहुँचाती है, कदाचित् किसी अङ्गमें प्राणक्रियाकी न्यूनतासे अस्वस्थता प्रतीत हो तो फिर उसको चिकित्सा आदिसे स्वस्थ बनाना चाहिये, मनुष्य तभी तक स्वस्थ कुशल और प्रसन्न रह सकते हैं जब तक प्राण अङ्ग २ में विद्यमान होकर काम करते रहते हैं ॥६४॥

अभूद्व दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः ।

प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥६५॥

(जातवेदाः प्रहितो दूतोऽभूत्) जातवेदा वैश्वानरो जाठराग्निः प्रहितः शरीरे प्रधृतः सन् दूतो दूत इवान्नरसादीनां प्रेषकोऽभूत् (सायं न्यह्ने नृभिः स्वधयोपवन्द्यः) स जाठराग्निः सायं सायन्तने न्यह्नेऽह्नः प्रकाशीभावादनन्तरमुपमध्याह्ने नृभिर्जनैः स्वधयाऽन्नेनान्नभोजनेनान्नखादनेनोपवन्द्यः सेव्यः । उक्तञ्चान्यत्रापि धर्मग्रन्थे "कालयोर्भोजनम्" (आपस्तम्बीयधर्म० २ । १ । १ । २) "स्वधान्ननाम" (नि० २ । ७ (देव प्रयता हवींषि त्वमद्धि) हे अग्निदेव ! प्रयतानि दत्तानि हवींषि-अत्तुं भक्षयितुं योग्यानि वस्तूनि । 'हु धातुरत्र अदनार्थः' अद्धि भक्षय । पुनः (पितृभ्यः

प्रादाः) पूर्वोक्तप्राणेभ्यो रसरूपं सारपदार्थं प्रदानं कुरु । यतः (ते अक्षन्) ते प्राणाः तं रसं भक्षयन्तु भक्षयन्ति वा ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—(जातवेदाः प्रहितो दूतोभूत्) पूर्वोक्त वैश्वानर जाठराग्नि शरीरके अन्दर स्थित हुई अन्न रसको प्राणादिकोंके प्रति दूतके समान तत् २ स्थान पर पहुँचाने वाली है (सायं न्यह्ने) सायं और मध्याह्नमें (नृभिः स्वधयोपवन्द्यः) अन्न भोजनसे मनुष्योंको उसका सेवन करना चाहिये अर्थात् जाठराग्निकी स्थिरता भोजन खानेसे होती है (देव प्रयत हवींषि त्वमद्धि) हे अग्निदेव ! तू खाने की वस्तुका भक्षणकर अर्थात् पचा । पुनः (पितृभ्यः प्रादाः) प्राणोंके लिये उस भोजनका रस बनाकर दे । जिससे (ते अक्षन्) प्राण उसको खा सकें अर्थात् रससे रक्तादि परिणाम कर सकें ॥ ६५ ॥

शिक्षा—शरीरके अन्दर जाठराग्नि दूतका काम करती है क्योंकि रस आदि वस्तुओंको अङ्ग २ में पहुँचाती है । अत एव सायं और मन्याह्न उस अग्निकी दीप्तिके लिये मनुष्योंको उत्तम २ भोजन करने चाहिएं भोजनका पचकर जब रस बन जाता है तो उस रसको अग्नि प्राणोंके प्रति पहुँचा देती है । उस रसको वे प्राण पूर्वमंत्रके अनुसार सूक्ष्म मार्गोंसे रक्ताशयोंकी ओर ले जाते हैं ॥ ६५ ॥

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः ।
अभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

(जामयः ककुत्सलमिव) जामय उदकानि नद्यः "जामिरुदकनाम" (नि० १ । १२) ककुत्सलमिव यथा ककुत्सलं समुद्रम् । 'ककुदि सलं सलिलं यस्य स समुद्रः । अत्र लिलोपश्छान्दसः' अभिगच्छन्ति पूर्वमन्त्रोक्ता रसनाड्यो रक्तनाड्यो वा प्राणप्रेरिता रक्ताशयं हृदयमभिगच्छन्ति (इह ते मनो है भूमे असावेनमभ्यूर्णुहि) अत्र रक्ताशये हृत्कमले ते मनो मननसामर्थ्यं चेतनत्वमस्ति तस्माद् हे भूमे बहुशक्ते जीवात्मन् ! एनं हृदयमभ्यूर्णुहि-अभिस्वीकुरु ॥ ६६ ॥

भाषार्थ—(जामयः ककुत्सलमिव) नदियां जिस प्रकार समुद्रको जाती हैं एवं पूर्वमन्त्रोक्त रसनाड़ियां तथा रक्तनाड़ियां प्राणोंसे प्रेरित हुई रक्तके आधारभूत हृदय कमलकी ओर जाती हैं (इह ते मनो है भूमे असावेनमभ्यूर्णुहि) इसी रक्ताधार हृदयकमलमें तेरी चेतनशक्ति स्थिर है अतः हे बहु-विधशक्तिवाले जीवात्मन् ! तू इस हृदयदेशको स्वीकार कर ॥ ६६ ॥

शिक्षा—रक्त वाहिनी नाड़ियां रक्ताधार हृदयकी ओर रस और रक्तको

बहाती हुई चली जाती हैं। जैसे नदियां जलको बहाती हुई समुद्रमें फेंकती हैं। एवं उस रक्ताधार हृदयकमलके अन्दर जीवकी चेतनता स्थिर है अतएव जीवका संयोजन हृदयदेशमें हुआ है ॥ ६६ ॥

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥६७॥

(पितृषदना लोकाः शुम्भन्ताम्) पितृषदनाः पितॄणां प्राणानां सदनं येषु ते पितृषदना लोकाः प्राणकोशा गुदोपस्थनाभिहृदयकण्ठभ्रुकुटीब्रह्मरन्ध्ररूपाः सुषुम्नागताः सप्तप्राणाशयाः। यथा मुण्डके। "सप्तेमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः" (मुण्डको० २।१।८) शुम्भन्तां शोभन्ताम्। अतः (पितृषदने लोके त्वा आसादयामि) तेषां मध्ये प्रत्येकस्मिन् प्राणस्थाने हे मनश्चेतने ! त्वामासादयाम्यास्थापयामि ॥ ६७ ॥

भावार्थ—(पितृषदना लोकाः शुम्भन्ताम्) गुदा, उपस्थ, नाभि, हृदय, कण्ठ, भ्रुकुटी और ब्रह्मरन्ध्र सुषुम्नागत प्राणकोश शरीरके अन्दर भली प्रकार अपना २ काम कर सकें इसलिए (पितृषदने लोके त्वा आसादयामि) उनमें प्रत्येक प्राणाशय या प्राणकोशके अन्दर हे चितिशक्ति ! तुझे स्थिर करता हूँ ॥ ६७ ॥

शिक्षा—हृदयसे चेतनाशक्तिका प्रसार होकर प्राणाशयोंको तरफ जाता है जिससे वे अपना २ काम अच्छी तरह कर सकें ॥ ६७ ॥

येऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥ ६८ ॥

(अस्माकं ये पितरस्तेषां बर्हिरसि) यतः। अस्माकं ये पितरः प्राणास्तेषां त्वं हे मनश्चितिशक्ते ! बर्हिर्बर्हणमुद्यामकं पदमाश्रयणमायतनमसि। 'बृहू उद्यमने' "बर्हिरितिपदनाम" (नि० ५। २) ॥ ६८ ॥

भावार्थ—(अस्माकं ये पितरः) हमारे जो शरीरके अन्दर प्राण हैं (तेषां बर्हिरसि) हे चेतना ! तू उनको उत्तेजन करने वाली तथा आश्रयरूप है ॥ ६८ ॥

शिक्षा—जीव की चेतनाके अधीन शरीरके अन्दर प्राणों का व्यापार होता है ॥ ६८ ॥

इस मंत्र से जीव की गर्भ से लेकर भावनाओं और सामान्य कर्तव्यों का वर्णन है:—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥६९॥

(वरुणास्मदुत्तमं पाशमुच्छ्रथाय) वरुण हे जन्माधिष्ठातृदेव ! अस्मभ्मरा

उत्तममुपरिष्ठात्पाशं गर्भबन्धनमुच्छ्रथायोद्गमय (मध्यमं वि-) मध्यमं गर्भमध्यान्तगतं पाशं विश्रथाय विगमय (अधममव-) अधमं नीचैर्गतं पाशमवश्रथायावगमय "छन्दसि शायजपि" (अष्टा० ३ । १ । ८४) (अथादित्य वयं तव व्रतेऽनागसोऽदितये स्याम) अथानन्तरं हे आदित्य ! अदितेरखण्डनीयसुखस्य मोक्षाख्यस्य स्वामिन् परमात्मदेव ! वयं तव व्रते नियमेऽनागसः स्वस्था निष्पापाः सन्तोऽदितयेऽखण्डनीयसुखस्वरूपायै मुक्तये स्याम भवेम ॥ ६६ ॥

भावार्थ—(वरुणास्मत्) हे जन्मदाता जगदीश देव ! मुझ से (उत्तमं पाशम्) ऊपर वाले गर्भके बन्धनको (उच्छ्रथाय) ऊपरसे हटा दे (मध्यमं वि-) गर्भके मध्यवर्ती बन्धनको ढीला कर दे (अधममव-) गर्भके नीचे वाले बन्धन को नीचे गिरा दे (अथादित्य) इसके अनन्तर हे मुक्ति के स्वामिन् (वयं तव व्रते) मैं तेरे नियमके अन्दर (अनागसः) निष्पाप होकर (अदितये स्याम) मुक्तिके लिये योग्य हो सकूं ॥ ६६ ॥

शिक्षा—गर्भ के अन्दर जीव जब सब इन्द्रियों और अन्तःकरण आदिसे व्यक्तिभावको प्राप्त हो जाता है तब गर्भसे बाहर आना चाहता है और गर्भके अन्दर ही उसकी यह भावना होती है कि हे परमात्म देव ! तू मेरे गर्भके ऊपर मध्य और नीचे के सभी बन्धनोंको हटा दे, मैं गर्भ से बाहर आ सकूं और तेरे नियममें रहता हुआ ऐसे शुभ कर्म करूं जिससे कि मुक्ति प्राप्त हो, पुनः इस गर्भबन्धन में न आ सकूं ॥ ६६ ॥

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् यैः समामे बध्यते यैर्व्यामे ।
अधा जीवेम शरदः शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः ॥ ७० ॥

(वरुणास्मत् सर्वान् पाशान् प्रमुञ्च) हे वरुण ! अस्मत् सर्वानपि पाशान् प्रमुञ्च पृथक्कुरु (यैः समामे व्यामे बध्यते) यैः पाशैः समामे समसूत्रे व्यामे विरुद्धसूत्रे गर्भे जीवो बध्यते (अधा राजन् त्वया गुपिता रक्षमाणाः शरदः शतानि जीवेम) अथानन्तरं हे राजन् ! त्वया गुपिता रक्षिता रक्षमाणा रक्ष्यमाणाश्च । 'छान्दसो यगभावः' । शतवर्षाणि जीवेम ॥ ७० ॥

भावार्थ—(वरुणास्मत्सर्वान् पाशान् प्रमुञ्च) हे वरुण मुझसे सभी पाशोंको पृथक् करदे (यैः समामे व्यामे बध्यते) जिनसे समसूत्र और विरुद्ध सूत्रमें जीव बंधता है (अधा राजन् त्वया गुपिता रक्षमाणाः) अनन्तर हे सर्वत्र प्रकाशमान जगदीश्वर तुझ से रक्षित हुआ और भविष्यमें रक्ष्यमाण होकर (शरदः शतानि जीवेम) सौ वर्ष तक संसारमें जी सकूं जो कि मनुष्यको पूर्णायु है ॥ ७० ॥

शिक्षा—जीव गर्भके बाहर सब प्रकारके बन्धनोंसे छूटकर आता है जो बन्धन उसको समसूत्र और विरुद्ध सूत्रमें बांधते थे। पुनः ईश्वरीय नियमोंमें ठीक ठीक वर्तमान होकर जीव मानवीयपूर्णायुको प्राप्त होता है ॥ ७० ॥

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः ॥ ७१ ॥

(कव्यवाहनायाग्नये स्वधा नमः) कव्यवाहनायान्नवोढ्रेऽग्नये जठराग्नये नमोऽन्नमदनीयं वस्तु स्वधोपहारः ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—(कव्यवाहनायाग्नये स्वधा नमः) अन्नादि पदार्थोंका वहन करने वाली जठराग्नि के लिये अदनीय भोजन उपहार हो ॥ ७१ ॥

शिक्षा—जीव गर्भसे बाहर आकर जठराग्निको अनुभव करता है ॥७१॥

सोमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७२ ॥

(पितृमते सोमाय स्वधा नमः) पितृमते प्राणवते प्राणनिमित्ताय सोमाय रसाय नमोऽन्नं स्वधोपहारः ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—(पितृमते सोमाय स्वधा नमः) प्राणसम्पादक रसके लिए उपहार हो ॥ ७२ ॥

शिक्षा—जाठराग्निके अनुभव होनेपर बालक दुग्धपानकी ओर प्रवृत्त होता है ॥ ७२ ॥

पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः ॥ ७३ ॥

(सोमवद्भ्यः पितृभ्यो नमः स्वधा) सोमा रसा येष्वधिष्ठिताः सन्ति तेभ्यः पितृभ्यः प्राणेभ्यो रसाभिभावकेभ्यो नमोऽन्नं स्वधोपहारः ॥ ७३ ॥

भाषार्थ—(सोमवद्भ्यः पितृभ्यो नमः स्वधा) रस प्रेरक प्राणोंके लिये उपहार हो ॥ ७३ ॥

शिक्षा—दुग्धपानके अनन्तर प्राण-शक्तिका विशेष संचार होता है ॥ ७३ ॥

यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७४ ॥

(पितृमते यमाय नमः स्वधा) प्राणाधिष्ठात्रे यमाय यमनशीलाय जीवनकालाय नमोऽन्नमदनीयं वस्तु ॥ ७४ ॥

भाषार्थ—(पितृमते यमाय स्वधा नमः) प्राणोंके अधिष्ठानरूप जीवनकालके लिये अदनीय वस्तु उपहार हो ॥ ७४ ॥

शिक्षा—जैसे २ प्राणशक्ति बढ़ती जाती है वैसे २ बालक जीवनकालको प्राप्त होता है, अर्थात् बड़ा होता है ॥ ७४ ॥

एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७५ ॥

(प्रततामहैतत्ते स्वधा ये च त्वामनु) प्रततामह हे प्रपितामह ! एतदेव नमः, तुभ्यं स्वधोपहारो ये च त्वामनुगताः सन्ति तेभ्यश्चेत्यपि ॥७५॥

भावार्थ—(प्रततामहैतत्ते स्वधा ये च त्वामनु) हे प्रपितामह ! यह अन्न और उपहार तेरे लिए हो और जो तेरे जैसे या तेरे पीछे हों उनके लिये भी ॥७५॥

शिक्षा—बालक जब अपने जीवनकालमें आगे बढ़ते हैं कुछ वर्षोंके हो जाते हैं तो उनका सबसे प्रथम सेवादिका कर्त्तव्य अतिवृद्ध प्रपितामहके लिए हो जाता है क्योंकि कुलके अन्दर प्रपितामह जैसे वृद्धपुरुषको छोड़कर सेवाका पात्र दूसरा कोई नहीं होता। उसके जीनेके भी थोड़े दिन ही शेष रहते हैं, एवं प्रपितामह की सेवाका अवसर न खोना चाहिए। वस्तुतः प्रपितामहको नवजात बालकसे अधिक प्रेम और उसके बहलाने आदि में रुचि भी होती है। अतः इस पुण्य प्रेमके प्रतिकार में उसकी सेवा या प्रेमोपहार बालककी ओरसे होना आवश्यक है। उस महानुभावकी सेवा में उपस्थित होकर बालकको उसके अनुकूल अन्नपान और व्यवहार आदिसे सेवा करनी चाहिए ॥७५॥

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७६ ॥

(ततामहैतत्ते स्वधा ये च त्वामनु) ततामह हे पितामह ! एतदेवान्नं तुभ्यं स्वधोपहारो ये च त्वामनु त्वदनुगताः सन्ति ॥ ७६ ॥

भावार्थ—(ततामहैतत्ते स्वधा ये च त्वामनु) हे पितामह ! यह अन्न और उपहार तेरे लिये हों आर जो तेरे अनुगत हों उनके लिये भी ॥ ७६ ॥

शिक्षा—प्रपितामहके अनन्तर पितामहकी सेवाका अवसर है, क्योंकि प्रपितामहसे नीचे वृद्धसंख्यामें पितामह है अतः उसकी भी पूर्वोक्त अन्नपान और अन्य व्यवहारों द्वारा सेवा करना आवश्यक है ॥ ७६ ॥

एतत् ते तत स्वधा ॥ ७७ ॥

(तत एतत्ते स्वधा) तत हे पितः ! एतदेवान्नं तुभ्यं स्वधोपहारश्चास्तु ॥७७॥

भावार्थ—(तत एतत्ते स्वधा) हे पिता ! यह अन्न और उपहार तेरे लिये है ॥ ७७ ॥

शिक्षा—पितामहके पश्चात् पिताकी सेवाका अवसर है इसलिये सन्तानोंका कर्त्तव्य पिताकी सेवा करनेका भी आवश्यक है ॥ ७७ ॥

स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः ॥ ७८ ॥

(पृथिविषद्भ्यः पितृभ्यः स्वधा) पृथिविषद्भ्यो ये पृथिवीं गार्हपत्यं सीदन्ति गृहकर्मणा कर्त्तव्यकर्मणा वा प्राप्नुवन्ति तेभ्यो गार्हपत्यसद्भ्यो गृहस्थ-पितृभ्यः कुटुम्बस्थेभ्यो वा स्वधा यथासामर्थ्यं सत्कारोऽस्तु । "यद् गार्हपत्यमुपतिष्ठते पृथिवीं तद् उपतिष्ठते" (श० २ । ३ । ४ । ६) "गृहा वै गार्हपत्यः" (श० १ । १ । १ । १६) "कर्मेति गार्हपत्यः" (जै० ४ । २६ । १४) ॥ ७८ ॥

भावार्थ—(पृथिविषद्भ्यः) गृहस्थरूप कर्त्तव्यकर्ममें स्थिर रहने वाले (पितृभ्यः) कुटुम्बी या निकटवासी पालक जनोंके लिए (स्वधा) यथाशक्ति सत्कार हो ॥ ७८ ॥

शिक्षा—पिताकी सेवाके समय सन्तान कुछ जवान होजाता है अतः उस समय निज पिता, पितामह और प्रपितामहकी सेवाके अनन्तर परिवारमें या निकटवास में अन्य गृहस्थ जो पिता-माताके तुल्य वर्तमान हैं उनका भी यथाशक्ति सत्कार करते रहना चाहिए ॥ ७८ ॥

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥ ७९ ॥

(अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः स्वधा) अन्तरिक्षसद्भ्यो येऽन्तरिक्षमन्वा-हार्यपचनं सीदन्ति दमनकर्मणा प्राप्नुवन्ति तेभ्योऽन्वाहार्यपचनसद्भ्यो वानप्र-स्थेभ्यः पितृभ्यो यथासामर्थ्यं सत्कारोऽस्तु । "अन्तरिक्षलोको वाऽन्वाहार्यपचनः" (ष० विं० १ । ५) "दम इत्यन्वाहार्यपचनः" (जै० उ० ४ । २६ । १५) ॥ ७९ ॥

भावार्थ—(अन्तरिक्षसद्भ्यः) दमनकर्मसे वर्तमान वानप्रस्थ (पितृभ्यः) पालकजनोंके लिये (स्वधा) यथाशक्ति सत्कार हो ॥ ७९ ॥

शिक्षा—वानप्रस्थ महानुभावोंका भी यथाशक्ति सत्कार करना चाहिये ॥

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥८०॥

(दिविषद्भ्यः पितृभ्यः स्वधा) दिविषद्भ्यो ये दिवि-आहवनीयं सीदन्ति त्यागकर्मणा शमकर्मणा वा प्राप्नुवन्ति तेभ्य आहवनीयसद्भ्यः संन्यासधर्मान्तर्व-र्तिभ्यः पितृभ्यः पालकेभ्यो यथासामर्थ्यं सत्कारोऽस्तु ॥ "द्यौराहवनीयः" (श० ८ । ६ । ३ । १४) "यदाहवनीयमुपतिष्ठते दिवमुपतिष्ठते" (श० २ । ३ । ४ । ३६) "शम इत्याहवनीयः" (जै० उ० ४ । २६ । १५) ॥ ८० ॥

भावार्थ—(दिविषद्भ्यः) त्यागरूपसे शान्तिको प्राप्त होने वाले संन्यासी महानुभाव (पितृभ्यः) पालकोंके लिये (स्वधा) यथाशक्ति सत्कार हो ॥ ८० ॥

शिक्षा—संन्यासधर्ममें वर्तमान महानुभावोंकी सेवा करनी चाहिए ॥ ८० ॥

नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥ ८१ ॥

(पितर ऊर्जे वो नमः) पितरो हे अन्नदानेन पालकजनाः ! ऊर्जेऽन्नायाः प्रतिकाराय यतो यूयमस्मभ्यमन्नं प्रयच्छथातो वो युष्मभ्यं नमः स्वागतमस्तु । (पितरो रसाय वो नमः) पितरो हे द्रवस्वादुपदार्थद्वारेण पालकजनाः ! रसाय द्रवस्वादुपदार्थाय तत्प्रतिकाराय वो युष्मभ्यं नमः स्वागतमस्तु ॥ ८१ ॥

भावार्थ—(पितर ऊर्जे वो नमः) अन्नदानसे पालन करने वाले महानुभावो ! आप हमारे लिये अन्न प्रदान करते हो अतः उस अन्नप्रतिकारके लिये तुम्हारा स्वागल करता हूँ (पितरो रसाय वो नमः) हे रसीले पदार्थों के देने वाले महानुभावो ! आपके रसदानप्रतिकारके लिये स्वागत करता हूँ ॥ ८१ ॥

शिक्षा—अन्न तथा दूध आदि पदार्थों के देने वाले महानुभावोका सदा स्वागत और मान करना चाहिये ॥ ८१ ॥

नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे ॥८२॥

(पितरो वो भामाय नमः) पितरो हे शासनद्वारेण पालका राजपुरुषाः ! भामाय भर्त्सनाय शासनाय शासनप्रतिकारय वो युष्मभ्यं नमः स्वागतमस्तु । (पितरो वो मन्यवे नमोऽस्तु) हे राज्यमानेन पालका नीतिमन्तो जनाः ! मन्यवे राजमानाय वो युष्मभ्यं नमः स्वागतमस्तु ॥ ८२ ॥

भावार्थ—(पितरो वो भामाय नमः) शासनद्वारा पालन करने वाले राजपुरुषो ! तुम्हारा शासन प्रतिकारके लिये स्वागत करता हूँ (पितरो वो मन्यवे नमोऽस्तु) राज्यमानसे पालन करने वालो नीतिज्ञ महानुभावो राज्यमानके प्रतिकारके लिये तुम्हारा स्वागत करता हूँ ॥ ८२ ॥

शिक्षा—अन्नपानदाताओंके पश्चात राज्यके शासन और नीतिविचार द्वारा पालन करने वाले राजपुरुषोंका स्वागत करना चाहिये ॥ ८२ ॥

नमो वः पितरो यद्घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै ॥८३॥

(पितरो यद् घोरं तस्मै वो नमः) हे धनदण्डदानेन पापाद्रक्षका दण्डदातारो जनाः ! यद् घोरं धनदण्डदानं कर्म तस्मै तत्प्रतिकाराय वो युष्मभ्यं नमः स्वागतमस्तु (पितरो यत्क्रूरं तस्मै वो नमः) पितरो हे पितरः प्रहारदण्डदानेन क्रूरकर्मणः घोरपापात् पालकाः प्रहर्तारो जनाः ! यत्क्रूरं प्रहारदण्डदानं कर्म तस्मै तत्प्रतिकाराय वो युष्मभ्यं नमः स्वागतमस्तु ॥ ८३ ॥

भावार्थ—(पितरो यद् घोरं तस्मै वो नमः) धनदण्ड देकर पापसे बचाने वाले दण्डदाता महानुभावो ! जो धनदण्ड देना तुम्हारा कर्म है उसके प्रति तुम्हारे लिये स्वागत हो (पितरो यत्क्रूरं तस्मै वो नमः) प्रहारदण्ड देकर अतिपापसे बचाने वाले प्रहारदण्डदाता महानुभावो ! जो प्रहार दण्ड देना कर्म है उसके हेतु तुम्हारे लिये स्वागत हो ॥ ८३ ॥

शिक्षा—धनदण्ड या प्रहारदण्ड देकर साधारण पाप और अतिपापसे बचाने वाले न्यायाधीश आदि महानुभावोंका भी स्वागत करना चाहिये ॥ ८३ ॥

नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै ॥८४॥

(पितरो यच्छिवं तस्मै वो नमः) पितरो हे आत्मज्ञानदानेनपालकाः ! यच्छिवमात्मज्ञानसुखं तस्मै तत्प्रतिकाराय वो युष्मभ्यं नमः स्वागतमस्तु (पितरो यत्स्योनं तस्मै वो नमः) पितरो हे विद्यादानेन पालकजनाः ! यत्स्योनं विद्यासुखं तत्प्रतिकाराय वो युष्मभ्यं नमः स्वागतमस्तु ॥ ८४ ॥

भावार्थ—(पितरो यच्छिवं तस्मै वो नमः) आत्मज्ञानके दानसे पालक महानुभावो ! जो आत्मज्ञानसुख है उसके निमित्त तुम्हारे लिये स्वागत हो (पितरो यत्स्योनं तस्मै वो नमः) विद्यादानसे पालक महानुभावो जो विद्यासुख है उसके प्रतिकारमें तुम्हारे लिये स्वागत हो ॥ ८४ ॥

शिक्षा—आत्मज्ञान और विद्याके दान करने वाले महानुभावोंका सत्कार करना चाहिये ॥ ८४ ॥

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः ॥ ८५ ॥

(पितरो वो नमः) हे पालकजनाः ! वो युष्मभ्यं नमः स्वागतमस्तु (पितरो वः स्वधाः) पितरो वो युष्मभ्यं स्वधाऽन्नमस्तु ॥ ८५ ॥

भावार्थ—(पितरो वो नमः) जितने भी जिस भी कर्मसे तुम हमारे रक्षक हो सभीके लिये स्वागत हो तथा (पितरो वः स्वधा) हे पालकजनो ! तुम्हारे लिये अन्न समर्पित है ॥ ८५ ॥

शिक्षा—किसी भी कर्मसे जो रक्षकजन हों उनका स्वागत करना और यथाशक्ति भोजनादि द्वारा सेवा करनी चाहिये ॥ ८५ ॥

येत्र पितरः पितरो येत्र यूयं स्थ युष्मांस्तेनु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ ॥८६

(पितरो ये पितरोऽत्र) पितरो हे पालका जनकादयः ! युष्माकं ये पितरो

जनकादयोऽत्र गृहे सन्ति (येऽत्र यूयं स्थ) ये चात्रैव गृहे यूयं मम पितरः स्थ विद्यध्वे (ते युष्माननु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ) ते पितरो युष्माननु युष्मदनुकूला यूयं च तेषामनुकूलाः सन्तः श्रेष्ठा धार्मिका भूयास्थ भवत ॥ ८६ ॥

भावार्थ—(पितरो ये पितरोऽत्र) हे जनकादि पालक महानुभावो ! तुम्हारे भी जो पालक महानुभाव इस स्थान पर या मण्डल में हैं (येऽत्र यूयं स्थ) और जो इस स्थान या मण्डलमें तुम मेरे पितर विद्यमान हो (ते युष्माननु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ) वे पालकजन तुम्हारे अनुकूल और तुम उनके अनुकूल होते हुए धार्मिक बनो ॥ ८६ ॥

शिक्षा—घर या किसी अन्य क्षेत्रके अन्दर जितने भी अपने पालकजन हों उनके प्रति ऐसा वर्तन करते रहना चाहिये जिससे कि वे पालकजन अपने पुराने पालकजनोंके अनुकूल और वे पुराने पालकजन अवरकालीन पालकजनोंके अनुकूल बने रहें ॥ ८६ ॥

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः ।
अस्मांस्तेनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म ॥ ८७ ॥

(इह ये पितरः) इहात्र गृहे मण्डले वा येऽस्माकं पितरः सन्ति (इह वयं जीवाः स्मः) इहात्र गृहे वयं जीवाः स्मो विद्यामहे (ते अस्माननु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म) ते पितरोऽस्माननु-अस्मदनुकूलाः स्युरथ च वयं तेषामनुकूलाः सन्तः श्रेष्ठा भूयास्मो भवेम ॥ ८७ ॥

भावार्थ—(इह ये पितरः) इस घर या मण्डलमें जो भी हमारे पालक जन हैं (इह वयं जीवाः स्म) और इसी घरमें जो हम जीव विद्यमान हैं (ते अस्माननु) वे हमारे अनुकूल हों (वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म) और हम उनके अनुकूल होते हुए धार्मिक बनें ॥ ८७ ॥

शिक्षा—घर या किसी मण्डलके अन्दर जो पितर हों उनको अपनी सन्तानादिके अनुकूल योग्य व्यवस्था करनेमें यत्न करना चाहिए और सन्तानादिकोंको अपने पालक महानुभावोंके अनुकूल अनुमतिमें रहना चाहिये ॥ ८७ ॥

आ त्वाग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।
यद्ध घ सा ते पनीयसी समिद्द दीदयति द्यवि ।
इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ८८ ॥

(अग्ने देव त्वा द्युमन्तमजरमेधीमहि) अग्ने देव हे प्रकाशस्वरूपाग्रणेतः सर्वसुखदातः पितॄणां पितः परमेश्वर ! त्वां द्युमन्तं ज्ञानदीप्तिमन्तमजरं जरारहितं सत्यमेकरसमेधीमहि वयं स्वान्तःकरणेषु प्रदीपयेम धारयेम (यद् घ स्या ते सा पनीयसी समिद्दीदयति) यद् घ यस्य द्यवि द्युलोके ते तव सैषा पनीयसी प्रशंसनीया समित् सम्यगिध्यते या सा सूर्यरूपा दीप्तिर्दीदयति प्रकर्षेण प्रकाशते (स्तोतृभ्य इषमाभर) हे भगवन् ! तया दीप्त्या स्तोतृभ्यो निजोपासकेभ्य इषं सुसन्ततिमुचितक्रियाञ्चाभर धारय "प्रजा वा इषः" (श० १ । ७ । ३ । १४) ॥ ८८ ॥

भावार्थ—(अग्ने देव त्वा) हे प्रकाशस्वरूप सुखदायक नेता पितरोंके पितर परमेश्वर तुझ (द्युमन्तमजरम्) ज्ञानज्योतिसेयुक्त सत्यस्वरूप एकरसको (एधीमहि) हम अपने अन्तःकरणोंमें प्रदीप्त करें, धारण करें (यद् घ द्यवि ते सा पनीयसी) और जो द्युलोकमें तेरी वह प्रशंसनीय (समिद्दीदयति) सूर्यरूप दीप्ति उत्तम प्रकाशमान है उससे (स्तोतृभ्य इषमाभर) निज उपासकोंके लिए अच्छी सन्तति और उत्तम क्रियाको धारण करा ॥ ८८ ॥

शिक्षा—पितरोंका पिता सबसे बड़ा पालक और पथप्रदर्शक सर्वज्ञ एकरस सदा वर्तमान परमेश्वर ही है, उसीका हमको अपने अन्तःकरणमें साक्षात्कार करना चाहिए। आकाशके अन्दर सूर्य उसको एक प्रकाशित की हुई ज्योति चमकती है जिसके द्वारा मनुष्योंकी रक्षा आदि करता है ॥ ८८ ॥

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि ।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥८९॥

(अप्स्वन्तश्चन्द्रमाः सुपर्णो दिव्याधावते) हे अग्ने देव ! अप्सु-अन्तरिक्षेऽन्तर्मध्ये चन्द्रमाः सुपर्णः सन् दिवि द्योतमानसूर्याश्रये-आधावते धावति (हिरण्यनेमयो वः पदं विद्युतो न विन्दन्ति) हिरण्यनेमयो हिरण्यरूपा नेमयो ज्योत्स्ना वस्तासाम् । 'पुरुषव्यत्ययः' पदं रमणीयस्थानं चन्द्रं विद्युतो न विन्दन्ति न लभन्ते (अस्य मे रोदसी वित्तम्) अस्य परमेश्वरस्य रोदसी द्यावापृथिव्यौ मे मह्यं मम प्रयोजनसाधनाय वित्तं विद्येते । लडर्थे लोट् ॥ ८९ ॥

भावार्थ—(अप्स्वन्तश्चन्द्रमाः) अन्तरिक्षके मध्य चन्द्रमा (सुपर्णो दिव्याधावते) पक्षीके समान बना हुआ खूब दौड़ता है (हिरण्य नेमयो वः पदम्) हिरण्यरूप धाराओं चन्द्रकिरणोंके रमणीयस्थान चन्द्रको (विद्युतो न विन्दन्ति) विद्युत् भी नहीं तुल्यताको प्राप्त कर सकते हैं (अस्य रोदसी मे वित्तम्) उस परमेश्वरके द्यावापृथिवी मेरे प्रयोजन के लिये विद्यमान है ॥ ८९ ॥

शिक्षा—जिस जगदीश देवका रचा हुआ सूर्य प्राणियोंकी रक्षाके हेतु दिनमें प्रकाशमान होता है उसी जगदीश देवका रचा हुआ चन्द्रमा प्राणियोंकी रक्षाके निमित्त रात्रिमें आकाशके बीचमें सुप्रकाशमान होता है और द्यावापृथिवी भी जिसके रचे हुए उक्त रक्षाके कारण हैं। उस ऐसे महान् पालक जगदीश देव परमपिताकी स्तुति और उपासना करनी चाहिए॥ ८६॥

समालोचना—

इस अनुवाक पर समालोचना हम नहीं करते क्योंकि प्रत्येक मंत्र पर कुछ न कुछ समालोचनीय विषय है ही अतः विस्तार-भयसे ऐसा न करके केवल यही लिखना पर्य्याप्त समझते हैं कि पाठक हमारे और अन्य विद्वानोंके अर्थोंका तुलनात्मकदृष्टिसे अध्ययन करें। अस्तु! यम और पितर प्रकरणका "सूक्तसमन्वय" यहां समाप्त होता है और अगला "प्रकीर्णसमन्वय" प्रारम्भ होता है॥



प्रकीर्ण समन्वय

इस प्रकरणमें वे मन्त्र दिये जावेंगे जिनमें "पितृलोक, यमलोक, पितृयाण" आदि का वस्तुतः वर्णन है या इनके वर्णनका सन्देह किया जा सकता है। तथा जो मन्त्र पूर्व दिये "सूक्तसमन्वय" में नहीं आ सकते ऐसे प्रकीर्ण मन्त्र भी दिये जावेंगे जिससे उक्त 'पितृलोक' आदिके स्वरूपका निश्चय होसके ॐ।

पितृलोक

हम अपने इस ग्रन्थके "मुख्यशब्दार्थसमन्वय" में विचार कर आए हैं कि पितृलोकके अर्थ क्या २ हो सकते हैं। वहां द्युलोक (रश्मिमण्डल), सोम, मेघमण्डल, सूर्य, चन्द्र और स्वपितृकुल लिखे हैं। तथा प्राणाशय, सैनिकसदन और विद्वन्निवास को भी पितृलोकके नामसे कह सकते हैं। क्योंकि प्राण, सैनिक और विद्वान् जन भी 'पितर हैं अतः इनके स्थानोंको पितृलोक नाम दे सकते हैं। अस्तु, यहां पर तो केवल निम्नप्रदर्शित उन पितृलोकोंके सम्बन्धमें लिखा जायगा जिनकी चर्चा वेदमें आती है—

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः।
पितृषदने त्वा लोक आसादयामि॥

अथ० १८।४।६७

अर्थ—(पितृषदना लोकाः शुम्भन्ताम्) गुदा, उपस्थ, नाभि, हृदय, कण्ठ, भृकुटी और ब्रह्मरन्ध्र सुषुम्नागत प्राणकोश शरीरके अन्दर भली प्रकार अपना अपना काम कर सकें इस लिये (पितृषदने लोके त्वा आसादयामि) उनमें प्रत्येक प्राणाशय या प्राणकोशके अन्दर हे चितिशक्ति ! तुझे स्थिर करता हूँ।

ॐ विदित हो कि इस पुस्तकलेखनका आधार "यम और पितर" ग्रन्थ रहा किन्तु इसके लिखे जाने पर निश्चय हुआ कि इसका क्रम कोई और उपयोगी बन जाना चाहिये समयाभाव और शीघ्रताके कारण मुद्रण के साथ २ विशेष उपयुक्त शैलीका रखना दुष्कर था तो भी कुछ उपयुक्त क्रम थोड़े हेरफेरसे रखा गया है अधिक उपयोगी क्रम और अन्य विशेष-विचार दूसरे संस्करणमें दिया जा सकेगा।

इस मन्त्रमें प्राणाशयको पितृलोक कहा है। विशेषविवरण के लिये देखो ❀ "सूक्त समन्वय" अथ० १७।४।६७ (पृष्ठ २२४)

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यती अवदीक्षामसृक्षत स्वाहा ॥

अथ० १४।२।५२

निगदव्याख्यातो मन्त्रः।

भाषार्थ—(इमाः) ये (उशतीः) पतिकी कामना करती हुई (कन्यलाः) युवावस्थासे शोभायमान कन्याएं (पितृलोकात्) पितृकुल से (पतिम्) पतिके प्रति (यतीः) जाती हुई (दीक्षाम्) विवाह संस्कार सम्बन्धी दीक्षाको (अवासृक्षत) प्राप्त होती हैं (स्वाहा) एतदर्थ सम्यक् प्रसन्नता का अवसर है।

शिक्षा—जिस समय कन्या युवावस्थामें पूर्ण हो और पतिको इच्छा रखती हो तो उसका विवाह संस्कार बड़ी प्रसन्नता के साथ कर देना चाहिये।

इस मंत्रमें पितृकुलको पितृलोक कहा है।

शुन्धन्तां लोकाः पितृषदनाः। पितृषदनमसि ॥

यजुः० ५। २६, ६। १

(पृथिव्यै त्वा पितृषदना लोकाः शुन्धन्ताम्) हे राजन् पृथिव्यै पृथिवी-राज्याय यथा पितृषु ज्ञानिषु सीदन्ति तथा लोकाः सर्वे जनाः शुन्धन्तां पवित्रीकुर्वन्तु (पितृषदनमसि) यथा विद्यावन्तो ज्ञानिनः सीदन्ति यस्मिन् तथा त्वमसि ॥

भाषार्थ—(पृथिव्यै त्वा पितृषदना लोकाः शुन्धन्ताम्) हे राजन्! तुझको पृथिवीके राज्यके लिये विद्वानोंकी सङ्गतिमें बैठनेवाले तेरे सहायक सभ्यजन तुझे हरप्रकारसे विचारादि देकर कार्यकुशलता के लिये पवित्र करें (पितृषदनमसि) तू ज्ञानी सभासदोंका सभा करानेवाला या आश्रय देने वाला प्रधान या सभापति है।

इस मन्त्रमें मुख्यरूपेण सभापति और सभ्यमण्डलको पितृलोक कहा है।

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
प्र दातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥ अथ० ३।२९।४

(पञ्चापूपं शितिपादं लोकेन संमितमविं प्रदाता) पञ्च-अपूपा इन्द्रियाणि

❀ इस प्रकरणमें जो जो सूक्तसमन्वयप्रकरण के मन्त्र आयेंगे हम उनका यहां अर्थ नहीं देंगे केवल स्थानकी सूचना ही दी जावेगी। पाठक वहांसे देख लें।

यस्मिन् तत् पञ्चापूपं पञ्चेन्द्रियभागम् (शितिपादम्) शितिः श्वेतः पादो यस्य तं धर्मजन्यं लोकेन सम्मितं जनसङ्घेन समाजेन सम्मितं प्रशंसितं सुस्वीकृतमाविं पार्थिवं भागं प्रदाता यः सम्यक् प्रयच्छति लोकोपकाराय राज्यकराय वा सः (पितॄणां लोकेऽक्षितं जीवति) स एवं दाता पितॄणां लोके पितृनिवेशेऽक्षितं ससुखं जीवति। "इन्द्रियमपपूः" (ऐ० २ । २४) "इयं (पृथिवी) वाऽअविरियᳬ ह्यीमाः सर्वाः प्रजा अवति" (श० १ । १ । २ । २१)

भावार्थ—(पञ्चापूपम्) मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप और कृमियोंके योग्य (शितिपादम्) धर्मपूर्वक कमाया हुआ (लोकेन संमितम्) समाज द्वारा उत्तम माना हुआ, प्रशंसित (अविम्) पृथिवी सम्बन्धी आयभागको (प्रदाता) लोकोपकार और राज्य-कर के लिए जो देता है वह (पितॄणां लोके) अपने बड़ोंके निवेश भूमिरूपी सम्पत्तिके अन्दर (अक्षितं जीवति) विना हानिके सुखसे जीवित रहता है।

शिक्षा—भूमिके स्वामी भूमिहार (ज़मीदार) को चाहिए कि अपनी भूमि की आय का धर्मार्थ भाग मनुष्यादि सभी प्राणी तक पहुँचावे अर्थात् उसकी खेती आदि का लाभ मनुष्य, पशु, पक्षी आदि पञ्च प्राणियों को मिल सके। एवं लोकोपकार व राज्य-कर पैतृक जायदादका भोग करे।

इस मन्त्रमें पितृनिवेशका नाम पितृलोक है। जो भूमि आदि भौतिक धन सन्तानके लिये छोड़ जाते हैं।

आ नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवदश्वावद्गोमद्यवमत् सुवीर्यम्।
यूयं हि सोम पितरो मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः॥
ऋ० ९ । ६ । ९८

निगदेनवावगम्यतेऽर्थः।

भावार्थ—(सोम नो वसुमद् हिरण्यवद् अश्वावद् गोमद् सुवीर्यमापवस्व) हे सोम ! हमारे लिये वसुवाला, हिरण्यवाला, अश्ववाला, गोवाला यववाला उत्तम वीर्य्य तू निजपानसे प्राप्त हो अर्थात् तेरे रससे सब प्रकारके धन, ज्योति, घोड़ा, गाय और यवादि अन्नका जो उत्तम आत्माको हर्षित करनेवाला बल है वह प्राप्त हो। (यूयं हि मम पितरः स्थन) तुम मेरे वास्तवमें पालक हो (दिवो मूर्धानो वयस्कृतः प्रस्थिताः) द्युलोककी मूर्धा होते हुए आयुके सम्पादक प्रस्थित हुए हो अर्थात् सोम-

रसकी धाराएं उच्चतम प्रभावशाली होनेसे द्युलोककी मूर्धा सूर्य्यरश्मिधारा के समान हैं।

शिक्षा—सोम रस पान करनेसे संसारके सभी ऐश्वर्यका बल प्राप्त होता है और आन्तरिक अवस्था भी उत्कृष्ट हो जाती है।

इस मन्त्रमें सोमको आन्तरिक उच्च परिस्थितिकी मूर्धा कहा गया है अथवा सोमांशुओं (धाराओं) को पितर और वे सोमरूप पितृलोक (द्युलोक) की मूर्धाएं हैं एवं सोम पितृलोक सिद्ध होता है। ठीक है, पितर अर्थात् पालक धाराओं अंशुओं या गुणों का आश्रय सोम है। अतः पितृलोक उसको कह सकने हैं। अन्यत्र भी सोमको पितृलोक कहा है "पितृलोकः सोमः" (कौ० १६ । ५)

एतदारोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदुदीदयन्ते।
अभिप्रेहि मध्यतो मापाहास्थाः पितॄणां लोकं प्रथमो यो अत्र॥
अथ० १८ । ३ । ७३

इस मन्त्रमें रश्मिमण्डलके लिये पितृशब्द आया है। विवरणके लिये देखो सूक्तसमन्वय अथ० १८। ३ । ७३ (पृष्ठ १८०)

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम॥
अथ० १८ । २ । ४९

इस मन्त्र में मास और ऋतुएं पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ पर अपना प्रभाव डालती हैं, इसका वर्णन है किसी पितृलोककी स्थापना नहीं है। विवरणके लिये देख सूक्त० अथ० १८। २। ४६ (पृष्ठ १५०)

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते॥ अथ० १८।२।४८

इस मन्त्रमें "प्रद्यौः" शब्दसे तीक्ष्ण ज्योति सूर्यका वर्णन है वह रश्मियों का स्थान है किन्हीं परोक्ष या मृतपुरुषोंका स्थान नहीं। मन्त्रमें खगोल विद्याकी चर्चा है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। २। ४८ (पृष्ठ १५०)

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः॥ अथ० १८। १। ६१

इस मन्त्रमें ज्ञान वाहकप्राण मस्तिष्कपटलोंको प्राप्त होते हैं यह चर्चा है ज्ञानवाहक प्राणोंका प्राप्ति-स्थान मस्तिष्कपटल यहां वर्णित है पितृलोक नहीं। विवरणके लिये देखो सूक्तसमन्वय अथ० १८। १। ६१ (पृष्ठ १२१)

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्था एका यमस्य भुवने विराषाट्।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्॥

ऋ० १। ३५। ६

(सवितुस्तिस्रो द्यावः) सवितुः सूर्य्यलोकस्य तिस्रो द्यावस्त्रिप्रकारा अग्नि-सूर्यविद्युदन्तर्गता दीप्तयः सन्ति (द्वोपस्थैका यमस्य भुवने) तत्र द्वा द्वौ द्यावौ दीप्ती उपस्था उपस्थे पार्श्वभागे-उभयत इतस्ततो द्यावापृथिव्योरश्मिज्वालारूपाभ्यां स्तः (एका यमस्य भुवने विराषाट्) एका दीप्तिर्विद्युद्रूपेण यमस्य वायोर्भुवने मण्डलेऽन्तरिक्षलोक इति यावत्। विराषाट् वीरान् बलवतः सहत इति विराषाट् बल-प्रदर्शिनी विद्युद्धाराऽस्ति "अयं वै यमो योऽयं वायुः पवते" (श० १४। २। २। ११) ययान्तरिक्षे (आणिं न रथ्यममृताधितस्थुः) रथ्यं रथं वहति तद् रथचक्रं भ्रमद् यथा आणिं केन्द्रशलाकामधितिष्ठति तथाऽमृतानि स्थिरसत्वानि हिरण्यमयानि प्रकाशमानानि ग्रहनक्षत्राणि-अधितस्थुर्भ्रमन्त्यधितिष्ठन्ति। "अमृतं हिरण्यम्" (तै० १। ७। ६। ३) अमृतो हिरण्मयः" (तैतिरीयो० १। ६। ७) (इह य उ तच्चिकेतद् ब्रवीतु) इहात्र जनसङ्घे संसदि वा य एव तदेतद् विज्ञानं चिकेतज्जानीयात्। 'कित् ज्ञाने लेट्, शपश्श्लुः' स ब्रवीतूपदिशतु। इति ज्यौतिषसिद्धान्तः "त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिं गृणीषेऽनूनमग्निं पित्रोरुपस्थे (ऋ० १। १४६। १) अत्र च पूर्वोक्तं ज्योतिर्विज्ञानं समन्वेतव्यम्। तथा च ऋषिर्दयानन्दः।

भाषा —(सवितुस्तिस्रो द्यावः) सूर्यमण्डलको अग्नि सूर्य्य और विद्युत्के अन्तर्गत तीन दीप्तियां है (द्वोपस्थैका यमस्य भुवने) उन तीनोंमें दो दीप्ति तो पार्श्व भागोंमें दोनों तरफ इधर उधर हैं अर्थात् द्यावापृथिवी पर रश्मि और ज्वालाके रूप में वर्तमान हैं (एका यमस्य भुवने विराषाट्) एक दीप्ति विद्युत् रूपसे वायुमण्डल अर्थात् अन्तरिक्ष लोकमें बल दिखलाती हुई वर्तमान है। जिस अन्तरिक्षमें (आणिं न रथ्यममृताधितस्थुः) जैसे घूमता हुवा रथ चक्र केन्द्र शलाकाका आश्रय कर लेता है वैसे ही प्रकाशमय ग्रह नक्षत्र आश्रय लेते हैं (इह य उ तच्चिकेतद् ब्रवीतु) यहां समाज या सभामें जो कोई इस विज्ञानको जानता हो वह उपदेश करे॥ ऋ०१।३५।६

शिक्षा—सूर्यमण्डलसे तीन ज्योतियोंका स्वरूप बनता है जिनमें पृथिवी

पर अग्नि, अन्तरिक्षमें विद्युत् और द्युलोकमें सूर्य। पृथिवीकी अग्नि और द्युलोकका सूर्य नीचे और ऊंचेके स्थानों पर रहती हैं और विद्युत् अन्तरिक्षमें। जिस अन्तरिक्षमें ग्रह नक्षत्र आदि घूमते हुए रथचक्रतुल्य आश्रित हैं। इस उपयोगी ज्योतिष्-सिद्धान्त को जानने वाला अन्य पुरुषोंको उपदेश करे।

इस मन्त्रमें तीन ज्योतियोंका वर्णन है पितृलोकका नहीं।

स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः॥ अथ० १८। ४। ७८

इस मंत्रमें पृथिवीको पितृलोक नहीं कहा है किन्तु गृहस्थाश्रममें कर्मशील पालकजनोंका सत्कार करना इष्ट है। विवरणके लिए देखो सूक्त० अथ० १८।४। ७८ (पृष्ठ २२८)

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः॥ अथ० १८। ४। ७९

इस मंत्रमें अन्तरिक्षको पितृलोक नहीं कहा है किन्तु दमनशील वानप्रस्थी पालक जनोंका सत्कार करना अभीष्ट है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। ४। ७९ (पृष्ठ २२८)

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्॥

अथ० १८। ३। ५९

इस मन्त्रमें अन्तरिक्षको ऋतुओंका प्रवेशस्थान कहा है। ऋतुओंको पितर कहते हैं इसलिये अन्तरिक्ष ऋतुलोक होनेसे पितृलोक कह सकते हैं। विवरणके लिए देखो सूक्त० अथ० १८। ३। ५९ (पृष्ठ १७२)

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे तत्र त्वं पितृभिः संविदानः॥

अथ० १८। ३। ८

इस मंत्रमें अन्तरिक्षकी चर्चा नहीं है। यहां किन्हीं विद्वानों ने "सलिले" शब्दका अन्तरिक्ष अर्थ किया है जो उचित नहीं क्योंकि निघण्टु और निरुक्तमें सलिलशब्द उदकनाम और बहुनाममें पढ़ा है। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी सलिल-शब्द कहीं भी अन्तरिक्षका वाची नहीं बतलाया। वस्तुतः यहांका सलिलशब्द उदकार्थ ही है उसका विशेषण 'सधस्थ' है। और यहां 'पितृभिः' शब्दका सम्बन्ध तृतियाविभक्ति में होता हुआ सलिलका पितृलोक अन्तरिक्ष अर्थ करनेमें बाधक है। "पितृणां" यदि ऐसा पद होता तो पितृलोककी कल्पनाका कुछ सम्भव था। किन्तु इस मन्त्रमें तो शवदहन करनेवालेको अन्य कुटुम्बी जनोंके साथ जल में स्नान करनेकी आश्वासन-विधि है। विवरणके लिए देखो सूक्त० अथ० १८। ३। ८ (पृष्ठ १५२)

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ अथ० १८ । ४ । ८०

इस मन्त्रमें द्यौ को पितृलोक कहनेका प्रसङ्ग नहीं है किन्तु शमनशीलमें वर्तमान संन्यासी महानुभावोंका सत्कार अपेक्षित है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ४ । ८० (पृष्ठ २२८)

परिणाम—इस प्रकरणमें मन्त्रोंके अन्दर 'प्राणाशय, पितृकुल, सभापति-सभामण्डल, पितृनिवेश, सोम और रश्मिमण्डल' को पितृलोक कहा है।

पितृयाण

"मुख्य शब्दार्थसमन्वय" में पितरोंके अर्थ दे आये हैं। उनके जानेका मार्ग पितृयाण हो सकता है। सूर्य-क्रान्ति, प्राण-नाड़ियां, पूर्वजोंकी मर्यादायें, सैनिक-गमन, रश्मि-मार्ग, ऋतु-चक्र और माता-पिताके सयोगसे गर्भमें जाना पितृयाण कहला सकते हैं। यहां पर तो केवल उन पितृयाणोंके सम्बन्धमें लिखते हैं जिनका सम्बन्ध निम्न वेदमन्त्रोंके साथ है।

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।

ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥

ऋ०१०।८८।१५, यजुः० अ० १९।४७

(अहं मर्त्यानां पितॄणामुत देवानां द्वे सृती अशृणवम्) अहं जीवो मर्त्यानां मरणधर्म्मिणां साधारणमनुष्याणां पितॄणां पालकजनानां कृतोपकाराणामुतापि देवानामधीतविद्यानां विदुषाम्। "विद्वांसो हि देवाः" (श० ३।७।३।१०) द्वे सृती सरन्ति यथास्थानं गच्छन्त्यागच्छन्ति याभ्यां ते पद्धती अशृणवं श्रुतवान्। (ताभ्यामिदमेजद्विश्वं समेति) ताभ्यां सृतीभ्यामिदमेजत्कम्पमानं सद्विश्वं समेति सम्यग्गच्छति। (पितरं मातरं यदन्तरा च) ते सृती इमे स्तः पितरं मातरं मातापितरौ मातापितृभ्यां सह संयोगो जन्मधारयितुमित्यर्थः। यदन्तरा च मातरं पितरमन्तरा च यद् ब्रह्मणा सह संयोगो मोक्ष इत्यर्थः। तथा च दयानन्दः।

भाषार्थ—(अहं मर्त्यानां पितॄणामुत देवानां द्वे सृती अशृणवम्) मैंने मरणधर्मी साधारण मनुष्यों, पालक उपकारी जनों और आत्मज्ञानी विद्वानोंके दो मार्ग संसारमें यथास्थान पर आने जानेके लिये सुने हैं (ताभ्यामिदमेजद्विश्वं समेति) उन दोनों मार्गों से यह सारा चलायमान जगत् नियमित रूपसे चलता है (पितरं मातरं यदन्तरा च) उक्त वे दोनों मार्ग ये हैं कि एक माता-पिताके साथ संयोग जो

जन्म धारण करनेके लिये आवश्यक है। दूसरा ब्रह्म के साथ संयोग जो मोक्ष है। माता-माता के सम्बन्धको छोड़कर आत्मज्ञानी विद्वानोंका मार्ग है। एवं ये दो मार्ग संसारके सभी प्राणियोंके लिये अनिवार्य हैं॥

शिक्षा—संसारके सभी प्राणियोंके अपने कर्मानुसार फलभोगार्थ दो मार्ग हैं। जिनमें एक वह मार्ग है कि जिससे पुनर्जन्म प्राप्त करनेके लिए माता-पिताके गर्भ में जाना है जिसको 'पितृयाण' नाम इसी कारण दिया है। दूसरा वह मार्ग है कि जिससे आत्मज्ञानी विद्वान् कृतकृत्य होकर मोक्षको ओर जाते हैं। अर्थात् पुनर्जन्म न धारण करके मुक्ति प्राप्त करते हैं। अत एव उसका नाम 'देवयान' मार्ग है॥

आधिदैविकार्थोऽन्यः—

(अहं देवानां पितृणामुत मर्त्यानां द्वे सृती अशृणवम्) अहं जिज्ञासुर्देवानां सूर्यलोकवासिनां प्राणिनां सूर्यरश्मीनां वा पितृणां चन्द्रलोकवासिनां प्राणिनां चान्द्रमासानां वा मर्त्यानां पृथिवीलोकवासिनां प्राणिनां पृथिवीगतनश्वरपदार्थानां वा द्वे सृती गमनागमनहेतुपद्धती अशृणवं श्रुतवान् (ताभ्यामिदमेजद्विश्वं समेति) ताभ्यां सरणीभ्यामिदमेजत् कम्पमानं विश्वं भुवनं समेति निजावस्थां सम्यग्गच्छति। (पितरं मातरं यदन्तरा च) माता पितरौ इत्येका सृतिश्चेतनप्राणिनां यदन्तरा च मातापितृभ्यां विना च जडजीवानां कृच्छ्रजन्तूनां वा अयोनिजा पद्धतिरपरा। एवं द्वे सृती सर्वपदार्थानां गमनागमननिमित्ते स्तः॥

भावार्थ—(अहं देवानां पितृणामुत मर्त्यानां द्वे सृती अशृणवम्) मैंने सूर्य-लोक-वासी जीवों, सूर्य-रश्मियों तथा चन्द्रलोक-वासी प्राणियों, चन्द्रकिरणों और पृथिवीलोकवासी जीवों, क्षणभङ्गुर पदार्थों के दो मार्ग सुने हैं (ताभ्यामिदमेजद्विश्वं समेति) दोनों मार्गों से उक्त सारा गतिशील जगत् अपनी २ अवस्थाको प्राप्त होता है। वे दो मार्ग (पितरं मातरं यदन्तरा च) माता-पिता रूप एक मार्ग है जो चेतनप्राणियोंके जन्मका मार्ग है, दूसरा जड़ जीवों और दोषज कृच्छ्र जन्तुओंका अयोनिज मार्ग है॥

शिक्षा—सूर्य, चन्द्र और पृथिवी में रहने वाले जीवों तथा जड़पदार्थों के दो मार्ग हैं एक योनिज है और दूसरा अयोनिज। जिनके द्वारा विश्वकी गति है॥

इस मन्त्रमें माता पिता द्वारा गर्भ धारण करनेका नाम पितृयाण समझना चाहिए। उत्पत्तिकी तरफ जड़ पदार्थों का चलना भी पितृयाण है॥

विशेष—"देवाः, पितरः, मनुष्याः, अप्सरसः, असुराः, ऋषयः, रक्षांसि" का अर्थ-निर्णयः—

मन्त्रोंमें कहीं २ "देव, पितर, मर्त्य" इन तीनोंका एकत्र सहयोग आता है। कहीं "देव, पितर, मर्त्य, गन्धर्व" चार का। कहीं २ "देव, पितर, मर्त्य, गन्धर्व, अप्सर" पांच का। कहीं "देव, पितर, मर्त्य, गन्धर्व, असुर" इन पांचका। कहीं "देव, पितर, मर्त्य, असुर, राक्षस" इन पांच का। कहीं "देव, पितर, मर्त्य, ऋषि" इन चार का। कहीं २ हेर फेरसे भी प्रयोग आते हैं। इनके अर्थ क्या २ हैं इस पर विचार करते हैं॥

प्राचीन वचनों और परिभाषाओंके आधार और प्रामाण्यसे हमारी प्रथम स्थापना इनके सम्बन्धमें यह है कि ये सब गुणकर्मोंके कारण मनुष्योंके ही भेद हैं या उपनाम हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जहां मन्त्रमें "देव, पितर, मर्त्य (मनुष्य)" ये तीन आते हैं वहां इनका अर्थ निम्न प्रकारसे समझें—

१—"विद्वांसो वै देवाः" (श० ३ । ७ । ३ । १०)

विद्वान् मनुष्य देव हैं।

"देवाः विप्राः" (श० ६ । ३ । १ । १६)

वेदके पढ़नेवाले जन देव कहलाते हैं।

"अथ हैते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः" (ष० १ । १)

ब्राह्मणजन मनुष्योंमें देव हैं।

२—"पितरः पातारो वा पालयितारो वा" (निरुक्त ४ । २१)

जो समाज या राष्ट्रके रक्षक सैनिक क्षत्रिय जन हैं वे पितर कहलाते हैं। (देखो "मुख्यशब्दार्थसमन्वय")

३—"तं न········अभिपश्यन्ति मर्त्याः" (छान्दो० ४ । ३ । ६)

जीवनोद्देश्य को न समझने वाले जन मर्त्य संज्ञक हैं।

"अश्रोत्रिया गृहमेधिन उपसमेता (मनुष्याः) भवन्ति" (श० १३।४।३।३)

साधारण ज्ञान रखने वाले या अज्ञ गृहस्थजन मर्त्य कहलाते हैं।

इस रीतिसे मनुष्योंके अन्तर्गत तीन वर्ग हुए—

(१) देववर्ग जिसमें विद्याप्रचारक विद्वान् अर्थात् ब्राह्मण हैं।

(२) पितृवर्ग जिसमें समाज तथा राष्ट्रके रक्षक सैनिक आदि अर्थात् क्षत्रिय हैं।

(३) मर्त्यवर्ग जिसमें साधारण और अज्ञजन अर्थात् वैश्य तथा शूद्र हैं।

कहीं २ इनके साथ ऋषि शब्द भी आता है उस अवस्थामें ऋषि का अर्थ किन्हीं विशेष गुणोंसे युक्त मनुष्य है। क्योंकि—

"येन देवा यन्ति येन पितरो येन ऋषयः परमपरं परायणं चेति" अथर्व शिर उप० । ५ ॥ (१)

"ऋषयः क्षीणकल्मषाः" गीता ५ । २६ ॥ (२)

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः" निरुक्त १ । २० ॥ (३)

"ऋषिर्दर्शनात्...तद्यदेनांस्तपस्य मानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवंस्त-दृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते" निरुक्त २ । ११ ॥ (४)

देव, पितर, ऋषि अध्यात्मविज्ञानरूपमार्गसे परब्रह्मको प्राप्त होते हैं अतः यहां ऋषि शब्द मनुष्यका औपाधिक नाम है । (१)

जो मनुष्य सर्वथा पापोंसे पृथक् हो गया है वह ऋषि है । (२)

वेदविद्याका साक्षात् करके उसका प्रवचन करने वाला मनुष्य ऋषि है । (३)

मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहाते हैं उन्हीं तपस्वी महानुभावोंको वेदका साक्षात्कार होता है, अत एव वे ऋषि कहाते हैं । (४)

किसी २ मन्त्रमें जहां देव पितर या मर्त्य आदिके साथ गन्धर्व और अप्सरा शब्द आते हैं वहां उनका भी अर्थ मनुष्यगत भेद हैं । क्योंकि:—

"युवानः शोभना उपसमेता (गन्धर्वाः) भवन्ति" श० १६ । २ । ८ ॥ (१)

"स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः" ऐ० १ । २७ ॥ (२)

स्त्रीकामको चाहते हुए युवास्थायुक्त सुन्दर पुरुष-व्यक्ति गन्धर्व संज्ञक हैं ॥ (१), (२)

"युवतयः शोभना उपसमेता (अप्सरसः) भवन्ति" श० १३।४।३।८ ॥ (१)

"अप्सरा...अप्स इति रूपनामाप्सातेरप्सानीयमादर्शनीयं भवति...तद्रा भवति रूपवती" निरुक्त ५ । १३ ॥ (२)

दर्शनीय रूपवती यौवनकालसम्पन्न स्त्री-व्यक्ति अप्सरा कहलाती है । (१), (२)

कहीं २ असुरः या रक्षांसि भी देव मनुष्यादिके साथमें आता है वह भी मनुष्यका ही उपनाम है । क्योंकि विघ्नकारी जन रक्षस नाम पाता है—

"देवान् ह वै यज्ञेन यजमानास्तानसुररक्षसानि ररक्ष न यक्ष्यध्वम्, इति तद्यदरक्षं-स्तस्माद्रक्षांसि" (श० १ । १ । १६)

"रक्षितव्योऽस्मात्" (नि० ४ । १८)

रक्षस् मांसाहारी को भी कहते हैं।

"असृग्भाजानि वै रक्षांसि" (कौ० १० । ४)

"मायेत्यसुरा उपासते" (श० १० । ५ । २ । २०)

अग्निपुराणमें निर्दयी मनुष्यको भी रक्षस् कहा है—

"दृष्ट्वा तु विकलान् व्यङ्गाननाथान् रोगिणस्तथा।

"दया न जायते यस्य स रक्ष इति मे मतिः" (अग्निपुराण)

"कुसीदिन उपसमेता (असुराः) भवन्ति मायाविदः" (श० १३ । ४ । ३ ।११)

"देवा मनुष्या असुराः" (छा० ५ । २ । १)

छल, कपट, चोरी, लूटमार करके पीड़ा देनेवाले जन असुर हैं। मनुने भी राक्षस आदि को जरायुज कहा है। तथा निरुक्तमें भी इन सब को मनुष्योंका भेद माना है। निघण्टुमें "पञ्चजनाः" मनुष्यार्थ में पढ़ा है। उसकी व्याख्या निरुक्तकार करता है कि वह पञ्चजनशब्द मनुष्यवाचक इसलिये है कि मनुष्य के पांच भेद हैं जो कि—

"गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि पञ्चजनाः" (नि० ३ । ८)

दूसरी स्थापना इन देवादिके विषयमें लोकविज्ञान या भुवनविज्ञान सम्बन्धो है, वह यह कि—

(१) मर्त्य=पृथिवी लोकके जीव

(२) पितर=चन्द्रलोकके जीव

(३) देव=सूर्यलोकके जीव

"त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः" (बृहदा० १ । ५ । १६)

"ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके" (कठ० १ । २५)

"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" (गी० २ । २१)

"मर्तः—भूलोकः" (शब्दकल्पद्रुम)

तीन लोक हैं एक मर्त्यलोक, दूसरा पितृलोक, तीसरा देवलोक। इनमें यह पृथिवी मर्त्यलोक है और इस पृथिवी पर रहनेवाला जीव मर्त्य कहलाता है।

पितृलोक चन्द्रमाका नाम है (देखो "मुख्यशब्दार्थसमन्वय" पितृलोक संख्या ४) और पितर चन्द्रलोकमें रहने वाले जीव हैं (देखो "मुख्यशब्दार्थसमन्वय" पितर सं० १९)

देवलोक-सूर्य का नाम है—

"देवलोको वा आदित्यः" (कौ० ५ । ७) (गो० उ० १ । २५)

"आदित्य एव देवलोकः" (जै० उ० ३ । १३ । १२)

"तदेतद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त" (श० ११ । १ । ६ । ७)

उस सूर्यनामक देवलोकमें जो जीव उत्पन्न किए जाते हैं वे देव कहलाते हैं ॥

यदि देव, पितर, गन्धर्व, अप्सर, असुर शब्द अलग २ आवें तो आधिदैविक दृष्टिसे ये भौतिक पदार्थोंके नाम भी होते हैं जैसे—

देव, अग्नि आदि द्योतमान पदार्थ ।

पितर, ऋतुएं आदि पदार्थ ।

गन्धर्व, गन्धयुक्त वायु दूषितवायु रोगकारक या संग्राममें शत्रुपीड़क वायु का नाम है ।

"वातो गन्धर्वः" (श० ८ । ६ । ४ । १) आदि प्रमाण अन्यत्र

तथा अन्य वस्तुओं के नाम भी हैं ।

अप्सरा सूर्यकी किरणों का नाम है—

"तस्य सूर्यस्य मरीचयोऽप्सरसः" (श० ६ । ४ । १ । ८)

"अप्सरसो भानवीयाश्च मरीचयः" (मैत्र्यु० ६ । ३१)

अप्सरा विद्युत्का नाम है—

अप्सरा अप्सारिणी······व्यापनीयं वा······अप्सो नामेति व्यापिनः" (अप्सारिणी भवति अपः प्रति नित्यमेव सरति तत्प्रभवत्वात्) इति दुर्गाचार्यः । नि० ५ । १३ ॥

असुर मेघका नाम है—

"असुरो मेघनाम" (नि० १ । १०)

देव आदि शब्दोंको अर्थ मीमांसा समाप्त हुई अब पुनः प्रकरणगत मन्त्रव्याख्याके क्रम पर आते हैं ।

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि ।

अवाड् ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके ॥

अथ० १८ । ४ । १

इस मंत्रमें समष्टि और व्यष्टि यज्ञ का वर्णन है । एवं यहां पितृयाणका अर्थ पालक सृष्टिक्रम, पालक प्राणनियम है विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ४ । १ (पृष्ठ १८५)

आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः । ✓

आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥

अथ० १८ । ४ । ६२

इस मंत्रमें पितृयाणोंका अर्थ प्राणनाडी मार्गोंका है विवरणके लिए देखो सूक्त० अथ० १८ । ४ । ६२ (पृष्ठ २२०)

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥
ऋ० १० । १४ । ७

इस मंत्रमें पूर्व्यपथका अर्थ पूर्वोत्पन्न बड़ोंके मर्य्यादित किये इष्टापूर्त आदि आचरणके हैं । विवरणके लिए देखो सूक्त० ऋ० १० । १४ । ७ (पृष्ठ ३१)

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥
अथ० १८ । १ । ५४

इस मंत्रमें पूर्वमंत्रके समान सब कुछ है केवल किञ्चित् शब्दभेद है ।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम ॥
अथ० ६ । ११७ । ३

(अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्ननृणास्तृतीये लोके अनृणाः स्याम) अत्र मन्त्रे (यजु० १९ । ४७) मर्त्यानां पितॄणां देवानामितिवल्लोकस्थितिः । तथा च बृहदारण्यकोपनिषदि "अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः, देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति" (बृह० १ । ५ । १६) तस्मात्—

अस्मिन् मर्त्यलोके मनुष्यलोके साधारणजनसङ्घे गृहस्थे पृथिवीलोके वा वयमनृणाः पुत्रोत्पादनं तद्रक्षणं च कृत्वाऽनृणाः कृतकृत्याः स्वस्थाः स्याम, परस्मिन् लोके पितृलोके वानप्रस्थे जायस्व म्रियस्वेति व्यवहृते पुनर्जन्मनि चन्द्रलोके वा वयमनृणाः कर्मणा यज्ञादिपरोपकाररूपकर्मणा सुदेहाः स्वस्थाः स्याम तिष्ठेम । तृतीये लोके देवलोके ऋषिलोके संन्यासाश्रमे सूर्यलोके वा वयमनृणा विद्यया वेदशास्त्राध्ययनाध्यापनाभ्यामात्मविद्यया चाप्तकामाः स्वस्था मुक्ताः स्याम तिष्ठेम । लोकत्रयं तन्निवासिनश्च मनुष्याः पितरो देवा ज्यौतिषसिद्धान्ते स्पष्ट्यन्ते । "रविवर्षार्धं देवाः पश्यन्त्युदितं रविं तथा प्रेताः । शशिमासार्द्धं पितरः शशिगाः कुदिनार्धमिहमनुजाः" (आर्यभट्टीयम् १७) (ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथोऽनृणा आक्षियेम) ये सन्ति देवयाना

विद्वन्मार्गा विद्याप्रकाशवन्त आत्मदर्शनहेतुकाः "सत्येन पन्था विततो देवयानः" (मुण्डको० ३ । १ । ६) रश्मिमार्गाः सूर्यप्रकाशवन्तो वा "देवयाना वै ज्योतिष्मन्तः पन्थानः" (ऐ० ३ । ३८) अथ च पितृयाणाः सन्तानाभिलाषामया यज्ञादिक्रियावन्तो मार्गा लोका एवं तान् सर्वान् पथो मार्गान् आश्रमभूतान् अनृणाः कृतकृत्याः स्वस्थाः सन्तो वयमाक्षियेम तिष्ठेम ॥

भावार्थ—(अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्ननृणास्तृतीये लोकेऽनृणाः स्याम) इस मनुष्यलोक, पृथिवीलोक पर या गृहस्थमें पुत्रोत्पन और उनका रक्षण करके हम ऋण-रहित स्वस्थ होवें, परलोक पितृलोक पुनर्जन्म या चन्द्रलोकमें यज्ञादि परोपकाररूप पुण्य कर्मसे हम वानप्रस्थमें ऋणरहित होवें, देवलोक ऋषिलोक संन्यासाश्रम या सूर्य-लोकमें शास्त्राध्ययनाध्यापन द्वारा तथा आत्मविद्यासे हम ऋणरहित होवें (ये देव-यानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथोऽनृणा आक्षियेम) जो आत्मदर्शनके हेतु विद्वद्-मार्ग या रश्मिमार्ग और सन्तानकी इच्छासहित यज्ञादि शुभकर्म वाले मार्ग या आश्रम हैं उनमें हम सदा ऋणरहित हुए वर्तमान रहें ॥

मनुष्योंको अपने कर्तव्य कर्मों द्वारा सभी आश्रमोंमें वर्तमान होकर मान-वीय ऋणको चुकाना चाहिये ॥

इस मंत्रमें सन्तानोत्पत्ति पालनादि गार्हस्थ्यधर्मों का नाम पितृयाण है ॥

स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ अथ० १५।१२।४

प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥ अथ० १५।१२।५

निगदव्याख्यातोऽर्थः ।

भावार्थ—(स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति) जो कोई इस प्रकार विद्वान् अतिथिरूप ऋत्विक्से आज्ञप्त हुवा हुवा हवन करता है (१) (पितृयाणं पन्थां प्रजानाति) पितृयाण गाहस्थधर्मको भली प्रकार जानता है (देवयानं प्र) और देवयान विद्वानोंके धर्मको भी जानता है ॥

शिक्षा—विद्वान् और धार्मिक साधु संन्यासीके घरमें पधारने पर उसकी आज्ञानुसार होमादिका अनुष्ठान करना चाहिये । एवं गार्हस्थ्यधर्म और विद्वत्सेवा दोनोंका पुण्यफल प्राप्त होता है ॥

इस मंत्रमें हवनरूप गृहस्थ धर्मके पालन करनेमें पितृयाणका अर्थ सन्ता-नादि पालनरूप गृहस्थ धर्म है ॥

अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ।। अथ० १५।१२।८

न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम् ।। अथ० १५।१२।९

स्पष्टम् ।।

भावार्थ और शिक्षा—जो इस प्रकार घरमें आए विद्वान् धार्मिक संन्यासी महात्माओंके आदेश और उपदेशसे विपरीत तथा तिरस्कार करके हवन करता है वह न पितृयाण गृहस्थ धर्मको जानता है और न देवयान विद्वानोंका सत्सङ्ग तथा साधु-धर्मोंको जानता है ।।

यहां पर भी पूर्व मंत्रके अनुसार पितृयाणका अर्थ गृहस्थ धर्म है ।।

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।

यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ।।

अथ० ५।१८।१३

(मर्त्येषु देवपीयुश्चरति) मर्त्येषु मनुष्येषु यः कोपि देवपीयुर्देवानां दिव्यगुणानां धर्मभावानां पीयुः पानकर्ता चरति सः (गरगीर्णोऽस्थिभूयान् भवति) विषभक्षयितेवास्थिबहुलः कृशो भवति । अथ (यो देवबन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति) यो देव-बन्धुं धर्मभावप्रियं ब्राह्मणं हिनस्ति (स पितृयाणं लोकं नाप्येति) स पितृयाणं लोकं सन्तानोत्पत्तिफलं गार्हस्थ्यं नाप्येति न प्राप्नोति "खरुशङ्कुपीयु.नीलङ्गुलिगु" (उणा० १।३६)

भावार्थ—(मर्त्येषु देवपीयुश्चरति) मनुष्योंमें जो धार्मिक भावोंका पीने वाला अर्थात् धर्महीन विचार करनेवाला और धार्मिक विचारोंको दबाने वाला मनुष्य है वह (गरगीर्णोऽस्थिभूयान् भवति) विषभक्षण करने वालेके तुल्य हड्डीके शरीर वाला अर्थात् कृश होजाता है (यो देवबन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति) और जो धर्म भावोंसे प्रेम रखने वाले ब्राह्मणों को मारता है (स पितृयाणं लोकं नाप्येति) वह सन्तानोत्पत्ति तथा गार्हस्थ्य के फलको प्राप्त नहीं होता ।।

शिक्षा—जो मनुष्य अपने आत्माके धार्मिक विचारोंको दबाकर स्वात्म-शक्तिका हनन करता है तथा उक्त धर्मभावपूर्ण धार्मिक मनुष्यको मारकर परहत्या करता है वह सन्तानादि उत्तम फलको प्राप्त नहीं कर सकता ।।

इस मन्त्रमें पितृयाण शब्द सन्तानोत्पत्तिरूपगृहस्थधर्मके लिए आया है ।।

यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान ।

पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो विभाहि ।।

ऋ० १०।२।७

(यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वा आपो यं त्वा सुजनिमा त्वष्टा जजान) 'अग्निरत्र देवता स च प्रकरणादादित्यः' अतः । हे अग्ने सूर्यदेव ! यं त्वामादित्यं द्यौरादित्यात्मना जजान जनितवती यं त्वामादित्यमेषा पृथिव्यग्न्यात्मना जजान जनितवती यं त्वामादित्यमापोऽन्तरिक्षं विद्युदात्मना जनितवद् यं त्वामादित्यं सुजनिमा स्वयम्भूः प्रजापतिरीश्वरो जजान जनितवान् स एवं त्वम (द्युमत्पितृयाणं पन्थामनुप्रविद्वान् अग्ने समिधानो विभाहि) द्युमद्रश्मिमत्पितृयाणमृतुचक्रम् । ऋतवः पितर इत्युक्तं पूर्वम् । पन्थां मार्गमानुकूल्येन प्रकृष्टं जानन् हे सूर्यदेव ! समिधानो देदीप्यमानस्त्वं विभाहि संसारं विबोधय व्यक्तिभावं कुरु । अत्र सूक्तेऽग्निविशेषणान्यादित्यार्थानि कतिपयानि यानि सन्ति तान्युद्ध्रियन्ते "ऋतून् ऋतुपते यज (१) ऋतून् कल्पयाति (३) येभिर्देवान् ऋतुभिः कल्पयाति (४)" अत्र ऋतुस्वामित्वमृतुकल्पना च आदित्ये सङ्गच्छते । यथाऽन्यत्र "आयातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः" (अथ० ३। ८ । १) ॥

भावार्थ—(यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वा आपः यं त्वा सुजनिमा त्वष्टा जजान) हे सूर्यदेव ! जिस तुझको द्युलोकने आदित्यरूपसे और पृथिवीने अग्निरूप से तथा अन्तरिक्षने विद्युत् रूपसे उत्पन्न किया है इन तीनों स्थानोंमें स्वयम्भू प्रजापति परमेश्वरने तेरी उत्पत्ति की है (द्युमत्पितृयाणं पन्थामनुप्रविद्वान् अग्ने समिधानो विभाहि) रश्मिवाले ऋतुचक्र मार्गको अनुकूलतासे जानता हुआ हे सूर्य ! तू देदीप्यमान होकर जगत् को प्रकाशित कर ॥

शिक्षा—सूर्य ही पृथिवी अन्तरिक्ष द्युलोकमें अग्नि, विद्युत् और आदित्यके रूपमें वर्तमान है इसी की कान्तिसे वसन्तादि ऋतुओंका चक्र बनता है । जिससे संसारके सब पदार्थ प्रगट होते हैं ॥

इस मन्त्रमें ऋतुचक्र को पितृयाण कहा है ॥

आभरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं शचीभिः ।
इमे नु ते रश्मयः सूर्यस्य येभिः सपित्वं पितरो न आसन् ॥

ऋ० १ । १०४ । ७

(वज्रबाहू इन्द्राग्नी इमे सूर्यस्य रश्मयस्ते पितरो येभिर्नः सपित्वमासन् शचीभिरस्मानाभरतं शिक्षतं नु-अवतम्) वज्रबाहू वज्रौ बलवीर्ये बाहू ययोस्ताविन्द्राग्नी अध्येत्रध्यापकौ । इमे प्रत्यक्षाः सूर्यस्य रश्मयः किरणास्ते सन्ति । पितरो यथा जनकाः । येभिर्नोऽस्मभ्यं सपित्वं समानं च तत् पित्वं प्रापणं वा विज्ञानं तत् । 'अत्र पि गतावित्यस्माद्धातोरौणादिकस्त्वन् प्रत्ययः, आसन् भवन्ति शचीभिः

कर्मभिः प्रज्ञाभिर्वाऽस्मानाभरतं धारयतं शिक्षतं विद्योत्पादानं कारयतम्। नु शीघ्रमवतं रक्षणादिकं कुरुतम्। इत्येवमृषिदयानन्दः ॥

नात्र मन्त्रे पूर्वपक्षमतानां पितॄणां मृतजनानां पितृयाणमार्गलेशो विद्यते। न चात्र सूर्यरश्मयः पितृयाणमिति विज्ञायते। प्रकरणात् प्रमाणाभावाच्च। नापि "सपित्वं पितरो न आसन्" इत्ययेन पितृयाणकल्पना स्यात्। यतो हि नास्त्यत्र "पितरो न आयन्" अपितु 'आसन्' इति पाठः ॥

स्वतन्त्रविचारेण चेत्काचित्कल्पना शक्या तदपि नैवं स्यात्। पूर्वोत्तरमन्त्राभ्यां युद्धप्रकरणं कल्पयितुं शक्यते तयोर्युद्धलिङ्गाः केचन शब्दा दृश्यते यथा—'प्रचर्षणिभ्यः पृतना हवेषु, पुरन्दरा शिक्षतं वज्रहस्ता' इति। इन्द्राग्नी चात्र देवते युद्धप्राकरणिके स्तः। अर्थश्च तदेवं स्यात्—

२—(वज्रबाहू इन्द्राग्नी अस्मान् शचोभिराभरतं शिक्षतमवतम्) वज्रबाहू शस्त्रास्त्रभुजाविन्द्राग्नी राजा सेनापतिश्च द्वावस्मान् शचीभिः प्रज्ञाभिः प्रज्ञापनैः शासनसङ्केतैराज्ञावचनैश्चाभरतं समन्तात्पोषयतमुत्साहयतम्। शिक्षतं युद्धाय प्रवर्तयतं प्रज्ञापयतं युद्धे वा संस्थापयतं तथा (त इमे सूर्यस्य रश्मयो येभिर्नु सपित्वं नः पितर आसन्) त इमे सूर्यस्य रश्मयः किरणा येभिर्नु यैरिव सपित्वं समानगतित्वं शीघ्रगामित्वमाशुकारित्वं च प्राप्ता नः पितरोऽस्माकमधिपालकाः सेनामुख्या आसन् भवेयुः। "नु, अथापि उपमार्थे भवति वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः। वृक्षस्येव ते···(निरुक्त १।४)

भाषार्थ—(वज्रबाहू इन्द्राग्नी इमे सूर्यस्य रश्मयस्ते पितरः) बल और वीर्यकी भुजावाले पढ़ने पढ़ानेवालो ! ये प्रत्यक्ष सूर्यकी किरणें, जैसे माता पितादि जनक होते हैं (ये भिर्नः सपित्वमासन्) जिनके द्वारा हमारे लिये समान विज्ञान को प्राप्त हुए हैं (शचीभिरस्मानाभरतम्) कर्मों या बुद्धियोंसे हमको धारण करो (शिक्षतं नु-अवतम्) विद्योत्पादन कराओ और शीघ्र रक्षा करो ॥

२—(वज्रबाहू इन्द्राग्नी अस्मान् शचोभिराभरतं शिक्षतमवतम्) शस्त्रास्त्र भुजावाले राजा और सेनापति आप हमको प्रज्ञापनों शासनसंकेतों और आज्ञावचनोंसे सब प्रकारसे उत्साहित करो। युद्धके लिये अथवा युद्धमें स्थिर करो और प्रवृत्त करो तथा (त इमे सूर्यस्य रश्मयो येभिर्नु सपित्वं नः पितर आसन्) ये जो सूर्यकी किरणें हैं इनके तुल्य समान गति शीघ्रगामिता और शीघ्रकारिताको प्राप्त हमारे पालक सेनामुख्य महानुभाव हों ॥

शिक्षा—पढ़ने और पढ़ाने वाले शिष्य और गुरु जो कि अहर्निश आश्रम

बल और वीर्यसे पूर्ण रहते हैं वे मनुष्योंको विद्यादान और विद्याप्रचारसे सूर्यकी किरणोंके तुल्य कार्यकुशल बना देते हैं और संसारयात्राका रास्ता दिखाते हैं ॥

२—शस्त्रास्त्र चलाने वाले राजा और सेनापति अपने सैनिकोंको युद्धके लिये या युद्धमें शासन संकेतों और आज्ञावचनोंसे तय्यार तथा उत्साहित करते हैं और पुनः युद्धमें छोड़ देते हैं। सेनानायक सूर्यकिरणोंके तुल्य शीघ्रगतिसे सेना-व्यूहका युद्धमें पतन कराते हैं ॥

इस मन्त्रमें पितृयाणका किञ्चित् भी लेश नहीं है। हमने दोनों अर्थों द्वारा जो कि एक ऋषि दयानन्दके हैं और दूसरे हमारे स्वतन्त्र हैं बतलाया कि यहां मृतजनोंके पितृयाणका जिक्र नहीं हैं। क्योंकि यहां पितृयाण सम्बन्धी 'इण्' अथवा 'या' धातुका प्रयोग नहीं है किन्तु यदि स्वतन्त्रतासे कोई कल्पनाकी भी जाय तो वह युद्धप्रकरणकी हो सकती है। जैसा कि हमारे संख्या २ के अर्थों में है ॥

परिणाम—इस प्रकरणमें मन्त्रोंके अन्दर "गर्भधारण-उत्पत्तिक्रम, सृष्टि-क्रम, प्राणनियमन, प्राणनाड़ीमार्ग, पूर्वजोंके धर्मपथ, गार्हस्थ्यधर्म, सन्तानोत्पादन, ऋतुचक्र" इन अर्थों में पितृयाण शब्दका प्रयोग है ॥

पितरों के कार्य

हम "मुख्यशब्दार्थसमन्वय" में बतला आए हैं कि प्राण, जनकादि पालक-जन, ज्ञानी महानुभाव, सैनिकजन, सूर्यरश्मियां और ऋतुएं पितर कहलाते हैं यहां उनके कार्य दर्शाये जायंगे और इस शीर्षकमें वे ही मन्त्र होंगे जिनमें पितरोंका कोई विशेषकार्य वर्णन किया हो। अन्य मन्त्रोंका क्रम दूसरा होगा।

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः।
शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामाभिन्दन्तो अरुणीरपव्रन् ॥
ऋ० ४।२।१६, यजु० १६।६९

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशशानाः।
शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन् ॥
अथ० १८।३।२१

इन दोनों मंत्रोंमें किञ्चत्पाटभेद है प्रत्युत अर्थभेद नहीं है। यहां पितर शब्दका अर्थ पूर्वज माता पिता आदिके हैं उनका कार्य स्वकर्तव्य कर्मका पालन करने

के लिए हवनकुण्डमें मंत्रों द्वारा होम करके यज्ञ ज्वालाओंको विधिपूर्वक प्रकट करना है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८।३।२१ ((पृष्ठ १५६)

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो अवन्तु पितरो हवेषु ॥

ऋ० ७।३५।१२, अथ० १९।११।११

(सत्यस्य पतयो नः शं भवन्तु) सत्यभाषणादिव्यवहारस्य पतयः पालका नोऽस्मभ्यं शं सुखकारका भवन्तु (अर्वन्तो नो गावः शमु सन्तु) उत्तमा अश्वा गावश्च नोऽस्मभ्यं शं सुखहेतवः सन्तु (सुकृतः सुहस्ता ऋभवो नः शं भवन्तु) धर्मात्मानः सुहस्ताः शोभनेषु कर्मसु हस्ता येषां त ऋभवो मेधाविनोऽस्मभ्यं सुखबोधका भवन्तु (पितरो हवेषु नः शं भवन्तु) पितरो जनकादयो हवेषु हवनादिसत्कर्मसु नोऽस्मभ्यं शं सुखसाधका भवन्तु। इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(सत्यस्य पतयो नः शं भवन्तु) सत्यभाषणादि व्यवहारके पालक हमारे लिये सुखकारक हों (अर्वन्तो नो गावः शमु सन्तु) उत्तम घोड़े और गौ हमारे लिए सुखके हेतु हों (सुकृतः सुहस्ता ऋभवो नः शं भवन्तु) धर्मात्मा शुभकर्ममें हाथ जिनका है ऐसे मेधावी हमको सुख का ज्ञान कराने वाले हों (पितरो हवेषु नः शं भवन्तु) जनकादि हवनादि सत्कर्मोंमें हमारे लिये सुखसाधक हों ॥

शिक्षा—मनुष्योंको सदा सत्यवादी पुण्यात्मा विद्वानों तथा अपने पूर्वज माता पिता आदिकों की सेवा और सत्सङ्ग करके सुखलाभ उठाना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें पितरका अर्थ पूर्वज जनकादि है। इनका कार्य सत्कर्मों में सहायता और प्रेरणा करना है ॥

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः। पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ यजु० १९।३७

(सोम्यासः पितरः पवित्रेण शतायुषा मा पुनन्तु) सोमवच्छान्ताः पितरो जनकादयः पवित्रेण शतायुषा शतायुरन्तर्गतेन निजानुभवेन मां पुनन्तु (पितामहा मा पुनन्तु) पितामहाश्च सोम्याः शतायुरन्तर्गतेन निजानुभवेन मां पुनन्तु (प्रपितामहाः पुनन्तु) प्रपितामहाश्च सोम्याः शतायुरन्तर्गतेन निजानुभवेन मां पुनन्तु (पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पुनन्तु) त एवमर्थं पुनन्तु यत् (पवित्रेण शतायुषा विश्व-

मायुर्व्यश्नवै) पवित्रेण स्वरथेन शतायुषा भोगेनाहं विश्वमायुर्व्यश्नवै प्राप्नुयाम् । तथा च दयानन्दः ॥

भावार्थ—(सोम्यासः पितरः पवित्रेण शतायुषा मा पुनन्तु) सोमके समान शान्तस्वभाव जनकादि अपने पवित्र सौ वर्षान्तर्गतके अनुभवसे मुझे पवित्र करें। (पितामहा मा पुनन्तु) और पितामह भी अपने सौ वर्षके अनुभवसे मुझे पवित्र करें (प्रपितामहा मा पुनन्तु) प्रपितामह भी अपने सौ वर्षके अनुभवसे मुझे पवित्र करें (पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पुनन्तु) वे इसलिए मुझे पवित्र करें कि (पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै) पवित्र सौ वर्षके भोगसे सारी आयुको प्राप्त हो सकूं ॥

शिक्षा—पिता, पितामह, प्रपितामह, पूज्य महानुभावोंसे इनके सौ वर्षकी आयुका अनुभव सीखना चाहिए। जिससे स्वयं सौ वर्षकी पूर्णायुको सुखसे भोग सकें ॥

इस मंत्रमें पितर शब्दका अर्थ माता पिता आदि पालक जन हैं। और इनका कार्य सन्तानके प्रति अपने जीवनके उपयोगी अनुभवोंका उपदेश देना है।

द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा ।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम् ॥

ऋ० १० । ५६ । ६

(सूनवः स्वर्विदमसुरं तृतीयेन कर्मणा द्विधाऽऽस्थापयन्त) सूनवः पुत्रा रश्मयः स्वर्विदं द्युस्थानमसुरं प्राणप्रदमादित्यं तृतीयेन कर्मणा, प्रकाशनं प्रथमं कर्म दहनं द्वितीयमुत्पादनं नशानं च तृतीयं कर्म। "जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्" (छान्दो० ५ । १० । ८) तेनोत्पादनाशरूपेण कर्मणा सूर्यस्य रश्मयस्तं द्विधोदयास्तभावमास्थापयन्त दर्शितवन्तः। यथा सूर्यस्य उदयास्तभावौ भवतस्तथा रश्मिषूदयास्तभावाभ्यामहोरात्रौ सन्निधापयति सूर्य्यः । तच्चेदम् (पितरः स्वां प्रजां पित्र्यमाततं तन्तुं सहोऽवरेषु-आदधुः) पितरो रश्मयः पितरः सन्तो वा यथा स्वां प्रजां प्रति पित्र्यं पैतृकं निजपितृकृत्यं वा यदाततमितस्ततो गतं तन्तुमग्रे विस्तारयितुं सहो बलमवरेषु सन्तानेषु पदार्थेषु वाऽऽदधुः स्थापितवन्तः ॥

भावार्थ—(सूनवः स्वर्विदमसुरं तृतीयेन कर्मणा द्विधाऽऽस्थापयन्त) सूर्यरश्मियां द्युस्थानमें प्राप्त आदित्यको अपने उत्पादन और नाशरूप तृतीयकर्मसे उदय और अस्त भावसे दिखलाते हैं। क्योंकि प्रकाश करना प्रथम कर्म है दहन करना दूसरा कर्म और उत्पादन तथा नाश तृतीय कर्म है। जैसे ही सूर्यके उदय और अस्त

भाव होते हैं वैसे ही रश्मियोंके अन्दर उदय और अस्त भावसे सूर्य दिनरातकी व्यवस्था करता है। और वह यह (पितरः स्वां प्रजां पिञ्यमाततं तन्तुं सहोऽवरेष्वादधुः) जिस प्रकार माता पितादि कुटुम्बी जन अपनी सन्तानके प्रति पैतृक धन वा निजकृत्यको पूर्ण करनेके लिए आगे विस्तार करनेके लिए सन्तानोंमें बल धारण कराते हैं वैसे ही सूर्यरश्मियां प्रकाशको धारण करती हैं ॥

शिक्षा—सूर्यरश्मियां सूर्यके उदयास्तके साथ ही उदय और अस्तको प्राप्त होती हुई दिनरातके स्वरूपको प्रकट करती हैं और सूर्य उन रश्मियोंके अन्दर अपना प्रकाश इस प्रकार स्थिर करता है जैसे कि मातापितादि कुटुम्बीजन अपनी सन्तानों के अन्दर निज धनको स्थिर करते हैं ॥

इस मन्त्रमें माता पिता आदि कुटुम्बी जनोंके लिए पितर शब्द उपमा दर्शाते हुए आया है और इनका कार्य निजधनका सन्तानोंके प्रति अर्पण करना है ॥

अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा ।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन ॥

ऋ० १ । १०६ । ३

(सुप्रवाचनाः पितरो नोऽवन्तु) सुष्ठु प्रवाचनमध्यापनं च येषां ते पितरो ज्ञानिजना अवन्तु निजशरणे रक्षन्तु (उत देवपुत्रे ऋतावृधा देवी) उतापि देवाः सर्वे पुत्रा ययोस्त ऋतेन प्रकृत्याख्येन कारणपदार्थेन वर्द्धिते विस्तृते दानस्वभावेऽवतामस्मान् रक्षताम् (रथं न दुर्गात्) यथा सारथी रथं दुर्गाद् विमार्गाद्रक्षति तद्वत् (सुदानवो वसो न अंहसो निष्पिपर्तन) हे शुद्धदानवन्तो विद्यादिशुभगुणेषु वसन्ति ते यूयमस्मानहंसो विश्वस्मात्पापान्निष्पिपर्तन निरन्तरं पालयत। इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(सुप्रवाचनाः पितरो नोऽवन्तु) उत्तम पढ़ाना और उपदेश देना जिनका है ऐसे ज्ञानी जन हमको निजशरणमें रखें (उत देवपुत्रे ऋतावृधा देवी) सब दिव्यपदार्थ जिनके पुत्र तुल्य हैं ऐसे वे प्रकृतिरूप कारण से बढ़ने बढ़ाने वाले दान स्वभावके द्यावा-पृथिवी हमारी रक्षा करें (रथं न दुर्गात्) जैसे सारथि रथको उलटे मार्ग से बचाता है एवं (सुदानवो वसो नो अहंसो निष्पिपर्तन) हे शुद्ध दानवाले विद्यादि शुभ गुणोंमें बसने वाले महानुभावो हमको सब प्रकारके पापोंसे सदा बचाओ।

शिक्षा—विश्वके अन्दर जिस प्रकार द्यावापृथिवी हमें वृष्टि और ओषधि

प्रदान करके पालन करते हैं एवं अच्छे उपदेशक और शिक्षक सदा सब प्रकारके पाप से बचाकर हमारी रक्षा करते हैं ॥

इस मंत्रमें शिक्षक और उपदेशकरूप ज्ञानी जनके अर्थमें पितर शब्द है और इनका कार्य अध्यापन तथा उपदेश द्वारा मनुष्यको उलटे मार्गसे बचाना है ॥

अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभिप्रसेदु ऋतमा शुषाणाः ।
अश्मवज्राः सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्त्रा आजन्नुषसो हुवानाः ॥

ऋ० ४ । १ । १३

(अस्माकमत्र मनुष्याः पितर ऋतमाशुषाणा अभिप्रसेदुः) अस्माकमत्र सभायां मनुष्या मेधाविनः पितरो ज्ञानिजनाः "मनुष्य इति मेधाविनाम" (नि० ३ । १५) ऋतं ज्ञानं ज्ञानयज्ञं वाऽऽशुषाणा व्याप्नुवन्तोऽभिप्रसेदुरभिप्रसीदन्ति कथमिव । यत् (उषसोऽन्तर्हुवाना अश्मव्रजाः सुदुघा उस्रा उदाजन्) उषसोऽन्तर्हुवानाः सूर्यप्रकाशस्य मध्ये बलं गृह्णाना अश्मव्रजा मेघमण्डलं प्रति गन्तारः सुदुघा वृष्टिजलस्य दोग्धार उस्राः सूर्यरश्मय उदाजन्नुद्भवन्त्युद्गच्छन्ति तान् तथा-भूतान् पूर्वोक्तान् पितॄन् (वव्रे) वृणे । तथा च दयानन्दः ॥

भावार्थ—(अस्माकमत्र मनुष्याः पितर ऋतमाशुषाणा अभिप्रसेदुः) हमारी सभामें मेधावी ज्ञानीजन ज्ञानयज्ञको व्याप्त होते हुए इस प्रकार प्रसन्न होते हैं कि जैसे (उषसोऽन्तर्हुवाना अश्मव्रजाः सुदुघा उस्रा उदाजन्) सूर्यप्रकाशके अन्दर बल को प्राप्त होती हुई वृष्टिकारक रश्मियां प्रकट होती हैं । (वव्रे) उन ज्ञानी जनों को मैं स्वीकार करता हूँ ॥

शिक्षा—जिस प्रकार मेघमण्डलकी तरफ जाने वाली सूर्यरश्मियां जल-वृष्टि करके प्राणियोंका उपकार करती हैं एवं मेधावी विद्वान्जन भी सभा आदिको प्राप्त होकर विद्याप्रचारसे लोकोपकार करके प्रसन्न होते हैं । उनको सेवा और सत्संग करना चाहिये ॥

इस मंत्रमें पितर शब्द ज्ञानी पुरुषोंके अर्थमें आया है और उनका कार्य सभा स्थानोंमें जाकर विद्याप्रचार करना है ॥

स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावीत् ।
येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो अभि गा अद्रिमुष्णन् ॥

ऋ० ९ । ९७ । ३९

(स वर्धिता वर्धनो मीढ्वान् पूयमानः सोमः) स वर्धिता वर्धयिता वर्धनः स्वयं वर्धनशीलो मीढ्वान् स्वरसेन सेचनकर्ता पूयमानो निःसार्यमाणः सोमः सोमरसः (ज्योतिषा नोऽभ्यावीत्) नोऽस्मान् ज्यतिषा यज्ञाग्निज्वालयाऽभ्यावी दृभिप्राप्तः (येना नः पूर्वे पदज्ञाः स्वर्विदः पितरः गा अभ्यद्रिमुष्णन्) येन हुतेन सोमेन नोऽस्माकं पूर्वे पदज्ञा मर्मज्ञा विद्यास्थानज्ञाः स्वर्विदः स्वरादित्यस्य वेत्तार आदित्यविज्ञानवन्तः पितरः पालकजना विद्वांसो गा अभि रश्मीनभिलक्ष्य "सर्वेपि रश्मयो गाव उच्यन्ते" (नि० २ । ७) अद्रिं मेघमुष्णन् दग्धवन्त उष्णीकृत्य नीचैर्निपातितवन्तः ॥

भाषार्थ—(स वर्धिता वर्धनो मीढ्वान् पूयमानः सोमः) वह बढ़ाने वाला और स्वयं वृद्धिशील स्वरससे सींचने वाला निकलता हुआ सोमरस (ज्योतिषा नोऽभ्यावीत्) यज्ञज्वालासे हमको प्राप्त होता है (येना नः पूर्वे पदज्ञाः स्वर्विदः पितरः गा अभि, अद्रिमुष्णन्) जिस होम किये सोमके द्वारा हमारे मर्मज्ञ सूर्यविज्ञान के जानने वाले पूर्वज पालक विद्वान् सूर्यकिरणोंको लक्ष्य करके मेघको गिरा देते थे ॥

शिक्षा—सोम याग करनेसे मेघवृष्टि होती है ॥

इस मन्त्रमें पालक विद्वान् जनोंके लिए पितर शब्द आया है और इनका कार्य वैज्ञानिक ढङ्गसे सोमयाग द्वारा वृष्टि करनेका है ॥

त इद्देवानां सधमादा आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः ।
गूढ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ॥
ऋ० ७ । ७६ । ४

(पूर्व्यासः कवय ऋतावानः पितरो देवानां सधमादा आसन्) ये हि पूर्व्यासः प्राचीनाः कवयो बुद्धिमन्त ऋतं ज्ञानमनुतिष्ठन्तः पितरः पालकजना देवानां ब्रह्मविदां सधमादाः सहमादो मदनं ज्ञानं गतिर्वा येषां त एवं सधमादाः सहयोगिन आसन् (त इत् सत्यमन्त्रा गूढं ज्योतिरन्वविन्दन्—उषासमजनयन्) ते हि पितरः सत्यमन्त्राः सत्यज्ञानवन्तः सन्तो गूढं ज्योतिरन्तर्हितं ब्रह्मज्योतिरन्वविन्दन् प्राप्तवन्तोऽत एवोषासमात्मदीप्तिमजनयन् प्रकाशितवन्तः ।

भाषार्थ—(पूर्व्यासः कवय ऋतवानः पितरो देवानां सधमामादा आसन्) जोकि प्राचीन बुद्धिमान ज्ञानका अनुष्ठान करते हुए पालकजन ब्रह्मवेत्ताओंके सहयोगी हुए हैं (त इत् सत्यमन्त्रा गूढं ज्योतिरन्वविन्दन्नुषासमजनयन्) वे ही

सत्य ज्ञान वाले होकर अन्तर्हित ब्रह्मरूप ज्योतिको प्राप्त हुएहैं अत एव उन्होंने अपनी आत्मदीप्तिको प्रकाशित किया है ॥

शिक्षा—विद्याप्रेमी बुद्धिमान् सर्वहितैषी विद्वान् जन ही अन्तर्यामी परमात्मदेवका साक्षात्कार करके अपनी आत्मशक्तिका विकास करते हैं ॥

इस मन्त्रमें पितर शब्द सर्वहितैषी, ज्ञानी पालक जनोंके अर्थमें आया है और इनका कार्य विद्याध्यन और ब्रह्मसङ्गतिसे आत्मविकास करना है ॥

अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ अथ० ११ । ६ । १६ ॥

(अरायान् रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄनेकशतं मृत्यून् ब्रूमः) अरायान् वञ्चकान् साहसिकान् रक्षांसि रोगोत्पादककृमीन् सर्पान् विषमयजन्तून् पुण्यजनान् पितॄन् कुशलान् सैनिकानेकशतं मृत्यून् मारणोपायान् ब्रूमः (ते नोऽहसो मुञ्चन्तु) ते नोऽस्मानंहसः पापान्मुञ्चन्तु पृथक्कुर्वन्तु ॥

भाषार्थ—(अरायान्) वञ्चकों (रक्षांसि) रोगोत्पादक कृमियों (सर्पान्) विषमयजन्तुओं (पुण्य जनान् पितॄन्) कुशल सैनिकजनों (एकशतं मृत्यून्) एक सो एक मारणोपायोंको (ब्रूमः) कहते हैं (ते नोऽहंसो मुञ्चन्तु) वे ये हमें पापसे पृथक् करें ॥

शिक्षा—संसारमें मनुष्योंको जो लुटेरों-डाकुओं, रोगोत्पादक कीड़ों, विषमयजन्तुओं, युद्धमें कुशल सैनिकों और १०१ विषादि द्वारा मृत्यु उपायोंसे जो कष्ट मिलते हैं वे सब पापके फल हैं ॥

इस मन्त्रमें शत्रुओंका हनन करने वाले सैनिकोंके अर्थमें पितर शब्द आया है। इनका कार्य पाप करने वालेको परास्त करने या मृत्युदण्ड देकर पापका फल भुगानेका है ॥

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ अथ० ८ । ८ । १५ ॥

(गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् दृष्टानदृष्टानिष्णामि) युद्धप्रकरणे पठितो मन्त्र एष तस्मादत्र गन्धर्वादिभिर्युद्धोपकरणैर्भवितव्यम्। अत एवात्र पितृशब्दो न मृतजनार्थः । अर्थवस्तुत्वञ्चैवं यत्—उपद्रवकारिणो गन्धवतो वातान् तथैवोपद्रवकारिणस्तेजोरूपवतः कैश्चित्प्रकारैरुत्पादितान् सूर्यरश्मीन् "प्रजा-

प्रतिरूपमव्रं गन्धर्वाप्सरोभ्यः प्रायच्छत्" (जै० उ० १ । १२ । १) "अथो गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति" (श० ६ । ४ । १ । ४) "वातो गन्धर्वः (श० ६ । ४ । १ । ४०) "तस्य सूर्यस्य मरीचयोऽप्सरसः" (श० ६ । ४ । १ । ८) सर्पान् प्रसिद्धान् सर्पणशीलान् विषमयान् जन्तून् देवानग्न्यादीन् पुण्यजनान् कुशलान् पितृन् सैनिकान् । 'मुख्यशब्दार्थसमन्वये द्रष्टव्या पितृसंख्या ११' एवं दृष्टान् प्रसिद्धान् शस्त्रादियुक्तान् अदृष्टान् गुप्तानस्त्रादियुक्तान् इष्णाम्यहं राजा युद्धक्षेत्रे प्रेरयामि (यथाऽमूं सेनां हनन्) एवं प्रेरयामि यथामूं सेनां विपक्षां शत्रुसेनां हनन् हन्यासुः । लिङर्थे लेट ॥

भाषार्थ—(गन्धर्वाप्सरसः) विषगन्धि हवाओं और जलानेवाली सूर्यकिरणोंको (सर्पान्) तीव्र विषवाले जन्तुओंको (देवान्) अग्नि आदि युद्धोपयोगी पदार्थों को (पुण्यजनान् पितृन्) कुशल सैनिक जनोंको (दृष्टान्) प्रसिद्ध शस्त्रादि युक्तोंको (अदृष्टान्) गुप्त अस्त्रादि युक्तोंको (इष्णामि) मैं राजा युद्ध क्षेत्रमें प्रेरित करता हूँ (यथा अमूं सेनां हनन्) जिससे कि शत्रुसेनाको हनन कर डालें ॥

शिक्षा—राजाको युद्धक्षेत्रमें लड़नेके लिये शत्रुसेनाका पराजय जिस प्रकार हो ऐसे विषगन्धिहवा, यन्त्र द्वारा जलादेनेवाली तीक्ष्ण सूर्यरश्मियों और विषमयजन्तुओं के योग तथा अच्छे २ वीर सैनिकोंसे काम लेना चाहिये जो कि शस्त्र और अस्त्र साधनोंसे युक्त हों ॥

इस मन्त्रमें पितरशब्द सैनिकजनोंके अर्थमें प्रयुक्त है। क्योंकि यह सङ्ग्रामप्रकरणका मन्त्र है इसमें सभी साधन सङ्ग्रामके उपयोगी हैं और (सैनिकरूप) पितरोंका कार्य यहां शत्रु सेना का हनन करना है ॥

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितृन् ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्रदर्शय ॥

अथ० ११ । ९ । २४

(वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः) युद्धोपयुक्तान् विषमयान् वनस्पतीन् फलवतो वृक्षान् वानस्पत्यान् पुष्पफलवतस्तरून् ओषधीः फलकान्तान् तरुकानुत वीरुधः प्रतानानि "फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि । ओषध्यः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः" (चरक० सूत्र० १ । ७१) (गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितृन् सर्वांस्तान्) पूर्वमन्त्रवदुपद्रवकारिणो गन्धवतो वातानुपद्रव-

कारिणस्तीक्ष्णरूपवतो दाहकरश्मीन् विषजन्तून् अग्न्यादीन् युद्धकुशलसैनिकान् सर्वान् तान् (अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरु) 'अर्ब हिंसायां तत औणादिक उः प्रत्ययः' । अर्बून् हिंसकान् द्यति खण्डयतीत्यर्बुदिर्वीरो राजा अर्बुदे हे वीर राजन्! त्वममित्रेभ्यः शत्रुभ्यो दृशे व्यक्तीभावं कुरु (उदारांश्च प्रदर्शय) अथोदारांश्च युद्धेऽभ्रतान् प्रवृत्तांश्च प्रदर्शय भावय । 'अत्र मन्त्रे वनस्पत्याद्युद्भिज्जविषजन्तुवाताग्न्यादीनां पदार्थानां कश्चिदस्त्रयोगो लक्ष्यते ।' उक्तं यथा कौटिल्यार्थशास्त्रे—"चित्रभेककौण्डिन्यककृकणपञ्चकुष्ठशतपदीचूर्णमुच्चिदिङ्गकम्बलिशतकन्देध्मकृकलासचूर्णं गृहगोलिकान्धाहिककृकणकपूतिकीटगोमारिकाचूर्णं भल्लातकावल्गुकारसयुक्तं सद्यः प्राणहरमेतेषां वा धूमः ।" कौटिल्यार्थशास्त्रे (अ० १४६) ॥

भाषार्थ—(वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः) युद्धोपयोगी विषमय फलवाले वृक्ष, फूलफल वाले पौदे, फलपाकान्त ओषधि और फैलने वाली बेलोंको (गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् सर्वांस्तान्) पूर्वमन्त्रके अनुसार उपद्रवकारी विषगन्धि हवाओं, दाहकसूर्यरश्मियों, विषैले जन्तुओं, अग्न्यादि पदार्थों और कुशल सैनिक जनोंको इस प्रकार सभी युद्ध साधनोंको (अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरु) हे वीर राजा ! तू शत्रुओंके लिये तय्यार कर (उदारांश्च प्रदर्शय) और उनको युद्धमें उन्नत अर्थात् कार्यसाधक रूपमें छोड़ ॥

शिक्षा—वीर राजाको चाहिये कि युद्धविजयके लिए नाना प्रकारकी प्रभावशाली विषमयी वनस्पतियों और विषैले जन्तुओंके योग तय्यार करे तथा कुशल सैनिकों द्वारा विजय प्राप्त करे ॥

इस मन्त्रमें पूर्व मन्त्रके तुल्य सैनिक जनोंके अर्थमें पितर शब्द आया है यहां पितरों (सैनिकों) का कार्य शत्रुओंके साथ युद्ध करना है ॥

विशेष—इस मन्त्रमें "वानस्पत्यान्" शब्द आया है । सायण तथा स्वाध्याय मण्डलके विद्वान्ने वनस्पतिओंसे उत्पन्न पदार्थों का अर्थ किया है जो ठीक नहीं है । क्योंकि मूलमन्त्र.में वानस्पत्यके सहयोगी वनस्पति ओषधि और वीरुध शब्द आए हैं । जो भूमिसे स्वतन्त्र उत्पन्न हुए पदार्थ हैं । तथा चरक आयुर्वैदिक ग्रन्थमें उक्त चारों वस्तुएं एक ही श्लोकमें लक्षण सहित पढ़ी हैं । अतः इस मन्त्रमें इन चारों वस्तुओंका स्वरूप वही है जो चरकमें वर्णित है ।

२—विदित हो कि जो विद्वान् वैदिक शब्दोंके अर्थकरनेमें स्वरका इस प्रकार आग्रह करते हैं कि वेदोंमें स्वरव्यत्यय न माना जाय केवल यथास्वं स्वरके

अनुसार ही अर्थ करना चाहिये। यह इस प्रकार उनका आग्रह उचित नहीं है। क्योंकि यथावत् अर्थ करनेके लिए जैसे व्याकरणके सभी नियमोंमें यथावसर व्यत्यय होजाता है। एवं स्वरशास्त्र भी व्याकरणान्तर्गत होनेसे व्यत्ययका पात्र है। महर्षि पाणिनि और महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनिने स्वरव्यत्ययकी स्थापनाकी है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में भी स्वरव्यत्यय को माना है। निरुक्तकार श्री यास्क मुनिने भी वस्तुतः अर्थ निरीक्षणमें प्रकरणविद्याको प्रधान माना है। स्थान २ पर स्वरकी तरफ ध्यान न देकर निर्वचन किया है। जैसे 'मेहना' एक पदमें 'म इह न' बहु पदमें। एवं इस प्रस्तुत मन्त्रमें "वानस्पत्यान्" शब्द अन्तोदात्त है। यदि स्वर प्रक्रियाको सर्वथा प्रधान मानकर अर्थ करें तो "दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः" (अष्टा० ४।१।८५) से विकारादि अर्थ करना पड़ेगा। क्योंकि इस सूत्रसे पत्यन्त वनस्पति मूलशब्द से 'ण्य' प्रत्यय होकर प्रत्ययस्वरसे वानस्पत्य पद अन्तोदात्त है, किन्तु प्रकरणविद्याकी दृष्टिसे जो कि चरक श्लोक और मूल मंत्रके द्वारा दर्शाया गया है उसके विरुद्ध पड़ेगा। क्योंकि स्वरको प्रधानता से विकारादि ही अर्थ करना पड़ेगा। किन्तु यहां इस स्वरदृष्टिकी उपेक्षा करना ही यथावत् अर्थका कारण है। एवं अन्यत्र भी विद्यासम्बन्धी अर्थों में उपस्थित स्वर का तिरस्कार और स्वर-व्यत्ययका स्वीकार आवश्यकीय है॥

पुन र्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः।
जीवं व्रातं सचेमहि ॥ १० । ५७ । ५, यजु० अ० ३ । ५५

(पितरो दैव्यो जनः पुनर्नो मनो ददातु) पितरो हेऽन्नसुशिक्षाभ्यां पालकजनाः! दव्यो देवेषु विद्वत्सु जातो विद्वान्। "अत्र देवाद्यञञौ" (अ० ४।१।८५) इति वार्तिकेन प्राग्दीव्यतीयान्तर्गते जातेऽर्थे यञ् प्रत्ययः। जनो विद्यापरोपकाराभ्यां जनयति प्रकटयति स पुनर्नोऽस्मभ्यं मनो धारणावतीं बुद्धिं ददातु प्रयच्छतु (जीवं व्रातं सचेमहि) जीवं ज्ञानसाधनयुक्तं जनमथ च व्रातं व्रतसमूहं सचेमहि समवेयाम। इति दयानन्दः॥

भाषार्थ—(पितरो दैव्यो जनः पुनर्नो मनो ददातु) हे अन्न सुशिक्षासे पालक जनो! तुम विद्वान् विद्या और धर्मके परोपकारसे प्रकट करने वाली फिर हमारे लिये सुधारणावती बुद्धिको प्रदान करे (जीवं व्रातं सचेमहि) ज्ञान साधन युक्त पुरुषको और उसके व्रत समूहको हम प्राप्त हों॥

शिक्षा—विद्वानोंमें जो सबसे बड़ा विद्वान् हो उसका यह कर्तव्य है कि वह मनुष्योंके अन्दर उत्तम बुद्धिको उत्पन्न करे और पितर जनों को भी आवश्यक है कि वे उस विद्वान्की सेवा करते हुवे उसके उपदिष्ट आचरणोंका पालन करें॥

इस मंत्रमें पालक अर्थमें पितर शब्दका प्रयोग है और इनका कार्य विद्यादि के प्रचारसे मानवसमाजकी रक्षा करना है ॥

त्वेह यत् पितरश्चिन्न इन्द्र विश्वा वामा जरितारो असन्वन् ।
त्वे गावः सुदुघास्त्वे ह्यश्वास्त्वं वसु देवयते वनिष्ठः ॥

ऋ० ७ । १८ । १

(इन्द्र त्वे यन्नः पितरश्चिज्जरितारो विश्वा वामा असन्वन्) इन्द्र हे राजन् ! त्वयि यद्ये नोऽस्माकं पितरः पालयितारश्चिदपि जरितारः स्तावका विश्वा सर्वाणि वामा प्रशस्यान्यसन्वन् याचन्ते । यतः (त्वे ह सुदुघा गावस्त्वे ह्यश्वाः) त्वे त्वयि त्वत्पार्श्वे ह सुदुघाः सुष्ठुकामप्रपूरका गावस्त्वे त्वय्यश्वाः सन्ति (त्वं वनिष्ठो वसु देवयने) त्वं वनिष्ठोऽतिशयेन वनिता सम्भाजकः सन् वसु ददतीति शेषः । इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(इन्द्र त्वे यन्नः पितरश्चिज्जरितारो विश्वा वामा असन्वन्) हे राजन् ! तेरे आश्रय जो हमारे पालन करने वाले तथा ईश्वरकी स्तुति करने वाले जन राष्ट्रके लिये प्रशंसनीय सुखोंकी याचना करते हैं (त्वेह सुदुधा गावस्त्वे ह्यश्वाः) क्योंकि तेरे अधीनही अच्छी गौवें और घोड़े हैं (त्वं वनिष्ठो वसुदेवयते) तू ही हे सेवनीय राजन् ! प्रजामें यथावश्यकता धन देता है ॥

शिक्षा—राष्ट्रके मुख्य प्रजानेता अपनी आवश्यकताओंको राष्ट्रपति अथवा राष्ट्रसभापतिको समझाकर उचित प्रबन्ध करावें ॥

इस मन्त्रमें प्रजापालक जनोंके अर्थमें पितर शब्द आया है जिनका कार्य प्रजाकी आवश्यकताओंको पूरा कराना है ॥

मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन । पितॄणां च मन्मभिः ॥

ऋ० १० । ५७ । ३

मनो न्वा ह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन । पितॄणां च मन्मभिः ॥

यजुः अ० ३ । ५३

(नाराशंसेन स्तोमेन पितॄणां च मन्मभिर्मनो न्वाह्वामहे) नराणां समन्ताच्छंसः प्रशंसनं नराशंसः, नराशंसेन निर्वृत्तस्तेन स्तोमेन स्तुतियुक्तव्यवहारेण पितॄणां पालकानामृतूनां ज्ञानवतां मनुष्याणां वा चापि मन्मभिर्मननैर्ज्ञानैर्विचारैश्च "सर्वधातुभ्यो मनिन्" (उणा० ४ । १४८) मनो मननशीलं सङ्कल्पविकल्पात्मकं न्वाह्वामहे प्रस्पर्द्धामहे । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(नाराशंसेन स्तोमेन पितॄणां च मन्मभिर्मनो न्वाह्वामहे) मनुष्यों के वास्तविक गुण विद्या कथन व्यवहारसे और ऋतुओंके तथा ज्ञानी मनुष्योंके रहस्य विचारोंसे, सङ्कल्पविकल्पात्मक मनको उद्बोधित करते हैं ॥

शिक्षा—ऋतुविज्ञान और विद्वत्सङ्गतिसे मानसिक विकास करना चाहिये ॥

इस मंत्रमें ऋतुओं तथा ज्ञानी जनोंके लिये पितर शब्दका प्रयोग है और इनका कार्य मानसिक विकास करना है ॥

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषो असत् ॥

यजुः अ० २ । ३३

(पितरो गर्भं पुष्करस्रजं कुमारमाधत्त) पितरो विद्यादिदानेन पालका ज्ञानिनो जना गर्भं गर्भमिव पुष्करस्रजं विद्याग्रहणाय पुष्पमालाधारिणं कुमारं ब्रह्मचारिणमाधत्त धारयत (यथेह पुरुषोऽसत्) यथेह यथाऽत्रायं कुमारः पुरुषो विद्यापुरुषार्थयुक्तो मनुष्योऽसद् भवेत् । इति दयानन्दः ॥

आध्यात्मिकदृष्ट्या तु—

(पितरः पुष्करस्रजं कुमारं गर्भमाधत्त) पितर ऋतवः प्राणा वा पुष्करस्रजं पुष्करं फुप्फुससहितं हृदयकमलं सृजति धारयति तं कुमारं कुत्सितमारं नित्यस्वरूपं जीवात्मानं शिशुं वा गर्भं गर्भरूपं वाऽऽधत्त समन्ताद्धारयत (यथेह पुरुषोऽसत्) यथेह यथात्र पुरुषः पुरिशयः शरीरधारी पूर्णोऽसद् भवेत् ॥

भावार्थ—(पितरो गर्भं पुष्करस्रजं कुमारमाधत्त) विद्यादानसे पालक ज्ञानी जनों ! गर्भके तुल्य विद्याग्रहण के लिये पुष्पमाला धारण किये हुए ब्रह्मचारीको धारण करो (यथेह पुरुषोऽसत्) जिससे इस संसारमें यह कुमार विद्यापुरुषार्थसे युक्त मनुष्य बन जावे ॥

आध्यात्मिक दृष्टि से—

(पितरः पुष्करस्रजं कुमारं गर्भमाधत्त) ऋतुएं या प्राण फुप्फुससहित हृदय कमलको धारण करने वाले अविनाशी जीवात्मा या बालक को गर्भरूपमें भलीप्रकार धारण करते हैं (यथेह पुरुषोऽसत्) जिससे कि यहां यह शरीरधारी पूर्ण पुरुष बन सके ॥

शिक्षा—(१, २) इस मन्त्रमें श्लेषालङ्कारसे आदिभौतिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के दो जन्म होते हैं एक योनिजन्म दूसरा विद्याजन्म । विद्याजन्ममें गुरुजन ब्रह्मचारी को विद्यायुक्त पुरुष बनाने के लिए धारण

करते हैं दूसरे योनिजन्म में ऋतुएं और प्राण जीवात्माको शिशुरूपसे गर्भमें धारण करते हैं।

इस मन्त्रमें गुरुजनों या ऋतुओं तथा प्राणोंके लिये पितर शब्द आया है। इनका कार्य ब्रह्मचारीको विद्याग्रहण करनेके लिये अपने पास रखना तथा जीवात्मा को शिशुरूपमें गर्भ धारण कराना है॥

विश्वामित्र वसिष्ठ जमदग्ने भरद्वाज गोतम वामदेव।
शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः॥

अथ० १८। ३। १६

इस मंत्रमें प्राणोंके लिये पितर शब्द है। और वे विश्वामित्रादि नामसे श्रोत्रादिगत हैं। इनका कार्य शरीरको शासनमें रखते हुये स्वस्थ और सुखी बनाना है विवरणके लिए देखो सूक्त० अथ० १८। ३। १६ (पृष्ठ १५६)

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन।
चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु॥

अथ० १८। ३। १०

इस मंत्रमें ऋतुओंके लिये पितर शब्द आया है। और उनका कार्य शरीर कान्ति, प्राण और रक्त द्वारा रक्तोत्पत्तिसे प्राणियोंकी पुष्टता करना है। विवरणके लिए देखो सूक्त० अथ० १८। ३। १० (पृष्ठ १५२)

पितरः परे ते मावन्तु। अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥

अथ० ५। २४। १५

(परे ते पितरो मावन्तु) परे, आगमिष्यन्तस्ते पितर ऋतवो मां रक्षन्तु। सूक्ते-इन्द्रचन्द्रादिभौतिकपदार्थप्रकरणादत्र मन्त्रे पितर ऋतवः सन्ति। ते चेमे (अस्मिन् ब्रह्मणि) अस्मिन् वेदाध्ययने (अस्मिन् कर्मणि) अस्मिन् कर्तव्यकर्मणि (अस्यां पुरोधायाम्) अत्र पूर्वनिश्चित्यां पूर्वसङ्कल्पे (अस्यां प्रतिष्ठायाम्) अत्र प्रतिष्ठाने सुनिश्चिते कृत्ये (अस्यां चित्याम्) अस्यां वेद्यां (अस्यामाकूत्याम्) आह्वानेऽत्र (अस्यामाशिषि) अत्राशीर्बुद्ध्यां (अस्यां देवहूतौ) अत्र विद्वन्निमन्त्रणे (स्वाहा) सुभाषणमेवेदमस्ति॥

भावार्थ—(परे ते पितरो मावन्तु) आने वाली ऋतुएं मेरी रक्षा करें (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस वेदाध्ययनमें (अस्मिन् कर्मणि) इस कर्तव्य कर्ममें (अस्यां पुरोधायाम्) इस पूर्वधारणामें (अस्यां प्रतिष्ठायाम्) इस सुनिश्चितिमें (अस्यां चित्याम्) इस वेदोंमें (अस्यामाकूत्याम्) इस पुकारमें (अस्यामाशिषि) इस इच्छा बुद्धिमें (अस्यां देवहूतौ) इस विद्वानोंके निमंत्रणमें (स्वाहा) ये सम्यक् उक्तियां हैं ॥

शिक्षा—हमारे वेदाध्ययन, शारीरिक कर्म, संकल्प, निश्चय, होम, आह्वान इच्छा और विद्वानों तथा उत्तम गुणोंकी प्राप्ति ऋतुओंके अनुसार जीवनचर्या पर निर्भर है ॥

इस मंत्रमें पितर शब्दका अर्थ ऋतुएं हैं। यहां सूक्तमें इन्द्र चन्द्रादि भौतिक पदार्थोंका प्रकरण है। उनके साथ ऋतु अर्थ ही उपयुक्त है। उनका कार्य मानवीय आन्तरिक भावनाओं वाणीकी क्रियाओं और शारीरिककर्म पर प्रभाव डालना है ॥

तमूषु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिः ।
नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा
मध्यमो नभन्तामन्यके समे ॥ ऋ० ८ । ४१ । २

(सिन्धूनामुपोदये य सप्तस्वसा मध्यमः) सिन्धूनां स्यन्दमानानामान्तरिक्ष्यापामपोदये वृष्टिरूपेऽपसरणे यः सप्तस्वसा सप्तविधविद्युद्गर्जनावान्। "वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी०" (महाभाष्ये २।२।१२) इति चानुमानशास्त्रम्। मध्यमो मध्यमस्थानीयो वरुणो मेघकारणं वृष्टिप्रवर्तको देवोऽस्ति (तमूषु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिर्नाभाकस्य प्रशस्तिभिः) तं वरुणं मेघकारणमवश्यं समना समानया वृष्ट्युपयोग्याहुतिपरिणामेन सह गिरा गीत्या मन्त्रोच्चारणरूपस्तवनेन मेघरागेणेत्यर्थः। पितॄणामृतूनामृतुसम्बन्धिनां मन्मभिर्मननीयैः स्तोमैर्यज्ञैः। "यद्वु ह किञ्च देवाः कुर्वते स्तोमेनैव तत्कुर्वते यज्ञो वै स्तोमो यज्ञेनैव तत्कुर्वते" (श० ८ । ४ । ३ । २) नाभाकस्य नभकं मेघावृताकाशः" नभ्नाति व्याप्नोति मेघेन। नभ—अकः "पिनाकादयश्च" (उणा० ४ । १४ । इति शब्द कल्पद्रुमः) 'नभाति न प्रकाशत इति नभाकं मेघयुक्तमाकाशमिति दयानन्दस्तत्रैवोणादौ'। नभाकस्य मेघवृताकाशस्य शास्त्रं नाभाकम्। तस्येदमिति ताद्धितोऽण्। तस्य नभाकस्य मेघावृताकाशसम्पादननिमित्तशास्त्रस्य प्रशस्तिभिः प्रशंसनीयक्रियाभिरभिष्टौम्याह्वयाम्यनुतिष्ठामि वा (अन्यके समे नभन्ताम्) अन्यकेऽन्ये समे सर्वे विघ्नकारिणः पदार्था वा नभन्तां मा भुवन्। घनवृष्टिपातान्धकारेण न दृश्येरन् वेति वृष्टिपातनसिद्धान्तोऽत्र, तथा च निरुक्तम् "वरुणो वृणोतीति सतः।

तस्यैषा भवति—नीचीनवारं कबन्धं प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् । तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम ॥ नीचीनद्वारं कबन्धं मेघमित्येवं प्रकृत्य तस्यैषाऽपरा भवति—तमूषु... तं स्वभिष्टौमि समानया गिरा गीत्या स्तुत्या पितॄणां च माननीयैः स्तोमैर्नाभाकस्य प्रशस्तिभिः (ऋषिर्नाभाको बभूव) यः स्यन्दमानानामासामपामपोदये सप्तस्वसारमेनमाह वाग्भिः स मध्यम इति निरुच्यते अथैष एव भवति नभन्तामन्यके समे । मा भुवन्नन्यके सर्वे ये नो द्विषन्ति दुर्धियः पापधियः पापसङ्कल्पाः (निरुक्त १० । ५) ॥

विशेष—"ऋषिर्नाभको बभूव" इति पाठो दुर्गाचार्य्यासम्मतः । कथंचिद् भवेदप्यृषीणामुपाधिवादेन शक्यो वर्णयितुं विशेषं तु वैदिकेतिहासप्रकरणे दर्शयिष्यामः ॥

भाषार्थ—(सिन्धूनामपोदये यः सप्तस्वसा मध्यमः) स्यन्दमान अन्तरिक्ष जलों के वृष्टिरूप अपसरणमें जो सात प्रकार की विद्युद्गर्जनावाला मेघका कारण वृष्टिप्रवर्तक देव है (तमूषु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिर्नाभाकस्य प्रशस्तिभिः) उस मेघके कारणको अवश्य उचितनियम या वृष्ट्युपयोगीपरिमाणसे मन्त्रोच्चारणरूप गीति और ऋतुसम्बन्धी सिद्धान्तों तथा यज्ञों और मेघावृताकाश सम्पादननिमित्तशास्त्रकी प्रशंसनीय क्रियाओंसे वृष्टिका आह्वान करता हूँ (अन्यके समे नभन्ताम्) अन्य सब विघ्नकारी पदार्थ न हों घने वृष्टिपातके अन्धकारसे न दिखलाई पड़ें । इस प्रकार मैं वृष्टिशास्त्रका जानने वाला विद्वान् वृष्टिको भूमि पर लाता हूँ ॥

शिक्षा—वृष्टिशास्त्रका जानने वाला विद्वान् आकाशकी जलधाराओं को मेघके रूपमें सम्पादन करके उचित परिमाणसे ऋतुके अनुकूल यज्ञ और मेघरागमें वृष्टिस्तोत्रोंके गानसे पृथिवी पर घन वृष्टिपात करे ॥

इस मन्त्रमें ऋतुओंके लिए पितर शब्द आया है । और उनका कार्य वृष्टिपातके लिये ऋतुसिद्धान्त और ऋतुक्रमका ज्ञान आवश्यक है ॥

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु
मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः
पात्विदमहन्तप्तं वा बहिर्द्धा यज्ञान्निःसृजामि ॥ यजु० अ० ५।११ ॥

(इन्द्रघोषो वसुभिस्त्वा पुरस्तात्पातु) इन्द्रस्य विद्युतो घोषो विविधशब्दार्थसम्बन्धो यस्य स इन्द्रघोषो वसुभिरग्न्यादिभिस्त्वा तां पुरस्तात्पूर्वस्मात्पातु रक्षतु (प्रचेता रुद्रैस्त्वा पश्चात्पातु) प्रचेताः प्रकृष्टसन्ताननिमित्तः प्रकृष्टज्ञानो वा रुद्रैः प्राणैः पश्चाद्रक्षतु (मनोजवाः पितृभिस्त्वा दक्षिणतः पातु) मनोवज्जवो यस्य

स पितृभिर्ज्ञानिभिर्ऋतुभिर्वा त्वा तां रक्षतु (विश्वकर्मादित्यैस्त्वोत्तरतः पातु) विश्वानि कर्माणि यस्य स आदित्यैर्मासैस्त्वा तामुत्तरतो रक्षतु (अहं यज्ञात् तप्तमिदं वा बहिर्द्धा निःसृजामि) अहं यज्ञाद् होमलक्षणादिदमन्तर्जलम् "इदं जलनाम" (नि० १।१२) वा बहिस्थं जलं बहिर्द्धा बाह्यदेशे निःसृजामि प्रक्षिपामि । इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(इन्द्रघोषो वसुभिस्त्वा पुरस्तात् पातु) विद्युत् का घोष विविध शब्दार्थ सम्बन्ध जिसका है ऐसा वह अध्वर्युरूप सूर्य अग्नि आदि पदार्थोंके साथ पूर्वकी ओरसे रक्षा करे (प्रचेता रुद्रैस्त्वा पश्चात् पातु) उत्तम चेतावनीका निमित्त स्वयं सचेत हुआ होता रूप वरुण प्राणोंके द्वारा पश्चिमकी ओरसे रक्षा करे। (मनोजवः पितृभिस्त्वा दक्षिणतः पातु) मनके समान वेग वाला वायुरूप ब्रह्मा ऋतुओंके द्वारा दक्षिणसे रक्षा करे (विश्वकर्मा आदित्यैस्त्वोत्तरतः पातु) सब प्रकारके कर्म जिसके हों वह सोमरूप उद्गाता मासोंके द्वारा उत्तरकी ओरसे रक्षा करे (अहं यज्ञात्तप्तमिदं वा बहिर्द्धा निःसृजामि) मैं ईश्वर होमयज्ञसे तप्त हुये इस भीतरके जलको बाहर वाले जलमें बाहरकी ओर फेंकता हूँ ॥

शिक्षा—यज्ञके अनुष्ठानसे बिजलीके समान ध्वनि वाली वाणी या अध्वर्यु यजमानकी पूर्वदिशासे, सम्यक् चेतावनी देनेवाली वाणी या होता पश्चिमसे और मनके तुल्य वेगवाली वाणी या ब्रह्मा दक्षिणसे सब कर्मोंकी विधायक वाणी या उद्गाता उत्तरसे रक्षा करते हैं। एवं ईश्वर भी यज्ञसे उष्ण हुये जलको नीचे गिराता है॥

इस मन्त्रमें पितर शब्दका वसन्तादि ऋतु अर्थ है। वस्तुविज्ञानकी चर्चा इस मन्त्रमें है। अतः ऋतुक्रमविज्ञान सङ्गत है। इनका कार्य उत्पन्न होने वाले पदार्थों की रक्षाका है॥

यत्ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः ।
तत्ते सङ्गत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरावेशयन्तु ॥

अथ० १८ । २ । २६

इस मन्त्रमें ऋतु सहचरित रश्मियोंके अर्थ में पितर शब्द है। और इनका कार्य जीवात्माओं को एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जन्म देना है। विवरणके लिए देखो सूक्त० अथ० १८ । २ । २६ (पृष्ठ १२६)

अरुरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्त्ति भुवनानि वाजयुः ।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥

ऋ० ९ । ८३ । ३

(पृश्निरग्रिय उषसोऽरुरुचत्) पृश्निरादित्यः "पृश्निरादित्यो भवति प्राश्नुत एनं वर्णा इति" (निरुक्त २ । १४) अग्रियो मुख्यः सन्नुषसोऽरुरुचद्रोचयति प्रकाशयति (उक्षा वाजयुर्भुवनानि बिभर्त्ति) उक्षा वृष्टिजलसेक्ता वाजयुः प्राणिभ्योऽन्नमिच्छन् सन् भुवनानि लोकान् बिभर्त्ति धारयति (अस्य मायया मायाविनो नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुर्ममिरे) अस्यादित्यस्य मायया निर्माणशक्त्या ये मायाविनो निर्माणशक्तिमन्तो नृचक्षसः प्राणिमात्रस्य दर्शयितारोऽभिव्यक्तिहेतवो वा पितरः सूर्यरश्मयः । तथा च सायणः । "पितरो जगद्रक्षका रश्मयः" गर्भमादधुः पृथिव्यामुत्पत्तुं योग्यस्य गर्भमाधत्तवन्तः । अथ च तं गर्भ ममिरे निर्मितवन्तः ॥

भावार्थ—(पृश्निरग्रिय उषसोऽरुरुचत्) आदित्य सब लोकलोकान्तरोंमें मुख्य होकर दिनका प्रकाश करता है (उक्षा वाजयुर्भुवनानि बिभर्त्ति) जलका सींचन करने वाला प्राणिमात्रके लिये मानो अन्नको चाहता हुवा पृथिवी आदि लोकोंको धारण करता है (अस्य मायया मायाविनो नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुर्ममिरे) इस आदित्यकी निर्माणशक्तिवाले जो भी प्राणीमात्रके दर्शनशक्तिके हेतु सूर्यरश्मियां उत्पत्ति योग्य गर्भको धारण करती हैं और उस गर्भको निर्माण करती हैं ॥

शिक्षा—सूर्यका प्रकाश सब लोगोंकी स्थितिका कारण है और उसकी निर्माणशक्तिसे शक्तिवाली रश्मियां संसारके गर्भमात्रको धारण तथा उत्पन्न करती हैं ॥

इस मन्त्रमें सूर्यरश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है और उनका कार्य संसारके जीवमात्रके गर्भको पुष्ट और उत्पन्न करना है ॥

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितर सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ऋ० १०।१५।१
यजु० अ० १४ । ४९, अथ० १८ । १ । ४४

इस मन्त्रमें प्रातः, मध्य और तृतीयसवनके यज्ञमें प्राप्त सूर्यरश्मियोंके लिये तीन बार पितर शब्द का प्रयोग है । इनका कार्य प्राणिमात्रके जीवनका विकास करना है । विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १० । १५ । १ (पृष्ठ ४१)

वीळु चिद् दृढा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण ।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमस्राः ॥ ऋ० १।७१।२

(पितरो नो दृढा वीळु चिदुक्थैरद्रिं रुजन्) पितर उत्पत्तिनिमित्ताः पालनहेतवो वा प्रावृषेण्याः सूर्यरश्मयो नोऽस्मभ्यं जीवेभ्यो दृढा दृढेन वीळुना बलेन "वीळु बलनाम" (नि० २ । ९) दृढा-वीळु 'सुपांसुलुक्पूर्वसवर्णाच्छे०' इत्य-

नेनाकारलापौ भवतः'। चिदप्युक्थैः परिभाषणैर्महद्ध्वनिभिर्गर्जनैरद्रिं मेघं रुजन् भञ्ज-यन्ति। 'रुज भङ्गे तुदादिस्ततः सामान्यकाले लुङ्' (अङ्गिरसो रवेण चक्रुः) अङ्गिरसो देदीप्यमाना ग्रीष्मर्तुकाः सूर्यरश्मयो रवेण रेषणेन निजभेदनशक्त्या। 'रुङ् गति-रेषणयोः' चक्रुर्यमद्रिं मेघं निर्मितवन्तः (उस्रा अस्मे बृहतो स्वः केतुमहर्गातुं विविदुः) उस्रा वर्षाकालानन्तरं विविधगुणानां वासयितारः शारदाः सूर्यरश्मयः "उस्रेति रश्मिनाम" (नि० १। ५) अस्मेऽस्मभ्यं बृहतो महतो दिवो मेघमण्डलान्निवृत्य महत आकाशस्य मध्ये वा स्वरादित्यं विविदुर्लब्धवन्तः। अत एव केतुमुषसं विविदुर्लब्ध-वन्तस्तदैवाहर्दिनं विविदुर्लब्धवन्तोऽथ गातुं पृथिवीं पुनर्विविदुर्लब्धवन्तः "गातुः पृथिवी नाम (नि० १। १)

भाषार्थ—(पितरो नो दृढा वीलु चिदुक्थैरद्रिं रुजन्) उत्पत्तिके निमित्त पालनहेतु वर्षाकालकी सूर्यरश्मियां जीवोंके लिए दृढ़ बलसे गर्जनशब्दोंके साथ मेघको छिन्न भिन्न करती हैं (अङ्गिरसो रवेण चक्रुः) ग्रीष्म ऋतु की देदीप्यमान रश्मियां निज रसग्रहण शक्तिसे जिस मेघको बनातीं हैं (उस्रा अस्मे बृहतो स्वः केतुमहर्गातुं विविदुः) वर्षाकालके अनन्तर विविध गुणोंका वास करानेवाली शीतकालकी रश्मियां हमारे लिये बड़े भारी मेघमण्डलसे निवृत्त होकर या विस्तृत आकाश के बीचमें वर्तमान आदित्यको प्राप्त करती हैं अर्थात् निर्मल आकाशमें सूर्य को प्रकाशित करती हैं। अत एव उषा को प्राप्त होती हैं पुनः दिन को प्राप्त होती हैं अनन्तर पृथिवीको प्राप्त होती हैं।

शिक्षा—ग्रीष्मकालकी देदीप्यमान सूर्यरश्मियां रस-भेदन शक्तिसे मेघ बनाती हैं पुनः वर्षाकालकी सूर्य रश्मियां दृढ़ बलसे उस मेघको गर्जन शब्दोंके साथ छिन्न भिन्न कर नीचे गिराती हैं पुनः वर्षाकालके अनन्तर शीतकालकी रश्मियां विस्तृत आकाशमें वर्तमान सूर्यको प्राप्त हुई उषा (प्रभात वेला) दिनका प्रकाश करके पृथिवीको प्राप्त होती हैं। ये इस प्रकार त्रैकालिक अथवा ग्रीष्म वर्षा और शरद् की प्रधान ऋतुओं का रश्मिविज्ञान है॥

इस मन्त्रमें वर्षा ऋतुकी सूर्य रश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है। इन का कार्य मेघको तोड़ फोड़कर वृष्टि करना है॥

आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि।
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि॥

ऋ० १०। १०७। १

(एषां माघोनं महि-आविरभूत्) एषां सूर्यरश्मीनां माघोनमैन्द्रं सौरं महि महत्त्वमाविरभूत् प्रकटितमभवत् (विश्वं जीवं तमसो निरमोचि) विश्वं सकलं जीवं जीवमात्रं जीवसंसारं तमसोऽन्धकारान्निरमोचि पृथक्कृतवान् (पितृभिर्दत्तं महि ज्योतिरुदगात्) पितृभी रश्मिभिर्दत्तं महि महज्ज्योतिरुदगात्प्रकटमभूत् (दक्षिणाया उरुः पन्था अदर्शि) दक्षिणायास्त्यागस्य "त्यागं दक्षिणा" (प्राणाग्निहोत्रोप० ३) उरुर्महान् पन्था मार्गोऽदर्शि दृष्टोऽभूत् ।

भावार्थ—(एषां माघोनं महि, आविरभूत्) इन सूर्य रश्मियोंका सूर्य-सम्बन्धि महत्त्व अर्थात् तेज प्रकट हुआ (विश्वं जीवं तमसो निरमोचि) सकल जीवसंसारको अन्धकारसे छुड़ाया (पितृभिर्दत्तं महि ज्योतिरुदगात्) एवं रश्मियों द्वारा दिया हुआ सूर्यका प्रकाश प्रकट हुआ (दक्षिणाया उरुः पन्थाऽदर्शि) त्याग का बड़ा मार्ग दिखलाई पड़ा ॥

शिक्षा—सूर्यका स्वतःप्रकाश रश्मियों द्वारा जब प्रकट होता है तो सकल जीवसंसार अन्धकारसे छूट जाता है। यह एक प्रकाशका दान मनुष्योंके लिये त्यागका मार्ग दिखलाता है ॥

इस मन्त्रमें सूर्यरश्मियोंके लिये पितर शब्द है। इनका कार्य सूर्यप्रकाश को सब जीवों तक पहुँचा कर अन्धकारसे छुड़ाना है ॥

अवन्तु मामुषसो जायमाना अवन्तु मा सिन्धवः पिन्वमानाः ।
अवन्तु मा पर्वतासो ध्रुवासोऽवन्तु मा पितरो देवहूतौ ॥

ऋ० ६ । ५२ । ४

(जायमाना उषसो मामवन्तु) उत्पद्यमाना उषोवेला मां रक्षन्तु (पिन्वमानाः सिन्धवो मामवन्तु) सिञ्चन्त्यो नद्यो मां रक्षन्तु । 'पिवि सेवने सेचने च' "सिन्धु-नदीनाम" (नि० १ । १३) (ध्रुवासः पर्वतासो मामवन्तु) स्थिराः शैला मां रक्षन्तु (देवहूतौ पितरो मामवन्तु) देवानामग्न्यादीनां हूतौ हूत्यै निवेशाय 'निमित्तसप्तमी' पितरो रश्मयो मां रक्षन्तु । अत्र मूर्तिमत्प्रकरणात्सहचाराद्वा पितृशब्दो न मृतजनार्थः कश्चिद् ग्रहीतुं शक्यः ॥

भावार्थ—(जायमाना उषसो मामवन्तु) प्रति दिन उदय होने वाली उषाएं मेरी रक्षा करें (पिन्वमानाः सिन्धवो मामवन्तु) जल सींचन करती हुवी नदियां मेरी रक्षा करें (ध्रुवासः पर्वतासो मामवन्तु) स्थिर हुवे पहाड़ मेरी रक्षा करें (देव-

हूतो पितरो मामवन्तु) अग्नि आदि पदार्थोंकी स्थापनाके लिए सूर्य रश्मियां मेरी रक्षा करें ॥

शिक्षा—वस्तुविज्ञान द्वारा मनुष्यको प्रातः कालकी उषाओं, नदियों, पर्वतों और सूर्यकिरणोंसे अनेक लाभदायक उपयोग लेने चाहिये ॥

इस मंत्रमें भौतिक वस्तुओंका वर्णन होने से पितर शब्दका अर्थ सूर्य रश्मियां हैं। जिनका कार्य अग्नि आदि द्योतमान तथा दिव्यगुण पदार्थोंकी स्थिरता करनी है ॥

अभिश्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन् ।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः ॥
ऋ० १० । ६८ । ११, अथ० २० । १६ । ११

(कृशनेभिः श्यावमश्वं न पितरो नक्षत्रेभिर्द्यामभिपिंशन्) कृशनेभिः कृशनैर्हिरण्यैः सुवर्णभूषणैः श्यावं कृष्णमश्वं न यथा जना भूषयन्ति तथा पितरः सूर्यरश्मयो नक्षत्रेभिर्नक्षत्रैर्द्यां द्युलोकमभिपिंशन्नभिरूपयन्ति । यावन्ति प्रकाशमानानि नक्षत्राणि दृश्यन्ते तानि सूर्यरश्मिभिः प्रकाश्यन्त इति ज्यौतिषसिद्धान्तो ज्ञाप्यते (रात्र्यां तमोऽदधुरहन् ज्योतिः) रात्रौ तमोऽन्धकारमदधुः स्थापितवन्तोऽहन् दिने ज्योतिः स्थापितवन्तः (बृहस्पतिरद्रिं भिनद्गाविदत्) बृहस्पतिः सूर्योऽद्रिं मेघं भिनद् भित्तवान् तदा च गा निजरश्मीन् प्राप्तवान् ॥

भाषार्थ—(कृशनेभिः श्यामवश्वं न पितरो नक्षत्रेभिर्द्यामभिपिंशन्) सुवर्ण भूषणोंसे काले घोड़े को जैसे लोग सजाते हैं एवं सूर्यरश्मियां नक्षत्रोंसे द्युलोकको शोभायमान करती हैं अर्थात् जितने भी प्रकाशमान नक्षत्र दिखाई पड़ते हैं वे सब सूर्यरश्मियोंसे प्रकाशित होते हैं यह एक ज्योतिषूसिद्धान्त है (रात्र्यां तमोऽदधुरहन् ज्योतिः) वे रश्मियां रात्रिमें अन्धकारको स्थापित करती हैं और दिनमें प्रकाशको (बृहस्पतिरद्रिं भिनद्गाविदन्) सूर्य मेघको छिन्न भिन्न करके स्वरश्मियों से प्रकाशमान होता है ॥

शिक्षा—आकाशके अन्दर जितने प्रकाशवाले नक्षत्रादि दीखते हैं, वे सब सूर्यरश्मियोंसे प्रकाशित हैं। रश्मियोंके अवर्तमानसे रात्रिमें अन्धकार और प्रकाशसे दिन प्रकट होता है ॥

इस मन्त्रमें सूर्यरश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है। इनका कार्य नक्षत्र तारागणको प्रकाश देना और दिनको प्रकाशित करना है ॥

परिणाम— इस प्रकरणमें ७ वस्तुओंके अर्थमें पितर शब्द आया है जिनमें—

(१) माता पितादि कुटुम्बी जन हैं जिनका कार्य होम द्वारा धर्मानुष्ठान, निज सम्पत्तिका सन्तानके प्रति समर्पण, स्वजीवन उपयोगी अनुभवों का सन्तानको उपदेश देना है।

(२) शिक्षकादि ज्ञानी जन हैं जिनका कार्य ब्रह्मचारियोंको विद्यालयमें या अपने पास रखकर विद्याप्राप्ति कराके मनोविकास करना तथा अन्य लोगोंको भी सभा या सम्मेलनमें उपदेश करके उल्टे मार्ग से हटाना, ब्रह्मसंगतिसे आत्मविकास कराना है।

(३) सैनिक जन हैं जिनका कार्य शत्रुसेनासे युद्ध करना, उनको मारना तथा पापियोंको परास्त करना और मृत्युदण्ड भी देना है।

(४) पालकजन हैं जिनका कार्य मानव समाजको रक्षा तथा प्रजाकी आवश्यकताएं पूरी करना है।

(५) सूर्य किरणें हैं उनका कार्य प्राणीमात्रके गर्भको पुष्ट करना और बाहर निकालना, जीवनका विकास करना, अन्धकार हटाना, मेघ बनाना, वृष्टि करना, पृथिवीको विविध गुणोंसे युक्त करना, नक्षत्र तारागण और दिनका प्रकाश करना है।

(६) प्राण हैं जिनका कार्य जीवात्माको गर्भ में धारण करना है।

(७) ऋतुएं हैं उनका कार्य जीवात्माको गर्भमें पहुँचाना, धारण करना, मानवीय भावनाओं-वाणीव्यापार-शारीरिकक्रिया पर प्रभाव डालना और मनोविकास करना, उत्पन्न होने वाले पदार्थों को रक्षा करना तथा वृष्टिके लिये ऋतुक्रम विज्ञानका परिचय है।

पितरों के प्रति कर्तव्य

इस प्रकरणमें वे मन्त्र होंगे जिनमें पितरोंके प्रति कर्तव्यों का निर्देश है।

यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम्।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥ अथ० १४ । २ । २०

(यदेयं वधूः पूर्वं गार्हपत्यमग्निमसपर्य्यैत्) यदैषा वधूर्नवविवाहिता पूर्वं प्रथमं गार्हपत्यं गृहस्थसम्बन्धिनमग्निमसपर्यैत् प्राप्ता भवेत् (अधा नारि सरस्वत्यै पितृभ्यश्च नमस्कुरु) अथानन्तरं तदा सा वधूरेवं वरेणाज्ञापनीया यद् हे नारि! त्वं

सरस्वत्यै–आज्ञारूपायै मे वाण्यै तथा मम पितृभ्यश्च नमस्कुरु स्वागतं कुरु। न कदाचिद्विरुद्धा स्याः ॥

भावार्थ—(यदेयं वधूः पूर्वं गार्हपत्यमग्निमसपर्य्यैत्) जब यह नवविवाहिता वधू प्रथमवार ही गार्हपत्य अग्निको प्राप्त होवे अर्थात् पतिके घरमें जावे (अधा नारि सरस्वत्यै पितृभ्यश्च नमस्कुरु) तब वरकी ओरसे उसको आदेश किया जावे कि हे पत्नि ! तू आज्ञारूप मेरी वाणीके लिए तथा मेरे माता पिता आदि कुटुम्बी जनोंके लिए स्वागत कर। कभी विरुद्ध न हो ॥

शिक्षा—जिस समय नव-विवाहिता स्त्री घरमें आवे तो उसके पतिकी ओर से शिष्टाचार सम्बन्धी बातोंका आदेश करना चाहिये। जिससे कि वह उसके लिये तथा उसकी माता पिता आदिके लिये यथावत् वर्ताव कर सके।

इस मंत्रमें पितर शब्द कुटुम्बी जनोंके अर्थमें आया है। और उनके लिये पुत्र वधूकी ओरसे आदर करनेका आदेश है ॥

पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः।
स्वधां पितृभ्य अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥

अथ० १८। ४। ३९

इस मन्त्रमें पितर शब्द माता पिता आदि पूर्वज कुटुम्बी जनोंके अर्थमें आया है, और गोधूम आदि ओषधिरस उनके पोषणके लिये भी हैं और पुत्र पौत्रादि के लिये भी, ऐसा वर्णन है, विवरणके लिये देखो सूक्त० १८। ४। ३६ (२०६)

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधाः स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ यजु० २। ३४

(ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतं स्वधाः स्थ) ऊर्जं रसं वहन्तीः प्रापयन्त्य आपोऽमृतं सर्वरोगहरं मिष्टादिकं वस्तु घृतं पयो दुग्धं कीलालमन्नम्, "कीलालमन्ननाम" (नि० २। ७) परिस्रुतं परिपक्वं फलम्। इत्येवं यूयं स्वधाः स्थ स्वधानामभिवक्तव्याः स्थ, यतो हि मे पितॄन् तर्पयतोपहारदानेन मम पालकजनान् प्रसादयत। अथवा घृतादिसहिताः शुद्धा आपः स्वधावाच्याः सन्तीति विज्ञेयम् ॥

भावार्थ—(ऊर्जम्) रसको (वहन्तीः) प्राप्त कराते हुए जल (अमृतम्) सर्वरोगोंको हरनेवाली मिष्टादि वस्तु (घृतम्) घी (पयः) दूध (कीलालम्) अन्न (परिस्रुतम्) परिपक्वफल ये सब पदार्थ मिलकर (स्वधाः स्थ) स्वधा नामसे कहे

जाने वाले हो या हैं। (पितॄन् मे तर्पयत) मेरे पालकजनों को तृप्त करो, या तृप्त करते हैं ॥

शिक्षा—पूजनीय माता पिता आदि वृद्ध जनों और गुरु आदि विद्वान् महानुभावोंकी सेवा जल तथा विविध रसीले पदार्थों मिष्टादि वस्तु घी, दूध, अन्न और फलोंके उपहारद्वारा करनी चाहिये ॥

इस मन्त्रमें कुटुम्बीजनों और गुरु आदि विद्वान् महानुभावोंके लिये पितर शब्द आया है और उनके लिये उत्तमोत्तम भोजनोंका प्रदान करना इष्ट है। यहां जलतर्पणका कोई प्रसङ्ग नहीं है, और न ही मन्त्रमें इसका लेश है, किन्तु घृतादि छः पदार्थों का स्पष्ट नाम लिखा है, जो कि मनुष्य जीवनके लिये उपयोगी पदार्थ हैं अत एव इनके द्वारा पूज्य पालकजनोंकी सेवा करने का उपदेश है ॥

यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः ।
संदेश्यात् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥
अथर्व० १० । १ । ११

(यज्ञे वा पितृभ्यो ददतस्ते यन्नाम जगृहुः) यज्ञे पितृयज्ञे वृद्धजनानां सेवाकर्मणि वा पितृभ्यो वृद्धपालकजनेभ्यो ददतोऽन्नादि समर्पयतस्तव यन्नाम प्रशंसापूर्वकं यशोरूपं जगृहुस्ते पितरो गृहीतवन्तः प्रकाशितवन्तः (सन्देश्यात्सर्वस्मात्पापादिमा ओषधीस्त्वा मुञ्चन्तु) अतस्त्वां संदेश्याद्धक्तुं योग्यात् स्पष्टाद् व्यक्तात् सर्वस्मात् पापाद्रोगादिमा मया चिकित्सकेन दीयमाना ओषधीरोषधयो मुञ्चन्तु ॥

भाषार्थ—(यज्ञे वा पितृभ्यो ददतस्ते यन्नाम जगृहुः) पितृयज्ञमें वृद्ध पालक जनों की सेवाके निमित्त अन्नादि पदार्थको समर्पण करते हुवे तुझ सेवकका नाम प्रशंसापूर्वक यशके साथ उक्त पालक जनोंने जब कहीं प्रसंगमें प्रकाशित किया है (सन्देश्यात्सर्वस्मात् पापादिमा ओषधीस्त्वा मुञ्चन्तु) अत एव तुझको प्रसिद्ध हुवे सर्व-पाप अर्थात् रोगसे मुझ चिकित्सक द्वारा दी हुई ओषधियां छुड़ा देवें ॥

शिक्षा—पालक वृद्ध जनोंके लिये जो उत्तमोत्तम अन्नादि ओषधियोंका दान करता है उसका वे महानुभाव प्रशंसापूर्वक यशोगान करते हैं। और उसका नाम प्रसिद्ध करते हैं अत एव वे दानकी ओषधियां उसको पापसे अथवा किसी चिकित्सक द्वारा दी हुई रोगसे छुड़ाती हैं।

इस मंत्रमें कुटुम्बीवृद्ध तथा ज्ञानीपालक जनोंके अर्थमें पितर शब्द आया

है। उनके लिये नानाविध भोजनोंका दान तथा दाताका प्रशंसापूर्वक नाम प्रसिद्ध करनेका वर्णन है॥

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त। पितरः पितरः शुन्धध्वम्॥ यजु० १९। ३६॥

(स्वधायिभ्यः पितृभ्यः स्वधा नमः) ये स्वधामुदकमन्नं वैतुं प्राप्तुं शीलास्तेभ्यः "स्वधेत्युदकनाम" (नि० १। १२) "स्वधेत्यन्ननाम" (नि० २। ७) पितृभ्यः पालकेभ्यो जनकाध्यापकादिभ्यः स्वधाऽन्नं नमः सत्करणमस्तु (स्वधायिभ्यः पितामहेभ्यः स्वधा नमः) अन्नाद्याप्तुं शीलेभ्यः पितृणां पितृभ्योऽन्नं सत्करणमस्तु (स्वधायिभ्यः प्रपितामहेभ्यः स्वधा नमः) अन्नाद्याप्तुं शीलेभ्यः पितामहानां पितृभ्योऽन्नं सत्कारश्चास्तु (पितरोऽक्षन्नमीमदन्त) पितरो ज्ञानिनोऽक्षन्नदन्तु-अत्त। 'पुरुष लकारव्यत्ययौ' अमीमदन्तास्मान् हर्षयत (पितरोऽतीतृपन्त) पितरोऽतिशयेन तर्पयत (पितरः पितरः शुन्धध्वम्) ये सर्वे पितरस्ते यूयं पवित्री कुरुत। इति दयानन्दः॥

स्पष्टीकरणम्—(स्वधायिभ्यः पितृभ्यः स्वधा नमः) स्वधायिभ्यः स्वं स्वकीयं कृतकर्मण उपहारभागं धातुं धारयितुं सेवितुं व्रतं येषां तेभ्यः। "व्रते" (अष्टा० ३। २। ८०) इति णिनिप्रत्ययस्तद्वच्च स्वरः। ते च द्विविधाः पितरो योनिसम्बन्धेनैके जनकादयो विद्यासम्बन्धेनापरे गुर्वादयस्तेभ्यः पितृभ्योऽन्नविद्यादिदानैः पालकेभ्यः स्वधाऽन्नं पक्वान्नमथ नमश्च। यथासम्भवं फलादिदानरूपसत्कारोऽस्तु। इति विशेषः॥

भाषार्थ—(स्वधायिभ्यः पितृभ्यः स्वधा नमः) जल या अन्न प्राप्त करने का शील जिनका है ऐसे उन पालक जनों जनकाध्यापक आदिकोंके लिये अन्न और सत्कार हो (स्वधायिभ्यः पितामहेभ्यः स्वधा नमः) अन्नादि प्राप्तिशील पालकोंके भी पालकोंके लिये अन्न और सत्कार हो (स्वधायिभ्यः प्रपितामहेभ्यः स्वधा नमः) अन्नादि प्राप्तिशील पितामहोंके पालकोंके लिये अन्न और सत्कार हो (पितरोऽक्षन्नमीमदन्त) हे ज्ञानी जनो! हमको प्रसन्न करो अतएव (पितरोऽतीतृपन्त) हे पालकजनो! अतिशय करके तृप्त करो (पितरः पितरः शुन्धध्वम्) तुम सभी पालक महानुभावो पवित्र करो॥

स्वकीय कृतकर्म का उपहार भाग धारण करने का व्रत या धर्म जिनका हो वे-महानुभाव स्वधायी कहलाते हैं। अर्थात् जो बिना किसीका उपकार किये दूसरे का

मुफ्त माल न खाते हों। वे दो प्रकारके पितर होते हैं एक योनिसम्बन्ध से जनकादि और दूसरे विद्यासम्बन्ध से गुरु आदि। सो वे दोनों प्रकारके पितर हमारा अन्न और विद्यादानसे पालन करते हैं। उनका प्रत्युपकार हमको पक्वान्न फलादिसे यथासम्भव सेवा सत्कारसे करना चाहिये ॥

शिक्षा—जिन महानुभावोने हमको उत्पन्न करके प्रत्येक प्रकारसे पाला तथा जिन्होंने विद्योपदेशसे मानवीय जीवनका सुखप्राप्त कराया उन पालक महानुभावोंकी सदा उत्तम अन्न और सत्कारादिसे सेवा करनी चाहिये जिससे वे महानुभाव भी हमको अपने आशीर्वादों और अनुभवोंसे हितचिन्तन कर सकेंगे ॥

इस मन्त्रमें माता पिता आदि कुटुम्बी जन और गुरु आदि ज्ञानीजन के अर्थमें पितर शब्द आया है। और इनका कार्य हमारा हित चिन्तन करना और अच्छे मार्ग पर डालना तथा हमारा कर्तव्य उनके प्रति उनकी अन्नादिसे सेवा करना है ॥

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्यहं कल्पयामि।
स्वधा पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥

अथ० १२।२।३२

(तावेतावहं हविषा व्याकरोमि ब्रह्मणा व्यकल्पयामि) तावेतौ देवयज्ञं ब्रह्मयज्ञं च हविषा व्याकरोमि सम्पादयामि ब्रह्मणा ब्रह्मध्यानेन वेदेन वा व्यकल्पयामि समनुतिष्ठामि (पितृभ्योऽजरां स्वधां कृणोमि) पितृभ्यः पितृयज्ञेन पितृभ्योऽजरां स्थिरां स्वधामुपहारभक्तिं कृणोमि सम्पादयामि (इमान् दीर्घेणायुषा संसृजामि) स्वधां दत्त्वा इमान् पितॄन् दीर्घेणायुषाऽधिकजीवनकालेन संसृजामि संयोजयामि ॥

भावार्थ—(तावेतावहं हविषा व्याकरोमि ब्रह्मणा व्यकल्पयामि) इन देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ को मैं आहुतिद्वारा सम्पादन करता हूँ तथा ब्रह्मध्यान या वेदाध्ययनसे अपने जीवनके अन्दर घटाता हूँ। तथा (पितृभ्योऽजरां स्वधां कृणोमि) पितृयज्ञसे पितर महानुभावों माता पिता और गुरुजनोंके लिये जीवननिर्वाहक स्थिरोपहार अर्थात् स्थायी आजीविका निश्चित करता हूँ और उस स्थिर आजीविकाद्वारा (इमान् दीर्घेणायुषा संसृजामि) इन पूर्वोक्त पालक महानुभावोंको अधिक जीवन के लिये सब साधनोंसे युक्त करता हूँ ॥

शिक्षा—प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह ब्रह्मध्यान और वेदाध्ययनसे ब्रह्म-

यज्ञ तथा अग्निमें होमकर देवयज्ञ और उत्तम अन्नादिसे अपने मातापिता आदि कुटुम्बी जनों और गुरु आदि महानुभावोंकी स्थिर आजीविकाका प्रबन्ध करके पितृयज्ञका सेवन करे ॥

इस मन्त्रमें पितृशब्द माता पिता आदि कुटुम्बीजनों और गुरु आदि महानुभावोंके लिये आया है । उनके लिये स्थिर आजीविकारूप कर्तव्यका विधान है ॥

अग्ने वाजजित् वाजन्त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं सम्मार्ज्मि ।
नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः सुयमे मे भूयास्तम् ॥
यजु० २ । ७

(अग्ने वाजजिद् वाजजितं त्वा वाजं सरिष्यन्तं सम्मार्ज्मि) अग्ने हे अग्ने ! वाजजिद् वाजमन्नं जयति सुपाकेन सूक्ष्मीकरणेन वा स सम्बुद्धौ । "वाज इत्यन्ननाम" (नि० २ । ७) वाजजितं त्वां वाजमन्नं सरिष्यन्तं प्राप्नुवन्तं पाकेन हवनेन च परिणमयन्तं सम्मार्ज्मि संशोधयामि समलङ्करोमि संसाधयामित्यर्थः । यत् (देवेभ्यो नमः पितृभ्यः स्वधा) वाजश्च देवेभ्योऽग्न्यादिभ्यो विद्वद्भ्यश्च नमः स्वागतं नम्रीभूतं वा सूक्ष्मं भवतु पितृभ्यः स्वधोपहारः सूपाकोऽस्तु (सुयमे मे भूयास्तम्) तेऽन्नपरिणामे नमःस्वधारूपे मे मह्यं सुयमे सुधर्मे भूयास्तं भूयास्ताम् ॥

भाषार्थ—(अग्ने वाजजिद् वाजजितं त्वा वाजं सरिष्यन्तं सम्मार्ज्मि) हे अग्ने ! तू अन्नको सुपाकसे सूक्ष्म करने वाली तथा अन्न प्रभावक, अन्न का पाक अथवा होमसे परिणाम करने वाली है अतः मैं तुझको सिद्ध करता हूँ (देवेभ्यो नमः पितृभ्यः स्वधा) अग्नि आदि तथा विद्वानोंके लिये वह अन्न स्वागतरूप और कुटुम्बी जनोंके लिये उपहाररूप हो (सुयमे मे भूयास्तम्) वे अन्न और परिणाम दोनों नमः और स्वधा लाभदायक हों ॥

शिक्षा—अग्नि अन्नका पाक तथा होम द्वारा परिणाम करती है । वह परिणाम होमरूपमें भौतिक दिव्य पदार्थों और विद्वानोंके सत्कारका निमित्त तथा पाक रूपमें पालक जनों का उपहार बनता है ॥

इस मन्त्रमें पालक जनोंके अर्थमें पितर शब्द आया है । उनके लिये पकान्न का उपहार करने का विधान है ॥

यत्र शूरासस्तन्वो वितन्वते प्रिया शर्म पितृणाम् ।
अधास्मा यच्छ तन्वे तने च छर्दिरचित्तं यावय द्वेषः ॥ ऋ० ६।४६।१२

(यत्र शूरासस्तन्वो वितन्वते) यत्र युद्धे शूरासस्तन्वो निजशरीराणि वितन्वते युद्धार्थं सज्जीकुर्वन्ति युद्धवेशेन शोभयन्ति (पितॄणां प्रिया शर्म) पितॄणां मुख्यसैनिकानां प्रिया सुन्दराणि शर्म शर्माणि गृहाणि मण्डलानि शिविराणि वितन्वते सज्जीकुर्वन्ति (अधास्मा तने तन्वे च छर्दिर्यच्छ) अधानन्तरं तेषां तने तन्यमाने मण्डले मण्डलनिमित्ते 'निमित्तसप्तमी' तन्वे शरीराय च छर्दिर्युद्धक्षेत्रं यच्छ देहि (द्वेषोऽचित्तं यावय) द्वेषः शत्रून् प्रत्यचित्तं मूढत्वं यावय प्रापय ॥

भावार्थ—(यत्र शूरासस्तन्वो वितन्वते) जिस युद्धमें शूरवीर जन अपने शरीरोंको युद्धार्थ शस्त्रास्त्रादिधारणसे सुशोभित करते हैं (पितॄणां प्रिया शर्म) और अपने मुख्य सैनिकोंके मण्डलों छावनियोंको भी यथोचित शस्त्रास्त्रादिसे युद्धार्थ अलङ्कृत करते हैं (अधास्म तने तन्वे च छर्दिर्यच्छ) अनन्तर उनके तन्यमान मण्डल और शरीरके लिये युद्धक्षेत्रको दे (द्वेषोऽचित्तं यावय) इस प्रकार साधनसम्पत्तिके अनन्तर शत्रुओं के प्रति युद्धमें घबराहटको पैदा कर ॥

शिक्षा—संग्राममें वीर राजा या सेनापति शत्रुओंको घबरा देने और उन पर विजय प्राप्त करनेके लिये अपने सैनिकोंको शस्त्रास्त्रादिसे सुसज्जित करता है और छावनियोंको भी शस्त्रास्त्रादिसे सुसज्जित करता है पुनः युद्ध क्षेत्रके लिये आज्ञा देता है ॥

इस मंत्रमें सैनिक जनोंके लिये पितर शब्द आया है। और उनके लिये सेना मण्डल या छावनी बनानेका आदेश है ॥

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः ।

दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति ॥ अथ० १२ । ४ । ३२

(राजन्यः पितृभ्यः स्वधाकारेण देवताभ्यो यज्ञेन दानेन वशाया मातुर्हेडं न गच्छति) राजन्यः क्षत्रियो भूपतिः पितृभ्यः सैनिकेभ्यः स्वधाकारेण वेतनोपहारदानेन देवताभ्यो विद्वद्भ्यो यज्ञेन दक्षिणायुक्तेन सम्मेलनेन विद्याप्रचारेण वेत्येवं दानेन वशायाः स्वायत्ताया मातुः पृथिव्या हेडं क्रोधं दौरवस्थिकं दुर्भिक्षादिकं न गच्छति न प्राप्नोति "हेडः क्रोधनाम" (निरु० २ । १३) ॥

भावार्थ—(राजन्यः पितृभ्यः स्वधाकारेण) राज्याधिकारी भूपति सैनिकलोगोंके लिये वेतनोपहार देने से (देवताभ्यो यज्ञेन दानेन) विद्वानोंके लिये दक्षिणा युक्त यज्ञसे, सम्मेलनसे तथा विद्याप्रचारार्थ दानसे (वशाया मातुर्हेडं न गच्छति) स्ववश स्वाधीन पृथिवीके द्वारा दुरवस्थासम्बन्धी दुःख दुर्भिक्ष और दुर्मरणादि राष्ट्रिय उपद्रवको प्राप्त नहीं होता है ॥

शिक्षा—राष्ट्रपतिको आवश्यक है कि दुर्भिक्ष और दुर्मरण आदि उपद्रव से राष्ट्रको बचानेके लिये वेतनवृत्ति देकर नाना-विध प्रबन्ध और रक्षा करने वाले सैनिकोंका और यज्ञों तथा विद्या क्षेत्रोंके प्रबन्ध और प्रचारसे विद्वानोंका सत्कार करे ॥

इस मंत्रमें पितर शब्द सैनिकोंके लिये आया है। और उनका कार्य राष्ट्र-रक्षण तथा राष्ट्रको सब प्रकारके उपद्रवोंसे बचाना और उनके लिये वेतनोपहार देने का विधान है ॥

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति ।
उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधे स्मा अरिष्टतातये ॥

अथ० ५ । ३० । १२

(यमाय नमः) यमाय यमनशीलाय वायवे नमो यज्ञः स्वनुष्ठानकर्म (मृत्यवे नमः) मृत्यवे मारकाय प्रकुपिताय वायवे नमो यज्ञः स्वनुष्ठितं कर्म (पितृभ्य उत ये नयन्ति) पितृभ्यः प्राणेभ्य उतापि ये शरीरं नयन्ति (अस्मा अरिष्टतातये) अस्मै रोगिणेऽरिष्टितातयेऽरोग्यत्वाय (उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरोदधे) उत्पारण-स्योत्पूरयितव्यमन्तःकोष्ठम् 'द्वितीयार्थे षष्ठी' यो वेद लभते तमग्निं जठराग्निं पुरोदधे पूर्वं स्थापयामि ॥

भावार्थ—(यमाय नमः) यमनशील वायुके लिये यज्ञ या अनुष्ठान कर्म (मृत्यवे नमः) मारक प्रकुपित वायुके लिये यज्ञ या अनुष्ठानकर्म (पितृभ्य उत ये नयन्ति) प्राणोंके लिये भी उक्त यज्ञ या अनुष्ठानकर्म हो जो शरीरको चलाते हैं (अस्मा अरिष्टतातये) इस रोगीके लिये आरोग्यता सम्पादनार्थ (य उत्पारणस्य वेद तमग्निं पुरोदधे) जो पूर्ण करने योग्य अन्तःकोष्ठ को प्राप्त हुई जाठराग्नि है उसको प्रथम स्थापित करता हूँ ॥

शिक्षा—रोगीके स्वास्थ्यसम्पादनके वास्ते दोषोंका प्रशमन और जीवनप्रद वायुके धारणार्थ प्राणशक्तिके सञ्चारार्थ सबसे प्रथम चिकित्सकको कोष्ठाग्नि व्यव-स्थित करनेके लिये औषधाद्युपचार करना चाहिये ॥

इस मंत्रमें जीवननायक प्राणोंके लिये पितर शब्द आया है और उनके उपयुक्त करनेके लिये यज्ञ का विधान है ॥

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सु वृजनासु विक्षु ॥

ऋ० १० । १५ । २, यजु० १९ । ६८

इस मन्त्रमें पितर शब्दका अर्थ पूर्व पश्चिम ध्रुवा तथा ऊर्ध्वा दिशाको प्राप्त होने वाली सूर्यकिरणोंका है और उनके उपयोगी बनानेके वास्ते यज्ञका विधान है। विवरणके लिये देखो सू० अथ० १० । १५ । २ (पृष्ठ ४२) ॥

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये ।

तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥ यजु० १९ । ४५

(ये समनसः समानाः पितरो यमराज्ये) ये समानविज्ञाना अत एव समानाः पितरः प्रजापालका यमराज्ये यमस्य सभाधीशस्य राज्ये राष्ट्रे सन्ति (तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञश्च देवेषु कल्पताम्) तेषां पितॄणां लोकः सभादर्शनं स्वधाऽन्नं नमः सत्करणं च यज्ञः सङ्गन्तव्यो न्यायो देवेषु विद्वत्सु कल्पतां समर्थितोऽस्तु। इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(ये समनसः समानाः पितरो यमराज्ये) जो समानविज्ञान वाले एक जैसे प्रजापालक न्यायाधीशके राष्ट्रमें राजपुरुष हैं (तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञेषु कल्पताम्) उन ऐसे पालक राजसभासदोंका सभादर्शन अन्न सत्कार और न्याय सफल तथा समर्थ हो ॥

शिक्षा—जिस राष्ट्रके अन्दर राष्ट्रपति या न्यायाधीशके साथ काम करने वाले राष्ट्रपालक सभासद परस्पर सहमत और विद्यायुक्त होते हुवे राष्ट्रको चलाते हैं वहींपर सभानियमन, अन्नादि पदार्थ, यथायोग्य सत्कार और न्याय, विद्वान् लोगोंका स्वीकार और राष्ट्रकी उन्नति होती है ॥

इस मन्त्रमें राजसभासदोंके लिये पितर शब्द आया है और यहां उनके कार्यों का वर्णन है जोकि यथावसर सभा करना, विद्वानोंका मान, राष्ट्रमें अन्नकी वृद्धि और न्याय है ॥

एतत्ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ अथ० १८ । ४ । ७५ ॥

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ अथ० १८ । ४ । ७६ ॥

-एतत् ते तत स्वधा ॥ अथ० १८ । ४ । ७७ ॥

इन मन्त्रोंमें प्रत्यक्षतः पितर शब्द नहीं है हां आगे चलकर—

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः ॥ अथ० १८ । ४ । ८५ ॥

इस मन्त्रमें अपने पिता, पितामह, प्रपितामह, तथा पालक, गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासी, अन्नदानी, दुग्धादि रसीली वस्तुका दानी, शासनकर्ता, नीतिज्ञ,

धनदण्डदाता, प्रहारदण्डदाता, आत्मज्ञानदाता, विद्यादानकर्ता इन सभीको पितर शब्द से कहा है। इनका यथायोग्य स्वागत करना मनुष्यका कर्तव्य वर्णन किया है विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ४ । ७१-८५ (पृष्ठ २२७-२८०)

त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितॄणां मर्त्यानाम्।
अंशान् जानीध्वं विभजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥
अथ० ११ । १ । ५ ॥

(देवानां पितॄणां मर्त्यानां वो यस्त्रेधा भागः पुरा निहितः) देवानां दिव्यधर्माणां पदार्थानां पितॄणां पालकधर्माणां पदार्थानां मर्त्यानां मरणधर्माणां पदार्थानां युष्माकं तेषाम् 'पुरुषव्यत्ययः' । यस्त्रेधा त्रिविधो भागोऽत्रजीवे पुरा पूर्वतः शाश्वतिकस्वभावतो नित्यरूपतो निहितः स्थितोऽस्ति (अंशान् जानीध्वम्) तत्र भागेंऽशान् निजनिजभागान् जानोध्वं हे जना यूयं स्वीकुरुत (तान् वो विभजामि) तान् युष्मदीयभागान् युष्मभ्यमहमीश्वरो विभजामि (यो देवानां स इमां पारयाति) यश्च भागो देवानां दिव्यधर्माणां भागोऽस्ति स इमाममृतदेवतां पारयाति समर्थयति ॥

भाषार्थ—(देवानां पितॄणां मर्त्यानां वो यस्त्रेधा भागः पुरा निहितः) देवों पितरों और मर्त्यों अर्थात् दिव्यगुणपदार्थों पालकधर्मियों और शीघ्र २ मरणधर्मियोंका भाग जीवके अन्दर पूर्वसे ही रखा है (अंशान् जानीध्वम्) इस भाग में अंशों को अपने २ अवयवोंको स्वीकार करो (तान् वो विभजामि) उन तुम्हारे भागों को मैं इस शरीरमें विभक्त करता हूँ (यो देवानां स इमान् पारयाति) जो दिव्यधर्मों का भाग है वह इस जोवरूप अमर देवताको समर्थ बनाता है ॥

शिक्षा—शरीरके अन्दर ईश्वरने तीन धर्मों वाले पदार्थोंके अंश रखे हैं। जिनमें एक दिव्यधर्मवाले दूसरे पालकधर्मवाले तीसरे बारम्बार नष्टहोने वाले हैं। इन तीनोंमें जो दिव्यधर्म वाले पदार्थ हैं वे इस जीवशक्तिको धारण करते हुए समर्थ बनाते हैं।

इस मन्त्रमें पालकधर्मी पदार्थों के लिये पितर शब्द आया है । उन सामष्टिक पालकधर्मी पदार्थों का अंश जीव शरीरके अन्दर पालनधर्मसे वर्तमान है ॥

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः ।
स नो नियच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् ॥
अथ० । ७ । ४१ । २

(नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः श्येनः) यो नृचक्षा नृणां दर्शयिता दिव्यो द्युलोके स्थितः सुपर्णः सुपतनः सहस्रपात्–असंख्यरश्मिधारासञ्चारी शतयोनिरसंख्यानां लोकानां योनिः सम्बन्धको वयोधाः प्राणधारयिता प्राणप्रेरकः "प्राणो वै वयः" (ऐ० १ । २८) "श्येन इन्द्रः सूर्यः" (नि० ११ । २) (स नो वसु नियच्छात्) स सूर्यो नोऽस्मभ्यं वसु वासयितव्यं तेजोधनं नियच्छाद् ददातु (यत् पितृषु स्वधावत्) यद्वसु पितृषु रश्मिषु स्वधावदुदकवदस्तीतिशेषः (अस्माकं पराभृतमस्तु) तदस्माकं पराभृतं सुपोषणनिमित्तमस्तु ॥

भावार्थ—(नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः) जो प्राणियोंको दृष्टिशक्ति देनेवाला द्युलोकस्थ प्रकाशस्वरूप (सहस्रपाच्छतयोनिः) असंख्य रश्मिधाराओंका सञ्चारक पृथिवी आदि असंख्य लोकोंको स्वप्रकाशसे सम्बन्ध करने वाला (वयोधा श्येनः) प्राणियों के प्राणका धारण करानेवाला सूर्य (स नो वसु नियच्छात्) वह हमारे लिये अपना तेजोरूप धन प्रदान करे (यत् पितृषु स्वधावत्) जो रश्मियों के अन्दर जलके साथ विद्यमान है (अस्माकं पराभृतमस्तु) वह हमारे लिये सुपोषणका निमित्त हो ॥

शिक्षा—आकाशके मध्य सूर्य असंख्य रश्मिधाराओंको फेंकता हुआ सब प्राणियोंके जीवनका हेतु बनता है। वह अपने सजल तेजको जोकि रश्मियोंके अन्दर वर्तमान है उसको हमारे लिये प्रदान करता है ॥

इस मन्त्रमें सूर्यरश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है और उनके अन्दर सजल तेज प्राणियोंके हितके लिये वर्तमान है ऐसा वर्णन है। उनके प्रति किसी कर्तव्यका विधान नहीं है ॥

पितॄणां भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ अथ० १० । ५ । १३

(पितॄणां भाग स्थ) इमा आपो जलानि पितॄणां रश्मीनां भागाः सन्ति । 'अत्र जडवस्तुसम्बन्धप्रकरणमुत्तरमन्त्रे "देवस्य सवितुर्भाग स्थ" इति च लिङ्गम् । प्रत्यक्षं च जलानि सूर्यरश्मय आकर्षन्ति तस्माद्वयं प्रार्थयामहे (अपां शुक्रं वर्चः) यदपां जलानां शुक्रं वीर्यं बलं वर्चश्च (देवीरस्मासु धत्त) हे आपो देव्योऽस्मासु धत्त धारयत (प्रजापतेर्वो धाम्ना अस्मै लोकाय सादये) प्रजापतेः परमेश्वरस्य धाम्ना धारकस्थानेनाहं निजशरीरेऽस्मै लोकाय पृथिवीलोकनिवासाय सादये स्थापयामि ॥

भावार्थ—(पितॄणां भाग स्थ) ये पृथिवीके जल सूर्यरश्मियोंके भाग हैं। क्योंकि वे इनको आकर्षण करती हैं। इस लिये हम प्रार्थना करते हैं कि (अपां शुक्रं

वर्चः) कि जो जलोंका बल और वेग है उसको (देवीरस्मासु धत्त) जल हमारे अन्दर धारण करावें (प्रजापतेर्वो धाम्ना अस्मै लोकाय सादये) प्रजापति परमेश्वर के धारक स्थानसे मैं अपने शरीरमें इस पृथिवीलोकके निवासार्थ स्थापित करता हूँ ॥

शिक्षा—पृथिवी से वाष्परूपमें उठकर जल सूर्यरश्मियोंका भाग बन जाता है और जो प्रजापति परमेश्वरके नियमित मेघमण्डल स्थानमें रहता है वह पुनः वृष्टि के द्वारा पृथिवी पर आकर प्राणियोंके जीवन धारणका हेतु बनता है ॥

इस मंत्रमें सूर्यरश्मियों के लिए पितर शब्द आया है। और वाष्पीभूत मेघ मण्डलस्थ जल उनका भाग अर्थात् उनके आश्रय रहने वाला जलांश है ॥

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥ अथर्व० १८ । ३ । ७२

इस मन्त्रमें सूर्य किरणोंके लिये पितर शब्द आया है, और उनसे ताडित होकर वृष्टिधाराका पृथिवी पर प्राप्त होना दर्शाया है। विवरण के लिये देखो सूक्त० १८ । ३ । ७२ (पृष्ठ १८०)

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ।
अथ० ८ । १३ । ५

तां स्वधां पितर उपजीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ।
अथ० १८ । १३ । ८

वक्तव्य—इन मन्त्रोंके अर्थ समझनेमें पूर्वापर मन्त्रोंका पाठ अपेक्षित है अतः प्रथम निम्नप्रदर्शित पूर्वके मन्त्रोंका पाठ करें—

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम् ।
यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्योमन् ॥
अथ० ८ । ९ । ८

विराड् वेदमग्र आसीत्० ॥ ८ । ११ । १

तथा प्रकृत मन्त्रोंसे अगले मन्त्र भी निम्नप्रदर्शित देखें—

सोदक्रामत् सा मनुष्यानागच्छत् तां मनुष्या उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ॥९॥
तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् ॥ १० ॥

तां पृथी वैन्योधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ॥ ११ ॥

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या उपजीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

सोदक्रामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति ॥

अथ० ८ । १४ । १३

इन मन्त्रोंके पाठसे पता चलता है कि वह विराट् जिनकी प्रकृत मन्त्रोंमें चर्चा है परमव्यापक भिन्न २ पदार्थों और प्राणियोंकी प्रकृति है जिसको स्वस्वानुकूल प्रकृति या आधारशक्ति मानकर उनकी ओरसे उसका आह्वान है। अत एव वही कारणरूपी विराट् उन उनको प्रकृतिके रूपमें परिवर्तित होगई और उसीका आह्वान प्रकृत मन्त्रोंमें पितरों अर्थात् ऋतुआदिकोंकी स्थापकप्रकृतिकी दशामें स्वधाके नामसे सम्बोधित की गई है। एवं इस विवेचनासे प्रकृत मन्त्रोंका निम्नार्थ है कि—

(सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत्) सा विराट् परमव्यापिका प्रकृतिरुदक्रामदग्रे कार्यं परिणमयितुं विस्तृताऽभूत् क्रमेण च पितॄन्-ऋतून् रश्मीन् प्राणान्, इत्येवमादीन् पितृवाचकान् पदार्थानागच्छत् प्राप्नोति (स्वधेऽहीति तां पितर उपाह्वयन्त) स्वधे-एहि-आगच्छेत्युक्त्वा पितर ऋत्वादय उपाह्वयन्त उपहूतवन्तः (पितरस्तां स्वधामुपजीवन्ति) ते पितर ऋत्वादयस्तां स्वधां स्वधेत्याख्यां कारणत्वेनाधारत्वेन वोपजीवन्त्याश्रयन्ति (उपजीवनीयो भवति य एवं वेद) य एवं वेत्ता भवति स उपजीवनीय आश्रयणीयः सर्वप्रकृतिपरिणामसाधको भवति ॥

भावार्थ—(सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत्) वह विराट्-नामक परमव्यापिका प्रकृति कार्यका परिणाम करनेके लिये आगे बढ़ी, क्रमसे ऋतुओं रश्मियों और प्राणोंको प्राप्त हुई (स्वधेहीति तां पितर उपाह्वयन्त) हे स्वधा तू आ, इस प्रकार ऋतुएं, रश्मियें और प्राण मानो आह्वान करते हैं (पितरस्तां स्वधामुपजीवन्ति) उक्त ऋतु आदिक उस स्वधाको निजकारणरूपमें प्राप्त करते हैं (उपजीवनोयोभवति य एवं वेद) वह इस प्रकार विज्ञपुरुष सब प्रकितियोंके परिणामोंका सिद्ध करने वाला होजाता है ॥

शिक्षा—जगत् का कारण प्रकृति परमव्यापिका संसारके सभी भिन्न भिन्न जातियोंके पदार्थोंमें मूलस्वरूपसे प्राप्त है और उनके परिणामका कारण है अतः परिणाम और परिणाममूलका ज्ञान करना आवश्यक है ॥

इस मन्त्रमें पालनधर्मसे वर्तमान ऋतु आदि सभी भौतिक वस्तुओंके अर्थमें पितर शब्द आया है, और उनकी मूल प्रकृति स्वधा नामसे है । जिसका वे परिणाम या कार्य हैं ॥

परिणाम—इस प्रकरणमें 'यज्ञ' के अनुष्ठानसे जीवननायक प्राणों और सूर्यरश्मिकोंको स्वानुकूल बनाना आदर और यथायोग्य स्वागत करके सभी मानवीय पितरोंका कृतज्ञ बनना छावनीनिवेश आदि बनाकर राष्ट्र पालक सैनिकोंको रखना। उत्तमोत्तम भोजनसे कुटुम्बी, गुरु, पालक तथा अन्य विद्वान् महानुभावोंकी सेवा करना । स्थिर जीविकासे माता पिता गुरु जन आदिकोंको निश्चिन्त कर देना । वेतन देकर राष्ट्र पालक सैनिक आदिके निर्वाहका प्रबन्ध करना आदि का वर्णन था ॥

पितर और यज्ञ

इस प्रकरणमें चेतन तथा जड़ सभी पितरोंका यज्ञमें व्यवहार दर्शाने वाले मन्त्रोंपर विचार होगा ।

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥

ऋ० १० । १५ । ५, यजु० १९ । ५७

इस मंत्रमें ज्ञानीजनोंके अर्थमें पितर शब्द आया है । उनको यज्ञमें यजमान की ओरसे निमंत्रणदेना तथा यज्ञमें सम्यग्यज्ञक्रिया करना, यजमानके आवश्यक प्रश्नोंका समाधान तथा उचित उपदेश देना एवं यज्ञका फल या दक्षिणाके प्राप्त करनेका सम्बन्ध प्रदर्शित किया है विवरणके लिए देखो सूक्त० ऋ० १० । १५ । ५ (पृष्ठ ४४)

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितरः केनचिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥

ऋ० १० । १५ । ६, यजु० १९ । ६२

किञ्चित् पाठ भेदसे अथर्व में—

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥

अथ० १८ । १ । ५२

इन मंत्रोंमें विद्वान् जनोंके अर्थ में पितर शब्द है और यज्ञके दक्षिण भाग

में बैठकर यज्ञका स्वीकार करना तथा यजमानकी ओरसे उनके प्रति शिष्टाचार सम्बन्धी हुए अज्ञात दोषों पर ध्यान न देने या क्षमा करनेकी चर्चा है विवरणकेलिये देखो सूक्त० १० । १५ । ६ (पृष्ठ ४१)

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् ।

अमीमदन्त पितरो यथाभागमा वृषायिषत ॥ यजु० २ । ३१

(अत्र पितरो यथा भागमावृषायध्वम्) सत्कारसंयुक्ते व्यवहारे स्थाने वा सद्विद्याशिक्षाभ्यां पालयितारो हे पितृजनाः ! यूयं भागानुसारं समन्ताद्वृषा इवानन्दसेक्तार आचरत । "कर्तुः क्यङ् सलोपश्चेति क्यङ्" (मादयध्वम्) अत एवास्मान् हर्षयध्वम् (पितरो यथाभागमावृषायिषत) विद्यादानेन रक्षका भागं भागं प्रति विद्याधर्मशिक्षाभ्यां हर्षकारका भवत । 'लोडर्थे लुङ्' (अमीमदन्त) आत्मनाऽमीमदन्त मोदयत विद्यां ज्ञापयत । इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(अत्र पितरो यथा भागमावृषायध्वम्) सत्कारसंयुक्तव्यवहार या स्थानमें उत्तमविद्या और शिक्षा से पालन करने वाले पितृजनों ! तुम भागानुसार अपने पितृधर्मरूप कर्तव्यानुसार हमारे प्रति आनन्दका सींचन करने वाले बनो (मादयध्वम्) इसलिये हमको आप हर्षित करो (पितरो यथा भागमावृषायिषत) विद्यादान द्वारा रक्षक होकर अपने २ कर्तव्यानुसार विद्या और धर्मकी शिक्षा से हर्षकारक बनो (अमीमदन्त) स्वात्मासे प्रसन्न होवो ॥

शिक्षा—सत्करणीय सम्मेलन और स्थानमें जो २ हमारे पूजनीय जनक और शिक्षक महानुभाव हैं वे सब यथासम्भव कर्तव्योंके साथ पूजाके पात्र हैं क्योंकि वे हमें यथासमय विद्यादि उपदेशसे कृतकृत्य करते हैं ॥

इस मन्त्रमें जनक और शिक्षक अर्थमें पितर शब्द आया है । उनसे यथोचित विद्या और शिक्षाका लाभ उठाना तथा यथावसर उनके सत्कार करने का वर्णन है और सङ्गतिकरणरूप सम्मेलन यहां यज्ञ है ॥

यद्वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत ।

ते अर्वाणः कवय आशृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥

अथ० १८ । ३ । १९

इस मन्त्रमें विद्वानोंके लिये पितर शब्द आया है । और यज्ञ या सम्मेलनमें निमन्त्रित करके उनसे उपदेश ग्रहण करना तथा उनकी प्रसन्नताके निमित्त

उत्तम और आवश्यक वस्तुप्रदान करने का वर्णन है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८।३।१६ (पृष्ठ १५८)

परायात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः।
अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ अथ० १८।३।१४

इस मन्त्रमें पितर शब्द प्राणोंके अर्थमें आया है और वे शरीर-यज्ञके अन्दर नानाप्रकारका बल जीवनरस और जीवनशक्तिका प्रदान करते हैं। विवरणके लिये देखो सू० १८।३।१४ (पृष्ठ १५४)

आपो अग्निं प्रहिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम्।
आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नियच्छान् ॥
अथ० १८।४।४०

इस मन्त्रमें प्राणोंके लिये पितृ-शब्द आया है। और जो जठराग्नि द्वारा प्रेरित हुवे रस रक्तादिको सञ्चारित करके शरीरधारणके उपयोगी बनाते हैं। एवं इन प्राणोंका शरीरयज्ञमें व्यवहार वर्णन है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८।४।४० (पृष्ठ २०७)

सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः।
तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः ॥
अ० १८।२।२९

इस मन्त्रमें प्राणोंके लिये पितर शब्द आया है। जो कि मनुष्योंके शरीरमें रहकर आयुका विस्तार करते हैं। विवरण के लिये देखो सूक्त० अथ० १६।२।२६ (पृष्ठ १३१)

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥
ऋ० १०।१५।११, यजु० १९।५८, अथ० १८।३।४४

इस मन्त्रमें सूर्यरश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है और वे यज्ञाग्निको सम्यक् प्राप्त होकर घर २ में यज्ञकी सुगन्धिसे बलवान् होकर प्रवेश करती हैं और शुद्ध पवनके प्रवेशसे बलको धारण कराती हैं। विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १०।१५।११ (पृष्ठ ४८)

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात॥
ऋ० १०।१५।७, यजु० १९।६३, अथ० १८।३।४३

इस मन्त्रमें सूर्यरश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है और जब कि वे प्रातःकालकी हों उनका यज्ञ करते हुए यजमान और यजमानकी सन्ततिके लिये बलको धारण कराती हैं यह वर्णन है। विवरणकेलिये देखो सूक्त० ऋ० १०। १५। ७ (पृष्ठ ४५)

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः॥ अथ १८।४।३६॥

इस मन्त्रमें माता पिता जनक महानुभावोंके लिये पितर शब्द आया है जोकि अपनी धारणशक्तियोंसे जीवके शरीर-प्राप्तिसम्बन्धी गर्भबीजको धारण करते हैं। एवं यहां उनको शरीरयज्ञके बीज को धारणकरने वाले कहा है। विवणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। ४। ३६ (पृष्ठ २०४)

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरो घ्नत सा मासि समभवत्॥
अथ० ८। १२। ३

तस्मात्पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्रपितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद॥ अथ० ८। १२। ४

(सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत्) सा विराट् सर्वत्र राजमाना कारणाख्या सत्वभूता कर्तव्यतया पितॄन् पालकवृद्धजनानागच्छत् प्राप्ता (तां पितरो घ्नत सा मासि समभवत्) तां पितरो घ्नन् प्राप्तवन्तः स्वपरिश्रमेण कर्तव्यपालनेन ताडितवन्तो वा सा मासि मासान्ते समभवत् प्रकटीभूता (तस्मात्पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति) तस्मात्कारणादेव पितृभ्यः पालकजनेभ्यः सैनिकादिभ्यः, उपमास्यं मासे भवमुपहारं निर्वाहरूपं पुरस्कारं प्रयच्छन्ति (य एवं वेद पितृयाणं पन्थां प्रजानाति) य एवं कर्तुं वेद स पितृनिर्वाहकं मार्गं प्रजानाति॥

भाषार्थ—(सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत्) वह सर्वत्र राजमान कारणाख्य सत्वभूत पितृशक्ति कर्तव्यतारूपसे पालकवृद्धजनोंको प्राप्त हुई (तां पितरो घ्नत सा मासि समभवत्) उसको पालक जनों ने प्राप्त किया अर्थात् निज परिश्रमरूप कर्तव्य पालनसे ताड़ित किया वह मासमें प्रकट हुई (तस्मात्पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति)

इसी कारणसे उन पालक सैनिकादिकोंके लिये मासके अन्तमें मासिक उपहार निर्वाहरूप पुरस्कार देते हैं (य एवं वेद पितृयाणं पन्थां प्रजानाति) जो इस प्रकार मासिक पुरस्कार देना जानता है वही पालकोंके निर्वाहक मार्गको जानता है ॥

शिक्षा—अपने जनक गुरुजनों और अन्य राष्ट्रपालकादि महानुभावोंके प्रत्युपकारार्थ मासिक पुरस्कार निर्वाहके लिये देना चाहिये यही उन महानुभावोंके लिये कृतज्ञता का प्रगट करना है ॥

इस मन्त्रमें जनक, ज्ञानी जन और सैनिकादि राष्ट्रपालकके लिये पितर शब्द आया है। और इनके लिये मासिक पुरस्कार या वेतन देनेका वर्णन है ॥

वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहितान् पराके ।
मेदसः कुल्या उपतान्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सं नमन्तां स्वाहा ॥

यजु० ३५ । २०

(जातवेदो यत्र पराक एतान् निहितान् वेत्थ) हे जातप्रज्ञान ! यत्र पराके दूरस्थाने, एतान् पितृन् निहितान् स्थितान् वेत्थ जानासि (पितभ्यो वपां वह) तेभ्यः पितृभ्यो जनकेभ्यो विद्याशिक्षादातृभ्यो वा ऋतुभ्यो वा वपां वपनयोग्यां भूमिं वह प्राप्नुहि (मेदसः कुल्यास्तानुपस्रवन्तु) स्निग्धा जलप्रवाहधारास्तान् जनान् ऋतून् वा प्राप्नुवन्तु (एषां सत्या आशिषः सन्नमन्ताम) एषां सत्सु साध्व्य आशिष इच्छा आशंसनीयाः क्रिया वा सम्यक् प्राप्नुवन्तु । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(जातवेदो यत्र पराक एतान् निहितान् वेत्थ) हे समझदार मनुष्य ! जिस दूर स्थानमें इन स्थित पितरोंको तू जानता है (पितृभ्यो वपां वह) उन विद्या शिक्षाके देने वाले अपने जनकादि महानुभावोंके लिये अथवा उत्तम अन्नादि सम्पादन कराने वाली ऋतुओंके लिये बोने योग्य भूमिको प्राप्त हो (मेदसः कुल्यास्तानुपस्रवन्तु) स्निग्ध जलप्रवाहकी धाराएं उन जनकादि महानुभावोंको या ऋतुओंको प्राप्त हों (एषां सत्या आशिषः सन्नमन्ताम्) इनकी यथार्थ इच्छाएं या आशंसनीय क्रियाएं भली प्रकार प्राप्त हों ॥

शिक्षा—बुद्धिमान् सन्तानको योग्य है कि वह दूरस्थ पिता आदि महानुभावोंका सदा यह ध्यान रक्खे कि जहां आश्रम आदिमें वे रहते हों उस भूमिको बोने योग्य तथा जलप्रवाहोंसे युक्त करके उनसे सच्चे आशीर्वादोंका पात्र बने। अथवा बुद्धिमान् भूमिहार (जमीन्दार) को चाहिये कि ऋतुओंके आनेसे पूर्व ही

भूमिको बोने योग्य बनादे और उसमें जल सींचकर वा जल धाराओंसे युक्त करके ऋतुओंसे होने वाले आशंसनीय पाक और फलोंको प्राप्त करे ॥

इस मन्त्रमें जनक महानुभावों तथा ऋतुओंके लिये पितर शब्द आया है और उनके लिये आश्रमभूमि अथवा कृषिभूमिको तय्यार करके आशीर्वादों और ऋतुफलोंके प्राप्त करनेका विधान है। यहां यज्ञका लेश भी नहीं है अन्य विद्वानों ने यज्ञके प्रकरणमें इस मन्त्रको रख कर मरे पितरों के लिये चर्बी पहुँचानेकी कल्पना की है जो ठीक नहीं है ॥

परायात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः ।
अधा मासि पुनरायात नो गृहान् सुप्रजसः सुवीराः ॥ अथ १०।४।६३

इस मन्त्रमें प्राणोंके लिये पितर शब्द आया है। और रक्तको शुद्ध बनाने के लिये तन्तुरूप शरीरमार्गों से सारे शरीरमें रक्तको भ्रमण कराते हुए फुप्फुस आदि मांसपिण्डमें ले जाते हैं। इस प्रकर बारम्बार रक्तप्रवाह का काम करते हैं। शरीरयज्ञमें उनका ऐसा यह व्यवहार है विवरण के लिए देखो सूक्त० अथ० १८। ४।६३ (पृष्ठ २२१)

येऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥ अथ० १८ । ४ । ६८

इस मन्त्रमें पितर शब्द प्राणोंके लिये आया है और उनको स्वकार्यमें संचरित करनेका प्रेरक चितिशक्ति या मन है। जो ६६ वें मन्त्रमें वर्णित है। उसीको इस मन्त्रमें बर्हि नामसे कहा है। यहां आसन देनेका कोई प्रसङ्ग नहीं जिसको किन्हीं महानुभावोंने अपने ग्रन्थमें दर्शाया है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। ४। ६८ (पृष्ठ २२४)

अपूपवान् मांसवाँश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे
ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ अथ० १८ । ४ । २०

इस मन्त्रमें पितर शब्द नहीं है और न ही पितरोंका यहां कोई प्रकरण है। न केवल इसी मन्त्रमें किन्तु इस अनुवाकके "आ रोहत जनित्रीं......" इस मन्त्रसे लेकर "अपूपवान् मांसवान्......" इस प्रकृत मन्त्र तक स्वतन्त्ररूपसे पितर शब्दका प्रयोग भी नहीं है फिर यहां पर पितरोंके लिये मांसवाले चरु की कल्पना करना अत्यन्त अनुचित और असङ्गत है जो कि अन्य विद्वानों ने की है। प्रत्युत यहां पर तो "लोककृतः" "पथिकृतः" वचनोंसे तीन अग्नियोंका प्रकरण चला आता

है जिनको प्रथम मन्त्रसे ही सम्बोधित किया हुआ है। "आरोहत जनित्रीं जातवेदसः" में जातवेदसः के नामसे तथा चतुर्थ मन्त्रमें "अयः सुपर्णाः" के नामसे कहा गया है और फिर "अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः। महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः ॥ ८ ॥ पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात्तपतु गार्हपत्यः। दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षात् दिशो दिशो अग्ने परि पाहि घोरात्" ॥ ९ ॥ इन मन्त्रोंमें पूर्वाग्नि (आहवनीय) गार्हपत्य और दक्षिणाग्निके नामसे वर्णन किया है इन तीनों अग्नियोंका उपयोग समष्टि रूप (सम्पूर्ण संसार) व्यष्टिरूप (शरीर) यज्ञ में होता है। प्रथम मन्त्रसे लेकर चौदहवें मन्त्र तक समष्टियज्ञमें उक्त तीन अग्नियोंका उपयोग था किन्तु "अग्निर्होताध्वर्युष्टे बृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिणतस्ते अस्तु हुतोयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम्" ॥ १५ ॥ इस मन्त्रसे शरीरयज्ञका प्रारम्भ होकर उक्त तीन अग्नियोंका उपयोग प्राणाग्नियोंके रूपमें स्थिर हो जाता है। शरीरके अन्दर उक्त तीनों अग्नियोंके वर्तमानमें अन्यत्र प्रमाण भी मिलते हैं—

"प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद् गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः" प्रश्नो० ४। ३ ॥

"शरीरमिति कस्मात्, अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते......मुखे आहवनीय उदरे गार्हपत्यो हृदि दक्षिणाग्निः" ॥ गर्भोप० ५ ॥

अतः शरीरयज्ञमें पूर्वोक्त प्राण अपान और व्यान रूप अग्नियां हैं जो कि मुख उदर और हृदयमें वर्तमान होकर शरीरके अन्दरके शुक्र, श्लेश्म, लसिका, रक्त, मांस, मेद, स्नायु, अस्थि और मज्जा इन नौ प्रकारकी वस्तुओंसे तन्मय हुए अवयवों या कोशोंका परिपाक या परिणाम करती रहती हैं। एवं इस शरीर-यज्ञके प्रकरणका "अपूपवान् मांसवांश्चरुः०" यह प्रकृत मन्त्र है जिसमें उक्त अग्नियोंमें शरीरके अन्दरके मांसमय कोशका परिपाक या परिणाम वर्णित है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। ४। १५-२४ (पृष्ठ १६४—१६७)

यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ अथ० १८। ४। ४२

इस मन्त्रमें भी पूर्व प्रकृत शरीरयज्ञका वर्णन है और मुख्यतः रक्त, शुक्र, मांस इन तीन धातुओं पर शरीरका निर्भर है तथा इनके उपयोगी स्वादु अन्न, रसीले पदार्थ और स्नेह युक्त वस्तुओं का वर्णन है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। ४। ४२ (पृष्ठ २०८)

पितर और अग्नि

इस प्रकरणमें वे मन्त्र होंगे जिनमें पितर और अग्निका कोई सम्बन्ध या परस्पर व्यवहार दर्शाया गया हो। हम 'मुख्यशब्दार्थसमन्वय' में बतला आये हैं और स्थान २ पर मन्त्रोंमें सिद्ध कर आये हैं कि ज्ञानीजन, सूर्यकिरणें, प्राण और ऋतुआदि पदार्थ भी पितर हैं एवं उनका अग्निके साथ सम्बन्ध या परस्पर व्यवहार का यहां वर्णन है। यज्ञाग्निका ऋत्विगादि ज्ञानीजनरूप चेतन पितरों और रश्मिरूप जड़पितरोंके साथ सम्बन्ध तथा व्यवहार पड़ता है। पार्थिव अग्निका किरणोंके साथ तथा सूर्यरूप अग्निका स्वरश्मियोंके साथ एव शरीरके अन्दर जाठराग्निका प्राणोंके साथ सम्बन्ध और व्यवहार पड़ता है इन सबकी चर्चा इस प्रकरणमें होगी॥

अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥
अथ० १८। ४। ६५

इस मन्त्रमें पितर शब्द प्राणोंके लिये आया है। उनका जाठराग्निके साथ सम्बन्ध दर्शाया है। शरीर-यज्ञमें जाठराग्नि मध्याह्न और सायं भोजनकालमें खाये हुये अन्नको पचाकर लसिका परिणामको प्राणोंके प्रति सुपुर्द कर देती है एवं जाठराग्नि और प्राणोंका परस्पर सम्बन्ध वर्णित है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। ४। ६५ (पृष्ठ २२२)

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम्।
स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान्॥ अथ० १८।४।४१

इस मन्त्रमें पितर शब्द प्राणोंके लिये आया है जो कि सर्वत्र शरीरमें फैले हुए हैं। उन सबको शरीरके अन्दर स्थित हुवोंको जाठराग्नि प्राप्त है जिसकी उष्णता से ये शरीरके अन्दर सञ्चार करते हैं। उस अग्निको जोकि यावज्जीवन वर्तमान रहती है जीवात्मा नानाविध भोजनोंसे प्रज्वलित करता है। एवं वह जाठराग्नि शरीरसञ्चारी प्राणोंको प्राप्त होती है यह एक सम्बन्ध समझना चाहिये। विवरण के लिये देखो सूक्त० अथ० १८। ४। ४१ (पृष्ठ २०७)

यद्वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयँ जातवेदाः।
तद्व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्॥
अथ० १८। ४। ६४

इस मन्त्रमें प्राणोंके लिये पितर शब्द है और यह मन्त्र शरीरयज्ञके प्रकरणमें है। किसी अङ्गके विकृत होनेपर आत्माकी इच्छाशक्ति और चिकित्सा आदिसे उसमें पुनः प्राणसञ्चार करानेका वर्णन है और प्राणस्थान देहका नाम यहां पितृ-लोक है। विवरणके लिये देखो सू० अथ० १८।४।६४ (पृष्ठ २२२)

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम् ।
स बिभर्त्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्त्ति पिन्वमानः ॥

अथ० १८।४।३५

इस मन्त्रमें शरीरके अन्तवर्ती अग्निके अर्थमें वैश्वानर शब्दका प्रयोग है जो कि शरीरधारणका हेतु है। यहांपर मरे हुवे पितरों और किसी परोक्ष वैश्वानर अग्निका अर्थ करना उचित नहीं। आश्चर्य है कि किन्हीं विद्वानोंने इस मन्त्रमें "वैश्वानर अग्निका पितरोंको धारण करना" ऐसा माना है और उधर पूर्वसे चले हुए कई मन्त्रोंमें क्रव्याद् अग्निका पितरोंके साथ सम्बन्ध बताया है इस प्रकार फिर वैश्वानर और क्रव्यात् का भेद क्या रहा ? अर्थविवरणके लिये देखो सूक्त० अ० १८।४।३५ (पृष्ठ २०४)

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥

ऋ० १०।१५।९

इस मन्त्रमें रश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है और उनका यज्ञाग्निके साथ इस प्रकार प्रयोग है कि यज्ञाग्निमें जब घृत और सामग्रीकी पुष्कल आहुतियोंसे महान् यज्ञ किया जाय तो तेजस्वी सूर्यकिरणें अग्निसे सूक्ष्म बनाये हुए पदार्थोंको और भी सूक्ष्म करती हुई ऊपर फेंक देती हैं। एवं जिस प्रकार अग्निका हुत पदार्थोंको छेदन भेदन करनेका कर्म है वैसे ही सूर्यरश्मियोंका भी है अतः यज्ञप्रारम्भके समकालसे ही मानो सूर्यरश्मियां भी अग्निके साथी बनकर हुतपदार्थोंको सूक्ष्म करनेका काम करती हैं विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १०।१५।६ (पृष्ठ ४७)

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥

ऋ० १०।१५।१०

इस मन्त्रमें भी पूर्वके समान पितर शब्द सूर्यकिरणोंके लिये तथा उनका अग्निके साथ उपयोग है। यहां पर प्रातः मध्याह्न और सायंके भेदसे तीन प्रकारकी सूर्यकिरणोंका सम्बन्ध यज्ञमें दर्शाया है। जो कि जलका भक्षण और शोषण करती हैं। विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १० । १५ । १० (पृष्ठ ४८)

त्वमग्न ईडितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥
ऋ० १० । १५ । १२, अथ० १८ । ३ । ४२

त्वमग्न ईडितः कव्यवाहनोवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥
यजु० १९ । ६६

इस मन्त्र में सूर्य रश्मियों के लिये पितर शब्द आया है उनके लिये यज्ञ में अग्नि हुतद्रव्योंको सूक्ष्म सुगन्धियुक्त बना कर देती हैं। पुनः वे भी अपनी धारण-शक्तिसे सूक्ष्म बनाते हैं। हुतद्रव्योंको जैसे ही अग्नि सूक्ष्म बनाती है वैसे ही सूर्य रश्मियोंके मानो सुपुर्द कर देती है। एवं यज्ञाग्नि और सूर्यरश्मियों का सम्बन्ध दर्शाया है। विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १० । १५ । १२ (पृष्ठ ४६)

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म ।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥
ऋ० १० । १५ । १३

इस मन्त्रमें सूर्य रश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है। जो कि यज्ञस्थान में प्राप्त और अप्राप्त हैं उन सबके प्रति यज्ञाग्नि आहुतिकी सूक्ष्मताके द्वारा प्राप्त होती है यह दर्शाया है। विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १० । १५ । १३ (पृष्ठ ४६)

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्र धमाति यज्ञात् ॥
अथ० १८ । २ । २८

इस मन्त्रमें मृतदेहमें प्रविष्ट होने वाले तथा उत्पन्न होनेवाले रोग जन्तुओं को दस्यु कहा गयाहै और वे मृतपुरुषकी पालना करने वालोंके शरीरमें सहवास और सेवादि कर्म से घुस जाते हैं। उनको होमाग्नि अपनी भेदनशक्ति और सुगन्धसे

पृथक् कर देती है यह प्रसङ्ग है। यहां का पितर शब्द उस मृतमनुष्य की औषध और उपचार आदि से पालना करने वालों के अर्थमें है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । २ । २८ (पृष्ठ १३०)

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥
ऋ० १० । १६ । १२, यजु० १९ । ७०, अथ० १८ । १ । ५६

यहां भी सूर्य रश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है। शवदहन करते हुए घृत आदि आहुतियोंसे अग्निको प्रदीप्त करने तथा शवसहित हुत द्रव्यको सूक्ष्म बनाकर आकाश में ले जाने का प्रसङ्ग है। विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १० । १६ । १२ (पृष्ठ ६१)

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि ।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ अथ० १८।१।५७

इस मन्त्रमें केवल द्युमन् शब्द अधिक है। जिसका अर्थ दीप्ति वाला है। शेष पूर्व मन्त्रके अनुसार समझें ॥

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ अथ० १८ । २ । ३४

इस मन्त्रमें सूर्य किरणोंके लिये पितर शब्द आया है। निखात आदि इन के विशेषण हैं। जो कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायुमें प्राप्त हुई सूर्यकिरणोंके हैं। शव दहनमें ये चारों प्रकारकी किरणें शवके अवयवोंको पृथिवी आदि में यथास्थान पर पहुँचा देती हैं। जिनमें एक आग्नेय रश्मिवर्ग है। अन्य विद्वानों ने जिनको मृत जीवोंके नामसे कह कर उनको आहुति भक्षण के लिये निमन्त्रित किया है। जो कि प्रकरण और विद्यासे विरुद्ध कथन है। इस मन्त्रके सम्बन्ध में हम आगे विशेष लिखेंगे जहां कि "चार प्रकारकी अन्त्येष्टि" का शीर्षक अन्य विद्वानोंने दिया है। तथा अर्थ और सम्बन्धके विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । २ । ३४ (पृष्ठ १३४)

यो अग्निः क्रव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः ।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ॥ ऋ० १० । १६ । ११,
यजु० १९ । ६५

इस मन्त्रमें सूर्य रश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है। शवदहनमें मांस जलाने वाली अग्निके अन्दर जब घृतादि आहुति भी दी जाती हैं तो वह उन दोनों वस्तुओंको सूक्ष्म करती है। और चटचटाहट और सर-सर शब्दोंके साथ शव और घृतादि आहुतिको सूर्य रश्मियोंके प्रति पहुंचानेका वर्णन है। विवरणके लिये देखो सूक्त ऋ० १० । १६ । ११ (पृष्ठ ६०)

मैनमग्ने विदहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् ।
यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः ॥ऋ०१०।१६।१

मैनमग्ने विदहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् ।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात्पितृभ्यः ॥ अथ०१८।२।४

इस मन्त्रमें सूर्यरश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है। चिताग्निमें जब शव जलाया जाता है। तो उसको अग्नि अधपका या विना जला न छोड़े और न चटका २ कर फेंके। किन्तु उसका सूक्ष्म पाक बनाकर सूर्यरश्मियोंको पहुँचादे। इसलिये यहां कहा गया है कि शवको अग्नि न विदग्ध करे न विना जला छोड़े और न इसकी त्वचा या शरीरको चटकावे एवं चितामें अग्नि दहनक्रियाका विधान है। विवरणके लिए देखो सूक्त० ऋ० १० । १६ । १ (पृष्ठ ५३)

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्य ।
यदा गच्छत्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥ ऋ० १०।१६।२

इस मन्त्रमें भी सूर्यरश्मियोंके लिये पितर शब्द है। यहां पर यह वर्णन है कि यद्यपि शवको अग्नि सूक्ष्म करके सूर्यकिरणोंके प्रति पहुँचा देती है अपि तु जिस समयसे यह प्राणि-शरीर मरण स्थिति को प्राप्त हो चुकता है तभी से पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि देवोंका वश्य होजाता। इसके शरीरांश छिन्न भिन्न होकर उक्त पृथिवी आदिको प्राप्त होने लगते हैं। भेद यही है कि अग्नि तत्काल ही उसके अवयवोंको छिन्न भिन्न करके सूर्य किरणों द्वारा यथास्थान पहुँचा देती है। विवरणके लिए देखो सूक्त० ऋ० १० । १६ । २ (पृष्ठ ५४)

जीवानामायुः प्रतिर त्वमग्ने पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः ।
सु गार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥
अथ० १२ । २ । ४५

(अग्ने त्वं जीवानामायुः प्रतिर) अग्ने हे अग्ने ! त्वं सर्वेषां जीवानां

जीवधारिणामायुः प्रतिर विस्तारय (ये मृताः पितृणां लोकमपि गच्छन्तु) ये मृता मरणं प्राप्तास्ते पितृणां लोकमन्तरिक्षमपि गच्छन्तु (गार्हपत्योऽरातिं वितपन्नुषामुषां श्रेयसीमस्मै सुधेहि) यो गार्हपत्योऽग्निः स त्वमरातिं पापं वितपन् दूरी कुर्वन् उषामुषां प्रतिदिनमस्मै जीवाय श्रेयसीं सुधेहि सुसम्पादय ॥

भाषार्थ—(अग्ने त्वं जीवानामायुः प्रतिर) हे अग्ने ! तू सब जीवधारियों की आयुको विस्तृत कर (ये मृताः पितृणां लोकमपि गच्छन्तु) जो मरणको प्राप्त हो गए हैं वे अन्तरिक्षमें जावें (गार्हपत्योऽरातिं वितपन्नुषामुषां श्रेयसीमस्मै सुधेहि) गार्हपत्य अग्नि तू पापको तपाती हुई अर्थात् रोगको दूर करती हुई प्रति दिन इस जीवके लिये श्रेष्ठ जीवनी को सम्पादन करा।

शिक्षा—अग्नि अपनी तैजस शक्तिसे जीवित मनुष्योंकी आयुकी सहायक और मृत प्राणियोंको अन्तरिक्षमें पहुँचाती है। एवं वह अग्नि प्रतिदिन घरमें होम द्वारा अनेक रोगोंको दूर करके जीवोंको सुख पहुँचाती है॥

इस मन्त्रमें अन्तरिक्षके लिये पितृलोक शब्द आया है और पूर्व मन्त्रोंके अनुसार पितर रश्मियों के अर्थमें हैं। अग्नि शव को जला कर सूर्यकी किरणोंमें पहुँचाती है यह भी पूर्वके समान है॥

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उपवेतु शेषः सङ्गच्छतां तन्वा जातवेदः ऋ० १६।१६।५

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान्।
आयुर्वसान उपयातु शेषः सङ्गच्छतां तन्वा सुवर्चाः। अथ० १८।२।१०

इन मन्त्रोंमें सूर्यरश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है। उनका पुनर्जन्ममें सहायक होना दर्शाया है। विवरणके लिये देखो सू० ऋ०। १०। १६। ५ (पृष्ठ ५६)

यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनूः पितृष्वाविवेश।
पुष्टिर्या ते मनुष्येषु प्रपथेऽग्ने तया रयिमस्मासु धेहि॥ अथ० १९।३।३

(देवेषु यस्ते स्वर्गो महिमा) देवेषु देवलोकेषु सूर्यलोकेषु सूर्यलोकवासिषु "देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा (निरु० ७। १५) यस्तव स्वर्गो द्युस्थानगतो महिमाऽस्ति (या ते तनूः पितृष्वाविवेश) या ते तनूर्ज्वाला रश्मिरूपा पितृषु पितृलोकेषु चन्द्रलोकेषु चन्द्रलोकवासिष्वाविवेशाविष्टा (या पुष्टिस्ते मनुष्येषु प्रपथे) या पुष्टिः पोषयित्री ज्वाला ते मनुष्येषु मनुष्यलोकेषु पृथिवीस्थप्राणिषु

प्रपथे विस्तृता (अग्ने तयाऽस्मासु रयिं धेहि) अग्ने तया ज्वालया तन्वा वाऽस्मासु रयिं वीर्यं धेहि धारय। द्वे सृती अशृणवं देवानामिति मन्त्रसङ्गत्याऽर्थो बोध्यः॥

भावार्थ—(देवेषु यस्ते स्वर्गो महिमा) सूर्यलोकवासियोंमें जो तेरी द्युस्थान सम्बन्धी महिमा है (या ते तनूः पितृष्वाविवेश) जो तेरी ज्वाला रश्मिरूपमें चन्द्र-लोकवासियोंमें प्रविष्ट हुई है। और (या पुष्टिस्ते मनुष्येषु प्रपथे) जो पोषण करने वाली ज्वाला तेरी पृथिवीलोकवासियोंमें फैली हुई है (अग्ने तयाऽस्मासु वीर्यं धेहि) हे अग्ने! उस ज्वालारूप तनुसे हमारे अन्दर वीर्यको धारण करा॥

शिक्षा—पृथिवी-चन्द्र-सूर्य लोकों में रहनेवाले प्राणियोंके लिये आग्नेय-शक्ति उनके जीवनधारण करनेके हेतु प्राप्त होती है। इस मन्त्रमें आग्नेय शक्तिके प्राप्त होनेके लोकक्रम में पितरोंका अर्थ चन्द्रलोकवासियोंका है मृत पुरुषोंके अर्थ का लेश भी नहीं॥

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥
ऋ० १०।१७।३, अथ० ८।२।५४॥

इस मन्त्रमें सूर्य रश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है। और सविता सूर्य-देव पुनर्जन्म के लिये जीवको रश्मियोंके प्रति सुपुर्द करता है। विवरणके लिए देखो सूक्त० अथ० १८।२।५४ (पृष्ठ १४३)

क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान् दृहन्तं वज्रेण मृत्युम्।
नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितॄणां लोकेऽपि भागो अस्तु॥
अथ० १२।२।९

(वज्रेणेषितो जनान् दृहन्तं क्रव्यादमग्निं मृत्युं हरामि) वज्रेण शासेन शासनेन राजनियमेनेषितः प्रेरितः सन्नहं सैनिको जनान् दृहन्तं हिंसन्तं क्रव्यादं क्रव्य-मदन्तं मांसभक्षकमग्निमग्रगामिनं मुख्यं मृत्युं मारकं हिंसकं हिंसकजनं हरामि गृह्णामि। "वज्रः शासः" (श० ३।८।१।५) (गार्हपत्येन विद्वान् तं निशास्मि) गार्हपत्येन विद्वान् प्रजापतिना सहैकमत्यं गतस्तेनाऽऽज्ञप्तो वाऽहं हिंसकजनं निशास्मि यथापराधं प्रहरामि ताडयामि (पितॄणां लोकेऽपि भागो अस्तु) उक्तराजाज्ञया हिंसकप्रहारे पितॄणां राष्ट्रपालकानां लोके स्थानेऽपि ममापि भागः पुण्यभागोऽस्तु "प्रजापतिर्वै गार्हपत्यः" (कौ० २७।४)॥

भाषार्थ—(यम ईषित:) राजनियम से प्रेरित हुआ मैं सैनिक वा राजपुरुष (जनान् दृहन्तम्) मनुष्योंको मारते हुए (क्रव्यादमग्निम्) मांसभक्षी मुख्य (मृत्युं हरामि) हिंसक जनको पकड़ता हूँ (गार्हपत्येन विद्वान्) राष्ट्रपतिसे आज्ञा पाया हुआ (तं निशास्मि) उस हिंसक जनको यथापराध प्रहारदण्ड देता हूँ (पितृणां लोकेऽपि) इस प्रकार हिंसक पर प्रहार करनेमें राष्ट्रपालकोंके स्थानमें मेरा भी (भागो अस्तु) पुण्यभाग हो ॥

शिक्षा—राष्ट्रपतिकी ओरसे गवादि प्राणियोंके भक्षक तथा मनुष्योंकी हिंसा करने वाले साहसिक डाकू लुटेरोंको पकड़ने और यथापराध दण्ड देनेकी व्यवस्था सैनिक वा राजपुरुषों द्वारा होनी चाहिये ॥

इस मन्त्रमें सैनिक अर्थमें पितर शब्दका प्रयोग है, और मांसभक्षक प्राणीको क्रव्यादके नामसे कहा है। क्रव्यादके सम्बन्धमें विशेष परिचयके लिये देखो सू० ऋ० १०।१४।३ (पृष्ठ १६)

होता जनिष्ट चेतनः पिता पितृभ्य ऊतये ।

प्रयक्षञ्जेन्यं वसु शकेम वाजिनो यमम् ॥ ऋ० २।५।११

(होता चेतनः पितोतये पितृभ्यो जेन्यं यमं वस्वजनिष्ट) आदाता ज्ञानादिगुणयुक्तः पालको रक्षणाद्याय पालकेभ्यो जेतुं योग्यं नियन्तारं सेनापतिं द्रव्यं जनयेत् (प्रयक्षन् वाजिनः शकेम) विद्वांसो यथा प्रकृष्टं यजन्ते तथा वयं वाजिनो विज्ञानवन्तः सन्तः शकेम समर्थयेम । इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(होता चेतनः पितोतये पितृभ्यो जेन्यं यमं वस्वजनिष्ट) राष्ट्रपालक ज्ञानादिगुणयुक्त रक्षणादि कर्मके लिये प्रजासे शुल्क लेने वाला अन्य प्रजापालक जनोंके लिये जीतने योग्य क्षेम वश करने वाले सेनापतिको और धनको उत्पन्न करता है (यक्षन् वाजिनः शकेम) जैसे विद्वान् लोग अच्छी तरह यज्ञ करते हैं वैसे हम भी विज्ञानयुक्त होकर समर्थ बनाते हैं ॥

शिक्षा—राष्ट्रपालनके लिये प्रजासे कर लेकर प्रजापालक राजपुरुषोंमें वेतनरूपसे धन देना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें पालक अर्थमें पितृशब्द आया है। और राष्ट्रपतिके अर्थमें अग्नि शब्द का प्रयोग है ॥

मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः ।

पुराण्योः सद्मनोः केतुरन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् । ऋ० ३।५५।२

(अग्ने पुराण्योः सद्मनोर्देवानामन्तः केतुर्महदेकमसुरत्वम्) विद्वन् ! सनातन्योर्विद्युदाकाशरूपयोः प्रकृत्योः सर्वेषां निवासस्थानयोः पृथिव्यादीनां मध्ये व्याप्तं ज्ञानस्वरूपं महदद्वितीयं प्राणेषु क्रीडमानं यदस्ति (अत्र नः पदज्ञाः पूर्वे पितरो मो जुहुरन्त) अत्र ब्रह्मण्यस्मान् ब्रह्मपदवेत्तारः पूर्वे पितरो विज्ञानवन्तो मैवं प्रसहन्ताम् (देवा मा सु) देवा अपि मैव सुप्रसहन्ताम् । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(अग्ने पुराण्योः सद्मनोर्देवानामन्त्रः केतुर्महदेकमसुरत्वम्) हे विद्वन् ! सनातन विद्युत् और आकाशरूप आधार पदार्थों तथा पृथिवी आदिके मध्य व्याप्त ज्ञानस्वरूप और सब प्राणियोंके अन्दर क्रीड़ा करता हुआ अद्वितीय जो ब्रह्म है (अत्र नः पदज्ञाः पूर्वे पितरो यो जुहुरन्त) इस ब्रह्ममें ब्रह्मपदके जानने वाले पूर्वज्ञानी जन उनको सताते नहीं हैं (देवा मा सु) और संसारके दिव्यगुणपदार्थ भी नहीं सताते हैं ॥

शिक्षा—संसारके उत्तमसे उत्तम अद्भुतशक्ति वाले सभी पदार्थोंके अन्दर ब्रह्मदेव व्यापक है उसके मार्गमें हम चलते हुवोंको पूर्व ब्रह्मज्ञानी जन सहायक ही बनते हैं बाधक नहीं । अन्य पदार्थ भी उस मार्गमें बाधक नहीं हैं ॥

इस मन्त्रमें ब्रह्मज्ञानियोंके लिये पितर शब्द आया है । और गुरुरूपमें वर्तमान विद्वान्के लिये अग्नि शब्दका प्रयोग है ॥

यो नो अग्निः पितरो हृत्स्वन्तराविवेशामृतो मर्त्येषु मय्यहं
तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम् ॥

अथ० १२ । २ । ३३

(पितरो यो अग्निर्नो हृत्स्वन्तराविवेश) हे पालकजनाः ! अस्मान् प्रत्येवं यूयं शिक्षध्वं यद्योऽग्निर्ब्रह्माग्निर्नोऽस्माकं हृत्सु हृदयेष्वन्तराविवेशाविष्टः (मर्त्येष्वमृतः) यश्चाग्निर्मर्त्येषु मरणधर्मिप्राणिष्वपि वर्तमानोऽमृतोऽस्ति (अहं तं देवं मयि परिगृह्णामि) अहं तं देवं मयि स्वात्मनि परिगृह्णामि संधारयामि (सोऽस्मान् मा द्विक्षत वयं तं मा) स ब्रह्माग्निरस्मान् मा द्विक्षत स्वीकुर्यादेव वयं च तं स्वीकुर्वीमहि ॥

भावार्थ—(पितरो योऽग्निर्नो हृत्स्वन्तराविवेश) हे पालकजनो ! हमारे प्रति तुम इस प्रकार शिक्षा करो कि जो ब्रह्माग्नि हमारे हृदयोंमें प्रविष्ट है और जो (मर्त्येष्वमृतः) मरणधर्मी प्राणियोंके अन्दर भी अमृत है (तमहं देवं मयि परि-गृह्णामि) उस देवको मैं अपने आत्मामें धारण करता हूँ (सोऽस्मान् मा द्विक्षत वयं

सं मा) वह ब्रह्माग्नि हमारे प्रति द्वेष न करे और न हम उसके प्रति द्वेष कर सकें। अर्थात् वह हमें स्वीकार करे और हम उसको स्वीकार करते रहें ॥

शिक्षा—मनुष्योंको अपने पालकजनोंके सम्मुख यह व्रत धारण करना चाहिये कि जो अग्निस्वरूप अन्तर्यामी परमात्मदेव सबके हृदयोंमें वास करता है और अमृतस्वरूप है उसको मैं मानता और स्वीकार करता हूँ। इस वृतमें वह मेरा सहायक बने और मैं उसके नियममें सदा वर्तमान रहूँ ॥

इस मन्त्रमें सब प्रकारके पालकजनोंके अर्थमें पितर शब्द आया है। तथा अग्नि शब्द अविनाशी परमात्मदेवके अर्थमें है। भौतिक अग्नि और मरे हुए पितरों का यहां कोई अवसर नहीं ॥

क्रव्यादमग्निं शशमानमुक्थ्यं प्रहिणोमि पथिभिः पितृयाणैः।
मा देवयानैः पुनरागा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम् ॥
अथ० १२।२।१०

(शशमानमुक्थ्यं क्रव्यादमग्निं पितृयाणैः पथिभिः प्रहिणोमि) शशमानं पलायमानमुक्थ्यं घोषणीयं क्रव्यादं मांसभक्षकमग्निमग्रगन्तारं त्वां पितृयाणैः पथिभिः सैनिकजनमार्गैर्यैत् सैनिका एव गन्तुमर्हास्तैर्मार्गैः प्रहिणोमि दूरं नयामि (देवयानैः पुनर्मा गाः) यतस्त्वं देवयानैर्विदुषां मार्गैः पुनर्नागच्छ (अत्रैवैधि) अत्रैव स्थाने त्वमेधि भव तिष्ठ (त्वं पितृषु जागृहि) त्वं पितृषु सैनिकजनमध्ये जागृहि चेष्टस्व ॥

भावार्थ—(शशमानमुक्थ्यं क्रव्यादमग्निम्) अपराधके अनन्तर भागे हुए और विज्ञापन तथा मुनादी द्वारा घोषणा किये हुए मांसभक्षक तुझ अग्रगन्ता को (पितृयाणैः पथिभिः प्रहिणोमि) सैनिक जनोंके मार्गों से जहां कि सैनिक लोग ही जा सकते हैं उन मार्गों से दूर ले जाता हूँ (देवयानैः पुनर्मागाः) जिससे कि तू फिर विद्वानोंके मार्गों से न जा सके (अत्रैवैधि) यहीं पर तू ठहर (त्वं पितृषु जागृहि) तू सैनिक जनोंके बीचमें रहता हुआ काम कर ॥

शिक्षा—मांसभक्षक वा साहसिक लुटेरे के ज्ञात होने पर या भाग जाने पर विज्ञापन तथा भेरी नाद द्वारा पकड़नेकी घोषणा करा देनी चाहिये। और फिर पकड़ कर अगम्य मार्गों द्वारा कहीं दूर ले जाना चाहिये। वहां राजप्रबन्धमें रख कर उससे यथापराधदण्डका काम लेना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें पितृयाण शब्द राजपुरुषमार्गके अर्थमें आया है, और पूर्वोक्त

मांसभक्षक साहसिक लुटेरेके लिये क्रव्याद् शब्द है । और यहां का पितर शब्द सैनिक जनोंके अर्थमें है ॥

अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा ।

प्रियं पितृभ्य आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम् ॥ अथ०१२ । २ । ३४

(क्रव्यादा गार्हपत्यादपावृत्य दक्षिणा प्रेत) क्रव्यादा हे हिंसकाः ! यूयं गार्हपत्याद्राज्ञः सकाशादपावृत्य प्रतिनिवृत्य दक्षिणा दक्षिणे देशे समुद्रभूमौ कचिद्वीपान्तरे । "दक्षिणादाच्" (अष्टा० ५ । ३ । ३६) इत्यनेनाच् प्रत्ययस्तथा च स्वरः । प्रेत गच्छत । देशनिःसरणदण्डे कालापानीति लोकप्रसिद्धे स्थाने । तत्र च गत्वा (पितृभ्यः प्रियं कृणुता) सैनिकेभ्यः प्रियमनुकूलमाचरत (आत्मने ब्रह्मभ्यः प्रियं कृणुता) आत्मने स्वमात्मने परमात्ने च ब्रह्मभ्यस्तत्रस्थसाधुजनेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः प्रियमाचरत ॥

भावार्थ—(क्रव्यादा गार्हपत्यादपावृत्य दक्षिणा प्रेत) हे हिंसक जनो ! तुम राष्ट्रपति न्यायाधीशके पाससे निवृत्त होकर अपना दण्ड भोगनेके लिये दक्षिण देशमें समुद्रमध्य द्वीपान्तरमें जाओ कालापानी नामसे प्रसिद्ध देशनिकाले दण्डको प्राप्त होवो वहां जाकर (पितृभ्यः प्रियं कृणुता) सैनिक पुरुषोंके प्रति अनुकूल आचरण करो (आत्मने ब्रह्मभ्यः प्रियं कृणुता) स्वात्मसुधार तथा ब्रह्मात्मचिन्तनके लिये और वहांके रहने वाले साधुजन ब्राह्मणोंके प्रति अनुकूल आचरण करो ॥

शिक्षा—लुटेरे आदि हिंसक जनोंको राष्ट्रपति या न्यायाधीशकी न्यायव्यवस्थासे देशनिकालेका दण्ड देकर द्वीपान्तरमें भेज दिया जावे और वे वहां जाकर सैनिक लोगों के अधीन स्वनिर्वाह करते हुए परमात्मभजन और वहांके साधुजनों का सत्सङ्ग आदि करते रहें ॥

इस मन्त्रमें सैनिक जनोंके लिये पितृशब्द आया है । और क्रव्याद् शब्द पूर्वके समान हिंसक जनोंके अर्थमें प्रयुक्त है ॥

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः ॥ अथ० १८ । ४ । ७१

इस मन्त्रमें पितर शब्दका कोई सम्बन्ध नहीं है । किन्तु शरीरयज्ञके प्रकरणमें यह मन्त्र है जाठराग्निके लिये अन्नादि पदार्थोंका उपहार भोजनद्वारा देनेका वर्णन है । इसी लिये इसका नाम कव्यवाहन है । कव्यवाहनके सम्बन्धमें विशेष विचार देखो सूक्त० ऋ० १० । १४ । ३ (पृष्ठ १६) तथा प्रकृत मन्त्रके विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ४ । ७१ (पृष्ठ २२६)

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः ।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥ ऋ० १०।१६।९
यजु० ३५ । १९ अथ०, १२ । २ । ८

इस मन्त्रमें पितर शब्द नहीं है, और न ही पितरोंका कुछ सम्बन्ध है, केवल शवदहन करते समय क्रव्याद् और जातवेदः अग्नि का कुछ वर्णन है । इनका विवरण देखो सूक्त० ऋ० १० । १६ । ९ (पृष्ठ ५६)

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम् ।
तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स घर्ममिन्वात् परमे सधस्थे ॥ ऋ० १०।१६।१०

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम् ।
तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे ॥ अथ० १२।२।७

इस मन्त्रमें पूर्व जैसा ही प्रकरण है । विवरणके लिए देखो सूक्त० ऋ० १० । १६ । १० (पृष्ठ ५६)

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ॥
ऋ० १० । १६ । ३

इस मन्त्रमें न पितर शब्द है और न कोई उनके साथ सम्बन्ध है । किन्तु पूर्व मन्त्र में कहे हुए सिद्धान्तका संक्षेपसे स्पष्टीकरण है कि मरनेके बाद प्राणीके अवयवोंका देवोंके वशमें आना किस प्रकार है अतः अन्य विद्वानोंका इस मन्त्रको पितर और अग्निके प्रकरणमें देना ठीक नहीं है । विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १० । १६ । ३ (पृष्ठ ५४)

अग्निष्वात्त आदि पितर

इस प्रकरण में अग्निष्वात्त, अनग्निष्वात्त, अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, सोमवान् और बर्हिषद् पितरोंके सम्बन्ध में लिखा जायगा ॥

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥
ऋ० । १० । १५ । ११

इस मन्त्रमें अग्निष्वात्त शब्द यज्ञाग्निको सम्यग् ग्रहण की हुई सूर्यरश्मियों के अर्थमें आया है। विवरणके लिये देखो ऋ० १० । १५ । ११ (पृष्ठ ४८)

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥

ऋ० १० । १५ । १४

इस मन्त्रमें अग्निदग्धाः और अनग्निदग्धाः शब्द ग्रीष्मकाल अर्थात् उत्तरायण और शीतकाल अर्थात् दक्षिणायन की सूर्यरश्मियों के लिये आया है किन्हीं मृत पितरोंके लिये नहीं। और जो किन्हीं विद्वानोंने अग्निदग्धाः और अग्निष्वात्ताः को एकार्थक माना है वह भी ठीक नहीं क्योंकि ऋ० मण्डल १० के १५ वें सूक्त में दोनों अलग २ आए हैं। इससे भी इनका अर्थभेद जान पड़ता है। विवरणके लिये देखो सूक्त ऋ० १० । १५ । १४ (पृष्ठ ५०)

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथा वशं तन्वं कल्पयाति ॥

यजु० १९ । ६०

(ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता दिवो मध्ये स्वधया मादयन्ते तेभ्यः स्वराडेतामसुनीतिं यथावशं तन्वं कल्पयाति) ये सम्यग्गृहीताग्निविद्या येऽविद्यमानाग्निविद्याग्रहणा ज्ञाननिष्ठाः पितरो दिवो मध्ये विज्ञानादिप्रकाशस्य मध्ये स्वधया स्वकीयपदार्थधारणक्रिययाऽऽनन्दन्ति तेभ्यः स्वयं राजतेऽसौ परमात्मैतामसुनीतिमसून् प्राणान् नयति प्राप्नोति * तां तन्वं यथावशं कामनानुसारं कल्पयाति समर्थं कुर्यात् । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(ये अग्निष्वात्ताः) जो सम्यग् अग्निविद्याप्राप्तकिये हुए (ये अनग्निष्वात्ताः) जो अग्निसे भिन्न अन्य विद्याओं को जानने हारे एवं ये दोनों प्रकारके पालक जन (दिवो मध्ये) विज्ञानादि प्रकाशके अन्दर (स्वधया मादयन्ते) स्वकीय पदार्थों को धारणरूपक्रियासे आनन्द प्राप्त करने कराने वाले हैं (तेभ्यः स्वराट्) उनके लिये स्वयं प्रकाशमान परमात्मा (एतामसुनीतिं तन्वम्) इस प्राणों को प्राप्त होने वाली देह को (यथावशं कल्पयाति) कामनाके अनुकूल समर्थ करे ॥

---

* "असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्रतिर न आयुः०" (ऋ० १० । ५९ । ५) समन्वेतव्यो मन्त्रः ।

शिक्षा—जो हमारे पालक जन अग्नि विद्याके जाननेवाले तथा अग्निसे भिन्न अन्य विद्याके जानने वाले अर्थात् प्रकाशक और प्रकाश्य पदार्थों की विद्याके जानने वाले जोकि कर्मनिष्ठ स्वपदार्थके भोग से सन्तुष्ट रहने वाले हैं उन को हमारे बीचमें या हमारे ऊपर स्वस्थशरीरसे परमात्मा विराजमान रखे ॥

इस मन्त्रमें अग्निष्वात्ता और अनग्निष्वात्त विशेषणपरकशब्द ज्ञानी जनोंके लिये आये हैं ॥

विज्ञप्ति—इस पर कुछ वक्तव्य देखो (पृष्ठ ३०५)

आयान्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः ।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ यजु० १९।५८

(सोम्यासोऽग्निष्वात्ता नः पितरो देवयानैः पथिभिरायान्तु तेऽस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽस्मानधिब्रुवन्तु, अवन्तु) सोम्यासः सोम इव शमदमादिगुणान्विता अग्निष्वात्ता गृहीताग्निविद्या नोऽस्माकं पितरोऽन्नविद्यादानेन पालका देवयानैर्देवा आप्ता विद्वांसो यान्ति यैस्तैः पथिभिर्मार्गैरागच्छन्तु तेऽस्मिन् यज्ञे उपदेशाध्यापनाख्ये ऽन्नाद्येनानन्दन्तोऽस्मानध्यापयन्तु तथा रक्षन्तु । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(सोम्यासः) सोमके समान शमदमादि गुणयुक्त (अग्निष्वात्ताः) अग्निविद्याको प्राप्त किये हुए (नः पितरः) हमारे अन्न विद्यादानसे पालकजन (देवयानैः पथिभिः) देव अर्थात् आप्तविद्वान् जिन मार्गों से चलते हैं ऐसे मार्गोंसे (आयान्तु) आवें और (तेऽस्मिन् यज्ञे) वे इस उपदेश और अध्यापनरूपी यज्ञमें (स्वधया मन्दतः) अन्न और विद्या आदिसे आनन्द प्राप्त करते कराते हुए (अस्मानधिब्रुवन्तु) हमको शिक्षा दें (अवन्तु) और रक्षा करें ॥

शिक्षा—शान्तस्वभाव और अग्निविद्याके जानने वाले विद्वानोंको सत्कार पूर्वक निमन्त्रण देकर बुलाना चाहिये अथवा ऐसे विद्वानोंको खोजकर उनसे विविध विद्याका उपदेश ग्रहण करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें पितर शब्दका अर्थ पालकजन है और विशेषणरूपमें अग्निष्वात्त शब्द अग्निविद्याके जानने वालोंके लिये आया है । तथा 'अधिब्रुवन्तु' उपदेश करें यह शब्द मृतपितरोंमें नहीं घटता अतः यहां जीवित ज्ञानीजनोंको ही लेना चाहिये ॥

विज्ञप्ति—इस पर कुछ वक्तव्य देखो (पृष्ठ ६०५)

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशंसे सोमपीथं य आशुः ।
तेनो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥
यजुः० १९ । ६१

(ये सोमपीथमाशुऋ॑तुमतोऽग्निष्वात्तान् नाराशंसे हवामहे ते विप्रासो नः सुहवा भवन्तु वयं रयीणां पतयः स्याम) ये सोमपीथं सोमपानमाशुरश्नीयुऋ॑तुमतः प्रशस्ता वसन्तादय ऋतवो विद्यन्ते येषां तानग्निष्वात्तान् सुष्ठुगृहीताग्निविद्यान् नाराशंसे नराणां प्रशंसामयसत्कारव्यवहारे हवामह आह्वयामस्ते मेधाविनोऽस्मभ्यं सुहवाः सुष्ठुदाना भवन्तु वयं च धनानां स्वामिनः स्याम । इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(ये सोसपोथमाशुः) जो सोमादि उत्तम ओषधिरसको पीवें (ऋतुमतोऽग्निष्वात्तान्) प्रशंसित वसन्तादि ऋतुओंमें उत्तम कर्म करने वाले अग्निविद्याको प्राप्त ज्ञानिजनोंको (नाराशंसे) मनुष्योंके प्रशंसारूप सत्कारव्यवहारमें (हवामहे) बुलाते हैं (ते विप्रासो नः सुहवा भवन्तु) वे मेधावी हमारे लिये अच्छे दान देने वाले हों (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम धनोंके स्वामी बनें ॥

शिक्षा—अग्निविद्यामें निपुण और ऋतु आदिका ज्योतिर्विज्ञान जानने वाले तथा सोम ओषधिका रस सेवन करने वाले मेधावी ज्ञानी जनोंसे अग्निविद्या, ऋतुविज्ञान और ओषधिरसायनको सीख कर ऐश्वर्यसम्पन्न बनना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें अग्निष्वात्त शब्द विशेषणरूपमें अग्निविद्याको प्राप्त हुए ज्ञानी जनोंके लिये आया है ॥

विज्ञप्ति—पृष्ठ ३०४, ३०५ में दिये हुए यजु० १९ । ५८, ६० और ६१ में आये हुए 'अग्निष्वात्ताः' के सम्बन्ध में निम्न वक्तव्य है—

(प्रश्न) इन ऊपर दिये तीन मन्त्रोंमें स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो "अग्निष्वात्तके अग्निविद्याको प्राप्त किये हुए और अनग्निष्वात्तके अग्निसे भिन्न पदार्थोंको विद्याको प्राप्त हुए विद्वान्" अर्थ किये हैं, क्या ये ठीक हैं ?

(उत्तर) हां ठीक हैं।

(प्रश्न) आपने तो 'मुख्यशब्दार्थसमन्वय' में अग्निष्वात्तका अर्थ घृत सामग्री से रहित अग्नि ही जलती हुई जिनको निरन्तर या उत्तमोत्तम भोजन खिलाती है ऐसे यज्ञविहीन जनोंके सिद्ध किये हैं फिर यह ऊपर वाला स्वामी दयानन्दका अर्थ कैसे ठीक हो सकता है ?

(उत्तर) हमने यहांपर मुख्यतः 'अग्निष्वात्त' शब्दका अर्थ नहीं किया है

किन्तु "यानग्निरेव दहन् स्वदयति तेऽग्निष्वात्ताः" इस ब्राह्मणवचनका अर्थ किया है और ब्राह्मणस्थ उस वाक्यमें 'अग्निष्वात्त' का अर्थ क्या है यह समन्वयदृष्टिसे बतलाया है। विदित हो वहां पर हमने इसी लिये यह एक वाक्य लिखा था कि मन्त्रोंमें अग्निष्वात्तके अर्थ क्या हैं यह मन्त्र-भाष्यके समय लिखा जायेगा अत एव हमने भी ऋ० १० । १५ । ११ में अग्निष्वात्ताः शब्दका प्रकरणवश "अग्निर्यज्ञाग्निः स्वात्ताः सम्यग्गृहीतो यैस्ते सूर्यरश्मयः=यज्ञाग्निको सम्यक् प्राप्त हुई किरणें" अर्थ किया है। यह ठीक है कि मुख्यशब्दार्थसमन्वयमें दिया हुआ 'अग्निष्वात्त' का अर्थ घृतसामग्रीसे रहित अग्नि ही जलती हुई जिनको उत्तमोत्तम भोजन कराती है ऐसे यज्ञविहीन मनुष्योंका है परन्तु सर्वत्र वह ही अर्थ हो यह आवश्यक नहीं है। अत एव तैत्तिरीय आरण्यकमें अग्निष्वात्तका दूसरा अर्थ अर्द्धमास किया है "अर्द्धमासा वै पितरोऽग्निष्वात्ताः" (तै० १ । ६ । ८ । ३) मुख्यशब्दार्थसमन्वयमें शतपथ और तैत्तिरीयके समन्वय और प्रकरणविद्याके वश अग्निष्वात्ता शब्दमें 'सु+अद्+णिच्' सु पूर्वक णिजन्त अद् धातुसे बना हुआ अग्निष्वात्त शब्द लिया गया है और ऋ० १० । १५ । ११ में हमने तथा उपर्युक्त यजु० १९ । ५८, ६०, ६१ मन्त्रोंमें स्वामी दयानन्द सरस्वतीने 'सु+आ+दा' सु और आङ् उपसर्ग सहित दा धातुसे बना हुआ लिया है। वैदिक शब्दका सर्वत्र तथा हर जगह एक ही धातुसे निर्वचन नहीं किया जा सकता, यह बात निर्वचनशास्त्रके जाननेवालोंसे अविदित नहीं है। यास्क मुनिने अपने निरुक्तमें वैदिकशब्दोंके अर्थपरिचय के वास्ते भिन्न २ निर्वचनको साधन माना है। उनका वचन भी है "नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि" (निरु० २।७) तथा हम यहां निरुक्तके कुछ उदाहरण भी दे देते हैं "स्वरादित्यो भवति सु अरणः-सु ईरणः। स्वृतो रसान्। स्वृतो भासं ज्योतिषाम्। स्वृतो भासेति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता" (निरु० २ । १४) "गौरादित्यो भवति-गमयति रसान्। गच्छत्यन्तरिक्षे। अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधि दूरं गता भवति यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति" (निरु० २ । १४) अतः यजुर्वेदमें स्वामी दयानन्दके किये हुए अग्निष्वात्त आदिके उक्तार्थ ठीक और युक्तिसङ्गत हैं।

किन्ही विद्वानोंने जो अग्निष्वात्त और अग्निदग्धको एकार्थमें माना है वह ठीक नहीं है। यह बात निम्न मनुश्लोकसे ही समझमें आसकती है कि अग्निदग्ध और अग्निष्वात्त एकार्थ वाले नहीं हैं "अग्निदग्धाननग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा। अग्निष्वात्तांश्च सोम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत्" (मनु० ३ । १९९) मन्त्रोंमें अग्निदग्ध आदिके वास्तविक अर्थ क्या हैं यह तो हमारे 'सूक्तसमन्वय' प्रकरणके ऋ० म० १० सूक्त १५ तथा अथर्व० का० १८ अनु० २ में देखें॥

धूम्रा बभ्रूनीकाशाः पितृणां सोमवतां बभ्रवो धूम्रनीकाशाः पितृणां बर्हिषदाम्।
कृष्णा बभ्रुनीकाशाः पितृणामग्निष्वात्तानां कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः॥
यजु० २४। १८

(सोमवतां पितृणां धूम्रा बभ्रूनीकाशाः) सोमगुणयुक्तानां सोमयाजिनां वा पितृणां जनकादीनां धूम्रा बभ्रुनीकाशा नकुलसदृशाः सुवर्णसदृशाः पिङ्गलवर्णा वा भवन्ति (बर्हिषदां पितृणां बभ्रवो धूम्रनीकाशाः) सभायां सीदतां पाकयाजिनां वा पितृणां जनकादीनां बभ्रवः पुष्टिकर्त्तारोऽग्नयो वा धूम्रनीकाशा धूम्रसदृशा भवन्ति (अग्निष्वात्तानां कृष्णा बभ्रुनीकाशाः) अग्निष्वात्तानां गृहीताग्निविद्यानां होमं विहायाग्निप्रयोक्तृणां वा पितृणां जनकादीनां कृष्णाः कृष्णवर्णाः कृष्णवर्त्मानोऽग्निज्वाला वा बभ्रुनीकाशाः पालकसदृशाः केवलपिङ्गलाः केवलाग्नयो भवन्ति (कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः) एवं वर्णास्ते सन्तीति विज्ञेयाः। इति दयानन्दः। कश्चिच्च निजविचारः॥

भावार्थ—(सोमवतां पितृणां धूम्रा बभ्रुनीकाशाः) सोमगुणयुक्त तथा सोमयाजी जनकादियोंके यज्ञधूम सुवर्ण सदृश या पिङ्गल वर्ण होते हैं (बर्हिषदां पितृणां बभ्रवो धूम्रनीकाशाः) सभामें बैठने वाले पाकयाजी जनकादि महानुभावों की पुष्टि करने वाली यज्ञाग्नियां धूमसदृश होती हैं (अग्निष्वात्तानां पितृणां कृष्णा बभ्रुनीकाशाः) अग्नि विद्याकों प्राप्त जनों या होमको छोड़कर अग्नि प्रयोग कर्त्ताओं जनकादिकों की अग्नि ज्वालाएं केवल अग्निरूपमें हो पीली होती हैं (कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः) इस प्रकार पूर्वोक्त कहे हुये धूम्र या अग्नियां इन नामोंसे व्यवहृत होती हैं॥

शिक्षा—यज्ञाग्निमें जिस प्रकारके हव्य पदार्थ डाले जावें वैसे २ अग्नियों के वर्ण और धूम्र बनकर भिन्न २ उपयोगों के कारण बनते हैं॥

यहां पर अग्निष्वात्त शब्द अग्नियोंके प्रयोगकर्त्ता विद्वानोंके अर्थमें आया है इस मन्त्रमें आए हुये अग्निष्वात्तादि शब्दों पर विचार 'मुख्यशब्दार्थसमन्वय' के प्रश्नोत्तर में देखो॥

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥
ऋ० १०। १५। ३, यजु० १९। ५६, अथ० १८। १। ४५

इस मन्त्रमें यज्ञासन पर बैठे हुए निमन्त्रित विद्वानोंके लिये बर्हिषद् पितर का प्रयोग है। विवरणके लिए देखो सूक्त० १०। १५। ३ (पृष्ठ ४३)

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आ गतावसा शन्तमेनाथा न शंयोररपो दधात ॥ ऋ० १०।१५।४
यजु० १९ । ५५, अथ० १८ । १ । ५४

इस मन्त्रमें सब कुछ पूर्ववत् समझें। विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० । १५ । ४ (पृष्ठ ४४)

प्रेत और अन्त्येष्टि

इस प्रकरणमें वे मन्त्र होंगे जिनको अन्य विद्वानों ने "प्रेत और अन्त्येष्टि" के शीर्षक में अपने ग्रन्थोंमें रक्खे हैं और इनमें क्वचित् २ यम या पितरके शब्दों से भी व्यवहार पाया जाता है अत एव उनसे प्रेत और अग्नि का परस्पर व्यवहार का परिचय हो सकेगा।

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परिग्रामादितः ।
मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयाञ्चकार ॥
अथ० १८ । २ । २७

इस मन्त्रमें शरीर से आत्माके निकल जाते ही रोग जन्तुओं का आक्रमण हो जाता है अतः उसको जल्दी घरसे निकाल कर नगरसे बाहर ले जाने तथा घर वालों को मृतसम्बन्धी चिन्ता या रोदन को हटाने तथा सान्त्वना देनेके लिये यह कहना चाहिये कि यह तो उत्पादक देवका अनिवार्य क्रम है कि जिसको उत्पन्न करता है उसीको मृत्युके मुखमें भी पहुँचाता है । इत्यादि वर्णन है । विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । २ । २७ (पृष्ठ १२६)

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीतस्य वोढवे ।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चावगच्छतात् ॥ अथ० १८ । २ । ५६

इस मन्त्र में मृतकको श्मशान ले जाने को व्यवस्था बतलाई है । स्पष्ट विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । २ । ५६ (पृष्ठ १४४)

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः* ।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ अथ० १८ । २ । ३४

* "शं नो निखाता वल्गाः शमुल्का देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु" (अथ० १० । ६ । ६) इति मन्त्रः समन्वेतव्यः ।

इस मन्त्रसे कोई विद्वान् प्रेतको गाढ़ने, बहाने, जलाने और हवामें जमीन पर खुला छोड़नेके भेदसे चार प्रकार का श्मशानकर्म बतलाते हैं।

लेखक—आश्चर्यकी बात है कि वादीने गाढ़ने आदिकी चार प्रकारकी अन्त्येष्टि इस वेदोक्त मन्त्र से बतलाई है। वैदिक विधिका आचरण करना उचित और पुण्यप्रद है। उसमें किसी ननु नच की आवश्यकता नहीं होती जब कि यह बात है तब "मैनमग्ने विदहो माभिशोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः॥ ऋ० १०। १६। १॥" इस मन्त्रकी व्याख्या में "अग्नि और पितर" के शीर्षकमें पुनः यह लिखना किस प्रकार सङ्गत हो सकता है कि "इस मन्त्रके उत्तरार्द्धसे ऐसा पता चलता है कि जब तक देह सम्पूर्णतया जल नहीं जाती तबतक आत्मा देह के आस पास ही मण्डलाती रहती है इस परिणामानुसार तो आत्माको शीघ्र मुक्त करनेके लिये वह उनके लिये निर्धारित स्थान पर भेजने के लिये शरीरका दहन करना उत्तम प्रतीत होता है" पाठक विचार करें कि पूर्व मन्त्र में गाढ़ना आदि "चार प्रकार की अन्त्येष्टि" वैदिक विधि दर्शाई और इस मन्त्रमें जलाने की विधि उचित सिद्ध की। एवं वेद के अन्दर एक ही विषयमें उचित और अनुचित विधि का दर्शाना कितना दोष है। वास्तवमें वैदिक विधि केवल जलाने के लिये ही है। स्थान २ पर जलाने के लिये ही मन्त्र मिलते हैं और अन्त्येष्टि मन्त्रोंका विनियोग भी जलाते समय ही किया जाता है। जलाने के द्वारा ही अन्त्येष्टिकर्म के लिये जिस प्रकार "मैनमग्ने विदहो माभिशोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्" (ऋ० १० । १६ । १) इस मन्त्र में अग्नि सम्बन्धी दोषोंके दूरीकरणार्थ ध्यान दिलाया है। एवं गाढने आदि अन्त्येष्टि कर्मके लिये "मैनं भूमे निखन मा दूषय मास्य त्वचं विक्षिपो मा विगात्रम्।" इत्यादि मन्त्र भूमि आदि दोषों के निवारणार्थ वेदमें होने चाहियें किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये गाढ़नादि की विधियां वेदसे सिद्ध करना असम्भव और अनुचित है। अतः "ये निखाता" मन्त्रका सत्यार्थ कोई और ही है। इस मन्त्रसे पूर्व "अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते। उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥३३॥ यह मन्त्र है जिसमें सूर्यकिरणें प्रभात उषा को हटाती हैं पुनः दिन रूपी प्रभा का प्राणी मात्र के लिये प्रकाश करती हैं। एवं दिनके प्रतिकूल रात्रि बनती है जिससे दिनरात का मिथुन क्रमशः काम करता रहता है। यहां स्पष्ट रूपमें सूर्यरश्मियोंका वैज्ञानिक प्रकरण है। अतः इसके साथ "ये निखाताः" किन्हीं विशिष्ट सूर्यरश्मियों का विधान है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। २। ३४ (पृष्ठ १३४)

अभिस्त्रोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया।

जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधया पितृषु सा त्वयि ॥ अथ० १८।२।५२

इस मन्त्रमें चितामें प्रेतदहन हो जानेसे उसका और जीवित सम्बन्धियोंका वियोग होजाता है। जीवित सम्बन्धी पार्थिव भोग भोगने वाला होता है। और मृत जन सूर्यकिरणोंमें सूक्ष्म जलके भोगको भोगता है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८।२।५२ (पृष्ठ १४२)

इदमिद्वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम्।

माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ अथ० १८।२।५०

मौतसे आगे कोई परिणाम प्राणिदेहका नहीं है। यही अन्तिम परिणाम है। इत्यादि सान्त्वनाकी चर्चा इस मन्त्रमें है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। २।५० (पृष्ठ १४१)

येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते।

तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् * ॥ अथ० ५।१९।१४

(ब्रह्मज्य! येनापां भागेन मृतं स्नपयन्ति येन श्मश्रूण्युन्दते) हे ब्रह्मघातक! येनापां भागेन जलांशेन मृतं मनुष्यं स्नपयन्ति जनाः स्नानं कारयन्ति येन च श्मश्रूणि क्लेदयन्ति (तं वै अपां भागं ते देवा अधारयन्) तं वै दूषितमपां भागं देवा देवनियमास्ते तुभ्यमधारयन् धारयन्ति त्वां दूषयन्ति सपापं कुर्वन्ति ॥

भावार्थ—(ब्रह्मज्य! येनापां भागेन मृतं स्नपयन्ति येन श्मश्रूण्युन्दते) हे ब्रह्मघातक! जिस जलांशसे इस तेरे मारे हुए मनुष्यको लोग स्नान कराते हैं और जिस जलांशसे इसके केश गीला करते हैं (तं वै अपां भागं ते देवा अधारयन्) वही दूषित जलांशको दैवनियम तेरे लिये धारण करते हैं। उससे तुझे दूषित बनाते हैं ॥

शिक्षा—विषादि द्वारा आत्महत्यासे मरे हुये मनुष्यको जिस जलमें स्नान कराया जावे या जिस जलमें उसके केश भिगोये जावें वह जल उस घातक विषसे दूषित होजाता है। अथवा उसका घातक मनुष्य उसके पापका भागी बन जाता है ॥

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं लोकमक्रन्।

अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै ॥

ऋ० १०।१४।९, अथ० १८।१।५५

---

* कृत्रिम इव मन्त्रः।

इस मन्त्रमें शरीरपात होजानेके बाद जीव सूर्यकी प्रथम पृथिवीसम्बन्धी सूर्यरश्मियों फिर अन्तरिक्षसम्बन्धी किरणों और पश्चात् द्युस्थानसम्बन्धी रश्मियों को प्राप्त होता है एवं स्थूल शरीरके विना ही कुछ दिन उषा और रात्रियोंतक विराम में रहकर पुनर्जन्ममें आता है। इत्यादि बातोंका वर्णन है। शवदहनकी किसी क्रिया का वर्णन नहीं है। विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १०। १४। ६ (पृष्ठ ३२)

इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा।
स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निमृड्ढि दक्षिणम्॥ अथ० १८।४।५६

इस मन्त्रमें जीव अपने कर्मफल भोगनेके लिये मनुष्यशरीरमें गर्भको प्राप्त होता है। जिस गर्भका मूलस्वरूप शुक्ररूपमें पिताके शरीरमें स्थिर होता है। अत एव सन्तान निज पिताके कर्तव्य भारको हाथमें लेकर अपनी वंशपरम्पराको अलङ्कृत करता है। इत्यादि गर्भविद्याका प्रदर्शन है। शरीर-यज्ञ प्रकरणका यह मन्त्र है। इसमें प्रेतदहनकी कोई चर्चा नहीं है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। ४। ५६ (पृष्ठ २१६)

एतत्त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा।
इष्टापूर्तमनु संक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु॥
अथ० १८। २। ५७

इस मन्त्रमें शरीरको पुराने वस्त्रके तुल्य त्यागने और दूसरे शरीरको अपने किये दान धर्म आदिके अनुसार प्राप्त करनेको चर्चा है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अ० १८। २। ५७ (पृष्ठ १४५)

आ प्रच्यवेथामप तन्मृजेथां यद् वाममभिभा अत्रोचुः।
अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विहि भोजनौ मम॥
१८। ४। ४९

इस मन्त्रमें प्रेत दहनका कोई जिक्र नहीं है। किन्तु गृहस्थमें पतिपत्नीको धार्मिक विद्वानोंसे उपदेश ग्रहण करने और तदनुसार आचरण बनाने तथा जहां कहीं भी विद्वानोंका सत्सङ्ग प्राप्त हो वहां पहुँचकर लाभ उठाने आदि गृहस्थधर्मों का वर्णन है प्रेतक्रिया का नहीं। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। ४। ४९ (पृष्ठ २१२)

अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः अस्य लोकः सुतावतः ।
द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै ॥ यजुः० ३५ । १

(देवपीयवः पणयोऽसुम्नेतोऽपयन्तु) विदुषां द्वेष्टारो व्यवहारिणोऽसुखान्येभ्यो दातारो दूरमपयन्तु गच्छन्तु (लोको यमो द्युभिरहोभिरक्तुभिरस्य सुतावतोऽस्मै व्यक्तमवसानं ददातु) दर्शनीयो यन्ता द्युभिः प्रकाशमानैर्दिनैरात्रिभिरस्य शुभकर्मसु प्रेरितस्यैवं भूतायास्मै प्रसिद्धमवकाशं ददातु । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(देवपीयवः पणयोऽसुम्नेतोऽपयन्तु) विद्वानोंके द्वेषी व्यावहारिक लोग इनके लिये दुःख देने वाले यहांसे चले जावें (लोको यमो द्युभिरहोभिरक्तुभिरस्य सुतावतोऽस्मै व्यक्तमवसानं ददातु) दर्शनीय यमनशील परमात्मा कुछ दिन और रात्रियोंसे इस शुभकर्ममें प्रेरित महानुभावके लिये प्रसिद्ध अवकाशका दान करे ॥

शिक्षा—धार्मिक विद्वान् जनके विरोधी लोगोंको कुछ अहोरात्रमें ही सकल नियन्ता परमात्मा पापका फल देता है । पुनः वह विद्वान् उस पापीकी पीड़ा से मुक्त हो जाता है ॥

इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥
अथ० १८ । ४ । ४४

इस मन्त्रमें जीवका शरीर धारण करना केवल इसी समयके लिये नहीं है किन्तु आत्माके नित्य होनेसे पहलेसे ही चला आता है और आगे भी चलता रहेगा । इत्यादि सिद्धान्तका वर्णन है प्रेतदहनका कोई प्रकार नहीं । विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ४ । ४४ (पृष्ठ २०६)

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः ।
अभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ अथ० १८ । ४ । ६५

इस मन्त्रमें जीवात्माका संयोजन हृदयमें होता है और चितिशक्ति भी वहीं पर स्थित होती है इत्यादि वर्णन है प्रेत क्रियाका नहीं विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ४ । ६६ (पृष्ठ २२३)

सूचना—इससे आगे अन्त्येष्टि संस्कार के कुछ वे मन्त्र दिए जाते हैं

भूमिको बोने योग्य बनादे और उसमें जल सींचकर वा जल धाराओंसे युक्त करके ऋतुओंसे होने वाले आशंसनीय पाक और फलोंको प्राप्त करे ॥

इस मन्त्रमें जनक महानुभावों तथा ऋतुओंके लिये पितर शब्द आया है और उनके लिये आश्रमभूमि अथवा कृषिभूमिको तय्यार करके आशीर्वादों और ऋतुफलोंके प्राप्त करनेका विधान है। यहां यज्ञका लेश भी नहीं है अन्य विद्वानों ने यज्ञके प्रकरणमें इस मन्त्रको रख कर मरे पितरों के लिये चर्बी पहुँचानेकी कल्पना की है जो ठीक नहीं है ॥

परायात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः ।
अधा मासि पुनरायात नो गृहान् सुप्रजसः सुवीराः ॥ अथ १०।४।६३

इस मन्त्रमें प्राणोंके लिये पितर शब्द आया है। और रक्तको शुद्ध बनाने के लिये तन्तुरूप शरीरमार्गों से सारे शरीरमें रक्तको भ्रमण कराते हुए फुफ्फुस आदि मांसपिण्डमें ले जाते हैं। इस प्रकर बारम्बार रक्तप्रवाह का काम करते हैं। शरीरयज्ञमें उनका ऐसा यह व्यवहार है विवरण के लिए देखो सूक्त० अथ० १८। ४।६३ (पृष्ठ २२१)

येऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥ अथ० १८ । ४ । ६८

इस मन्त्रमें पितर शब्द प्राणोंके लिये आया है और उनको स्वकार्यमें संचरित करनेका प्रेरक चितिशक्ति या मन है। जो ६६ वें मन्त्रमें वर्णित है । उसीको इस मन्त्रमें बर्हि नामसे कहा है। यहां आसन देनेका कोई प्रसङ्ग नहीं जिसको किन्हीं महानुभावोंने अपने ग्रन्थमें दर्शाया है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। ४ । ६८ (पृष्ठ २२४)

अपूपवान् मांसवाँश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे
ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ अथ० १८ । ४ । २०

इस मन्त्रमें पितर शब्द नहीं है और न ही पितरोंका यहां कोई प्रकरण है। न केवल इसी मन्त्रमें किन्तु इस अनुवाकके "आ रोहत जनित्रीं......" इस मन्त्रसे लेकर "अपूपवान् मांसवान्......" इस प्रकृत मन्त्र तक स्वतन्त्ररूपसे पितर शब्दका प्रयोग भी नहीं है फिर यहां पर पितरोंके लिये मांसवाले चरु की कल्पना करना अत्यन्त अनुचित और असङ्गत है जो कि अन्य विद्वानों नें की है। प्रत्युत यहां पर तो "लोककृतः" "पथिकृतः" वचनोंसे तीन अग्नियोंका प्रकरण चला आता

है जिनको प्रथम मन्त्रसे ही सम्बोधित किया हुआ है। "आरोहत जनित्रीं जातवेदसः" में जातवेदसः के नामसे तथा चतुर्थ मन्त्रमें "अयः सुपर्णाः" के नामसे कहा गया है और फिर "अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः। महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः ॥ ८ ॥ पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात्तपतु गार्हपत्यः। दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षात् दिशो दिशो अग्ने परि पाहि घोरात्" ॥ ९ ॥ इन मन्त्रोंमें पूर्वाग्नि (आहवनीय) गार्हपत्य और दक्षिणाग्निके नामसे वर्णन किया है इन तीनों अग्नियोंका उपयोग समष्टि रूप (सम्पूर्ण संसार) व्यष्टिरूप (शरीर) यज्ञ में होता है। प्रथम मन्त्रसे लेकर चौदहवें मन्त्र तक समष्टियज्ञमें उक्त तीन अग्नियोंका उपयोग था किन्तु "अग्निर्होताध्वर्युष्टे बृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिणतस्ते अस्तु हुतोयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम्" ॥ १५ ॥ इस मन्त्रसे शरीरयज्ञका प्रारम्भ होकर उक्त तीन अग्नियोंका उपयोग प्राणाग्नियोंके रूपमें स्थिर हो जाता है। शरीरके अन्दर उक्त तीनों अग्नियोंके वर्तमानमें अन्यत्र प्रमाण भी मिलते हैं—

"प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद् गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः" प्रश्नो० ४। ३॥

"शरीरमिति कस्मात्, अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते······मुखे आहवनीय उदरे गार्हपत्यो हृदि दक्षिणाग्निः" ॥ गर्भोप० ५ ॥

अतः शरीरयज्ञमें पूर्वोक्त प्राण अपान और व्यान रूप अग्नियां हैं जो कि मुख उदर और हृदयमें वर्तमान होकर शरीरके अन्दरके शुक्र, श्लेश्म, लसिका, रक्त, मांस, मेद, स्नायु, अस्थि और मज्जा इन नौ प्रकारकी वस्तुओंसे तन्मय हुए अवयवों या कोशोंका परिपाक या परिणाम करती रहती हैं। एव इस शरीर-यज्ञके प्रकरणका "अपूपवान् मांसवांश्चरुः०" यह प्रकृत मन्त्र है जिसमें उक्त अग्नियोमें शरीरके अन्दरके मांसमय कोशका परिपाक या परिणाम वर्णित है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। ४। १५-२४ (पृष्ठ १६५—१६७)

यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥ अथ० १८। ४। ४२

इस मन्त्रमें भी पूर्व प्रकृत शरीरयज्ञका वर्णन है और मुख्यतः रक्त, शुक्र, मांस इन तीन धातुओं पर शरीरका निर्भर है तथा इनके उपयोगी स्वादु अन्न, रसीले पदार्थ और स्नेह युक्त वस्तुओं का वर्णन है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। ४। ४२ (पृष्ठ २०८)

पितर और अग्नि

इस प्रकरणमें वे मन्त्र होंगे जिनमें पितर और अग्निका कोई सम्बन्ध या परस्पर व्यवहार दर्शाया गया हो। हम 'मुख्यशब्दार्थसमन्वय' में बतला आये हैं और स्थान २ पर मन्त्रोंमें सिद्ध कर आये हैं कि ज्ञानीजन, सूर्यकिरणें, प्राण और ऋतुआदि पदार्थ भी पितर हैं एवं उनका अग्निके साथ सम्बन्ध या परस्पर व्यवहार का यहां वर्णन है। यज्ञाग्निका ऋत्विगादि ज्ञानीजनरूप चेतन पितरों और रश्मिरूप जड़पितरोंके साथ सम्बन्ध तथा व्यवहार पड़ता है। पार्थिव अग्निका किरणोंके साथ तथा सूर्यरूप अग्निका स्वरश्मियोंके साथ एवं शरीरके अन्दर जाठराग्निका प्राणोंके साथ सम्बन्ध और व्यवहार पड़ता है इन सबकी चर्चा इस प्रकरणमें होगी॥

अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥
अथ० १८।४।६५

इस मन्त्रमें पितर शब्द प्राणोंके लिये आया है। उनका जाठराग्निके साथ सम्बन्ध दर्शाया है। शरीर-यज्ञमें जाठराग्नि मध्याह्न और सायं भोजनकालमें खाये हुये अन्नको पचाकर लसिका परिणामको प्राणोंके प्रति सुपुर्द कर देती है एवं जाठराग्नि और प्राणोंका परस्पर सम्बन्ध वर्णित है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८।४।६५ (पृष्ठ २२२)

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम्।
स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान्॥ अथ० १८।४।४१

इस मन्त्रमें पितर शब्द प्राणोंके लिये आया है जो कि सर्वत्र शरीरमें फैले हुए हैं। उन सबको शरीरके अन्दर स्थित हुवोंको जाठराग्नि प्राप्त है जिसकी उष्णता से ये शरीरके अन्दर सञ्चार करते हैं। उस अग्निको जोकि यावज्जीवन वर्तमान रहती है जीवात्मा नानाविध भोजनोंसे प्रज्वलित करता है। एवं वह जाठराग्नि शरीरसञ्चारी प्राणोंको प्राप्त होती है यह एक सम्बन्ध समझना चाहिये। विवरण के लिये देखो सूक्त० अथ० १८।४।४१ (पृष्ठ २०७)

यद्वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः।
तद्व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्॥
अथ० १८।४।६४

इस मन्त्रमें प्राणोंके लिये पितर शब्द है और यह मन्त्र शरीरयज्ञके प्रकरण में है। किसी अङ्गके विकृत होनेपर आत्माकी इच्छाशक्ति और चिकित्सा आदिसे उसमें पुनः प्राणसञ्चार करानेका वर्णन है और प्राणस्थान देहका नाम यहां पितृ-लोक है। विवरणके लिये देखो सू० अथ० १८। ४। ६४ (पृष्ठ २२२)

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम्।
स बिभर्त्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्त्ति पिन्वमानः॥

अथ० १८। ४। ३५

इस मन्त्रमें शरीरके अन्तवर्ती अग्निके अर्थमें वैश्वानर शब्दका प्रयोग है जो कि शरीरधारणका हेतु है। यहांपर मरे हुवे पितरों और किसी परोक्ष वैश्वानर अग्निका अर्थ करना उचित नहीं। आश्चर्य है कि किन्हीं विद्वानोंने इस मन्त्रमें "वैश्वानर अग्निका पितरोंको धारण करना" ऐसा माना है और उधर पूर्वसे चले हुए कई मन्त्रोंमें क्रव्याद् अग्निका पितरोंके साथ सम्बन्ध बताया है इस प्रकार फिर वैश्वानर और क्रव्यात् का भेद क्या रहा? अर्थविवरणके लिये देखो सूक्त० अ० १८। ४। ३५ (पृष्ठ २०४)

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥

ऋ० १०। १५। ९

इस मन्त्रमें रश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है और उनका यज्ञाग्निके साथ इस प्रकार प्रयोग है कि यज्ञाग्निमें जब घृत और सामग्रीकी पुष्कल आहुतियोंसे महान् यज्ञ किया जाय तो तेजस्वी सूर्यकिरणें अग्निसे सूक्ष्म बनाये हुए पदार्थोंको और भी सूक्ष्म करती हुई ऊपर फेंक देती हैं। एवं जिस प्रकार अग्निका हुत पदार्थोंको छेदन भेदन करनेका कर्म है वैसे ही सूर्यरश्मियोंका भी है अतः यज्ञप्रारम्भके समकालसे ही मानो सूर्यरश्मियां भी अग्निके साथी बनकर हुतपदार्थोंको सूक्ष्म करनेका काम करती हैं विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १०। १५। ६ (पृष्ठ ४७)

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥

ऋ० १०। १५। १०

इस मन्त्रमें भी पूर्वके समान पितर शब्द सूर्यकिरणोंके लिये तथा उनका अग्निके साथ उपयोग है। यहां पर प्रातः मध्याह्न और सायंके भेदसे तीन प्रकारकी सूर्यकिरणोंका सम्बन्ध यज्ञमें दर्शाया है। जो कि जलका भक्षण और शोषण करती हैं। विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १० । १५ । १० (पृष्ठ ४८)

त्वमग्न ईडितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥
ऋ० १० । १५ । १२, अथ० १८ । ३ । ४२

त्वमग्न ईडितः कव्यवाहनोवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षनद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥
यजु० १९ । ६६

इस मन्त्र में सूर्य रश्मियों के लिये पितर शब्द आया है उनके लिये यज्ञ में अग्नि हुतद्रव्योंको सूक्ष्म सुगन्धियुक्त बना कर देती हैं। पुनः वे भी अपनी धारण-शक्तिसे सूक्ष्म बनाते हैं। हुतद्रव्योंको जैसे ही अग्नि सूक्ष्म बनाती है वैसे ही सूर्य रश्मियोंके मानो सुपुर्द कर देती है। एवं यज्ञाग्नि और सूर्यरश्मियों का सम्बन्ध दर्शाया है। विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १० । १५ । १२ (पृष्ठ ४६)

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म ।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥
ऋ० १० । १५ । १३

इस मन्त्रमें सूर्य रश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है। जो कि यज्ञस्थान में प्राप्त और अप्राप्त हैं उन सबके प्रति यज्ञाग्नि आहुतिकी सूक्ष्मताके द्वारा प्राप्त होती है यह दर्शाया है। विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १० । १५ । १३ (पृष्ठ ४६)

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्र धमाति यज्ञात् ॥
अथ० १८ । २ । २८

इस मन्त्रमें मृतदेहमें प्रविष्ट होने वाले तथा उत्पन्न होनेवाले रोग जन्तुओं को दस्यु कहा गयाहै और वे मृतपुरुषकी पालना करने वालोंके शरीरमें सहवास और सेवादि कर्म से घुस आते हैं। उनको होमाग्नि अपनी भेदनशक्ति और सुगन्धसे

पृथक् कर देती है यह प्रसङ्ग है। यहां का पितर शब्द उस मृतमनुष्य को औषध और उपचार आदि से पालना करने वालों के अर्थमें है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। २। २८ (पृष्ठ १३०)

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि ।

उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥

ऋ० १०। १६। १२, यजु० १९। ७०, अथ० १८। १। ५६

यहां भी सूर्य रश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है। शवदहन करते हुए घृत आदि आहुतियोंसे अग्निको प्रदीप्त करने तथा शवसहित हुत द्रव्यको सूक्ष्म बनाकर आकाश में ले जाने का प्रसङ्ग है। विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १०। १६। १२ (पृष्ठ ६१)

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि ।

द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ अथ० १८।१।५७

इस मन्त्रमें केवल द्युमन् शब्द अधिक है। जिसका अर्थ दीप्ति वाला है। शेष पूर्व मन्त्रके अनुसार समझें ॥

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।

सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ अथ० १८। २। ३४

इस मन्त्रमें सूर्य किरणोंके लिये पितर शब्द आया है। निखात आदि इन के विशेषण हैं। जो कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायुमें प्राप्त हुई सूर्यकिरणोंके हैं। शव दहनमें ये चारों प्रकारकी किरणें शवके अवयवोंको पृथिवी आदि में यथास्थान पर पहुँचा देती हैं। जिनमें एक आग्नेय रश्मिवर्ग है। अन्य विद्वानों ने जिनको मृत जीवोंके नामसे कह कर उनको आहुति भक्षण के लिये निमन्त्रित किया है। जो कि प्रकरण और विद्यासे विरुद्ध कथन है। इस मन्त्रके सम्बन्ध में हम आगे विशेष लिखेंगे जहां कि "चार प्रकारकी अन्त्येष्टि" का शीर्षक अन्य विद्वानोंने दिया है। तथा अर्थ और सम्बन्धके विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८। २। ३४ (पृष्ठ १३४)

यो अग्निः क्रव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः ।

प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ॥ ऋ० १०। १६। ११, यजु० १९। ६५

इस मन्त्रमें सूर्य रश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है। शवदहनमें मांस जलाने वाली अग्निके अन्दर जब घृतादि आहुति भी दी जाती हैं तो वह उन दोनों वस्तुओंको सूक्ष्म करती है। और चटचटाहट और सर-सर शब्दोंके साथ शव और घृतादि आहुतिको सूर्य रश्मियोंके प्रति पहुंचानेका वर्णन है। विवरणके लिये देखो सूक्त ऋ० १० । १६ । ११ (पृष्ठ ६०)

मैनमग्ने विदहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् ।
यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः ॥ऋ०१०।१६।१

मैनमग्ने विदहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् ।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात्पितृभ्यः ॥ अथ०१८।२।४

इस मन्त्रमें सूर्यरश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है। चिताग्निमें जब शव जलाया जाता है। तो उसको अग्नि अधपका या विना जला न छोड़े और न चटका २ कर फेंके। किन्तु उसका सूक्ष्म पाक बनाकर सूर्यरश्मियोंको पहुँचादे। इसलिये यहां कहा गया है कि शवको अग्नि न विदग्ध करे न विना जला छोड़े और न इसकी त्वचा या शरीरको चटकाने एवं चितामें अग्नि दहनक्रियाका विधान है। विवरणके लिए देखो सूक्त० ऋ० १० । १६ । १ (पृष्ठ ५३)

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्य ।
यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥ ऋ० १०।१६।२

इस मन्त्रमें भी सूर्यरश्मियोंके लिये पितर शब्द है। यहां पर यह वर्णन है कि यद्यपि शवको अग्नि सूक्ष्म करके सूर्यकिरणोंके प्रति पहुँचा देती है अपि तु जिस समयसे यह प्राणि-शरीर मरण स्थिति को प्राप्त हो चुकता है तभी से पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि देवोंका वश्य होजाता। इसके शरीरांश छिन्न भिन्न होकर उक्त पृथिवी आदिको प्राप्त होने लगते हैं। भेद यही है कि अग्नि तत्काल ही उसके अवयवोंको छिन्न भिन्न करके सूर्य किरणों द्वारा यथास्थान पहुँचा देती है। विवरणके लिए देखो सूक्त० ऋ० १० । १६ । २ (पृष्ठ ५४)

जीवानामायुः प्रतिर त्वमग्ने पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः ।
सु गार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥
अथ० १२ । २ । ४५

(अग्ने त्वं जीवानामायुः प्रतिर) अग्ने हे अग्ने ! त्वं सर्वेषां जीवानां

जीवधारिणामायुः प्रतिर विस्तारय (ये मृताः पितृणां लोकमपि गच्छन्तु) ये मृता मरणं प्राप्तास्ते पितृणां लोकमन्तरिक्षमपि गच्छन्तु (गार्हपत्योऽरातिं वितपन्नुषामुषां श्रेयसीमस्मै सुधेहि) यो गार्हपत्योऽग्निः स त्वमरातिं पापं वितपन् दूरी कुर्वन् उषामुषां प्रतिदिनमस्मै जीवाय श्रेयसीं सुधेहि सुसम्पादय ॥

भाषार्थ—(अग्ने त्वं जीवानामायुः प्रतिर) हे अग्ने ! तू सब जीवधारियों की आयुको विस्तृत कर (ये मृताः पितृणां लोकमपि गच्छन्तु) जो मरणको प्राप्त हो गए हैं वे अन्तरिक्षमें जावें (गार्हपत्योऽरातिं वितपन्नुषामुषां श्रेयसीमस्मै सुधेहि) गार्हपत्य अग्नि तू पापको तपाती हुई अर्थात् रोगको दूर करती हुई प्रति दिन इस जीवके लिये श्रेष्ठ जीवनी को सम्पादन करा।

शिक्षा—अग्नि अपनी तैजस शक्तिसे जीवित मनुष्योंकी आयुकी सहायक और मृत प्राणियोंको अन्तरिक्षमें पहुँचाती है। एवं वह अग्नि प्रतिदिन घरमें होम द्वारा अनेक रोगोंको दूर करके जीवोंको सुख पहुँचाती है ॥

इस मन्त्रमें अन्तरिक्षके लिये पितृलोक शब्द आया है और पूर्व मन्त्रोंके अनुसार पितर रश्मियों के अर्थमें हैं। अग्नि शव को जला कर सूर्यकी किरणोंमें पहुँचाती है यह भी पूर्वके समान है ॥

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उपवेतु शेषः सङ्गच्छतां तन्वा जातवेदः ऋ० १६।१६।५

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान्।
आयुर्वसान उपयातु शेषः सङ्गच्छतां तन्वा सुवर्चाः। अथ० १८।२।१०

इन मन्त्रोंमें सूर्यरश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है। उनका पुनर्जन्ममें सहायक होना दर्शाया है। विवरणके लिये देखो सू० ऋ०। १०। १६। ५ (पृष्ठ ५६)

यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनूः पितृष्वाविवेश।
पुष्टिर्या ते मनुष्येषु प्रपथेऽग्ने तया रयिमस्मासु धेहि ॥ अथ० १९।३।३

(देवेषु यस्ते स्वर्गो महिमा) देवेषु देवलोकेषु सूर्यलोकेषु सूर्यलोकवासिषु "देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा (निरु० ७। १५) यस्तव स्वर्गो द्युस्थानगतो महिमाऽस्ति (या ते तनूः पितृष्वाविवेश) या ते तनूर्ज्वाला रश्मिरूपा पितृषु पितृलोकेषु चन्द्रलोकेषु चन्द्रलोकवासिष्वाविवेशाविष्टा (या पुष्टिस्ते मनुष्येषु प्रपथे) या पुष्टिः पोषयित्री ज्वाला ते मनुष्येषु मनुष्यलोकेषु पृथिवीस्थप्राणिषु

प्र नु वोचा सुतेषु वां वीर्या यानि चक्रथुः ।
हतासो वां पितरो देवशत्रव इन्द्राग्नी जीवथो युवम् ॥ ऋ० ६।९।५

(इन्द्राग्नी युवं सुतेषु यानि वीर्या चक्रथुः) अध्यापकाध्येतारौ युवां सुतेषु निष्पन्नेषु यानि वीर्याणि कुरुथः (देवशत्रवो हतासो जीवथः) तैर्देवानां विदुषामरयो नष्टाः । अत एव युवां जीवथः (प्रवोचा नु वाम्) अहं च युवामुपदिशामि (पितरो वाम्) पालकाश्च युवामुपदिशन्तु । तथा च दयानन्दः ॥

भावार्थ—(इन्द्राग्नी युवं सुतेषु यानि वीर्या चक्रथुः) हे अध्यापक और विद्यार्थी तुम दोनों प्रसिद्ध विद्याविषयोंके अन्दर जो भी परिश्रम करते हो (देवशत्रवो हतासो जीवथः) उन परिश्रमोंके द्वारा विद्वानोंके शत्रु अर्थात् अज्ञानादि दोष नष्ट हो जाते है । अत एव तुम पढ़ने पढ़ाने वालोंका जीवन स्थिर रहता है (प्रवोचा नु वाम्) और मैं तुमको उपदेश करता हूँ तथा (पितरो वाम्) पालक जन भी तुम्हें उपदेश करें ॥

शिक्षा—अज्ञानादि दोषोंके दूर करनेके लिये विद्याध्यापन या विद्याप्रचार-द्वारा गुरु शिष्यों की परम्परा चलानी चाहिये ॥

इस मन्त्रमें प्रवचन करने वाले ज्ञानी जनोंके अर्थमें पितर शब्द आया है । और जो किन्हीं विद्वानोंने हिंसा करने वाले जन पितर शब्दसे लिये हैं वह ठीक नहीं । हमने अपने ग्रन्थमें 'मुख्यशब्दार्थसमन्वय' में पितर शब्दके प्रामाणिक अर्थों पर पूरा विचार किया है पितृशब्दको हिसक अर्थमें किसी ऋषि या आचार्यने नहीं माना है । किन्तु प्रतिकूल पालकके अर्थमें स्वीकार किया है । "पितरः पातारो पालयितारो वा" (बहुवचने) (निरुक्त ४ । २१) ॥

कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्युस्विदापः ।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम् ॥
ऋ० १० । ८८ । १८

(कवयः पितरो वः पृच्छामि) कवयो हे क्रान्तदर्शिनः पितरो विद्वज्जनाः ! वो युष्मानहं पृच्छामि (कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्युस्विदापः) अग्नयः कति सन्ति, सूर्याः कति सन्ति, उषाः कति सन्ति, आपश्च कति सन्ति (नोपस्पिजं वो वदामि) नाहमुपस्पिजमुपपीडकवचनमुपक्षेपं परीक्षावचनं वो युष्मान् वदामि । 'स्फिट्ट हिंसायां ततो बाहुलकादौणादिको डिजि प्रत्ययः । फस्य पः' (विद्मने कम्) अपि तु विज्ञानायैव वदामि ॥

भावार्थ—(कवयः पितरो वः पृच्छामि) हे क्रान्तदर्शी विद्वानो ! मैं तुम को पूछता हूँ (कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्युस्विदापः) अग्नियां कितनी हैं सूर्य कितने हैं उषाएं कितनी हैं और जल धारायें कितनी हैं (उपस्पिजं वो न वदामि) मैं कोई पीड़क वचन या उपारोहण अथवा परीक्षाकी बात तुम्हारे प्रति नहीं करता हूँ (विद्मने कम्) अपितु ज्ञान प्राप्तिके लिये ही बोलता हूँ ॥

शिक्षा—पदार्थविद्या वेत्ता विद्वानोंकी सेवामें उपस्थित होकर उनसे अग्निविद्या, सूर्यविज्ञान, उषादि सम्बन्धी खगोल परिचय और जलविद्या सीखनेके लिये बड़ी नम्रताके साथ प्रश्न करना चाहिये। आक्षेप या परीक्षाके तुल्य कदापि न पूछें किन्तु जिज्ञासाभावसे ही पूछना उचित है ॥

इस मन्त्रमें ज्ञानी जनोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः ।
वन्वन्नवातः परिधींरपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः ॥

ऋ० ९ । ९६ । ११, यजु० १९ । ५३

(पवमान सोम त्वया नः पूर्वे धीराः पितरः कर्माणि चक्रुः) हे पवित्र शुद्धिकारक ऐश्वर्यसम्पन्न सन्तान ! त्वया विदुषाऽस्माकं प्राचीना वृद्धा धीमन्तोऽध्यापकादयः कर्माणि कृतवन्तः (अवातो हि वन्वन् वीरेभिरश्वैर्नः परिधीनपोर्णु मघवा भव) हिंसारहितो धर्मं सेवमानो वीरैस्तुरङ्गैरस्माकं धारणस्थानान्याच्छादय प्रशंसितधनयुक्तस्त्वं भव । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(पवमान सोम त्वया नः पूर्वे धीराः पितरः कर्माणि चक्रुः) हे पवित्र शुद्धिकारक ऐश्वर्यसम्पन्न सन्तान ! तुझ विद्वान्के साथ हमारे प्राचीनवृद्ध बुद्धिमान् अध्यापक आदिकोंने अपने कर्तव्यकर्मको किया है (अवातो हि वन्वन् वीरेभिरश्वैर्नः परिधीनपोर्णु मघवा भव) हिंसारहित होकर धर्मका सेवन करते हुए युद्धोपयोगी घोड़ोंके द्वारा हमारे धारणस्थानोंको आच्छादित और प्रशंसित धनयुक्त तू हो ॥

शिक्षा—पवित्रविचार ऐश्वर्यसम्पादन करने वाली सन्तानको शिक्षा दिलाना मानो शिक्षकमहानुभावोंकी विद्याको सफल करना है तथा वह सन्तान अपने जनकादिकोंकी सब प्रकारसे रक्षा करनेमें समर्थ भी होती है ॥

इस मन्त्रमें अध्यापकादि ज्ञानी जनोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय साम ।
येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन् ॥

ऋ० १ । ६२ । २, यजु० ३४ । १७

(महे शवसानायाङ्गिरसः पदज्ञा वो नः पूर्वे पितरो महि सामाङ्गूष्यं नमोऽर्चन्तो गा अविन्दन् प्रभरध्वम्) हे मनुष्याः ! महते ज्ञानवते सभाध्यक्षायाङ्गिरसः प्राणादिविद्याविदः पदज्ञा धर्मार्थकाममोक्षादिपदानां ज्ञातारो युष्माकमस्माकं च पूर्वे पितरः महत् साम स्यन्ति खण्डयन्ति दुःखानि येन तदाङ्गूष्यमङ्गूषाणां विज्ञानानां भावस्तं नमो नमस्करणमन्त्रं वा सत्कुर्वन्तो गा विद्याप्रकाशयुक्ता वाचोऽविन्दन् प्राप्नुयुः । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(महे शवसानाय) हे मनुष्यो ! ज्ञानवान् महान् सभाध्यक्ष के लिये (अङ्गिरसः पदज्ञा वो नः) प्राणादिविद्याके जानने वाले तथा धर्मार्थकाममोक्षादि पदोंके वेत्ता महानुभाव तुम्हारे और हमारे (पूर्वे पितरः) पूर्व पितर (महि साम) बड़ेभारी दुःखविनाशक (आङ्गूष्यन्नमोऽर्चन्तः) विज्ञानोंके भावको प्रदर्शित करते हुए नमस्कार करते हुए (गा अविन्दन्) विद्याप्रकाशयुक्त वाणियोंको प्राप्त हुए हैं ॥

शिक्षा—सभाध्यक्ष और जिनका विद्याप्रकाश प्रखर हो ऐसे विद्वानोंका सदा सत्कार करना चाहिये जिससे कि विद्यालाभ हो सके ॥

इस मन्त्रमें पितर शब्द ज्ञानीजनोंके लिये आया है और अङ्गिरस शब्द विशेषण रूपमें प्राणविद्या वेत्ताके अर्थमें है ॥

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।
येना सं गच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु ॥

अथ० ७ । १२ । ११

(सभा च समितिश्च मावताम्) सभा च विद्वत्सभा राजसभा "पार्लियामैण्ट" इति प्रसिद्धा नूतनकाले । समितिश्च सङ्ग्रामसेना शिविरम् "केण्टुनमैण्ट" इति प्रसिद्धा "समितिरिति सङ्ग्रामनाम" (नि० २ । १७) प्रजापतेः प्रजा पालकस्य राज्ञो दुहितरौ स्तस्ते संविदाने परस्परमैकमत्यं गते मामवतां रक्षताम् (पितरो येना सङ्गच्छै स मोपशिक्षात्) पितरो हे पालकराजपुरुषाः ! भवत्सु येन साकमहं सङ्गच्छै सङ्गच्छेय स मामुपशिक्षादुचितमार्गमुपदिशतु (सङ्गतेषु चारु वदानि) यतोऽहं सङ्गतेषु राजप्रजासम्मेलनस्थानेषु चारूचितं वेदयम् ॥

भावार्थ—(सभा च समितिश्च मावताम्) विद्वत्सभा या राजसभा अर्थात् पार्लियामैण्ट (Parliament) और सङ्ग्रामसेना अर्थात् कैण्टुनमैण्ट (Cantonment) प्रजापालक राजाकी पुत्रोके समान हैं । वे दोनों परस्पर एक मत होकर मेरी रक्षा करें (पितरो येना सङ्गच्छै स मोपशिक्षात्) हे पालकराजपुरुषो !

आपमें से जिसके साथ मैं मिलूं वह मुझे उचित मार्ग या नियमको समझावे। जिससे कि मैं (सङ्गतेषु चारु वदानि) राजप्रजासम्मेलन स्थानोंमें उचित अभिप्राय रख सकूं ॥

शिक्षा—राष्ट्रके अन्दर प्रत्येक प्रजाजनको चाहिये कि वह राजसभा और सेनाके नियमोंको जानकर उनसे अपनी रक्षाका उचित उपाय करे। तथा अवसर पर अनियम जान पड़ने में उसका प्रतिवाद न्यायालयादि सम्मेलन स्थानोंमें कर सके ॥

इस मन्त्रमें राजपुरुषोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतो वीरा उरवो व्रातसाहाः ॥

ऋ० ६।७५।९, यजु० २९।४६

(स्वादुषंसदो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराश्चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतो वीरा व्रातसाहा उरवः पितरः) ये स्वादून्यन्नानि भोक्तुं संसीदन्ति न्यायं कर्तुं सभायां वा वयोधा वयोधारका युवानः कृच्छ्रे कठिने नियमे सुदृढाः शक्तिमन्तो गम्भीरा दूरदर्शिनोऽद्भुतसेना इषुबला इषुभिः शस्त्रास्त्रैर्बलं सैन्यं येषां ते शस्त्रास्त्रयुक्ता अमृध्रा हिंसारहिताः सतो वीराः सत्वबलोपेताः व्रातसाहाः शत्रुसमूहसोढार उरवो बहवो बहुविधाः पितरोऽस्माकं रक्षका भवन्तु। तथा च दयानन्दः ॥

भावार्थ—(स्वादुषंसदः) जो स्वादु अन्न खानेके लिये प्राप्त होते हैं या न्याय करनेको सभामें बैठते हैं (वयोधाः) वयोधारक युवावस्था को प्राप्त (कृच्छ्रेश्रितः) कठिन नियममें सुदृढ (शक्तीवन्तः) शक्तिमान् (गभीराः) दूरदर्शी (चित्रसेनाः) अद्भुतसेना वाले (इषुबलाः) शस्त्रास्त्र बल वाले (अमृध्राः) अहिंसित (सतो वीराः) सत्वबलयुक्त (व्रातसाहाः) शत्रुसमूहको सहारने वाले (उरवः) बहुत असंख्य या बहुत प्रकार वाले (पितरः) सैनिक जन हमारे लिये हों ॥

शिक्षा—सेनाके अन्दर अथवा राष्ट्रके न्यायप्रिय राजपुरुष पुष्टशरीरवाले, कठिनाई में न घबराने वाले, शक्तिशाली, गम्भीर, भयप्रद, शस्त्रास्त्रबल वाले, विजयशील, स्थिर, शत्रुओंके आक्रमणको सहन और प्रतिकार करने वाले, बहुत संख्यामें होने चाहियें ॥

इस मन्त्रमें सैनिक पुरुषोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

वातासो न ये धुनयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः।
वर्मण्वन्तो न योधाः शिमीवन्तः पितॄणां न शंसाः सुरातयः ॥

ऋ० १०।७८।३

(ये वातासो न धुनयो जिगत्नवः) ये वातासो न वायव इव शत्रूणां कम्पयितारो जिगत्नवो गमनस्वभावा नोऽस्माकं शूराः (अग्नीनां ज्वाला न विरोकिणः) अग्नीनां ज्वाला इव तेजस्विनः (वर्मण्वन्तो न योधाः) कवचिन इव योद्धारः (पितृणां शंसाः सुरातयो न शिमीवन्तः) पितृणां सैनिकानां मध्ये शंसाः शंसनीयाः सुरातयः सुदातार इव शिमीवन्तः कर्मवन्तोऽस्मद्राष्ट्रे सन्तु ॥

भावार्थ—(ये वातासो न धुनयो जिगत्नवः) जो वायुओंके तुल्य शत्रुओं के कम्पाने वाले तथा व्यूहगतिसे चलनेका स्वभाव रखने वाले (अग्नीनां ज्वाला न विरोकिणः) अग्निज्वालाओं के सदृश तेजस्वी रक्तवेशधारी (वर्मण्वन्तो न वयोधाः) कवचधारी युधाके सदृश योद्धा (पितृणां शंसाः सुरातयो न शिमीवन्तः) सैनिकोंमें प्रशंसनीय राष्ट्र या प्रजाको सुख देने वाले कर्मशील शूरवीर हमारे राष्ट्रमें हों ॥

शिक्षा—युद्ध क्षेत्रमें शत्रुओं को झंझावात के समान कम्पाने वाले, अग्नि ज्वालाओंके सदृश तेजस्वी और वेश युक्त, राजभक्त, कर्मशील, राष्ट्रपालक मुख्य सैनिक होने चाहियें ॥

इस मन्त्र में सैनिक अर्थमें पितर शब्द आया है ॥

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः ।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयाप वयेत्यासते तते ॥

ऋ० १० । १३० । १

(यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्ततः) यः शरीरयज्ञो विश्वतः सर्वतः सर्वत्रप्रसृतैस्तन्तुभिर्नाडीतन्तुभिस्ततः सन्नद्धः (देवकर्मेभिरेकशतमायतः) स च शरीरयज्ञस्तत्र नाडीतन्तुषु देवकर्मभिरीश्वरीयरचितक्रियाभिरेकशतमेकोत्तरशतमायतः समन्ताद् धृनः । उक्तं च "अत्रैतदेकशतं नाडीनाम्" (प्रश्नो० ३ । ६) "शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यः" (छान्दोग्य ८ । ६ । ६) (इमे पितरो वयन्ति य आययुः) इमे पितरः प्राणाः शरीरयज्ञं वयन्ति तन्वन्ति येऽत्र शरीरयज्ञ आययुरागताः (तते प्रवयापवयेत्यासते) तते नाडीतन्तुभिस्तते शरीरयज्ञे प्राणाः परस्परं प्रवयापवयेत्येवं गतप्रत्यागतसम्बन्धमनुवर्तमाना आसते तिष्ठन्ति ॥

भावार्थ—(यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्ततः) जो शरीरयज्ञ सर्वत्र फैले हुए नाड़ीतन्तुओं से भरा हुआ या पूर्ण है (देवकर्मेभिरेकशतमायतः) जो कि नाड़ीतन्तुओंमें ईश्वररचित क्रियाओंसे एक सौ एक बन्धनों में प्राप्त है (इमे पितरो वयन्ति य आययुः) ये प्राण इस शरीरयज्ञ को फैलाते हैं बढ़ाते हैं जो कि शरीर

यज्ञमें प्राप्त हैं (तते प्रवयापवयेत्यासते) नाडीतन्तुओंसे पूर्ण इस शरीरयज्ञमें प्राण परस्पर गतप्रत्यागत सम्बन्ध को वर्तन करते हुए रहते हैं ॥

शिक्षा—शरीर सर्वत्र नाडी तन्तुओं से भरा हुआ है और इसमें एकसौ एक मुख्य नाडियों केबन्धन हैं। नाड़ियों के द्वारा प्राण इसके अन्दर प्राप्त हैं और आने जाने में सदा वर्तमान रहते हैं ॥

इस मन्त्रमें प्राणोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्याँ आविवेश ।
तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम ॥

ऋ० ८ । ४८ । १२

(पितरो योऽमर्त्य इन्दुः पीतो नो हृत्सु मर्त्यानाविवेश) पितरो हे पालक-प्राणाः ! योऽमर्त्योऽमर इन्दुरैश्वर्यवान् मुख्यः प्राणः पीतः श्वासप्रश्वासाभ्यां पीतो गृहीतः सन् नोऽस्माकं हृत्सु हृदये वर्तमानो मर्त्यान् युष्मान् मरणधर्मान् प्राणान् आविवेशाविष्टः (तस्मै सोमाय हविषा विधेम) तस्मै मुख्यप्राणाय हविषा हव्येन भोजनेनानुतिष्ठेम (अस्य सुमतौ मृळीके स्याम) अस्य सुमतौ वर्तमानाः सुखे स्याम "प्राणो हि सोमः" (शत० ११ । ६ । ३ । ५) "एष हि खल्वात्मा इन्दुः" (मै० उ० । ६ । ८) ॥

भावार्थ—(पितरो योऽमर्त्य इन्दुः पीतो नो हृत्सु मर्त्यानाविवेश) हे प्राणो ! जो यह यावज्जीवन स्थिररूपमें वर्तमान ऐश्वर्यवान् मुख्य प्राण श्वास प्रश्वासोंके द्वारा गृहीत हुआ हमारे हृदयमें वर्तमान हुआ तुम अस्थिर प्राणोंमें प्रविष्ट है (तस्मै सोमाय हविषा विधेम) उस मुख्य प्राणके लिये खाने योग्य भोजन द्वारा आचरण करते हैं (अस्य सुमतौ मृळीके स्याम) उसको सुमतिमें वर्तमान होकर हम सुखी होवें ॥

शिक्षा—शरीरके अन्दर विविध प्राणोंमें एक मुख्य प्राण है जो हृदयके अन्दर स्थिर हुआ श्वास प्रश्वास द्वारा अपना काम करता है। उसकी स्थिरताके लिये उत्तम अन्नादि भोजन करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें प्राणोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आततन्थ ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

ऋ० ८ । ४८ । १३, यजु० १९ । ५४

(सोम त्वं पितृभिः संविदानो द्यावापृथिवी अन्वाततन्थ) सोम हे जीवनप्राण ! त्वं पितृभिः प्राणैः सह संविदानोऽनुकूलः सन् द्यावापृथिव्यौ "द्यावापृथिवी वै गो आयुषी" (कौ० २१ । २) इन्द्रियाण्यायुश्चान्वाततन्थ विस्तारयसि (इन्दो तस्मै ते हविषा विधेम) इन्दो तस्मै तुभ्यमन्नदानेनाचरेम (वयं रयीणां पतयः स्याम) वयं रयीणां वीर्य्याणां बलानां पतयः स्वामिनः स्याम ॥

भावार्थ—(सोम त्वं पितृभिः संविदानो द्यावापृथिवी अन्वाततन्थ) हे जीवन-प्राण ! तू अन्य प्राणोंकेसाथ अनुकूल होता हुआ इन्द्रियोंकी आयुओंका विस्तार करता है (इन्दो तस्मै ते हविषा विधेम) हे सोम्यप्राण उस तेरेलिये हम भोजनदानसे आचरण करते हैं इस लिये कि (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम बलोंके स्वामी बनें ॥

शिक्षा—हृदयवर्त्ती मुख्य प्राण जब अन्य प्राणोंके साथ सङ्गत हुआ ठीक ठीक अपना कार्य करता है तो नेत्रादि इन्द्रियोंके अन्दर स्थिरताकी चिरकालीनशक्ति को प्रदान करता है। उस प्राणशक्तिको उचित भोजनादि व्यवहारोंसे स्थिर रखते हुए मनुष्य सब प्रकारके बलोंको प्राप्त करते हैं ॥

इस मन्त्रमें प्राणोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

सोमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ अथ० १८ । ४ । ७२

इस मन्त्रमें पितृमान् सोम शब्द प्राणसम्पादक रसके लिये आया है। विव-रणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ४ । ७२ (पृष्ठ २२६)

पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः ॥ अथ० १८ । ४ । ३

इस मन्त्रमें रसप्रेरक प्राणोंके लिये पितृशब्द है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ४ । ७३ (पृष्ठ २२६)

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ अथ० ३।२७।२

इस मन्त्रका अर्थ अत्यन्त विवादास्पद है। मनसा-परिक्रमा-मन्त्रोंमें इसका पाठ है। जब तक सारे मनसा-परिक्रमा-मन्त्रों पर विस्तृत रूपमें विचारके साथ अर्थ न लिखे जावें तब तक इस अकेले मन्त्रपर कुछ लिखना ठीक नहीं है। हम किसी समय इनके ऊपर विस्तारसे लिखेंगे। किन्तु यहां पर इतना ही लिखना है कि इस मन्त्रमें "पितर इषवः" पितरः=इषवः अर्थात् पितर शब्द इषवों का

पर्याय या इषवों का वाचक नहीं है। किन्तु अन्य मन्त्रोंके समान इषवों का विशेषण पितर है। जैसे "आदित्या इषवः" "अन्नमिषव" इत्यादि स्थलोंमें सब जगह विशेषणरूपसे पितर आदित्यादि शब्द हैं। किन्हीं विद्वानों ने इषवों, बाणोंके अर्थमें जो पितर शब्दको रखा है वह उचित नहीं है। तथा उक्त मन्त्रोंपर व्याख्या करने वाले सायण, ऋषि दयानन्द तथा अन्य बीसों विद्वानोंने विशेषणरूप में ही इन मन्त्रोंके पितर और आदित्यादि शब्दोंको माना है पर्य्याय में नहीं। हमारी अर्थ शृङ्खलामें आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थकी दृष्टिसे पितर शब्दके अर्थ तथा इषु के अर्थ कुछ और ही हैं जिनका किसी अवसर पर विशेष प्रकाश कर सकेंगे। केवल यहां इतना सङ्केत कर देना आवश्यक है कि यहां आधिदैविक दृष्टिसे ऋतुओं के अर्थ में पितर शब्द आया है। इषुका अर्थ प्राप्त होने वालेके हैं जो कि इष गत्यर्थक धातुसे ज्ञान, गमन, प्राप्तिमें प्राप्त्यर्थ लिया गया है। दक्षिणकी ओरसे ऋतुओंका आगमन होता है "पितरो दक्षिणत आगच्छन्" (जै० उ० २। ७। २) "ऋतवो वै पितरः" (श० २। ६। १। ३२) "दक्षिणत ओषधयः पच्यमाना आयन्ति" (ऐ० आ० १। २। १) ऋतुओंका आगमन दक्षिणसे होता है। अत एव ओषधियां दक्षिणसे पकती हुई आती हैं। यह बात लोकप्रत्यक्ष है कि सबसे प्रथम कृषिपाक या फलपाक दक्षिणकी ओरसे होता हुआ चला आता है॥

नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः पितरो नमो वः गृहान्न पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मै तद्वः पितरो वासः॥ यजु० २। ३२॥

(पितरो वो रसाय नमः) पितरो हे ऋतवः! वो युष्माकं रसाय वासन्तरससम्पादनकर्मणे नमो यज्ञोऽस्तु "यज्ञो वै नमः" (श० २। ४। २। २४) (पितरो वः शोषाय नमः) पितरो हे ऋतवः! वो युष्माकं शोषाय ग्रैष्मशोषण-व्यापाराय नमो यज्ञोऽस्तु (पितरो वो जीवाय नमः) पितरो हे ऋतवः! वो युष्माकं जीवाय वर्षागतजीवनप्रदानकर्मणे नमो यज्ञोऽस्तु (पितरो वः स्वधायै) पितरो हे ऋतवः! वो युष्माकं स्वधायै शारदान्नसम्पादनकर्मणे नमो यज्ञोऽस्तु (पितरो वो घोराय नमः) पितरो हे ऋतवः! वो युष्माकं घोराय हैमन्तिकघोरकर्मणे नमो यज्ञोऽस्तु (पितरो वो मन्यवे नमः) पितरो हे ऋतवः! वो मन्यवे शैशिराय ताडन-व्यापाराय नमो यज्ञोऽस्तु (पितरो वो नमः) पितरो हे ऋतवः! वो युष्मभ्यं नमो

यज्ञोऽस्तु (पितरो वो नमः) पितरो हे पालकाः ! वो युष्मभ्यं नमो यज्ञोऽस्तु (पितरो नो गृहान् दत्त) पितरो हे ऋतवः ! नोऽस्माकं गृहान् दत्त धत्त धारयत "दा धारणे" (निघ० २ । २) (पितरो वः सतो देष्मै) पितरो हे पालकाः ! वो युष्मभ्यं सतो वर्तमानान् पदार्थान् देष्मै वयं दद्याम (पितरस्तद्वो वासः) पितर ऋतवः पालकाः ! वो युष्मभ्यं वासोऽस्त्यत्र तस्मात् कालं कालमत्र देशेऽवश्यमागन्तव्यम् । आधिदैविकार्थोऽयम् । आधिभौतिकश्च दयानन्दकृतोऽर्थो ग्राह्यः । श्लेषालङ्कारो वाऽत्र विज्ञेयः ॥

भावार्थ—(पितरो वो रसाय नमः) ऋतुओ तुम्हारे वसन्त के रससम्पादन के लिये यज्ञ हो (पितरो वः शोषाय नमः) ऋतुओ तुम्हारे ग्रीष्मके शोषण व्यापारार्थ यज्ञ हो (पितरो वो जीवाय नमः) ऋतुओ तुम्हारे वर्षाकाल सम्बन्धी जीवनप्रदान कर्म के लिये यज्ञ हो (पितरो वः स्वधायै नमः) ऋतुओ तुम्हारे शर्दी के अन्नसम्पादन कार्य के लिये यज्ञ हो (पितरो वो घोराय नमः) हे ऋतुओ तुम्हारे हेमन्त सम्बन्धी घोर कर्म के लिये यज्ञ हो (पितरो वो मन्यवे नमः) ऋतुओ तुम्हारे शिशिर काल के ताड़नव्यापार के लिये यज्ञ हो (पितरो वो नमः) ऋतुओ तुम्हारे लिये यज्ञ हो (पितरो वो नमः) हे पालन के हेतुओ ! तुम्हारे लिये यज्ञ हो (पितरो नो गृहान् दत्त) ऋतुओ हमारे घरों को देशों को धारण करो (पितरो वः सतो देष्मै) हे पालनके हेतुओ ! तुम्हारे लिये विद्यमान पदार्थों को देते या होमते हैं (पितरस्तद्वो वासः) ऋतुओ पालन के हेतु तुम्हारे लिये यहां वास है, स्थान है, क्षेत्र है, देश है, इसलिये यथाकाल अवश्य आया करो ॥

शिक्षा—वसन्तादि ऋतुओं में अथवा उनके प्रारम्भकाल में तात्कालिक होम्य पदार्थों से ऋतुयाग करना चाहिये ॥

इस मंत्र में ऋतुओं के लिये पितर शब्द आया है । कोई विद्वान् तो अपने ग्रंथ में लिखते हैं कि "यह मंत्र अभी तक विशेष विचारणीय है यद्यपि शतपथ ब्राह्मण ने इस मन्त्र में आये हुवे पितर को ऋतुवाची बताया है पर जिस प्रकरण में यह मन्त्र है उसमें यह अर्थ सङ्गत नहीं होता" ॥

लेखक—इस प्रकार वादी का कथन उचित प्रतीत नहीं होता । हमने ब्राह्मणकी योजनाके अनुसार ऊपर अर्थ ऋतुवाचकता में युक्तिपूर्वक दर्शा दिया है ॥

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा ।

अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः ॥ यजु० २ । २९

(कव्यवाहनायाग्नये स्वाहा) पाकाग्नये स्वाहा (पितृमते सोमाय स्वाहा)

ऋतुमते संवत्सराय स्वाहा। "संवत्सरो वै सोमः पितृमान्" (तै० १। ६। ८। २) "ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरः" (ऐ० १। १३) (वेदिषदोऽसुरा रक्षांस्यपहता) वेदिषदः पृथिव्यां ये सीदन्ति तेऽसुरा रक्षांसि रोगजन्तवोऽपहताः सन्ति। "पृथिवी वेदिः" (ऐ० ५। २८) "इयं पृथिवी वै वेदिः" (श० ७। ३। १। १५) ॥

भावार्थ—(कव्यवाहनायाग्नये स्वाहा) पाकाग्नि के लिये पाकहोम (पितृमते सोमाय स्वाहा) ऋतुमान् संवत्सर के लिये ऋतुहोम (वेदिषदोऽसुरा रक्षांस्यपहताः) पृथिवी में रहने वाले रोगजन्तु होम से नष्ट हो जाते हैं ॥

शिक्षा—दैनिक होम और ऋतु होम करने से रोगजन्तुओं को दूर भगाना चाहिये ॥

इस मन्त्र में 'पितृमान' के अन्दर पितृशब्द ऋतुओंके लिये आया है ॥

ध्रुवा एव वः पितरो युगे युगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते ।
अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रवुः ॥
ऋ० १०। ९४। १२

(युगे युगे वः क्षेमकामासः पितरो सदसो न युञ्जते) पूर्वमन्त्राददूय इति सम्बोध्यते तथा च ग्रावाणो देवतास्तस्माददूयो मेघाः "ग्रावाणो मेघाः" (नि० १। १०) हे मेघाः! वो युष्मान् क्षेमकामासः क्षेमस्य कामो यैस्ते क्षेमकामाः पितरः सूर्यरश्मयो युगे युगे काले काले प्रतिवर्षाकाले युञ्जते सङ्गच्छन्ते। सदसः सीदन्तीति सदसो न उपवेष्टार इव। 'सदोऽसुङ् कर्तरि' (अजुर्यासो हरिद्रवो हरिषाचो रवेण द्यां पृथिवीमाशुश्रवुः) ये चाजुर्यासोऽजीर्याः। 'उत्वं छान्दसम्'। हरिद्रवः सुवर्णसदृशा हरिषाचः हरिं सूर्यं सचन्ते सम्प्राप्नुवन्ति ये ते रश्मयो रवेण मेघसङ्गत्या घोषेण द्यावापृथिव्यावाशुश्रवुर्घोषितवन्तः (ध्रुवा एव) एतादृशाः सूर्यरश्मयो ध्रुवा एव सन्त वर्षकर्म कुर्वन्तु ॥

भावार्थ—(युगे युगे वः क्षेमकामासः पितरो सदसो न युञ्जते) हे मेघो! संसार के क्षेम की कामना जिनसे पूर्ण होती है ऐसी ये सूर्यरश्मियां प्रतिवर्षाकाल तुम को युक्त होती हैं। जैसे अपना स्थान समझकर बैठने वाले बैठते हैं (अजुर्यासो हरिद्रवो हरिषाचो रवेण द्यां पृथिवीमाशुश्रवुः) और जो जीर्ण न होने वाली तथा सुवर्ण सदृशसूर्य को प्राप्त होने वाली रश्मियां मेघकी सङ्गतिसे घोष से द्यावापृथिवीको घोषित करती हैं। (ध्रुवा एव) इस प्रकार वे सूर्यरश्मियां वर्षकर्ममें ध्रुव रहें ॥

शिक्षा—प्राणियों के कल्याणार्थ सूर्यकी किरणें प्रतिवर्षाकाल मेघोंको

प्राप्त होती हैं जोकि मेघोंमें प्रविष्ट हो भूमि और आकाशको बड़े नादसे गुञ्जायमान कर देती हैं और फिर वर्षाको प्रेरित करती हैं ॥

इस मन्त्र में सूर्यरश्मियों के लिये पितर शब्द आया है ॥

य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिनन्दन् परिवत्सरे बलम् ।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥

ऋ० १० । ६२ । २

(ये पितरः परिवत्सरे ऋतेन गोमयं बलमभिन्दन्) ये पितरः सूर्यरश्मयः परिवत्सरे परिपूर्णादानकाले-उत्तरायणकालान्ते-ऋतेनोदकेनोदकवृष्ट्या "ऋतमुदकनाम" (निघण्टु १ । १२) गोमयं पार्थिवं बलमभिन्दन् भिन्दन्ति (वसूदाजन्) ते हि सूर्यरश्मयो तदनन्तरं वसु गोमयमेव वसु पार्थिवं वसु जीवनवासकारणमन्नादिकमुदाजनुत्प्रेरयन्त्युत्पादयन्ति (आङ्गिरसो वो दीर्घायुत्वमस्तु) अङ्गिरसो हेऽङ्गनां रसाः प्राणाः ! वो युष्मभ्यं दीर्घायुत्वं दीर्घजीवनमस्तु (सुमेधसो मानवं प्रतिगृभ्णीत) हे सुमेधसः सुमेधाजनकाः प्राणाः ! मानवमिदं मे शरीरं प्रतिगृभ्णीत स्वीकुरुत । इत्यान्तरिकविचारः ॥

भावार्थ—(ये पितरः परिवत्सरे) जो सूर्यरश्मियां परिपूर्ण आदानकाल अर्थात् उत्तरायणकाल के अन्तमें (ऋतेन गोमयं बलमभिन्दन्) जलवृष्टि से पृथिवीके बल को भेदन करती हैं (वसूदाजन्) वही सूर्यरश्मियां तदनन्तर पार्थिव वसु अर्थात् जीवनरसके कारणरूप अन्नादिको उत्प्रेरित या उत्पन्न करती है (अङ्गिरसो वो दीर्घायुत्वमस्तु) हे अङ्गों के रसरूप प्राणो ! तुम्हारे लिये दीर्घजीवन हो (सुमेधसो मानवं प्रतिगृभ्णीत) हे उत्तम मेधाके जनक प्राणो ! तुम इस मानव शरीर को स्वीकार करो ॥

शिक्षा—वर्षके परिपूर्ण उत्तरायण कालान्तमें वृष्टिद्वारा सूर्यकी रश्मियां पृथिवीकी कठोरताको नष्ट कर देती हैं और पुनः वर्षापातके अनन्तर प्राणयुक्त जीवनवासके कारणरूप खाद्यशक्तिको उत्पन्न करती हैं इस प्रकार मनुष्यशरीर में जीवनशक्ति का सञ्चार भी उत्तम रीति से होता है ॥

इस मन्त्रमें सूर्यरश्मियों के लिये पितर शब्द आया है ॥

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ॥
अङ्गिरसः सोम्यासः पापमार्च्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ अथ० २।१२।५

(द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथाम्) द्यावापृथिवी हे द्यावापृथिव्यौ ! मा-मानुकूल्यं दीधीथां प्रकाशयतम् (विश्वे देवासो मामनुरमध्वम्) विश्वेदेवासो हे सर्वे देवाः ! मामनुरमध्वं कार्ये प्रवर्तयत (अपकामस्य कर्ता) योऽपकामस्यायोग्यकर्मणः कर्ता स (अङ्गिरसः सोम्यासः पापमाच्छंतु) अङ्गिरसः सोम्यासो हे प्राणविद्यावेत्तारः सोम्यगुणा विद्वज्जनाः पापं दुःखमाच्छंतु प्राप्नोतु ॥

भावार्थ—(द्यावापृथिवी मानु दीधीथाम्) हे द्यावापृथिवी तुम मेरे अनुकूल अपने प्रकाशादि को धारण करो या मेरी अनुकूलता का सम्पादन करो (विश्वेदेवासो मा अनुरमध्वम्) हे संसारके सब दिव्य पदार्थो ! मेरे अनुकूल रमण करो अथवा मुझे अनुकूल कार्यों में प्रवृत्त करो (अपकामस्य कर्ता) जो अयोग्य कामनाओंका करने वाला है वह (अङ्गिरसः सोम्यासः पापमाच्छंतु) हे प्राणविद्या के वेत्ता तथा सोम्य विद्वान् महानुभावो ! दुःखको प्राप्त हो ॥

शिक्षा—अयोग्य कर्म करने वालेको सदा दुःख प्राप्त होता है और योग्य कर्म करने वाले के प्रति भूमि और आकाश सारे दिव्य पदार्थ अनुकूल हो जाते हैं ॥

इस मन्त्रमें अङ्गिरस शब्द प्राणविद्यावेत्ता विद्वानों के लिये आया है ॥

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥
ऋ० १० । १४ । ६, यजुः १९ । ५०, अथ० १८ । १ । ५८

इस मन्त्रमें ऋतु सहचरित सूर्यरश्मियोंका ऋतुयागमें सम्बन्ध है और अङ्गि-रस आदि ६ ऋतुओं के साथ वर्तमान ६ अलग अलग रश्मिवर्ग की बोधक हैं। यहां पितर शब्द अङ्गिरस आदि प्रत्येकके साथ सम्बन्ध नहीं रखता है किन्तु अङ्गिरस आदिके समान छहोंमें एक स्वतन्त्र वस्तु है। निरुक्तमें भी यास्क मुनि ने इस मन्त्रमें आये हुए पितर शब्द को स्वतन्त्र देवता में अङ्गिरस आदिके समान माना है। प्रकरण विद्याके क्रमसे यहां का पितर शब्द वर्षा ऋतु सम्बन्धी रविकिरणोंके अर्थमें आया है। विवरणके लिये देखो सूक्त० १० । १३ । ६ (पृष्ठ २६)

परिशिष्ट

इस प्रकरणमें वे मन्त्र होंगे जो पितरोंके पितृलोकादि पूर्व प्रकरणों में नहीं आ सके और जिनका "यम और पितर" ग्रन्थ में "परिशिष्ट" शीर्षक देकर वर्णन किया है।

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत् ॥ यजुः १४।२९

(पितरोऽसृज्यन्त) 'ईश्वरो देवता' येनेश्वरेण पितरो रश्मयो वर्षादयो वाऽसृज्यन्तोत्पादिताः (अदितिरधिपत्न्यासीत्) अदितिरुषा मातेव पालिका भूमिर्वा अधिपत्नी स्वामिन्यस्ति (नवभिरस्तुवत) नवभिः प्राणविशेषैः प्रशंसन्तु । इति दयानन्दः॥

भावार्थ—(पितरोऽसृज्यन्त) ईश्वरने सूर्य रश्मियोंको उत्पन्न किया । उषा या भूमि उनको माताके तुल्य आश्रय देने वाली है (नवभिरस्तुवत) ९ प्राण विशेषों से प्रशंसा करो ॥

शिक्षा—ईश्वरने सूर्य रश्मियोंको जैसे ही सूर्यके अन्दर स्थिर किया वैसे ही उनको उषा या पृथिवी ने धारण किया और वे रश्मियां मनुष्यके नवप्राणों द्वारा उपयोग में आती हैं ॥

इस मन्त्र में सूर्य रश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते । वशेदं सर्वमभवद्द देवा मनुष्या असुराः पितर ऋषयः ॥ अथर्व० १० । १० । २६

(वशामेवामृतमाहुः) 'अत्र सर्वसूक्तदर्शनात्प्रकरणाच्च वशा करणाख्या-सर्वगता प्रकृतिरीशशक्तिर्वा गृह्यते' वशां सर्वत्र शोभमानां कमनीयाममृतं नित्यं वस्तु लोका आहुर्ब्रुवन्ति (वशां मृत्युमुपासते) तत्वविदो वशां मृत्युं संसारलयरूपमुपासते कल्पयन्ति (वशेदं सर्वमभवत्) वशा प्रकृतिरेवेदं सर्वं जगत्सञ्जातम् (ऋषयो देवाः पितरो मनुष्या असुराः) ऋषयो गतिशीला देवाः प्रकाशात्मकाः पितरः पालका मनुष्या असुराः प्राणदूषकाः, एवं सर्वेऽपि पदार्था वशारूपाः सन्तीति वेद्यम् । सूर्यचन्द्र-भूम्यन्तरिक्षवासिनो वा पूर्वोक्ताः सर्वे पदार्थाः प्रकृतिमयाः सन्तीत्यर्थः॥

भावार्थ—(वशामेवामृतमाहुः) सर्वत्र विराजमान कमनीय जगत्कारण प्रकृतिको नित्य तत्व लोग कहते हैं (वशां मृत्युमुपासते) तत्ववेत्ता जन उस प्रकृति को संसारके प्रलयके रूपमें समझते हैं (वशेदं सर्वमभवत्) वह प्रकृतिही सम्पूर्ण जगत् बन गई (ऋषयो देवाः पितरो मनुष्या असुराः) गतिशील, प्रकाश वाले, पालक, मनुष्य और प्राणदूषक एवं सूर्यचन्द्रभूम्यन्तरिक्षके पदार्थ जो भी हैं वे सब प्रकृतिमय हैं ॥

शिक्षा—जगत्‌का कारण प्रकृति एक नित्य तत्व है । और यह सृष्टिकी सूक्ष्म प्रलय गत स्थितिका नाम है । सूर्य, चन्द्र, भूमि, अन्तरिक्षके अन्दर जितने भी पदार्थ हैं वे सब प्रकृति-मय हैं या प्रकृतिके कार्य हैं ॥

इस मन्त्रमें पालक पदार्थ या चन्द्रलोक वासीके अर्थमें पितर शब्द आया है। और जगत्का मूलकारण प्रकृति वशा शब्दसे अभीष्ट है ॥

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रितः ॥ अथ० ११ । ७ । २७

(ये देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च सर्वे दिविश्रितो दिविदेवा उच्छिष्टाज्जज्ञिरे) 'अत्र मन्त्रे उच्छिष्टं पद ब्रह्मात्मवाचि "बिभर्त्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता । १९" इति मन्त्रवर्णनाच्च प्रतीयते । उच्छिष्यते प्रलयानन्तरं यतः, उक्तं च "आत्मा वा इदमग्र आसीत्" (ऐतरेयो० १ । १) तस्मात् सः "द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः" तत्र पृथिव्यां ये देवा देवनाम्ना व्यवहर्त्तव्या येऽपि भवेयुः, पितरः पितृनामवाच्या येऽपि सन्ति, मनुष्या मनुष्यजातयो गन्धर्वनामका अप्सरोनामकाश्च दिवि द्युलोके देवाः प्रकाशका दिविश्रितः प्रकाश्या लोकाः सन्ति ते सर्व उच्छिष्टात्सृष्टि-प्रलयानन्तरमुच्छिष्यते यः परमात्मा तस्माज्जज्ञिरे—उत्पन्नाः सन्ति ॥

भावार्थ—(ये देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च) पृथिवीके ऊपर जितने देव नामसे कहलाने वाले, पितर नामसे कहलाने वाले, मनुष्य जातियां, गन्धर्व और अप्सर नामसे कहलाने वाले, सभी पार्थिव पदार्थ तथा (दिवि देवा दिवि श्रितः सर्वे) द्युलोकमें रहने वाले प्रकाशक तथा प्रकाश्य लोक सब (उच्छिष्टाज्जज्ञिरे) इस प्रकार द्यावा पृथिवीके सभी पदार्थ प्रलयके अनन्तर शेष रहने वाले परमात्मदेवसे उत्पन्न हुये हैं ॥

शिक्षा—द्यावापृथिवीमयी सम्पूर्ण सृष्टिके पदार्थ परब्रह्म परमात्मदेवने उत्पन्न किये हैं ॥

इस मन्त्रमें पालक धर्मों वाले सभी पदार्थोंके लिये पितर शब्द आया है और प्रलयके अनन्तर शेष रहने वाले परमात्माके लिये उच्छिष्ट शब्द का प्रयोग है ॥

एयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः ।
यौवने जीवमुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उपसम्पराणयादिमान् ॥
अथर्व १८ । ४ । ५०

इस मन्त्रमें प्राणियोंके कर्मफलभोगार्थ देह प्राप्त होती है जो प्राणीको उसकी आयुका सेवन कराते हुए यौवनकालमें सम्यक् पूर्ण होकर जब जीर्ण हो जाती है तब इन प्राणियोंको अथवा जीवात्माओंको सूर्यरश्मियों के प्रति समर्पण कर

देती है अर्थात् देहपातके अनन्तर जीव पुनर्जन्म आदिके लिये सूर्यरश्मियोंको प्राप्त होते हैं। यहां रश्मियोंके लिये पितर शब्द और दक्षिणा शब्द कर्मफलभोगरूप काया के लिये आया है। विवरणके लिये देखो सूक्त० १८।४।५० (पृष्ठ २१३)

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामावेशयामि देवो नो धाता प्रतिरात्यायुः।
परा परैता वसुविद्व वो अस्त्वधा मृताः पितृषु संभवन्तु॥

अथर्व १८।४।४८

इस मन्त्रमें गुरुकुलमें विद्याध्ययन करते हुए विद्यार्थियोंको गृहस्थोंके समान उत्तम शय्यादिका प्रयोग न करके भूमि-आसनका विधान है। विद्यासमाप्ति के पश्चात् शिष्य अपने गुरुओंके समान शिक्षकोंमें गिने जाते हैं। विवरणके लिये देखो सूक्त० १८।४।४८ (पृष्ठ २११)

युवं भुज्यं भुरमाणं विभिर्गतं स्वयुक्तिभिर्निवहन्ता पितृभ्य आ।
यासिष्टं वर्ति र्वृषणा विजेन्यन् दिवोदासाय महि चेति वामवः॥

ऋ० १।११९।४

(वृषणा युवं वां भुरमाणं भुज्यं विभिर्गतं स्वयुक्तिभिः पितृभ्यो निवहन्ता) हे वृषणाऽश्विनौ सभासेनेशौ युवं वां युवयोः पुष्टिकारकं भोग्यं वस्तु विभिः पक्षिभिरिव प्राप्तमात्मीयप्रकारै राजपालकेभ्यो वीरेभ्यो नितरां प्रापयन्तौ सन्तौ (मह्यवो वर्तिश्चेति दिवोदासाय विजेन्यमायासिष्टम्) महद्रक्षकं वर्तमानं सैन्यं संज्ञायते विद्यमानप्रकाशदात्रे सेनाध्यक्षाय विजेतुं योग्यमायातम्। इति दयानन्दः॥

भावार्थ—(वृषणा युवं वाम्) हे सुखोंकी वर्षा करने वाले सभाध्यक्ष और सेनापति तुम दोनोंका (भुरमाणं भुज्यम्) पुष्टिकारक भोग्य वस्तु (विभिर्गतम्) पक्षियों के तुल्य प्राप्त हुआ है (युक्तिभिः पितृभ्यो निवहन्ता) तुम आत्मीय प्रकारों से राजपालक वीरोंके लिये निरन्तर प्राप्त कराते हो (मह्यवो वर्तिश्चेति) महान् रक्षक वर्तमान सैन्यबल सम्यक् सावधान होता है (दिवोदासाय) विद्यमान प्रकाश देने वाले सेनाध्यक्षके लिये (विजेन्यमायासिष्टम्) विजय करनेके लिये आते हो॥

शिक्षा—सभा और सेना के मुख्य वे होने चाहियें जो राष्ट्रपालक वीर सैनिकोंके प्रति धार्मिक शासनपूर्वक वृत्ति देते हुये उनके उत्साहक और वधक हों॥

इस मन्त्रमें सैनिक पुरुषोंके लिये पितर शब्द आया है और अश्विनोंका अर्थ यहां सभाध्यक्ष और सेनापतिके हैं॥

सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आधेह्यस्मे ॥
ऋ० १० । १७ । ८

(यां सरस्वति देवि स्वधाभिः पितृभिर्मदन्ती सरथं ययाथ) या सरस्वति सरस्वती देवी वाक्शक्तिः स्वधाभिः सत्कारैः सह पितृभिः शिक्षकैः सङ्गता मदन्ती जनान् हर्षयन्ती सती सरथमेकशरीरं ययाथ याति प्राप्नोति । 'अत्र पुरुषलकार-व्यत्ययौ' (अस्मिन् बर्हिष्यासद्य मादयस्व) अस्मिन् बर्हिषि यज्ञ आसद्य मादयस्व हर्षयेत् (अस्मेऽनमीवा इष आधेहि) अस्मेऽस्मभ्यमनमीवा आरोग्यकरा इष इषितव्याः क्रिया आदध्यात् ॥

भावार्थ—(या सरस्वति देवि) यह जो अध्ययनाध्यापनरूप विद्या है वह (स्वधाभिः) सत्क्रियाओंके साथ (पितृभिः) शिक्षकोंसे सङ्गत हुई (मदन्ती) मनुष्योंको सुख पहुँचाती हुई (सरथम्) एक शरीर होकर (ययाथ) प्राप्त होती है (अस्मिन् बर्हिषि) इस अध्यापन स्थान या सभामें (आसद्य) प्राप्त होकर (मादयस्व) हर्षित करती है और (अस्मे) हमारे लिये (अनमीवा इषः) आरोग्यकारक इष्ट क्रियाओं को (आधेहि) धारण कराती है ॥

शिक्षा—विद्वानोंका सत्कार और सत्सङ्ग करके विद्याध्ययन करना चाहिये तथा उसकी प्राप्तिके लिये शिक्षणालयमें जाना चाहिये । जिससे कि पढ़ी हुई विद्या विद्यार्थीको सब प्रकारसे योग्य बनादे ॥

इस मन्त्रमें शिक्षकोंके लिये पितर शब्द आया है और अध्ययनाध्यापन-रूप वाणीके लिये सरस्वती शब्दका प्रयोग है ॥

सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि ॥
ऋ० १० । १७ । ९

(पितरो दक्षिणा यज्ञमभि नक्षमाणा यां सरस्वतीं हवन्ते) पितरः शिक्षका दक्षिणा दक्षिणतो यज्ञं ब्रह्मयज्ञं विद्याध्यापनमभिनक्षमाणा अनुतिष्ठन्तो यां सरस्वतीं वाणीं हवन्ते प्रयुञ्जते (अत्र सहस्रार्घमिडो भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि) अत्राध्ययनाध्यापनयज्ञे सा सहस्रार्घमसंख्यातगुणं रायस्पोषं भूमानमिडो भागं स्तवन-भागं विद्याप्रकाशं यजमानेषु अध्येतृजनेषु धेहि धारयेत् । "भूमा वै रायस्पोषः" (श० ३ । ५ । २ । १२) ॥

भावार्थ—(पितरो दक्षिणा) शिक्षक लोग शिष्यके दक्षिणमें बैठकर (यज्ञमभिनक्षमाणाः) विद्याध्यापन रूपी यज्ञका सेवन करते हुए (यां सरस्वतीं हवन्ते) जिस अध्ययनरूप वाणीका प्रयोग करते हैं (अत्र सहस्रार्घं रायस्पोषमिडो भागम्) वह इस अध्यापनरूपी यज्ञमें बहुतगुणयुक्त विस्तृत या महान् विद्याप्रकाशको (यजमानेषु धेहि) अध्ययन करने वाले विद्यार्थियोंमें धारण कराती है ॥

शिक्षा—शिक्षक लोग शिक्षणालयमें बैठकर विद्याध्यापन कार्य करते हैं क्योंकि विद्याही मनुष्यके ज्ञानके विकास का कारण है ॥

इस मन्त्रमें शिक्षक जनोंके लिये पितर शब्द आया है। और अध्ययनरूप वाणीके लिये सरस्वती शब्दका प्रयोग है ॥

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितृणां हविरास्यं यत् ।
इमानि ते उदिता शन्तमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥ अथ० ७।६८।२

(सरस्वति इदं ते घृतवद्धव्यम्) सरस्वति हे जिह्वे ! इदं घृतमिश्रं ग्राह्यं वस्तु तुभ्यमस्ति "जिह्वा सरस्वती" (श० १२ । ९ । १ । १४) (पितृणामास्यं हविः) पितृणां प्राणानामिदमास्यमास्ये भवं मुखे वर्तमानं हविरन्नं यदस्ति (इमानि ते शन्तमानि उदिता तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम) इमानि ते तव शन्तमानि कल्याणकराण्युदिता वचनानि तैर्वयं रसवन्तः स्याम ॥

भावार्थ—(सरस्वति इदं ते घृतवद्धव्यम्) हे वाणी शक्तिसम्पन्न जिह्वा ! यह घृत मिली हुई ग्राह्यवस्तु अर्थात् घी का बना हुआ उत्तम पकान्न तेरे लिये है जोकि वस्तुतः (पितृणामास्यं हविः) प्राणोंके सम्बन्धमें मुखमें दी जाने वाली हवि है (इमानि ते शन्तमान्युदिता) ये तेरे कल्याण करने वाले वचन (तेभ्यो वयं मधुमन्तः स्याम) उनके द्वारा हम सरस मधुरभाषी बनें ॥

शिक्षा—प्राणशक्तिके बढ़ाने तथा मधुरभाषी सुवक्ता बननेके लिये घृतयुक्त उत्तम २ भोजन सेवन करने चाहियें ॥

इस मन्त्रमें प्राणोंके लिये पितर शब्द आया है और जिह्वाके लिये सरस्वती शब्दका प्रयोग है ॥

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमतिद्रव ॥ अथ० १०।९।९

(ये देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च) ये देवाः सूर्यलोकाः पितरश्चन्द्र-

लोका मनुष्याः पृथिवीलोकाः पदार्था गन्धर्वाप्सरसो वातस्था जलस्थाश्च (ते सर्वे त्वा सातिराश्रं गोप्स्यन्ति) ते सर्वे हे शतौदनेऽसंख्यातवीर्ये वशे सर्वेषां वशयित्रि प्रकृते ! त्वां सातिराश्रमहर्निशं निरन्तरं गोपस्यन्ति मूलत्वेन स्थापयिष्यन्ति (अतिद्रव) अतः सर्वत्रातिद्रवातिगच्छ ॥

भावार्थ—(ये देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च) जो सूर्य लोक, चन्द्र-लोक, पृथिवीलोक के पदार्थ तथा वायु और जलमें रहने वाले हैं (ते सर्वे त्वां सातिराश्रं गोपयन्ति) वे सभी हे असंख्यातवीर्य वाली सबके वशकरने वाली प्रकृति तुझको अहर्निश निरन्तर मूलरूपमें अपने अन्दर स्थापित करते हैं। अतः तू (अतिद्रव) सर्वत्र अत्यन्त गति कर ॥

शिक्षा—पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, जल और वायु के साथ सम्बन्ध रखने वाले सभी पदार्थ अनन्त बीजशक्ति वाली प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं जोकि सबके अन्दर परमाणुरूपमें शीघ्रगतिसे वर्तमान हैं ॥

इस मन्त्रमें चन्द्रलोकके रहने वालोंके लिये पितर शब्द आया है। एक विद्वान् ने इस मन्त्रको "गौ व पितर" के शीर्षकमें रक्खा है पर मन्त्र में गौ शब्दका लेश भी नहीं है आश्चर्य है कि "गोप्स्यन्ति क्रियापद जोकि "गुपू रक्षणे" धातु से बना हुआ है उसका धातुबोध या व्युत्पत्ति का ध्यान न रखते हुए (त्वा गोप्स्यन्ति) तुझ गौ की रक्षा करेंगे" ऐसा लिखा है जो उचित न था ॥

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः ।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम ॥

ऋ० १० । १६९ । ४

(प्रजापतिर्मह्यमेता रराणः) गोपतिर्मह्यमेता गा रराणः प्रयच्छन् (विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः) विश्वैर्देवैः सर्वैर्विद्वद्भिस्तथा पितृभिः पालकजनैश्च संविदान ऐकमत्यं गतः (शिवाः सतीर्नो गोष्ठमाकः) शिवाः कल्याणकराः सतीर्गा अस्माकं गोष्ठमाक आनयतु प्रापयतु (तासां प्रजया वयं संसदेम) तासां गवां प्रजया सन्तत्या वयं सङ्गच्छेमहि ॥

भावार्थ—(प्रजापतिर्मह्यमेता रराणः) गोपालकजन मेरे लिये इन गौओं का देता हुआ तथा (विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः) तथा सब विद्वानों और पालक-जनोंके साथ सहमत हुआ २ (शिवाः सतीर्नो गोष्ठमाकः) कल्याण करने वाली गौओंको हमारे गोस्थानमें लावे (तासां प्रजया वयं संसदेम) उन गौवोंकी सन्ततिसे हम युक्त हों ॥

शिक्षा—गौओंको गोपालकके प्रति सुपुर्द करना चाहिये और वह गोपालक विद्वानों और पालकजनोंको अनुमतिमें रहता हुआ गोपालन कार्यको करे तथा गौओं के स्वामी सदा गौओंकी वृद्धि करते रहें इस प्रकार सभायें या धनिक पुरुष गोशाला की स्थापना करके गोपालन और गोवर्धन करें ॥

इस मन्त्रमें पालक जनोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

स तु श्रुधीन्द्र नूतनस्य ब्रह्मण्यतो वीर कारुधायः ।
त्वं ह्यापिः प्रदिवि पितॄणां शश्वद्‌ बभूथ सुहव एष्टौ ॥ ऋ० ६।२१।८

(वीर कारुधाय इन्द्र नूतनस्यैष्टौ सुहवः शश्वद्‌ बभूथ) हे दुष्टविनाशक विदुषां धर्तो न्यायेश विद्वन्‌ ! नूतनस्यैष्टौ समन्ताद्यज्ञक्रियायां सुष्ठुज्ञानविज्ञानो निरन्तरं भवेः (स त्वं तु हि पितॄणां प्रदिव्यापिर्ब्रह्मण्यतः श्रुधि) स त्वं तु हि पालकानां प्रकृष्टकामनायां प्राप्तान्‌ धनमिच्छतः शृणु । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(वीर कारुधाय इन्द्र ! नूतनस्यैष्टौ सुहवः शश्वद्‌ बभूथ) हे दुष्टविनाशक विद्वानोंके धारण करने वाले न्यायेश विद्वन्‌ ! नूतन होम्य वस्तुकी उत्तम यज्ञक्रियामें ज्ञानविज्ञानसम्पन्न हुआ तू निरन्तर स्थिर हो (स त्वं तु हि पितॄणां प्रादिव्यापिर्ब्रह्मण्यतः श्रुधि) तू ही पालन करने वालोंके उत्तम कामनामें पूर्ण धनके चाहने वालोंके सम्बन्धमें सुन अर्थात्‌ स्वीकार कर ॥

शिक्षा—दुष्टोंको दण्ड और धार्मिकोंको रक्षाकरने वाले न्यायाधीशको चाहिये कि वह विद्या और अन्यसाजनोंसे पालनकरने वाले महानुभावोंको मांगका सुने ॥

इस मन्त्रमें पालन करने वालोंके लिये पितर शब्द आया है । और न्यायेश राजाके लिये इन्द्र शब्दका प्रयोग है ॥

जुष्टी नरो ब्रह्मणा वः पितॄणामक्षमव्ययं न किलारिषाथ ।
यच्छक्वरीषु बृहता रवेणेन्द्रे शुष्ममदधाता वसिष्ठाः ॥
ऋ० ७ । ३३ । ४

(वसिष्ठा नरो यद्‌ बृहता रवेण शक्वरीष्विन्द्रे शुष्ममदधात) हे धनेऽत्यन्तं वासं कुर्वन्तो नेतारः ! यूयं यद्‌ महता शब्देन शक्तिमतीषु सेनासु परमैश्वर्ये बलं धत्त (जुष्टी ब्रह्मणा वः पितॄणामव्ययमक्षं किल न रिषाथ) प्रीत्या धनेन च युष्माकं जनकादीनां नाशरहितं व्याप्तं किल यूयं न हिंसथ । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(वसिष्ठा नरो यद्‌ बृहता रवेण) हे धनमें अत्यन्त वास करने

वाले नेता महानुभावो ! तुम घने ध्वनिनादसे (शक्वरीष्विन्द्रे शुष्ममदधात) शक्ति वाली सेनाओंमें परमैश्वर्यके निमित्त बलको धारण करो (जुष्टी ब्रह्मणा वः पितॄणाम्) प्रीतिके साथ धनसे तुम्हारे जनकादिकोंकी (अव्ययमन्तं किल न रिषाथ) नाशरहित तथा व्याप्त पूर्ण सुखकी हिंसा न करो ॥

शिक्षा—धनी जनोंमें जो अत्यन्त धनिक प्रधान पुरुष है वह अपने मण्डलमें घोषणा करे तथा भाषणद्वारा समझावे कि जो पालक पुरुष विद्यादि साधनोंद्वारा हमारी रक्षा करते हैं उनकी स्थिर आजीविका कदापि नष्ट न होने पावे ॥

इस मन्त्रमें पालकजनोंके अर्थमें पितर शब्द और परमैश्वर्यके अर्थमें इन्द्र शब्द आया है ॥

तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभिवाजयन्तः ।
नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम् ॥

ऋ० ६ । २२ । २, अथ० २० । ३६ । २

(नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं शविष्ठं नः पूर्वे नवग्वा विप्रासः सप्त पितरोऽभिवाजयन्तस्तमु मतिभिः) नक्षतानां प्राप्तानां दोषाणां हिंसितारं दुःखात्तारयितारं पर्वते मेघे स्थितमिव शुद्धस्वरूपं द्रोहरहिता वाग्यस्य तं शविष्ठमतिशयेन बलयुक्तमस्माकं पूर्वे नवग्वा नवनीतगतयो मेधाविनः पितृजना अभिज्ञापयन्तस्तमु मननशीलैर्मनुष्यैः सेवेरन् । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(नक्षद्दाभं ततुरिम्) प्राप्त दोषोंको नष्ट करने वाले तथा दुःखसे तराने वाले (पर्वतेष्ठामद्रोघवाचम्) मेघमें स्थितके समान शुद्धस्वरूप द्रोह रहित वाणीवाले (शविष्ठं नः) अतिशय बलयुक्तको हमारे (पूर्वे नवग्वा विप्रासः) पूर्वज नवनीतगतिवाले अर्थात् उदारहृदय मेधावी (सप्त पितरः) सात पितृजन (अभिवाजयन्तस्तमु मतिभिः) विद्योपदेश देते हुवे उस पूर्वोक्त राष्ट्रपतिको मननशील मनुष्योंके साथ सेवन करें ॥

शिक्षा—राष्ट्रके अन्दर उदारहृदय मेधावी उपदेशक नीतिज्ञ सात विद्वान् अन्य विचारशील मनुष्योंके साथ प्रजाहितके सम्बन्धमें वक्तव्य करनेके लिये दोषनाशक, दुःखसे तराने वाले, पवित्र, निष्पक्ष, आत्मबलयुक्त, राष्ट्रपतिके पास जावें और यतोचित व्यवस्था करावें ॥

इस मन्त्रमें ज्ञानी जनोंके लिये पितर शब्द आया है और परदुःखको देखकर जिसका हृदय पिंघल जाता है वे नवग्व शब्दसे नवनीत गति वाले अभिप्रेत हैं ॥

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वाहा महाँस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि
अथ० ९। २। १९

(प्रथमं कामो जज्ञे) संसारे सर्वप्रथमः कामो जातः (देवा एनं नापुः) सूर्यलोकिन इमं कामं नाप्तवन्तः पूरितवन्तः (पितरो न मर्त्याः) चन्द्रलोकवासिनो न पूरितवन्तो न च भूलोकस्थाः पूरितवन्तः (ततस्त्वं ज्यायान् विश्वाहा महानसि) तस्मात्कारणात्त्वं ज्यायान् श्रेयान् विश्वाहा सर्वदैव महानसि (तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि) हे काम तस्मै तुभ्यं दूरतो नम एव कृणोमि करोमि ॥

भावार्थ—(प्रथमः कामो जज्ञे) संसारमें सबसे प्रथम काम अभिलाषाभाव उत्पन्न हुवा (देवा एनं नापुः) न सूर्य लोक वासियों ने इसको पूरा किया (पितरो न मर्त्याः) चन्द्रलोक वासियां ने और न पृथिवीलोक वासियोंने पूरा किया (ततस्त्वं ज्यायान् विश्वाहा महानसि) इस कारण से तू ज्येष्ठ सर्वगत और महान् है (काम तस्मै ते नम इत्कृणोमि) हे काम उस तेरे लिये मैं दूरसे नमस्कार करता हूँ ॥

शिक्षा—संसारमें सभी जीवोंके अन्दर कामप्रवृत्ति बड़ी है उसको कोई भी पूरा नहीं कर सकता इसलिये कामपाश से बचनेके लिये अपने योग-क्षेमके अनुसार उसको वर्तना चाहिये। अथवा मुमुक्षुको कामरहित हो जाना चाहिये। स्वजीवन निर्वाहके साथ निष्कामता का सेवन करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें चन्द्रलोक वासियों के लिये पितर शब्द आया है और सांसारिक एषणा के लिये काम शब्द का प्रयोग है ॥

यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥अथ० १०। ६। ३२॥

(देवाः पितरो मनुष्याः सर्वदा यमुपजीवन्ति) यं वक्ष्यमाणं मणिं मूर्द्धवीर्यं देवाः पितरो मनुष्याः सर्वदोपजीवन्त्याश्रयन्ति (सोऽयं मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्द्धतो माभिरोहतु) सोऽयं श्रैष्ठ्याय श्रेष्ठत्वसम्पादनाय मूर्धतो मूर्धानमाश्रित्य मामभितिष्ठतु ॥

भावार्थ—(देवाः पितरो मनुष्याः सर्वदा यमुपजीवन्ति) देव, पितर, मनुष्य, पूर्वोक्त तीनों कोटि के महानुभाव सदा मस्तकके ओजरूप जिस मणि का आश्रय लेते हैं (सोऽयं मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतो माभिरोहतु) वह यह मस्तक का ओजरूप मणि श्रेष्ठतासम्पादनके लिये मूर्धा में आश्रित होकर मुझे प्राप्त हो ॥

शिक्षा—धातुओं का साररूप वीर्यपदार्थ मस्तिष्कमें ओजके रूपमें स्थिर होता है। जिसके आश्रय सभी संसारके जीव अपनी जीवनशक्तिको प्राप्त हुए स्थिर रहते हैं ॥

इस मन्त्र में चन्द्रलोक वासी जीवोंके लिये पितर शब्द आया है और यहां मस्तकके ओजके अर्थमें मणि शब्दका प्रयोग है ॥

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके ।
पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि ॥
अथ० ११ । १ । १९

वक्तव्य—यह मन्त्र अथर्ववेद के ११ वें काण्ड के प्रथम अनुवाक में है। और इस अनुवाक में "ब्रह्मौदन" शब्द भिन्न २ अर्थों में आया है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टियों से अर्थ करने में किन्हीं महत्वपूर्ण वस्तुओं का वाचक प्रतीत होता है। यहां अनुवाक के प्रारम्भमें ब्रह्मौदनका अर्थ प्रजापतिका वीर्य है जोकि सृष्टिकी उत्पत्तिका निमित्त है "अदितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा" (१) तथा "महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय" (३) प्रथम मन्त्र में सन्तान की इच्छा के लिये ब्रह्मौदन का पकाना गर्भमें वीर्यको धारण करके परिणाम करनेका प्रसङ्ग है। तृतीय मन्त्र में उसी ब्रह्मौदन को महान् वीर्य कहा है ब्रह्मौदन शब्द ब्रह्म-ओदन का समस्त पद है। विभाग से भी उक्तार्थ स्पष्ट होता है। "ब्रह्म वै प्रजापतिः" (श० १३ । ६ । २ । ८) "रेतो वा ओदनः" (श० १३ । १ । १ । ४) इस प्रकृत १६ वें मन्त्र में ब्रह्मौदन को लक्ष्य किया गया है। यहां ब्रह्म अर्थात् ईश्वर या वेद इसके निमित्त ओदन अर्थात् वीर्य हुआ। एवं ब्रह्मचर्य का नाम ब्रह्मौदन है। अगले मन्त्रमें भी यह बात स्पष्ट है "ब्रह्मौदनो देवयानः" कहा गया है। प्रश्नोपनिषद् में यह सिद्धान्त वर्णित भी है कि देवयान मार्ग ब्रह्मचर्यसे प्राप्त होता है। "अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते" (प्रश्नो० १ । १०) अतः इस मन्त्रका अर्थ निम्न प्रकारसे समझना चाहिये—

(महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके उरुः प्रथस्व) हे ब्रह्मचर्यरूप **ब्रह्मौदन ! त्वं महता प्रभावेण सहस्रपृष्ठो धारणेनासंख्यातपुत्रशक्तिको वाऽसंख्यात-तेजाः सन् सुकृतस्य पुण्यकृतस्य सुनियमे स्थितस्य लोके मम शरीरे उरुर्बहुः प्रथस्व विस्तृतो भव ।** "पृष्ठाः पृष्ठानि" (तां० २२ । ६ । ४) **"तेजो ब्रह्मवर्चसं पृष्ठानि" (तां०**

(११ । १२ । ७) (अहं ते पञ्चदशः पक्ताऽस्मि) अहं ते तवात्माऽऽश्रयदाता पक्तास्मि "आत्मा पञ्चदशः" (तां० १३ । ११ । २) न केवलमहमेवापितु (पितामहाः पितरः प्रजोपजा) मम पितामहाः पितरः पुत्राः पौत्राश्च पक्तारः सन्ति ॥

भावार्थ—(महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः) हे ब्रह्मचर्यरूप ब्रह्मौदन ! तू बड़े प्रभावके साथ शरीरमें धारण करनेसे असंख्य पुत्र शक्तिवाला या असंख्य तेजवाला होता हुआ (सुकृतस्य लोके उरुः प्रथस्व) पुण्यकर्मी सुनियममें वर्तमान मेरे शरीर में बहुत प्रकारसे विस्तृत हो (अहं ते पञ्चदशः पक्तास्मि) मैं तेरा आत्मा तुझे आश्रयका दाता स्वशरीरमें पकाने वाला हूँ । न केवल मैं ही अपि तु (पितामहाः पितरः प्रजोपजा) पितामह पितर पुत्र और पौत्र भी तुझे अपने शरीर में पकाते हैं ॥

शिक्षा—शरीर के अन्दर ब्रह्मचर्यके सुनियमों से रहकर धारण किया हुआ वीर्य अनन्तशक्ति वाला और तेजस्वी बन कर वर्तमान रहता है । इस वीर्यरूप महत्व-पूर्ण धातु को जीवात्मा शरीरमें अपनी जीवनीको उत्तम बनानेके लिये परिपक्व करता है । यह उत्तम धातु पितामह पितर पुत्र और पौत्र सभी के किये रक्षणीय है ॥

इस मन्त्रमें जनक आदि के लिये पितर शब्द आया है । और ब्रह्मचर्यके लिये ब्रह्मौदन शब्दका प्रयोग है । अन्य विद्वानोंने ब्रह्मौदनको किसी प्रकारका चावल समझा है और स्पष्टीकरण भी कुछ नहीं किया है ॥

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे ।
गन्धर्वा एतमन्वायम् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स
देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ अथ० ११ । ५ । २

(देवजनाः पितरः पृथग्देवा ब्रह्मचारिणमनुसंयन्ति) देवजना देवानां विदुषां जना जनयितारो विद्यासुशिक्षाभ्यां सम्पादयितारस्त एवं पितरो ज्ञानिनो गुर्वादयः सर्वे च पृथग्देवा अन्ये विद्वांसोऽनुसंयन्त्यानुकूल्येन संप्राप्नुवन्ति (त्रय-स्त्रिंशत्त्रिशताः षट्सहस्रा गन्धर्वाः सर्वान् स देवांस्तपसा पिपर्ति) त्रयस्त्रिंशत्त्रिशताः षट्सहस्राः ६३३३ इतिसंख्याका गन्धर्वाः स्त्रीकाममनोभावा ये सन्ति । 'स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः' (ऐ० १ । २७) "मनो गन्धर्वः" (श० ९ । ४ । १ । १२) तान् सर्वान् ब्रह्मचारी तपसा ब्रह्मचर्यव्रतेन देवान् कुर्वन् पिपर्ति पालयति ॥

भावार्थ—(देवजनाः पितरः) विद्या सुशिक्षा के द्वारा मनुष्योंको विद्वान् बनाने वाले गुर्वादि ज्ञानी जन (पृथग्देवाः) और अन्य विद्वान् संन्यासी आदि महानुभाव (ब्रह्मचारिणमनुसंयन्ति) ब्रह्मचारीको अनुकूलता से प्राप्त होते हैं

(अथर्स्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्रा गन्धर्वाः) ६३३३ जो स्त्रीकामना के मनोभाव हैं (सर्वान्) उन सबको (स तपसा देवान्) वह ब्रह्मचर्यव्रतसे देव अर्थात् दिव्य गुणोंमें परिवर्तित करता हुआ धारण करता है ॥

शिक्षा—ब्रह्मचारी जब गुरुकुलमें विद्याध्ययनके लिये जाता है तब उसको योग्य बनाने वाले गुरु और अन्य विद्वान् संन्यासी आदि महानुभाव उत्तम विद्या और शिक्षा प्रदान करते हैं तथा उस समय जो स्त्रीकामसम्बन्धी मनोविचार बहुत प्रकारसे उठते हैं वे ब्रह्मचारी उनको अपने ब्रह्मचर्य व्रतसे दिव्य गुणोंमें परिवर्तित कर देता है ॥

इस मन्त्रमें गुरु आदि ज्ञानी जनोंके लिये पितर शब्द आया है और उनके शिष्यके अर्थमें ब्रह्मचारी शब्दका प्रयोग है ॥

मा छेद्म रश्मीँरिति नाधमानाः पितृणां शक्तीरनुयच्छमानाः ।
इन्द्राग्निभ्यां कं वृषणो मदन्ति ता ह्यद्री धिषणाया उपस्थे ॥

ऋ० १ । १०९ । ३

(धिषणाया उपस्थेऽद्री) प्रज्ञायाः स्थापयितव्ये व्यवहारे नाशरहितौ विद्युदग्नी स्तः (रश्मीन् मा छेद्म) तयो रश्मीन् विद्याविज्ञानतेजांसि न छिन्द्याम (पितृणां शक्तीरनु यच्छमाना नाधमाना वृषण इन्द्राग्निभ्यां कं मदन्ति) यतो हि पालकानां विज्ञानवतां विदुषां रक्षानुयुक्तानामृतूनां वा सामर्थ्यान्यानुकूल्येन नियन्तार ऐश्वर्यं-णाप्तिमिच्छन्तो बलवन्तो जना विद्युदग्निभ्यां सुखं कामयन्ते । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(धिषणायाः) प्रज्ञाके (उपस्थे) स्थापनीय व्यवहारमें (अद्री) नाशरहित विद्युत् और अग्नि हैं (रश्मीन् मा छेद्म) उनकी ज्वालाओंको हम छिन्न भिन्न न करें (पितृणां शक्तीः) जिससे विज्ञानी विद्वान् पालकोंकी जो रक्षाके हेतु ऋतुओंको सामर्थ्यों को (अनुयच्छमानाः) अनुकूलताका नियन्त्रण करते हुए (नाधमानाः) ऐश्वर्य प्राप्तिको चाहते हुए (वृषणः) बलवान् मनुष्य (इन्द्राग्नि-भ्याम्) उन विद्युत् और अग्नि से (कम्) सुखको (मदन्ति) चाहते हैं ॥

शिक्षा—भौतिक संसारमें विद्या या बुद्धिविकासोंके निमित्त विद्युत् और अग्नि हमको उपलब्ध होने वाले पदार्थ हैं अतः हमको इनकी धाराओंसे लाभ उठाना चाहिये । राष्ट्रके पालक जन उक्त विद्युत् और अग्निसे नानाविध शक्ति और ऐश्वर्य तथा सुखको प्राप्त करते हैं ॥

इस मन्त्रमें विद्वान् राष्ट्ररक्षकजनों तथा ऋतुओंके लिये पितर शब्द आया है ॥

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम् ।
सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ ॥ अथ० १।३०।२

(देवाः पितरो ये ये च वः सुचेतसः पुत्रा इदम्म उक्तं शृणुत) हे देवा विद्वांसः पितरः पालकजना ये यूयं स्थ ये वो युष्माकं सचेतसो जातप्रज्ञाः पुत्राः सन्ति ते यूयमिदं मे मम वचनं शृणुत (एतं वः सर्वेभ्यः परिददामि) एतं स्वजनं युष्मभ्यं सर्वेभ्यः समर्पयामि (स्वस्त्येनं जरसे वहाथ) स्वस्ति यथास्यात् तथैनं जरसे जरावस्थपर्यन्तं वहेत नयत 'लिङर्थे लेट्' ॥

भावार्थ—(देवाः पितरो ये येच वः सुचेतसः पुत्राः) हे विद्वान् पालकजनो ! जा तुम हो और जो तुम्हारे शिक्षित विद्वान् पुत्र हैं वे तुम सब (इदं म उक्तं शृणुत) इस मेरे वचनको सुनो (एतं वः सर्वेभ्यः परिददामि) इस पुत्रादि स्वजन को मैं तुम्हारेप्रति समर्पित करता हूँ (स्वस्त्येनं जरसे वहाथ) इसका कल्याण जिस प्रकार जरावस्था अर्थात् बुढ़ापे पर्यन्त सिद्ध होसके वैसे तुम इसको विद्याध्यापन में चलाओ ॥

शिक्षा—स्वसन्तानादिको गुरुकुलमें प्रवेश करनेके लिये गुरुओं तथा विद्वान् शिक्षित गुरुपुत्रों या गुरुशिष्योंसे प्रार्थना करनी चाहिये कि इस मेरे बालकका कल्याण जिसप्रकार पूर्णआयुपर्यन्त सिद्ध होसके वैसे आप लोग इसका शिक्षण करो या वैसी Line में इसको ले जाओ ॥

इस मन्त्रमें ज्ञानी जन गुरुओंके अर्थमें पितर शब्द आया है ॥

देवाः पितरः पितरो देवाः । यो अस्मि सो अस्मि ॥ अथ० ६।१२३।३

(देवाः पितरः पितरो देवाः) देवा हे विद्वांसः ! विद्यादानेनास्माकं यूयं पालकाः स्थ, पितरो हे अन्नदानेन पालकाः ! यूयं देवाः स्थ (योऽस्मि सोऽस्मि) अहं यो युष्माकं सम्बन्धी शिष्यो वा पुत्रो वाऽस्मि सोऽस्मि यूयं जानीथैवाऽतः स्वसम्बधिनं मत्वा मां रक्षत ॥

भावार्थ—(देवाः पितरः पितरो देवाः) हे विद्वानो आप विद्यादानसे हमारे रक्षक हो, हे अन्नादि द्वारा पालन करने वालो ! आप हमारे लिये देव हो अतः (योऽस्मि सोऽस्मि) मैं जो आपका सम्बन्धी पुत्र या शिष्य हूँ सो आपलोग मुझे अपना सम्बन्धी समझकर मेरी रक्षा करो ॥

शिक्षा—गुरुकुलवासके समय गुर्वादि जन अपने रक्षक होते हैं और घर पर अपने जनकादि पालकजन देवरूपमें होते हैं इसलिये अपने आपको उनका शिष्य

या पुत्र समझते हुए उनसे अपनी रक्षा के लिये सदा निवेदन करते रहना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें पालक और जनकके अर्थमें पितर शब्द आया है ॥

नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥
नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे ॥
नमो वः पितरो यद्घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत्क्रूरं तस्मै ॥
नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत्स्योनं तस्मै ॥
अथ० १८ । ४ । ८१, ८२, ८३, ८४

इन मन्त्रों में क्रमशः पितर शब्द अन्नदान से पालन करने वाले जनकादि, रसीले पदार्थों के देने वाले जनकादि, शासन द्वारा पालन करने वाले राजपुरुष, राज्यमानसे पालन करने वाले नीतिज्ञ, धनदण्ड देकर पापसे बचाने वाले दण्डदाता, प्रहारदण्ड देकर अति पापसे बचाने वाले प्रहारदण्डदाता, आत्मज्ञानके दान से पालक, विद्यादानसे पालक, अभिप्रेत हैं । विशेष विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ८ । ८१—८४ (पृष्ठ २२६, २३०)

अशीतिभिः तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तं भवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ अथ० २ । १२ । ४

(अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः) अशीतिभिस्तिसृभिस्त्रिवाराशीतिभिः सामगायकैरादित्येभिरष्टाचत्वारिंशद्वार्षिकैर्वसुभिश्चतुर्विंशतिवार्षिकैरङ्गिरोभिश्चतुश्चत्वारिंशद्वार्षिकैर्ब्रह्मचारिभिः (इष्टापूर्तं नोऽवतु) इष्टापूर्तं यज्ञरूपं पालनरूपं च कर्म नोऽस्मान् रक्षतु (दैव्येन हरसा पितॄणाममुमाददे) दैव्येन आग्नेयेन हरसा तेजसा पितॄणाममुं लोकं रश्मिलोकमासमन्ताद् ददामि त्यजामि ॥

भावार्थ—(अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः) तीन बार अस्सीकी संख्या वाले सामगायकों से जो कि अस्सी अडतालीसवर्षके, अस्सी चौबीस वर्षके, अस्सी चौवालीस वर्षके ब्रह्मचारी हों उनसे (इष्टापूर्तं नोऽवतु) यज्ञरूप और पालनरूप इष्टापूर्तकर्म हमारी रक्षा करे (दैव्येन हरसा पितॄणाममुमाददे) अग्निके तेज से मैं उसको रश्मिलोकके प्रति समन्तरूपसे त्यागता हूँ ॥

शिक्षा—इष्टापूर्त कर्मों में सामगायक ब्रह्मचारियोंको निमन्त्रण देना चाहिये और उनके द्वारा होमादि करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें रश्मियोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परिभ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन्।
यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥

अथ० ६ । ११६ । ३

(यदि मातुर्यदि वा पितुर्भ्रातुः पुत्राच्चेतसो न एनः पर्य्यागन्) यदि मातुः पितुर्यदि भ्रातुः पुत्रात् चेतसः स्वचित्ताद्वा नोऽस्मानेनः पापं पर्यागतं प्राप्तम् (यावन्तः पितरोऽस्मान् सचन्ते तेषां सर्वेषां मन्युः शिवोऽस्तु) यावन्तः पितरः पालकजना अस्मान् सम्बध्नन्ति तेषां सर्वेषां मन्युः शासनं कल्याणकरमस्तु ।।

भाषार्थ—(यदि मातुर्यदि वा पितुर्भ्रातुः पुत्राच्चेतसो न एनः पर्यागन्) यदि माता पिता या भ्राता या पुत्रकी ओर से अथवा अपने मनसे हमें जो कोई पाप प्राप्त हुआ हो उसके लिये (यावन्तः पितरोऽस्मान् सचन्ते तेषां सर्वेषां मन्युः शिवोऽस्तु) जितने पालकजन हमारे साथ सम्बन्ध रखते हैं उन सबका शासन कल्याणकारी हो ।।

शिक्षा—माता पिता आदि अपने सम्बन्धियोंके कारण वा अपने आत्मा से ही जो हम पाप करते हैं उस पापको फलकेरूपमें राष्ट्रपालक गुरु आदि शासन द्वारा शमन करते हैं ।।

इस मन्त्रमें शासन करनेवाले गुरु राष्ट्रपालक आदि जनोंके लिये पितर शब्द आया है ।।

येत्र पितरः पितरो येत्र यूयं स्थ युष्माँस्ते नु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ ।

अथ० १८ । ४ । ८६

इस मन्त्रमें जनकादि पालक जनोके लिये पितर शब्द आया है और उन का परस्पर अनुकूल आचरण करते हुए श्रेष्ठ बनानेका वर्णन है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ४ । ८६ (पृष्ठ २३०)

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद्र रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि ।
पिबात् सोमं ममदेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि ॥

अथ० ७ । १४ । ४

(दमूना सविता वरेण्यो देवो दक्षं रत्नमायूंषि पितृभ्यो दधत्) दानमनाः श्रेष्ठः सूर्यदेवो दक्षं बलं रत्नं रमीणयत्वमायूंषि च प्राणेभ्यो धारयति (सोममेनमिष्टे पिबान्ममत्) सोमरसमेतं यज्ञे पिबतु प्रसीदेश्च (अस्य धर्मणि ज्माचित् परिक्रमते)

अस्य धर्मणि धारणशक्तौ ज्मा पृथिव्यपि परिभ्रमति ॥ "ज्मेति पृथिवीनाम" (नि० ११११)

भाषार्थ—(दमूनाः सविता वरेण्यो देवो दक्षं रत्नमायूंषि पितृभ्यो दधत्) दानशील श्रेष्ठ सूर्यदेव बल और रमणीयता तथा आयुको प्राणोंके लिये धारण कराता है (सोममेनमिष्टे पिबान्ममत्) इस सोमरसको वह यज्ञमें पान करे और हर्षित करे (अस्य धर्मणि ज्माचित् परिक्रमते) इसकी धारणशक्तिमें पृथिवी भी परिक्रमण करती है।

शिक्षा—सूर्य प्राणियोंके प्राणधारणके वास्ते बल और रमणीयताका दान करता है। यज्ञमें सोमाहुति देनेसे सूर्यकी रश्मियां प्रबल हो जाती हैं और यह पृथिवी उस सूर्यकी सदा परिक्रमा करती है॥

इस मन्त्रमें प्राणोंके लिये पितर शब्द आया है। उनके लिये सूर्य बल और रमणीयता प्रदान करता है॥

एतद्वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति।
अजस्तमांस्यपहन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः॥ अ० ९।५।११

(पितर एतत्पञ्चौदनमजं तृतीयं ज्योतिर्ब्रह्मणे ददाति) पितरो हे ज्ञानिजना ऋषयः! एतत् पञ्चौदनं पाञ्चजन्यं ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा निषादश्च पञ्चमः, एवं पञ्चसंख्याकानि रेतांस्युत्पत्तिगर्भा इति यावत्। यदधिकुर्वन्ति तदजं नित्यं तृतीयं त्रितयं त्रिविभागं ज्ञानकर्मोपासनारूपं वेदत्रय ज्योतिर्ज्ञानज्योतिरीश्वरो ब्रह्मणे वाचे वक्तुमुपदेष्टुं ददाति। "रेतो वा ओदनः" (श० १३।१।१।४) "वाग्वै ब्रह्म" (ऐ० ६।३) (श्रद्दधानेन दत्तोऽजास्मिंल्लोके तमांसि दूरमपहन्ति) श्रद्धानेन पुरुषेण दत्तो दत्तं धत्तं धारितमधीतमजोऽजं तदेव नित्यं ज्ञानज्योतिरस्मिंल्लोके तमसंयविद्यान्धकारान् दूरमपहन्ति पृथक् कराति॥ 'दा धारणे' उक्तं पूर्वम॥

भाषार्थ—(पितर एतत् पञ्चौदनमजं तृतीयं ज्योतिर्ब्रह्मणे ददाति) हे ज्ञानी ऋषि महानुभावो! यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद पञ्चबीज मनुष्य में अधिकृत नित्यज्ञान, कर्म और उपासनारूप तीन भागों से युक्त ज्ञानज्योति वेदको ईश्वरवाणी के प्रचारार्थ अर्थात् उपदेश करनेके लिये प्रदान करता है (श्रद्दधानेन दत्तोऽजोऽस्मिंल्लोके तमांसि दूरमपहन्ति) श्रद्धालु मनुष्यसे धारित अर्थात् अध्ययनकी हुई यह नित्यज्ञान ज्योति संसार में अविद्यान्धकारों को दूर हटाती है॥

शिक्षा—ज्ञान, कर्म और उपासना विद्यायुक्त वेदोंका प्रकाश ईश्वर ऋषियों के प्रति संसारमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद सब मनुष्यों के कल्याणार्थ

उपदेश करनेके लिये प्रदान करता है जोकि अच्छी तरहसे अध्ययन किया हुआ संसार में से अविद्यान्धकार को नष्ट करता है ॥

इदं पितृभ्यः प्रभरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि ।
तदारोह पुरुष मेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ॥
अ० १८ । ४ । ५१

इस मन्त्रमें माता पिता आदि जनक महानुभावोंके अर्थमें पितरशब्द आया है । और वे सन्तानरूप में जीवात्माको गर्भ में प्राप्त हुए को अनुभव करते हैं । विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ४ । ५१ (पृष्ठ २१३)

एदं बर्हिरसदो मेध्यो भूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ।
यथापरु तन्वं संभरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि ॥
अथ १८ । ४ । ५२

इस मन्त्रमें माता पिता आदि जनक महानुभावोंके लिये पितर शब्द आया है और जीवका सन्तानके रूपमें सर्वाङ्ग आकार उनके सादृश्यमें होनेका वर्णन है । विवरण के लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ४ । ५२(पृष्ठ २१४)

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा ।
इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ अथ० ११।१।२८

(इदं मेऽमृतं ज्योतिर्हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघैषा मा) ममेदमविनश्वरं मनोज्योतिर्हिरण्यं पक्वमन्नं क्षेत्रात्प्राप्तं मां प्रति कामदुघैषाऽस्ति (इदं धनं ब्राह्मणेषु निदधे) इदं सर्वं धनं विद्वत्सु समर्पयामि (पन्थां कृण्वे पितृषु यः स्वर्गः) यः पुण्यः पन्थास्तमहं सम्पादयामि ॥

भावार्थ—(इदं मेऽमृतं ज्योतिर्हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघैषा मा) यह मेरा अविनश्वर मनरूप ज्योतिः विषयोंका ग्रहण करने वाला मुझे प्राप्त होता है जैसे क्षेत्र से पक्व अन्न और यह मेरे प्रति कामना को दोहने वाली गौ के समान है (इदं धनं ब्राह्मणेषु निदधे) यह धन ब्रह्मवेत्ता महानुभावों में समर्पण करता हूँ (पन्थां कृण्वे पितृषु यः स्वर्गः) विद्वानो में जो पुण्य मार्ग है उसका मैं सम्पादन करता हूँ ॥

शिक्षा—मन के अन्दर सारी कामनाओं का मूल है । जो मन जीवके पुनर्जन्म में प्राप्त होता रहता है । जिस प्रकार बारम्बार पक्का अन्न क्षेत्र से प्राप्त

होता है। अतः इस मन से उस पुण्यमार्गका निश्चय करना चाहिये। जो कि विद्वानों का हुआ करता है ॥

इस मन्त्र में विद्वानोंके लिये पितरशब्द आया है और उनकी सङ्गतिमें बैठ कर उनके कल्याण मार्गके धारण करनेका वर्णन है ॥

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् विमृढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्र विद्वान् ।
घृतेन गात्रानु सर्वा विमृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥
अथ० ११ । १ । ३१

(अध्वर्यो बभ्रेरेतन्मुखमाज्याय विमृड्ढि) हे अध्वर्यो ! बभ्रेर्धारणकर्तुः सूर्यस्य । "बभ्रिर्वज्रं पपिः सोमं ददिर्गाः" (ऋ० ६ । २३ । ४) मुखं मुखमिव यज्ञकुण्डं घृताहुतये विमृड्ढि शोधय (प्रविद्वान् लोकं कृणुहि) प्रजानन् सन् लोकं यजमानयोग्यं कमनीयं कृणुहि सम्पादय (घृतेन सर्वा गात्रा अनु विमृड्ढि) घृतेन सर्वाणि गात्राण्यनुविशोधय (पन्थां कृण्वे पितृषु यः स्वर्गः) विद्वत्सु यः कल्याणमयः पन्थास्तं सम्पादयामि ॥

भाषार्थ—(अध्वर्यो बभ्रेरेतन्मुखमाज्याय विमृड्ढि) हे अध्वर्यु ! विश्वधारक सूर्य के मुख सदृश यज्ञकुंड को घृताहुति के लिये संशोधित कर (प्रविद्वान् लोकं कृणुहि) तू सावधान ज्ञानयुक्त होता हुआ यजमान के योग्य कमनीय फलको सम्पादन कर (घृतेन सर्वा गात्रा अनु विमृड्ढि) घृत से सारे अङ्गों को स्पर्श और विशुद्ध कर (पन्थां कृण्वे पितृषु यः स्वर्गः) विद्वानों में बैठ कर मनुष्य का जो कल्याणमय मार्ग होना चाहिये उसको बनाता हूँ ॥

शिक्षा—अध्वर्यु को यज्ञकुण्ड संशोधित और सुशोभित करना चाहिये जिस से कि आहुति भलीप्रकार दी जा सके। यजमानके अङ्ग घृतसे श्लक्ष्ण करने चाहिये। एवं यज्ञमें विद्वत्सङ्गतिसे कल्याण का मार्ग बनाना चाहिये ॥

इस मन्त्र में विद्वानों के लिये पितर शब्द आया है ॥

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः । इहैव भव मानु गा मा
पूर्वाननुगाः । पितॄनसुं बध्नामि ते दृढम् ॥ अथ० ५ । ३० । १

(आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः) हे रोगिन् ! ये ते तवाऽऽवतः समीपसम्बन्धिनस्तेऽत्रावतः समीपं सन्ति ये च परावतो दूरसम्बन्धिनस्तेऽप्यावतो निकटं सन्ति तान् निजसम्बन्धिनः परिचिनुहि (इहैव भव मानु गाः) त्वमिहात्रैव वर्तस्व स्वमानसवृत्याऽत्रत्यानेन विचाराननुभव, अन्यत्र मनसा नगच्छ

(पूर्वान् पितॄन् मानुगाः) पूर्वान् मृतान् निजपितृपितामहादीन् जनकादीन् न स्मर। अत्र गमेर्ज्ञानार्थः । न भयं कार्षीः (असुं ते दृढं बध्नामि) तव प्राणमहं वैद्यो दृढं बध्नामि ॥

भाषार्थ—(आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः) हे रोगी प्रियजन! जो तेरे समीपके सम्बन्धी हैं वे तेरे पास हैं और जो दूरके सम्बन्धी हैं वे भी तेरे पास हैं तू इनको पहचान और इनके साथ वार्तालाप कर (इहैव भव मानुगाः) तू इन्हीं सम्बन्धियोंमें वार्तालाप आदिसे वर्तन कर तथा यहींके विचारोंको अनुभव कर। दूसरी तरफ मन को मत लेजा (पूर्वान् पितॄन् मानुगाः) मरेहुए प्रपितामहादि का स्मरण मत कर। तू कुछ भय भी मत कर क्योंकि (असुं ते दृढं बध्नामि) मैं वैद्य तेरे प्राणको बांधता हूँ तुझे शीघ्र अच्छा करता हूँ ॥

शिक्षा—रोगी मनुष्यके पास उसके सम्बन्धी होने चाहियें और उसके मन को बहलाते रहना चाहिये। उसको मृत पुरुषोंकी स्मृति न आने देनी चाहिये तथा आश्वासन पूर्वक वैद्यको कहना चाहिये कि मैं तुझको जल्दी स्वस्थ कर दूंगा॥

इस मन्त्रमें पितामह आदिके लिये पितर शब्द आया है और उनके साथ विशेषणरूप पूर्व शब्दका प्रयोग प्रकरणवश यहां मरे हुओंके है ॥

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरोभून्मा जीवेभ्यः प्रमदो मानु गाः पितॄन्।
विश्वे देवा अभिरक्षन्त्वेह ॥ अथ० ८ । १ । ७

(मा ते मनस्तत्र गात्) हे रोगिन्! तवमनस्तत्र मरणस्थितौ न गच्छेत् (मा तिरो भूत्) अन्तर्हितं मूढं मूर्च्छितं वा ते मनो न भवेत् (मा जीवेभ्यः प्रमदः) जीवेभ्यो जीवधारिभ्योऽन्यसम्बन्धिभ्यो मा प्रमादं कुरु सर्वान् परिचिनुहि (मा पितॄन-नुगाः) ये च पितरो न जीवन्ति तान् पितमहादीन् न गच्छ तान् न स्मरेत्यर्थः (विश्वे देवा त्वेहाभिरक्षन्तु) विश्वे देवास्त्वामिहाभिरक्षन्तु ॥

भाषार्थ—(मा ते मनस्तत्र गात्) हे रोगी पुरुष! तेरा मन मरनेकी तरफ न जाय (मा तिरोभूत्) और न ही मूर्छित हो (मा जीवेभ्यः प्रमदः) जीवनधारी सम्बन्धियोंकी ओरसे प्रमाद मत कर उनको पहचान और वार्तालाप कर (पितॄन् मानुगाः) पूर्व मरे हुए पितामह आदिकी तरफ मत जा, उनका स्मरण मतकर (विश्वे देवास्त्वेहाभिरक्षन्तु) सब दिव्यगुण पदार्थ तेरी यहीं पर रक्षा करते हैं ॥

शिक्षा—रोगी की परिचर्या में यह ध्यान रखना चाहिए कि रोगी मूर्छित ही न पड़ा रहे और नहीं उसके मनको मरने की तरफ जाने दें किन्तु जीवित सम्बन्धियों

में वार्तालापके द्वारा उसका मन लगाये रखना चाहिये और नानाविध दिव्यगुण ओषधियाँ भी उसको देनी चाहियें ॥

इस मन्त्रमें पूर्व मन्त्र जैसा सिद्धान्त है और पितामहादि पुरुषोंके लिये पितर शब्दका प्रयोग है ॥

अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अपयक्ष्मं निदध्मसि । तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्वन्तरिक्षम् । अपो मा प्रापन्मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितृंश्च सर्वान् ॥ अथ० १४ । २ । ६९

(अस्या अङ्गादङ्गाद् यक्ष्मं वयमपनिदध्मसि) अस्या व्यक्त्या अङ्गादङ्गादङ्गमात्राद्वयं यक्ष्म रोगं पृथक् कुर्मः (तत्पृथिवीं मा प्रापत्) तत्पृथिवीं न गच्छतु (मोत देवान्) देवानपि न गच्छतु (दिवं मा प्रापत्) द्युलोकं सूर्यं प्रति न गच्छतु (उर्वन्तरिक्षमपो मा प्रापत्) विस्तृतान्तरिक्षं जलानि च न गच्छेत् (अग्न एतन्मलं यमं मा प्रापत्) अग्ने हे आयुर्वेदविद्यायामग्रसर विद्वन् ! रोगस्यासाध्यत्वं यमं यन्तारं कालं च न गच्छेत् (सर्वान् पितृंश्च) ऋतून् प्रति न गच्छतु "यो वै म्रियते ऋतवो ह तस्मै व्युह्यन्ते" (श० । ८ । ७ । १ । ११) ॥

भाषार्थ—(अस्या अङ्गादङ्गाद् यक्ष्मं वयमपनिदध्मसि) इस व्यक्ति के अङ्ग २ से राजयक्ष्मा रोगको हम पृथक् करते हैं (तत्पृथिवीं मा प्रापत्) अतः वह रुग्ण व्यक्ति पृथिवीको प्राप्त न हो (मोत देवान्) अग्नि आदि देवों को भी न प्राप्त हो (दिवं मा प्रापत्) सूर्यको भी प्राप्त न हो (उर्वन्तरिक्षमपोमा प्रापत्) विस्तृतान्तरिक्ष और जलों को भी प्राप्त न हो (अग्न एतन्मलं यमं मा प्रापत्) हे चिकित्सा शास्त्रमें अग्रसर विद्वन् ! यह व्यक्ति असाध्यता और जीवनका नियन्त्रण करने वाले समयको भी प्राप्त न हो (सर्वान् पितृंश्च०) ऋतुओंको भी प्राप्त न हो । अर्थात् अभी इस व्यक्तिको संसारमें जीना है मर करके उपर्युक्त इन पदार्थों के प्रति जो जीव प्राप्त होता है उधर न जा सके इस प्रकार हे वैद्य तू चिकित्सा कर ॥

शिक्षा—आयुर्वेदविज्ञानविशारद वैद्यको चाहिये कि वह यक्ष्मा के रोगी के सारे अङ्गोंसे यक्ष्मा रोग को बाहर निकाले और उसका पदे पदे ध्यान रक्खे कि वह ऐसा न हो कि मृत्युको प्राप्त हो जावे ॥

इस मन्त्रमें भौतिक प्रकरणसे ऋतुओंके लिये पितर शब्द आया है ॥

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन् ।
ते अस्यै वध्वै सम्पत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥ अथ० १४।२।७३

(ये वधूदर्शाः पितर इमं वहतुमागमन्) ये वधूदर्शा वधूं दिदृक्षवः पालक-वृद्धजना इमं वहतुं विवाहमागमन् आगच्छन्ति । "वहतुं सूर्यायाः" (ऋ० १० । ८५ । १४) तथा च सायणः "वहतुं विवाहम्" (ते अस्यै वध्वै सम्पत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु) ते वृद्धस्त्रीपुरुषा अस्यै वध्वै सम्पत्न्यै सम्प्राप्तपत्न्यै प्रजावत् सन्तान-योग्यं शर्म सुखं सुखसाधनवस्तु यच्छन्तु ददतु ॥

भावार्थ—(ये वधूदर्शाः पितर इमं वहतुमागमन्) जो वधूको देखनेकी इच्छावाले पालकवृद्धजन इस विवाहमें आते हैं (तेऽस्यै वध्वै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु) वे वृद्ध स्त्री पुरुष इस नूतन पत्नीके लिये सन्तानयोग्य सुख तथा सुखके साधन प्रदान करें ॥

शिक्षा—नूतन वधूके दर्शनार्थ विवाहमें जो स्त्री पुरुष घर पर आवें उनका यह कर्तव्य है कि वे उस नूतन पत्नीके लिये सन्तानयोग्य सुख और सुखके साधनोंका उपहार करें ॥

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।
महा बुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥ अथ० १।१४।१

(अस्या भगं वर्चो वृक्षादिव स्रजमादिषि) अस्या विवाहिताया भगमैश्वर्यं वचश्चाहं पतिर्वृक्षादिव माल्यमादिषि गृह्णीयाम् (महाबुध्न इव पर्वतः पितृषु ज्योगास्ताम्) एषा मे पत्नी महाबुध्नो दृढमूलः पर्वत इव पितृषु मम मातापित्रादिषु ज्योक् चिरमास्तां तिष्ठतु ॥

भावार्थ—(अस्या भगं वर्चो वृक्षादिव स्रजमादिषि) इस विवाहित पत्नी के ऐश्वर्य और तेजको मैं पति वृक्षसे मालायोग्य फूलोंके समान ग्रहण करता हूँ (महाबुध्न इव पर्वतः पितृषु ज्योगास्ताम्) ये मेरी पत्नी दृढ़मूल पर्वतके समान मेरे माता पिता आदि महानुभावोंके मध्य चिरकालतक सेवा शुश्रूषा भावसे वर्तमान रहे ॥

शिक्षा—जिस प्रकार माली फूलके वृक्षसे उसकी रक्षा करता हुआ फूल ग्रहण करता है पुष्पतरुको अन्य हानि नहीं होने देता इसी प्रकार पति को चाहिये कि वह अपनी पत्नीकी सर्वप्रकार रक्षा करता हुआ उसके साथ धर्मसे गृहस्थसुखका भोग करे । कभी ऐसा वर्ताव न करे जिससे कि स्वपत्नी का जीवन दूषित, पीड़ित या रुग्ण हो जावे तथा पत्नीको उचित है कि वह पतिके माता पिता आदि वृद्धजनोंकी सेवा और शुश्रूषामें पर्वतके तुल्य सदा दृढ़ रहे । एवं पति और पत्नीका परस्पर आचरण होना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें माता पिता आदि कुटुम्बी जनोंके लिये पितर शब्द आया है और गृहस्थमें पति-पत्नीके धर्मका वर्णन है ॥

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि ।
ज्योक् पितृष्वासाता आशीर्ष्णः समोप्यात् ॥ अथ० १।१४।३

(राजन्नेषा ते कुलपा तामु ते परिदद्मसि) हे राजन् राजेव वर्तमान वर ! एषा मदीया कन्या ते तव कुलपा कुलरक्षिका भवेत् तामेतादृशीमहं ते तुभ्यं परिदद्मसि समर्पयामि "अस्मदो द्वयोश्च (अष्टा० १ । २ । ५९) इत्यनेन बहुवचनम् (आशीर्ष्णः समोप्यात) शीर्ष्णः शिरसः समोप्यं समावपनं समापतनं यावत्, नम्री भावपूर्वं वा ॥ (पितृषु ज्योगासातै) पितृषु ते जनकादिवृद्धजनेषु चिरमासातै सन्तिष्ठताम् । 'लिङर्थे लेट्'

भावार्थ—(राजन्नेषा ते कुलपा तामु ते परिदद्मसि) हे राजाके समान वर्तमान वर ! यह मेरी कन्या तेरे कुलकी रक्षक बने इस कन्याको मैं तेरेलिये समर्पण करता हूँ (आशीर्ष्णः समोप्यात्) जब तक इसका शिर शरीरसे अलग न हो या नम्रतापूर्वक (पितृषु ज्योगासातै) तेरे जनकादि वृद्ध कुटुम्बियोंमें यह सदा सेवादिसे वर्तमान रहे ॥

शिक्षा—कन्याको पिता घरमें इसप्रकार शिक्षित बनावे कि वह स्वपतिकुलमें जाकर अपने सास श्वसुर आदिकी आज्ञा पालन करनेमें जीवनभर स्थिर रहे तथा नम्रताके साथ सेवा करती रहे ॥

इस मन्त्रमें माता पितादि कुटुम्बी जनोंके लिये पितर शब्द आया है तथा कन्याका शिक्षण उसके अपने पिताके घर पतिकुलकी सेवाके लिये उत्तम होने का वर्णन है ॥

आ तत्ते दस्रमन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे ।
येन पितॄनचोदयः ॥ ऋ० १ । ४२ । ५

(दस्रमन्तुमः पूषन् येन पितॄनचोदयस्तत्तेऽव आवृणीमहे) हे दुष्टोपक्षेप्त प्रशस्तज्ञानयुक्त पुष्टिकारक विद्वन् ! येन वयोज्ञानवृद्धान् धर्मे प्रेरयसि तत्ते रक्षणादिकं स्वीकुर्वीमहि ॥

भावार्थ—(दस्रमन्तुमः पूषन्) हे दुष्टका दलन करने वाले प्रशस्तज्ञानयुक्त पुष्टिकारक विद्वन् (येन पितॄनचोदयः) जिस साधनसे तू वयोवृद्ध महानुभावोंको धर्मके अन्दर प्रेरणा करता है (तत्तेऽव आ वृणीमहे) उस तेरे रक्षणादि साधनको हम स्वीकार करते हैं ॥

शिक्षा—दुष्टोंका विनाशक विज्ञ पोषक विद्वान् राष्ट्रपालक जिस कारण वयोवृद्ध महानुभावोंको भी धर्ममें प्रेरित करता है इस लिये उस राष्ट्रपतिकी आज्ञाको स्वीकार करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें वयोवृद्ध पुरुषोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

क्रूरमस्या आ शसनं तृष्टं पिशितमस्यते ।
क्षीरं यदस्याः पीयते तद्वै पितृषु किल्विषम् ॥ अथ० ५ । १९ । ५

(अस्या आशसनं क्रूरम्) अस्या ब्राह्मणस्य वेदविदः श्रोत्रियस्य या गौरस्ति तस्या आशसनं ताडनं क्रूरं क्रूरकर्मास्ति (पिशितमस्यते तृष्टम्) पिशितं यन्मांसमस्यते क्षिप्यत उत्पाट्यते तत् तृष्टं व्याकुलीकरमत्यन्तदयनीयमस्ति (अस्या यत् क्षीरं पितृषु पीयते तद्वै किल्विषम्) अस्या गोर्यत् क्षीरं दुग्धं पितृषु राजपुरुषेषु बलात्कारेण पीयते तन्महापापकर्मास्ति ॥

भावार्थ—(अस्या आशसनं क्रूरम्) वेदवेत्ता श्रोत्रियकी गौ को दण्डादिसे ताड़ना करना बुरा काम है (पिशितमस्यते तृष्टम्) और किसी लोहेके शस्त्रादिसे चोट मारकर मांस उखाड़ना अत्यन्त दयनीय है तथा राष्ट्रमें व्याकुलताका पैदा करनेवाला है (अस्या यत् क्षीरं पितृषु पीयते तद्वै किल्विषम्) और जो इसका दूध राजपुरुषों द्वारा बलात्कारसे पिया जाता है वह महापाप कर्म है ॥

शिक्षा——वेद के शिक्षक और विद्यार्थियोंकी या गुरुकुल और आश्रमकी गौओंके चरनेके लिये राज्यकी ओरसे क्षेत्रका प्रबन्ध होना चाहिये अपितु राजपुरुषों द्वारा उनका दूध पीना या दण्डताड़न तथा शस्त्रसे चोट लगना अत्यन्त बुरा है अतः राष्ट्रमें इसके सम्बन्धमें व्यवस्था होनी चाहिये ॥

इस मन्त्रमें राजपुरुषोंके लिये पितर शब्द आया है और उनको ब्राह्मणकी गौ के दूध पीनेका निषेध है ॥

खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि । वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥
अथ० ४ । १५ । १५

(खण्वखे खेमखे तदुरि मध्ये) खण्वखे कण्वेन मेधाविना कृतो मखो वृष्टिप्रयोजनो यज्ञो यस्याः सेयं खण्वखा 'पृषोदरादिः०' क्षेमो मखो यस्याः सेयं खैमखा 'पृषो०' तदुरि मण्डुकि मध्ये ह्रदमध्ये (पितरो वर्षं वनुध्वम्) यूयं सर्वमण्डूक्योऽस्माकं पितर इव सत्यः स्वमेघवर्षं व नुध्वं याचध्वम् (मरुतां मन इच्छत) एवं च प्रियं वदन्तो मरुतां मनष्याणां मन इच्छत वशीकुरुत ॥

भावार्थ—(खखखे खेमखे तदुरि मध्ये) मेधावी पुरुषद्वारा की हुई यज्ञके सम्बन्ध वाली तथा क्षेम जीवन निर्वाहके लिये यज्ञके सम्बन्ध वाली तत् तत् वर्षाकाल को प्राप्त होने वाली तुम सब मेंढकियो (पितरो वर्षं वनुध्वम्) हमारे पितर अर्थात् रक्षक होकर मेघवर्षण को मांगो (मरुतां मन इच्छत) इस प्रकार प्रिय ध्वनिकी गूंज करती हुई मनुष्योंके मनको वश करलो ॥

शिक्षा—वर्षा ऋतुके प्रारम्भमें विद्वान् याज्ञिक जन एकत्र होकर प्राणियोंके जीवन निर्वाहके लिये उत्तम वृष्टिको चाहते हुए उत्तम महान् यज्ञका प्रारम्भ करें। पुनः वर्षाका आगमन जब होगा तो भांति भांति की मेढकियां वर्षाकालके रक्षकके समान होकर इस प्रकार ध्वनिनाद करेंगी कि वर्षाधाराके साथ मेढकियोंकी मधुर ध्वनिसे मनुष्यों का मन मोहित और प्रमोदित हो जायगा ॥

इस मन्त्रमें रक्षकोंकी उपमामें पितर शब्द आया है ॥

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने
मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ यजुः० । ३२ । १४ ॥

(देवगणाः पितरश्च यां मेधामुपासते) आदिसृष्ट्या ब्रह्माणमारभ्याद्यपर्यन्तं ये देवगणा विद्वद्वर्गाः पितरः पूर्वजकुटुम्बिनश्च यां मेधां धारणावतीं बुद्धिमुपासतेऽनुतिष्ठन्ति स्म, अग्ने तया मेधयाऽद्य मां मेधाविनं कुरु स्वाहा) हे प्रकाशस्वरूप भगवन् तया बुद्ध्याऽद्यास्मिन् जीवने मां बुद्धिमन्तं कुर्विति स्पष्टं प्रार्थनावचनं मम ॥

भावार्थ—(देवगणाः पितरश्च यां मेधामुपासते) आदि सृष्टिके ब्रह्मा से लेकर आजतकके जितने भी आप्त पुरुष और हमारे पूर्वज जिस धारणा वाली बुद्धि को सेवन करते थे (अग्ने तया मेधयाद्य मां मेधाविनं कुरु स्वाहा) हे प्रकाशस्वरूप मार्गदर्शक अन्तर्यामी जगदीशदेव ! आप उस बुद्धिसे इस जन्ममें मुझे भी बुद्धिमान् बनाओ ॥

शिक्षा—उन्नतिशील मनुष्योंको चाहिये कि वे प्रातः सायं शान्त समय में अन्तःकरणसे प्रार्थना करें कि जिस बुद्धिको सृष्टिके प्रारम्भसे आज तक सब ऋषि महर्षि तथा धार्मिक विद्वान् जन सेवन करते आए हैं उसको मुझे भी प्रदान करो ॥

इस मन्त्रमें धार्मिक पूर्वज महानुभावोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् ।
सम विव्यचुरुत यान्यत्विषुरैषां तनूषु निविविशुः पुनः ॥
ऋ० १० । ५६ । ४

(देवा देवेषु क्रतुमप्यदधुः) देवा अग्न्यादयो देवेषु सूर्यरश्मिषु क्रतुं यज्ञमप्यदधुरपि धारितवन्तः (पितरश्चनैषां महिम्न ईशिरे) पितर ऋतवश्चैषामपि रश्मीनां महिम्नो महत्वस्य यज्ञसम्भूतस्य संग्राहका अभवन् (समविव्यचुः) एवं ते ऋतवः परस्परं संसृष्टा अभवन् (उत यान्यत्विषुः) उतापि देवानां यानि तेजांस्यत्विषुर्दीप्तान्यभवन् (पुनरेषां तनूष्वानिविविशुः) पुनश्च वर्षानन्तरमेषां तनूषु ज्वालाधारासु प्रविष्टान्यभवन् ॥

भावार्थ—(देवा देवेषु क्रतुमप्यदधुः) अग्नि आदि पदार्थों ने सूर्य रश्मियोंके अन्दर यज्ञ को रख दिया (पितरश्चनैषां महिम्न ईशिरे) पुनः ऋतुएं भी उनके यज्ञसम्बन्धी महत्वके ग्रहण करने वाली हुईं (उत यान्यत्विषुः) और जो इन देवों के तेज दीप्त हुए वे (पुनरेषां तनूष्वानिविविशुः) फिर वर्षानन्तर ज्वालाधाराओ में प्रविष्ट हुए ॥

शिक्षा—अग्नि आदि पदार्थों के अन्दर जो यज्ञका भाग परिणामरूपसे पहुँचता है वह सूर्यकी रश्मियोंको प्राप्त होता है सूर्यकी रश्मियोंसे फिर ऋतुओंमें जाता है फिर तेजके रूपमें रश्मियों को प्राप्त होता है इसप्रकार यज्ञका उपयोग लाभप्रद बनता है ॥

इस मन्त्र में ऋतुओंके लिये पितर शब्द आया है और यज्ञ भागसे रश्मियों के संयुक्त होनेका वर्णन है ॥

देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्षमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवीमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कञ्च लोकमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत् ॥ यजु० ८ । ६

(यज्ञो देवान् दिवमगन्) यज्ञो देवान् द्योतमानान् रश्मीन् दिवं द्युलोकमगनगमत् । 'वचनव्यत्ययः' रश्मयो देवाः "देवा उदिताः सूर्यस्य" (ऋ० १ । ११२ । ४) (ततो मा द्रविणमष्टु) ततो द्युलोकान्मां द्रविणं वृष्टिधनमष्टु प्राप्नोतु (यज्ञो मनुष्यानन्तरिक्षमगन्) यज्ञो मनुष्यान् मर्त्यान् नाशकविद्युत्कणानन्तरिक्षमगमत् (ततो मा द्रविणमष्टु) पूर्ववत् (यज्ञः पितॄन् पृथिवीमगन्) यज्ञः पितॄन् ऋतून् पृथिवीलोकमगमत् (ततो०) (यज्ञो यं कञ्च लोकमगन् ततो मे भद्रमभूत्) यज्ञो यं कञ्चलोकं गतस्ततो मह्यं भद्रं भवतु ॥

भावार्थ—(यज्ञो देवान् दिवमगन्) यज्ञ द्योतमान रश्मियोंके प्रति द्युलोक में गया (ततो मा द्रविणमष्टु) उस लोकसे मेरे प्रति वृष्टिधनको प्राप्त कराया (यज्ञो

मनुष्यानन्तरिक्षमगन्) यज्ञ नाशक विद्युत्कणोंके प्रति अन्तरिक्षमें गया (ततो मा द्रविणमष्टु) पूर्ववत् (यज्ञः पितॄन् पृथिवीमगन्) यज्ञ ऋतुओंके प्रति पृथिवीमें गया (ततो मा द्रविणमष्टु) पूर्ववत् (यज्ञो यं कं च लोकमगन्) यज्ञ जिस भी लोकको गया (ततो मे भद्रमभूत्) वहींसे मेरे लिये कल्याण हो ॥

शिक्षा—यज्ञ सबसे प्रथम सूर्यरश्मियों द्वारा ऊपर द्युलोकमें जाता है । पुनः वृष्टिके साथ अन्तरिक्षमें और अन्तरिक्षसे पृथिवी पर और पृथिवीसे इधर उधरके स्थानों पर प्राप्त होता है । इस प्रकार किया हुआ यज्ञ मुझे सुख प्रदान करता है ॥

ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यदैन्द्र उदानो अङ्गे अङ्गे निधीत ।
देव त्वष्टर्भूरि ते संसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति ।
देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥ य० ६ । २०

(त्वष्टर्देवावसे अङ्गे अङ्ग ऐन्द्रः प्राणो निदीध्यत) शत्रुबलच्छेत्तो दिव्यविद्या-सम्पन्नसेनापते ! रक्षणायाय प्रत्यङ्गं वैद्युतः शरीरस्थवायुविशेषः प्रकाशेत (अङ्गे अङ्ग उदानो निधीत) प्रत्यङ्गमुदानवायुर्निहितः स्यात् (यत्ते विपुरूपं सलक्ष्म भवाति) यत्तव व्यापकं विविधरूपं समानलक्षणं भवतु (भूरि संसमेतु) बहु समुदितं गच्छतु (सखायो माता पितरो देवत्रा यन्तं त्वाऽनुमदन्तु) सुहृदः सन्तो जननीरक्षका देवं देवं गच्छन्तं त्वामनुहर्षन्तु । इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(त्वष्टर्देवावसे) हे शत्रु बलका छेदन करने वाले विद्यासंपन्न सेनापते ! हमारे रक्षणके लिये (अङ्गे अङ्ग ऐन्द्रः प्राणो निदीध्यत) प्रत्येक अङ्गमें विद्युत्शक्तिवाला शरीरस्थ वायुविशेष प्रकाशित होवे (अङ्गे अङ्ग उदानो निधीत) प्रत्येक अङ्गमें उदानवायु वर्तमान हो (यत्ते विपुरूपं सलक्ष्म भवाति) जो तेरा व्यापक विविध रूप है वह समानलक्षणवाला हो (भूरि संसमेतु) वह बहुत प्रकारसे समुदित रूपमें प्राप्त हो (सखायो मातापितरो देवत्रा यन्तं त्वाऽनुमदन्तु) माता पिता मित्रवन तुझे देवरूपमें प्राप्त होते हुएको प्रसन्न करें ॥

शिक्षा—शरीरस्थ वायु शरीरके अङ्ग २ में व्याप्त है उसका उत्तम व्यवहार करनेसे मनुष्य उच्च जीवनको प्राप्त करता है । माता पिता उक्त उन्नत स्वस्थ बालक के सदानुकूल आचरण किया करें ॥

इस मन्त्रमें जनकादिकोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

वर्षाहूर्ऋतूनामाखुः कशो मान्थालस्ते पितॄणां बलाय० ॥ य० २४ । ३८

(वर्षाहूर्ऋतूनामाखुः कशो मान्थालस्ते पितॄणां बलाय) वर्षाहूर्या वर्षा

आह्वयति सा मण्डूकी, ऋतूनां वर्षादीनामृतूनां सूचकचिह्नमस्ति । यद्दतवः शुभा अशुभा वा सन्ति । तथाऽऽखुरासमन्ताद्विस्तृतं खनतीत्याखुर्जाङ्गलमूषको तथा च विश्वकोषः—"जंगलीचूहा" कशः कशति क्षिप्रं गच्छतीति कशो गृहमूषकः । मान्थालश्छुछुन्दरः । तथा च विश्वकोषः—"मान्थाल मूषिकाजातीयजीवभेद । मूसे की जाति का एक प्रकार का जीव" एते जन्तवः पितृणां सूर्यरश्मीनां बलाय बलसूचकाः सन्ति रोगारोगचिह्नानि ॥

भाषार्थ—(वर्षाहूऋतूनाम्) वर्षा को बुलाने वाली मेंढकी वर्षादि ऋतुओं के लिये सूचकचिह्न है इसकी ध्वनि उक्त ऋतुओंकी सम्पन्नताको प्रकाशित करती है । तथा (आखुः कशो मान्थालस्ते पितृणां बलाय) जङ्गलमें विस्तृत बिलका बनाने वाला जङ्गली चूहा, जल्दी चलनेवाला घरका चूहा और छुछुन्दर ये तीनों सूर्यरश्मियोंके बलसूचक अर्थात् रोग अरोग के सूचक हैं । इत्यादि ॥

शिक्षा—वर्षादि ऋतुओंके जानने वाले वर्षाकालमें ध्वनि करती हुई मेंढकी से वर्षादि ऋतुओं का अनुमान कर उचित उपयोग करते हैं । जङ्गली चूहा, नागरिक चूहा और छुछुन्दर इतने जन्तु सूर्यरश्मियोंके बलके सूचक हैं इनके गमन आगमन और मूर्छन आदि व्यापारसे विज्ञ लोग रोगादिके संचारको जानते हैं ॥

इस मन्त्रमें सूर्यकी किरणोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः । विषाणका नाम वा असि पितृणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशिनी ॥ अथ० ६ । ४४ । ३ ॥

(पितृणां मूलादुत्थिता विषाणका नाम वै वातीकृतनाशन्यसि) पितृणामृतूनां मूलाद्वसन्तादुत्थितोत्पन्ना वसन्ततौं सञ्जाता । "मुखं वा एतदृतूनां यद्वसन्तः" (तै० १ । १ । २ । ६, ७) विषाणका क्षीरकाकोली नामौषधिरवश्यं वातीकृतनाशनी वातेन कृतो रोगो वातीकृतस्तस्य नाशनी नाशयित्र्यस्ति । पुरुषव्यत्ययः । "विषाणा क्षीरकाकोली" (मेदनी) "काकोली युगलं शुक्लं गुरु । बृंहणं वातदाहास्रपित्तशोथज्वरापहम् (भावप्रकाशनिघण्टौ । १३६) तथा "काकोली द्वयमेव च······हन्ति व्याधीन् घोरांश्च वातजान् (चरके चि० २१ । ७०—७२) (रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः) रुद्रस्य रोदयितुरश्रुपातकनेत्ररोगस्य मूत्रं मोचनसाधनमस्त्यमृतस्य प्राणस्य नाभिर्बन्धनसाधनमस्ति । "शिविमुच्योष्टेरू च" (उणादि० ४ । १६३) "प्राणो वा अमृतम्" (श० १४ । ४ । ४ । २) ॥

भाषार्थ—(पितृणां मूलादुत्थिता) ऋतुओं की मूलरूप वसन्त ऋतु में

उत्पन्न हुई (विषाणका नाम वै) क्षीरकाकोली ओषधि अवश्य (वातीकृतनाशन्यसि) वातरोग को नष्ट करने वाली है (रुद्रस्य मूत्रम्) अश्रुपात नेत्ररोग से छुड़ाने वाली है (अमृतस्य नाभिः) और प्राणों को बांधने वाली है ॥

शिक्षा—वसन्त ऋतुमें उत्पन्न हुई क्षीरकाकोली वातरोगोंके नष्ट करनेके लिये महौषध है तथा आंखोसे पानी आने वाले रोग को हटाती है और प्राणोंको शक्ति देने वाली है ॥

इस मन्त्र में ऋतुओं के लिये पितर शब्द आया है ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥

अथ० ६ । १२० । ३

(यत्रा सुहार्दः सुकृतः स्वायास्तन्वो रोगं विहाय मदन्ति) यत्र यस्मिन् स्थाने सुहार्दः सुहृदयाः स्वथाः, सुकृतो जनाः स्वायास्तन्वो निजकायस्य रोगं परित्यज्य मदन्ति तृप्यन्ति (अश्लोणा अङ्गैरह्रुतास्तत्र स्वर्गे पितरौ पुत्रान् च पश्येम) अश्लोणा असङ्कका अनधिकाङ्गा अङ्गैरह्रुताः सरलाः सन्तो वयं तत्र स्वर्गे सुखमये स्थाने शरीरेऽपरजन्मनि वा पितरौ मातापितरौ पुत्रांश्च पश्येम । तत्र गच्छेमेति प्रार्थना ॥

भावार्थ—(यत्रा सुहार्दः सुकृतः स्वायास्तन्वः) जिस स्थान में स्वस्थ पुण्यजन अपनी काया के (रोगं विहाय मदन्ति) रोग को त्याग कर प्रसन्न होते हैं (तत्र स्वर्गे अश्लोणा अङ्गैरह्रुता) उस सुखमय शरीर में उचित अङ्ग वाले और सरल होते हुए हम (पितरौ पुत्रान् च पश्येम) माता पिता और पुत्रोंको देखें अर्थात् प्राप्त हों ।

शिक्षा—सरल हृदय पुण्यवान् मनुष्य पुनर्जन्ममें शरीरसे स्वस्थ हुए अच्छे माता पिता और संतानों को प्राप्त होते हैं ॥

इस मन्त्र में माता पिताके लिये पितरौ शब्द आया है ॥

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः ।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥

अथ० ६ । ७१ । २

(यन्मा हुतमहुतमाजगाम) यद्धनं हुतं दत्तमहुतमदत्तं स्वोपार्जितं मामाजगाम प्राप्तमस्ति (पितृभिर्दत्तं मनुष्यैरनुमतम्) पितृभिः कुटुम्बिभिर्जनकादिभिर्दत्तं

मनुष्यैश्च यदनुमतं स्वीकृतम् (यस्मान्मे मन उदिव रारजीति) यस्माद्धनान्मम मन उदिवातीव रारजीति पुनः पुना रजते प्रसीदति 'रञ्ज रागे' यङ्लुगन्तरूपम् (होताग्निष्टत्सुहुतं करोतु) होता यज्ञयोग्योऽग्निर्नेता वा तद्धनं सुहुतं सुगृहीतं सम्पादयतु ॥

भाषार्थ—(यन्मा हुतमहुतमाजगाम) जो धन दिया हुआ और न दिया हुआ स्वोपार्जित किया हुआ मुझे प्राप्त हुआ है (पितृभिर्दत्तं मनुष्यैरनुमतम्) स्वजनकादि कुटुम्बियों ने दिया और मनुष्यों ने उसको अनुमोदित किया (यस्मान्मे मन उदिव रारजीति) जिस धनसे मेरा मन बारम्बार प्रसन्न होता है (होताग्निष्टत्सुहुतं करोतु) यज्ञयोग्य अग्नि और विद्वान् नेता उस धनको उत्तम सम्पन्न करे ॥

शिक्षा—मनुष्यके पास धन या तो किसीका दिया हुआ होता है और या स्वयं प्राप्त किया हुआ होता है इसमें जो धन माता पिता आदि कुटुम्बियोंका दिया हुआ होता है वह धर्म्य और श्रेष्ठ होता है उसीको अन्य जन असली धन मानते हैं एवं स्वोपार्जित धन तथा पैतृक धन मनुष्यका अपना है शेष धन पापरूप समझना चाहिये पूर्वोक्त जो शुद्ध धन है वह मनुष्यकी प्रसन्नताका हेतु बनता है इसलिये उस धन के होनेकी सफलता भी तभी है जब कि बड़े २ यज्ञोंमें अथवा विद्वानोंको अनुमति से किसी विद्याक्षेत्रमें उसका व्यय किया जावे ॥

इस मन्त्रमें अपने कुटुम्बियोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

स सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् ॥
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन् ॥
प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ अथ० १५ । ६ । २४, २५, २६

(स सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत्) सम्पूर्णकाण्डदर्शनादत्र प्रकरणे तच्छब्देन व्रतं वीर्यं तत्समूहो व्रात्योऽत्र लक्ष्यते । समूहार्थे ष्यञ्छान्दसः । "वीर्यं वै व्रतम्" (श० १३ । ४ । १ । १४) सर्वानन्तर्देशान् सूक्ष्मस्थानानि चानुव्यचलदनुप्राप्तः ॥२४॥

(तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन्) तं सृष्टिबीजसमूहं प्रजापतिर्हिरण्यगर्भरूपा सृष्टिजननशक्तिः, परमेष्ठी सृष्टिकालिकं शुक्रम् "परमेष्ठी वा एष यदोदनः" (तै० १ । ७ । १० । ६) "रेतो वा ओदनः" (श० १३ । १ । १ । ४) पिता संवत्सरनामकः सृष्टिकालः "पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिम्···" (ऋ० १ । १६४ । १२) तथा "संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि···षडर आहुरर्पितम्·····इति षड्तुतया अरा ···..." (निरु० ४ । २७) पितामहः सूर्यश्चानुव्यचलन् प्राप्नुवन्तः ॥ २५॥

(य एवं वेद स प्रजापतेश्च परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति) स एवं वेत्ता सन् पूर्वोक्तानां हिरण्यगर्भादीनां प्रियं पात्रं भवति ॥ २६ ॥

भावार्थ—(स सर्वानन्तर्देशाननुव्यचलत्) वह व्रात्य अर्थात् मूलरूप सृष्टिबीजसमूह सब सूक्ष्म स्थानों को भी प्राप्त हुआ ॥ २४ ॥

(तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन्) उस सृष्टि-बीजसमूह के प्रति हिरण्यगर्भरूप सृष्टिजननशक्ति और अलग २ सृष्टिकाल का शुक्र, संवत्सररूप सृष्टिकाल और सूर्य प्राप्त हुए ॥ २५ ॥

(य एवं वेद स प्रजापतेश्च परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति) जो इस प्रकार जानता है वह पूर्वोक्त हिरण्यगर्भ आदिकोंका पात्र बनता है ॥

शिक्षा—सृष्टिका मूलरूप बीजसमूह सृष्ट्युत्पत्ति के लिये सूक्ष्मस्थानों तक में गति करता है। वह सृष्टिकी जननशक्ति तथा अलग २ सृष्टिके शुक्ररूप बीज और काल वा सूर्यको प्राप्त होता है पुनः स्थूल शरीर की ओर चलता है ॥

यहां संवत्सरके लिये पिता और सूर्य के लिये पितामह शब्दका प्रयोग है।

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रोभवत् ॥
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च
वर्षं भूत्वानुव्यवर्तन्त ॥ अथर्व० १५ । ७ । १, २

(स महिमा सद्रुर्भूत्वा पृथिव्या अन्तमगच्छत् स समुद्रोऽभवत्) स एव सृष्टिबीजसमूहो महिमा महत्वमापन्नः सद्रुः सन्द्रुः सम्यग्द्रवणशीलो भूत्वा 'समो-मकारलोपश्छान्दसः' पृथिव्या अन्तं निम्नस्थानमगच्छत् ॥ १ ॥

(तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वा-ऽनुव्यवर्तन्त) तं सृष्टिबीजसमूहं हिरण्यगर्भो व्यक्तिबीजं संवत्सरः सूर्योऽन्तरिक्ष-जलानि श्रद्धा तेजः "तेज एव श्रद्धा" (श० ११ । ३ । १ । १) वर्षं वर्षा, इमे सर्वे भूत्वा प्राप्य । 'भू धातुरत्र प्राप्त्यर्थः' अनुव्यवर्तन्तानुविवर्तन्ते साहाय्यं कुर्वन्ति ॥ २ ॥

भावार्थ—(स महिमा सद्रुर्भूत्वा) वह सृष्टिबीजसमूह महत्वको प्राप्त हुआ म्यग् द्रवणशील होकर (पृथिव्या अन्तमगच्छत्) पृथिवी के नीचे स्थान को प्राप्त हुआ (स समुद्रोऽभवत) वह समुद्र हो गया ॥ १ ॥

(तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च) उस सृष्टिबीजसमूह को हिरण्यगर्भ जनन-शक्ति और व्यक्तिबीज (पिता च पितामहश्च) संवत्सररूपकाल और सूर्य (आपश्च)

श्रद्धा च वर्षम्) अन्तरिक्ष के जल, तेज और वर्षा ये सब ('भूत्वानुव्यवर्तन्त) प्राप्त होकर सहायता करते हैं ॥ २ ॥

शिक्षा—सृष्टिबीजसमूह विस्तार को प्राप्त करता हुआ द्रवणशील होकर पृथिवीके नीचाङ्गमें समुद्रके रूपमें प्रकट हुआ। वहां उसको जननशक्ति और व्यक्तिबीज संवत्सर और सूर्य अन्तरिक्ष के जल और तेज तथा वर्षा प्राप्त होकर सृष्ट्युत्पत्ति के लिये उसके सहायक बनते हैं॥

यहां पर भी पूर्व के समान संवत्सर और सूर्य के लिये पिता और पितामह शब्द आये हैं ॥

नैतां विदुः पितरो नोत देवा येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम् ।
त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः ॥

अथर्व० १९ । ५६ । ४

(वरुणेनानुशिष्टा आदित्यासो नर आप्त्ये त्रितेऽदधुः) वरुणेन जन्मदानार्थं वरयित्रा धर्मपतिना देवेन । "वरुण धर्मणां पते" (तै० ३ । ११ । ४ । १) अनुशिष्टाः प्रेरिता आदित्यासो मासा नरः शरीरनेतारः "द्वादशमासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति" (श० ११।६।३।८) आप्त्ये-आप्तव्ये प्राप्तव्ये त्रिते स्थूल-सूक्ष्मकारणशरीरे स्थानत्रये वर्तमाने-इन्द्रे जीवात्मनि स्वप्नमदधुर्धारयन्ति । "आप्त्यमाप्तव्यम्" (निरु० ११ । २१) "त्रितस्त्रिस्थानः" (निरु० ६ । २५) (या जल्पिरेषामन्तरेदं चरति) या जल्पिर्जल्पना स्वप्नस्य व्यक्तभावनैषामन्तरा मध्ये वर्तमानेदं प्रत्यक्षं चरति प्राप्नोति (एतां पितरो न विदुर्नोत देवाः) एतां जल्पिं स्वप्नप्रवृत्तिं पितरः प्राणा न विदुर्न जानन्ति नोत नापि देवा इन्द्रियाणि जानन्ति ॥

भाषार्थ—(वरुणेनानुशिष्टा आदित्यासो नर आप्त्ये त्रितेऽदधुः) जन्मदानार्थ वरने वाले धर्मपतिदेवसे प्रेरित शरीर के नायक महीने प्राप्त करने योग्य स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीर में वर्तमान जीवात्मा के अन्दर स्वप्न को धारण कराते हैं (या जल्पिरेषामन्तरेदं चरति) जो स्वप्न को व्यक्तभावना इनके अन्दर वर्तमान होती हुई प्रत्यक्ष प्राप्त होती है (एतां पितरो न विदुर्नोत देवाः) उस स्वप्न की स्मृति को न प्राण जानते हैं और न इन्द्रियां ॥

शिक्षा—जन्मदाता कर्मानुसार जीव को शरीर में भेजता है पुनः उसके नियमों से जैसे २ बालक महिमा को प्राप्त होता जाता है वैसे २ उसका आत्मा कारण

सूक्ष्म और स्थूल शरीर में अभिव्यक्त होकर स्वप्नों का अनुभव करता है जो कि उसके प्राणों और इन्द्रियों के अन्दर विचरता हुआ प्रतीत होता है ॥

इस मन्त्रमें प्राणोंके लिये पितर शब्द आया है ॥

........पितरो नाराशंसाः ॥ यजु० ८ । ५८

(पितर.) ज्ञानिनः (नाराशंसाः) नरानाशंसन्ति नराशंसानामिम उपदेशकाः । इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(पितरः) ज्ञानी जन (नाराशंसाः) जो मनुष्यों को श्रेष्ठ बनाने वाले उपदेशक हैं वे हमारी रक्षा करें ॥

शिक्षा—विद्वानों को अपना उपदेशक बनाना चाहिये मूर्खों को नहीं ॥

इस मन्त्रमें पितर शब्द ज्ञानी जनों के लिये आया है ॥

जीवं रुदन्ति विमयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥
ऋ० १० । ४० । १०

जीवं रुदन्ति विनयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे ॥
अथ० १४ । १ । ४६

(नरो जीवं रुदन्ति) नरो मनुष्या जीवं जीवमेकाकिनं स्वकीयं मत्वा रुदन्ति दुःखमनुभवन्ति । अतः (अध्वरे विमयन्ते) अध्वरे यज्ञे विवाहसंस्कारे विमयन्ते भार्यां विवहन्ति । पुनश्च (दीर्घां प्रसितिमनुदीधियुः) दीर्घां चिरकालां प्रसितिं प्रकृष्टबन्धनीं सहयोगितामनुदीधियुः परस्परं क्रीडन्ति (ये पितृभ्य इदं वामं समेरिरे) ये खलु पितृभ्यः पितृधर्मेभ्य इदं वामं श्रेष्ठं सन्तानं समेरिर उत्पादितवन्तः । तेभ्यः (पतिभ्यो जनयो मयः परिष्वजे) पतिभ्यो जनयो जाया मयः सुखं परिष्वजे—आलिङ्गन्ति ॥

भाषार्थ—(नरो जीवं रुदन्ति) मनुष्य अपने एकाकी जीवन को मान कर दुःखानुभव करते हैं । अतः (अध्वरे विमयन्ते) विवाहसंस्काररूपी यज्ञमें भार्या को विवाहते हैं । फिर (दीर्घां प्रसितिमनुदीधियुः) चिरकालीन उत्तम बन्धनी सहयोगिता में परस्पर क्रीडा करते हैं (ये पितृभ्य इदं वामं समेरिरे) जो पितृधर्म

के लिये इस श्रेष्ठ सन्तानको उत्पन्न करते हैं उन (पतिभ्यो जनयो मयः परिष्वजे) पतियोंके लिये स्त्रियां सुख का आलिङ्गन करती हैं ॥

शिक्षा—मनुष्य अपने जीवन को अकेला समझ कर दुःख अनुभव करते हैं। फिर विवाह कर सन्तानोत्पन्न करनेमें प्रवृत्त होते हैं। एवं स्त्रियां भी उनके लिये अनुकूल सुख सम्पादन करती हैं ॥

इस मन्त्र में पितृधर्मों के लिये पितर शब्द आया है और सन्तानोत्पत्ति करके पितृधर्मों की पूर्ति का वर्णन है ॥

यम

इस प्रकरणमें यम शब्द वाले उन मन्त्रों पर विचार किया जावेगा जिनमें यमके स्वरूपका वर्णन है हम "मुख्यशब्दार्थसमन्वय" में यम के सप्रमाण अर्थ दे आए हैं वहां 'काल, आदित्य, वायु, अग्नि, धर्म, राजा, ईश्वर' आदि अर्थ सिद्ध कर आए हैं यहां मन्त्रों में उनके स्वरूप आदि का वर्णन होगा ॥

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोस्ता नीलशिखण्डः।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परिवृञ्जन्तु वीरान् ॥

अथ० ६।९३।१

(यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोस्ता नीलशिखण्डो देवजना उत्तस्थिवांसस्तेऽस्माकं वीरान् सेनया परिवृञ्जन्तु) यमो यमपदधारको यमनशीलो सेनानायको मृत्युर्मृत्युपदधारको मारणधर्मी सेनानायकोऽघमारोऽघमारपदधारकः पापनाशकः सेनानायको निर्ऋथो निर्ऋथपदधारको हिंसनशीलः सेनानायको बभ्रुर्बभ्रुपदधारको हरणशीलः सेनानायकः शर्वः शर्वपदधारको वधशीलः सेनानायकोऽस्ताऽस्तेति पदस्य धारकोऽस्त्रक्षेपणशीलो नीलशिखण्डो नीलशिखण्डपदधारको नीलो विषसम्पर्केण नीलवर्णः शिखण्डो मयूरपुच्छ इव बाणो यस्य सोऽयं विषसम्पृक्तबाणसाधकः सेनानायक एवं त एते सर्वे देवजना देवानग्निविद्युदादीन् तत्कोपांश्च जनयितारः प्रकटयितार उत्तस्थिवांसो युद्धायोत्थिताः सन्नद्धाः सन्तोऽस्माक वीरान् सैनिकान् सेनया सेनाक्रमेण सेनानियमेन परिवृञ्जन्तु सर्वतस्त्यजन्तु युद्धकरणाय सर्वतः प्रसारयन्तु ॥

भावार्थ—(यमः) यमपदवीधारक यमनशील सेनानायक (मृत्युः) मृत्युपदवीधारक मारणधर्मी सेनानायक (अघमारः) अघमारपदवीधारक पाप-

नाशक सेनानायक (निऋ्र्थः) निऋ्र्थ पदवीधारक हिंसनशील सेनानायक (बभ्रुः) बभ्रुपदवीधारक हरणशील सेनानायक (शर्वः) शर्वपदवीधारक वधशील सेनानायक (अस्ता) अस्तापदवीधारक अस्त्रक्षेपणशील सेनानायक (नीलशिखण्डः) नीलशिखण्डपदवीधारक विषसम्पर्क से वाणसाधने वाला सेनानायक (देवजना उत्तस्थिवांसः) एवं ये सब अग्नि विद्युत् आदि तथा उनके प्रयोगोंको प्रकट करनेवाले युद्धके लिये सन्नद्ध हुए (ते अस्माकं वीरान्) वे हमारे वीर सैनिकों को (सेनया परिवृञ्जन्तु) सेनानियम या सेनाक्रमसे युद्ध करनेके लिये सब तरफ फैलावें ॥

शिक्षा—युद्धमें भिन्न २ प्रयोगों के लिये यम आदि आठ प्रकारके सेना नायक होने चाहियें और उनके अधीन सेनाविभाग से सैनिकजन भी होने चाहियें ॥

इस मन्त्रमें युद्धमें यमपदवीधारक यमनशील सेनानायक के लिये यम शब्द आया है ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत ।
अथोयमस्य पड्वीशात् सर्वस्माद्देवकिल्विषात् ॥ ऋ० १०।९७।१६
यजु० १२ । ९०, अथ० ६ । ९६ । २ तथा ७ । ११२ । २

(शपथ्यादथो वरुण्यादथो यमस्य पड्वीशादुत सर्वस्माद्देवकिल्विषान्मा मुञ्चन्तु) हे विद्वांसो वैद्याः ! ओषधयः शपथकर्मणोऽपि वरेषु भवादपराधाद्वरुणरोगाद्वाऽथ न्यायाधीशस्य न्यायविरोधाचरणात् समयस्य प्रतिकूलाचरणाद्वा सवस्माद्विद्वत्स्वपराधकरणादिन्द्रियविपरीताचरणकृतरोगाद्वा मां पृथक् कुर्वन्तु । तथा च दयानन्दः ॥

भावार्थ—(शपथ्यात्) हे वैद्य महानुभावो! ओषधियां शपथसम्बन्धी कर्मसे अर्थात् पूजनीय पुरुषके कठोर भर्त्सनके शोकसे (अथो वरुण्यात्) और श्रेष्ठोंमें हुए अपराधसे अथवा वरुणरूप मोहसे वा वरुण रोगसे (अथो यमस्य पड्वीशात्) न्यायाधीशके न्यायविरोधसे अर्थात् राजद्रोहसे परतन्त्रताके दुःखसे या समयके प्रतिकूल आचरणसे (सर्वस्माद्देवकिल्विषात्) सभी प्रकारके विद्वानोंके अनादररूप अपराधसे या इन्द्रियोंके अनिष्टाचरणसम्बन्धी रोगसे (मा मुञ्चन्तु) मुझे पृथक् करें ॥

शिक्षा—वैद्यों को चाहिये कि ओषधियोंके उपयोगद्वारा मनुष्योंके सब प्रकारके रोगोंको शान्त करें और अपने आप भी रोग-रहित रहें ॥

इस मन्त्रमें न्यायाधीश तथा समयके अर्थमें यम शब्द आया है ॥

अमुत्र भूयादध यद्द यमस्य बृहस्पते अभिशस्तेरमुञ्चः ।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्माद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥
यजुः २७ । ९, अथ० ७ । ५३ । १

(बृहस्पतेऽमुत्र भूयादभिशस्तेरमुञ्चः) हे बृहस्पते ! परजन्मनि भाविनः सर्वतोऽपराधान्मुञ्च्याः (अध यद् यमस्य मृत्युमग्नेऽश्विना शचीभिर्भिषजा प्रत्यौहताम्) अथ च यन्नियन्तुर्मारकं सद्वैद्यौ तथाऽध्यापकोदेशकौ कर्मभिरौषधानि वितर्केण साध्नुताम् (अस्माद्देवानाम्) अस्माच्च विदुषामारोग्यं सम्पादयताम् । इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतेऽमुत्र भूयादभिशस्तेरमुञ्चः) हे बृहस्पति ! परजन्ममें होने वाले सब अपराधोंसे छुटकारा दे (अध यद् यमस्य मृत्युमग्नेऽश्विना शचीभिर्भिषजा प्रत्यौहताम्) और जो राष्ट्रपति नियन्ताका भी मारने वाला है उसको अच्छे वैद्य अथवा अध्यापकोपदेशक अपने कर्मों और औषधों तथा वितर्कसे उसको सिद्ध करें (अस्माद्देवानाम्) इसी प्रकार विद्वानोंके आरोग्यका सम्पादन करें ॥

शिक्षा—जगदीश देव परमात्मा मनुष्योंके कर्मानुसार दूसरे जन्ममें फल भोग कराता है उससे बड़ेसे बड़ा अपराधी सम्राट भी नहीं बच सकता ॥

इस मन्त्रमें नियन्ता राष्ट्रपतिके लिये यम शब्द आया है ॥

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् ।
अत्येनं नेषद्दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥

अथ० ६ । ११० । २

(ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्यैनं मूलबर्हणाद् विश्वा दुरितान्यतिनेषच्छतशारदाय दीर्घायुत्वाय परिपाहि) ज्येष्ठसन्तानघातन्यां स्त्रियां जात उत्पन्नो बालोऽथवा विचृतोर्विशिष्टसम्पृक्तयोर्बालकयोर्यमस्य युगलस्य मध्यादेनमेकैकं जीवितं वा बालं मूलबर्हणान्मूलछेदनान्नाडीछेदनादारभ्य विश्वा दुरितानि सर्वसङ्कटान्यतिनेषदतिनयेदुल्लंघयेच्छतशारदाय शतवार्षिकाय दीर्घायुत्वाय दीर्घजीवनाय परिपाहि परिरक्ष । इति जयदेवः ॥

भाषार्थ—(ज्येष्ठघ्न्यां जातः) जेष्ठसन्तान जिसकी मर जाती है ऐसी प्रसूत स्त्रीमें उत्पन्न हुआ बालक अथवा (विचृतो र्यमस्य) विशिष्ट सम्पृक्त बालकोंमें जो जोडेका बालक है (एनं मूलबर्हणात्) उसकी नाड़ीछेदनसे ही (विश्वा दुरितान्यतिनेषत्) सब सङ्कटोंको दूर हटाकर (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय परिपाहि) सौ वर्षके दीर्घजीवनके लिये रक्षा करनी चाहिये ॥

शिक्षा—जिस स्त्रीका पहला बालक मर गया हो ऐसी स्त्री में फिर दुबारा हुई सन्तानका अथवा युगल सन्तानका नाड़ीछेदनकालसे ही रक्षण करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें युगल अर्थमें यम शब्द आया है ॥

ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोभि दासन्त्यस्मान्।
यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥

अथ० ४ । ४० । २

(जातवेदो ये दक्षिणाया दिशोऽस्मानभिदासन्ति) हे जाते जाते विद्यमान सूर्य ! ये पीडकजन्तवो दक्षिणाया दिश आगत्यास्मानभिदासन्ति पीडयन्ति तथा च (दक्षिणतो जुह्वति) दक्षिणतोऽङ्गान् जुह्वति-अदन्ति । 'हु दानादनयोरित्यदनार्थः' (ते यममृत्वा पराञ्चो व्यथन्ताम्) ते यमं त्वां सूर्यं प्राप्य प्राञ्चः सम्मुखं सन्तो व्यथन्तां व्यथां प्राप्नुवन्ति (एनान् प्रतिसरेण हन्मि) एनानहमपि प्रतिसरेण प्रतिकरणेन प्रतिकाररूपेणौषधेन प्रत्यक् सम्मुखं हन्मि प्रतिकरोमि प्रतिगच्छामि ॥

भाषार्थ—(जातवेदो ये दक्षिणाया दिशोऽस्मानभिदासन्ति) हे उत्पन्न वस्तु मात्रके अन्दर विद्यमान सूर्य ! जो पीड़कजन्तु दक्षिण दिशासे आकर हमको पीड़ित करते हैं तथा (दक्षिणतो जुह्वति) दक्षिणके अङ्गोंको खाते हैं (ते यममृत्वा पराञ्चो व्यथन्ताम्) वे तुझ सूर्यको प्राप्त हो सम्मुख हुए पीड़ित हों (एना प्रतिसरेण हन्मि) इनका मैं भी प्रतिकाररूप औषधसे प्रतिकार करता हूँ ॥

शिक्षा—सूर्य अपनी रश्मियोंसे दंशमशकादि पीड़क जन्तुओं को नष्ट करता है अतः उसके रश्मिसञ्चारके लिये घरमें अन्य दिशाओंके समान दक्षिणमें भी वातायनादि होने चाहियें ॥

इस मन्त्रमें सूर्यके लिये यम शब्द आया है ॥

मा वो मृगो न यवसे जरिता भूदजोष्यः । पथा यमस्य गादुप ॥

ऋ० १ । ३८ । ५

(मृगो न यवसे वो जरिताऽजोष्यो मा भूत्) मृग इव घास एतेषां मरुतां स्तोता जनोऽसेवनीयो न भवेत् (यमस्य पथोपगात्) निग्रहीतुर्वायोः श्वासप्रश्वासरूपेण मार्गेण न गच्छेत् । इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(मृगो न यवसे वो जरिताऽजोष्यो मा भूत्) मृग जैसे घास में विचरता हुआ न हटाना चाहिये या न पकड़ना चाहिये एवं इन मनुष्योंका स्तुति करने वाला किसी प्रकार भी पकड़में नहीं आ सकता (यमस्य पथोपगात्) पकड़ने वाले वायु के श्वासप्रश्वासरूप मार्ग से न जावे ॥

शिक्षा—जो मनुष्य दूसरे मनुष्यों का यश गाता है यथावत् स्तुति करता है निन्दा नहीं वह मनुष्य किसीकी पकड़में नहीं आता ॥

इस मन्त्रमें वायुके लिये यम शब्द आया है ॥

वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना ।
तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय ॥ ऋ० १।११६।२

(शाशदाना नासत्या वीलुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां जूतिभिर्वा तद्रासभः प्रधन आजा यमस्य सहस्रं जिगाय) छेदकौ सत्यस्वभावौ बलेन पतनशीलैः शीघ्रं गमयद्भिर्वा विदुषां युद्धक्रियाभिर्वा पुरुषः प्रकृष्टे संग्रामे शत्रुसमूहस्यासंख्यातं जयेत् । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(शाशदाना) छेदन करनेवाले (नासत्या) सत्यस्वभाववाले (वीलुपत्मभिः) बल से पतनशीलोंद्वारा (आशुहेमभिः) शीघ्र ले जानेवालों से या (देवानां जूतिभिर्वा) विद्वानोंकी क्रियाओंसे (तद्रासभः) वह पुरुष (प्रधन आजा) बड़े संग्राममें (यमस्य सहस्रम्) शत्रुसमूहके असंख्य बलको (जिगाय) जीते ॥

शिक्षा—अग्नि और विद्युत् द्वारा शीघ्रकारी अस्त्रों से बड़े भारी संग्राम में विजय प्राप्त करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें यमनशील शत्रुसमूह या शत्रु के अर्थमें यम शब्द आया है ॥

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥
ऋ० १० । १७ । १, अथ० १८ । १ । ५३

इस मन्त्र में दिवसके अर्थमें यम शब्द आया है । यहां पर उषा के उदय होने और दिनके प्रकाश तथा रात्रि के नाश का वर्णन है । विवरणके लिये देखो सूक्त अथ० १८ । १ । ५३ (पृष्ठ १२०)

वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना संसृजाति ।
मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद्वा पितापराद्धो जिहीडे ॥
अथ० ६ । ११६ । २

(वैवस्वतो भागधेयं कृणवत्) वैवस्वतः कालः समयो भागधेयं जीवनभागं कृणवत्करोति (मधुभागो मधुना संसृजाति) मधुभागो रसभागो जीवनरसस्य भागकर्ता मधुना रसेन मां संयोजयति (मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद्वा पिताऽपराद्धो जिहीडे) मातुरिषितं मातुः शरीरान्निर्मतमेनः पापमागच्छत् यद्वा पितुः शरीरादपराद्धो दोषो जिहीडे ताडयामि ॥

भावार्थ—(वैवस्वतो भागधेयमकृणवत्) विवस्वान् सूर्यसे उत्पन्न हुआ समय यद्यपि जीवनके भाग को बनाता है (मधुभागो मधुना संसृजाति) जीवनरसका भाग करने वाला वह भाग मुझे जीवनरससे संयुक्त करता है (मातुर्यदेन इषितं न आगन्) माताकी ओर से जो त्रुटि मेरेमें प्राप्त हुई है (यद्वा पितापराद्धः) अथवा पिताके शरीर से जो विकार मेरे में आया है (जिहीडे) मैं उसे द्वेष पूर्वक ताडित करता हूँ ॥

शिक्षा—सूर्यकी गतिसे उत्पन्न हुए काल ने मेरे जीवनका निर्माण किया है। इस जीवन में यदि माता के गर्भ या पिता के वीर्य से कोई दोष जीवनका बाधक आ गया हो तो उसको चिकित्सा और सुनियमके आचरणसे दूर कर देना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें विवस्वान् के उत्पन्न हुए प्रारम्भिक कालके लिये यमशब्द आया है जोकि प्राणियोंके जीवनभाग का निर्माता है ॥

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्त्तिः सचते कदाचन।
आस्ते यम उपयाति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥

अथ० ४।३४।३

(ये विष्टारिणमोदनं पचन्ति) येऽधीतविद्या विष्टारिणं विस्तारयति जीवनं यन्तमोदनं रेतो निजशरीरे पचन्ति पक्वं कुर्वन्ति। "रेतो वा ओदनः" (१३।१।१।४) (नैनानवर्तिः कदाचन सचते) एतान् जनानवर्त्तिरवर्तनमालस्यमवरणं निराशत्वं च कदाचन कदापि न सचते सम्बध्नाति (यमे—आस्ते) यमे जीवनकाले पूर्णायुषि आस्ते तिष्ठति (गन्धर्वैः सोम्येभिर्देवान् सम्मदते) गन्धर्वैः सूर्यरश्मिभिः सोम्येभिः चन्द्रदीधितिभिश्च सह देवान् दिव्यगुणान् संयोजयति। 'मद तृप्तियोग इति योगार्थः' ॥

भावार्थ—(ये विष्टारिणमोदनं पचन्ति) जो शिक्षित जन जीवनविस्तारके हेतुरूप वीर्यको निजशरीरमें पकाते हैं (नैनानवर्त्तिः कदाचन सचते) इनको आलस्य और निराशा कभी प्राप्त नहीं होती (यमे-आस्ते) जीवनकाल अर्थात् पूर्णायुमें स्थिर होते हैं (गन्धर्वैः सोम्येभिर्देवान् सम्मदते) सूर्यरश्मियों और चन्द्रकिरणोंके द्वारा दिव्यगुणोंसे संयुक्त होता है ॥

शिक्षा—वीर्यधातु शरीरकी उन्नतिका कारण है। जो लोग इसको अपने शरीरके अन्दर धारण करते हैं, अपक्वका व्यय नहीं करते हैं उन संयमी पुरुषों के प्रति आलस्य और निराशा पास नहीं फटकते। और अपने जीवनकालमें अथवा

पूर्णायुमें स्थिर हुये सूर्य और चन्द्रकी रश्मियोंसे अनेक दिव्य गुणों का लाभ प्राप्त करते हैं ॥

इस मन्त्रमें जीवनकालके लिये यम शब्द आया है और ब्रह्मचर्य पालन से उसमें स्थिर रहनेका वर्णन है ॥

भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम् ।

भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः ॥ ऋ० १० । १६४ । २

(वैवस्वते भद्रं वै वरं वृणते) वैवस्वते जीवनकालाय भद्रं कल्याणकरं वै वरं वरणीयं वाममङ्गं वृणते स्वीकुर्वन्ति (भद्रं दक्षिणं युञ्जन्ति) भद्रं दक्षिणमङ्गं युञ्जन्ति प्राप्नुवन्ति (भद्रं चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः) भद्रं चक्षुर्बहुत्रा बहुविषयकं सर्व-विषयकं मनो जीवतो मनुष्यस्येच्छन्ति ॥

भावार्थ—(वैवस्वने भद्रं वै वरं वृणते) जीवनकालके लिये कल्याणकारी बाएं अङ्गको लोग चाहते हैं (भद्रं दक्षिणं युञ्जन्ति) कल्याणकारी दक्षिण अङ्गको भी चाहते हैं (भद्रं चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः) आंख भी कल्याणकारी और बहुतविषयवाला मन भी कल्याणकारी ही चाहते हैं ॥

शिक्षा—मनुष्योंको चाहिये कि अपने जीवनकालको उपयोगी बनाने के लिये दाएं बाएं अङ्गों, इन्द्रियों और मन से सदा कल्याण साधक पुण्यमार्गका आच-रण किया करें ॥

इस मन्त्रमें जीवनकालके लिये यम शब्दका प्रयोग है और उसकी कल्याण-मय स्थिति बनानेके लिये प्रार्थना है ॥

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः ।

रथीह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥

अथ० ४ । ३४ । ४

(ये विष्टारिणमोदनं पचन्ति) पूर्ववद् ये जना जीवनविस्तारनिमित्तं वीर्यं निजशरीरे पक्वं कुर्वन्ति स्थापयन्ति (नैनान् रेतो यमः परिमुष्णाति) एनाने-तेषां रेतो वीर्यं यमो जीवनकालो न परिमुष्णाति न स्खलयति वीर्यविकारं न करोति 'एनानिति विभक्तिव्यत्ययः' (रथीह भूत्वा रथयाने ईयते) रथी रथवानिव भूत्वा रथयाने शरीर ईयते गच्छति (पक्षी ह भूत्वा दिवः समेति) पक्षीव भूत्वा दिवो द्युलो-कान् मेघमण्डलादीन् लोकान् समेति सम्यग्गच्छत्यदुःखेन गच्छति ॥

भावार्थ—(ये विष्टारिणमदनं पचन्ति) जो शिक्षित जन जीवनविस्तार

के कारण वीर्यको निज शरीरमें धारण करते हैं (नैनान् रेतो यमः परिमुष्णाति) इनके वीर्य को जीवनकाल स्खलित नहीं करता वीर्य विकारको उत्पन्न नहीं करता है (रथी ह भूत्वा रथयान ईयते) रथवान् जैसा होकर शरीर रथके यातव्य संसार मार्गमें यात्रा करता है (पक्षी ह भूत्वा दिवः समेति) पक्षीके तुल्य होकर मेघ मण्डलादि स्थानोंको देहपातके अनन्तर अच्छी तरहसे जाता है ॥

शिक्षा—ब्रह्मचर्य पालन करनेसे जीवन भरमें कभी वीर्यदोष नहीं हो सकता तथा अपने शरीरका स्वामी बनकर उससे उचित संसारयात्रा करता है तथा मेघमण्डलादि स्थानोंको भी सुखसे प्राप्त होता है ॥

इस मन्त्रमें भी पूर्वके समान जीवन कालके लिये यम शब्द आया है और ब्रह्मचर्यके सेवनसे जीवन भरमें किसी वीर्य रोगके न होनेका वर्णन है ॥

यदुलूको वदति मोघमेतद्व यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति ।
यस्य दूतः प्रहित एष एतत्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥

ऋ० १० । १६५ । ४

(यदुलूको मोघं वदति) विषं विषप्रयोगं विषवन्तं वा जनं दृष्ट्वोलूकः पक्षी मोघमकस्माद् मोहमापन्नः सन् वदति (यदेतत्कपोतोऽग्नौ पदं कृणोति) यदेतत् तथैव कपोतः पक्षी विषं विषप्रयोगं विषवन्तं वा जनं दृष्ट्वा भयभीतो मोहमाप्तोऽग्नौ पदं कृणोति पादं प्रक्षिपति (यस्य एष दूतः प्रहितः) यस्य मृत्योरेष उलूकः कपोतो वा दूतः प्रहितः प्रेरित इव सन् तन्मृत्युसूचकः सन् पूर्वोक्तं व्यापारं करोति (तस्मै मृत्यवे यमाय नमोऽस्तु) तस्मै मारकाय कालाय समयाय नमो यज्ञस्तत्प्रतिकारो वज्रं वाऽस्तु । एवंविद्विषपरीक्षणप्रयोगः सुश्रुतेऽपि निदर्शितस्तद्यथा "चकोरस्याक्षिवैराग्यं जायते क्षिप्रमेव तु ॥२८॥ दृष्ट्वान्नं विषसंसृष्टं म्रियन्ते जीवजीवकाः । कोकिलः स्वरवैकृत्यं क्रौञ्चस्तु मदमृच्छति ॥ २९ ॥ हृष्येन्मयूर उद्विग्नः क्रोशतः शुकसारिके । हंसः क्ष्वेडति चात्यर्थं भृङ्गराजस्तु कूजति ॥ ३० ॥ पृषतो विसृजत्यश्रु विष्ठां मुञ्चति मर्कटः । सन्निकृष्टांस्ततः कुर्याद्राजस्तान् मृगपक्षिणः । वेश्मनोऽथ भूषार्थं रक्षार्थञ्चात्मनः सदा" (सुश्रुतस्य कल्पस्थाने १ । २२-३२) ॥

भावार्थ—(यदुलूको मोघं वदति) जिससे कि उल्लू पक्षी विष, विषप्रयोग या विषवाले मनुष्यको देखकर अकस्मात् मोहको प्राप्त हुआ बोला करता है (यदेतत् कपोतोऽग्नौ पदं कृणोति) उसी प्रकार कबूतर पक्षी विष, विषप्रयोग या विषवाले मनुष्य को देखकर भयभीत हुआ मोह को प्राप्त हुआ अग्निमें पैर रखता है (यस्य एष दूतः प्रहितः) जिस मृत्युका उलूक या कबूतर दूतके समान सूचक होकर पूर्वोक्त व्यापार

करता है (तस्मै मृत्यवे यमाय नमोऽस्तु) उस मारने वाले समयके लिये उसका प्रतिकार होना चाहिये ॥

शिक्षा—विष, विषप्रयोग या विष वाले मनुष्यको देखकर उल्लू घबरा कर अकस्मात् बोला करता है और कबूतर घबराकर अग्निकी तरफ जाता है। इसप्रकार पक्षियोंके उत्पातको देखकर मृत्युसमयका अनुमानकर उसका प्रतिकार करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें कालके लिये यम शब्द आया है ॥

यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥
अथ० ६। २८। ३

(यः प्रथमो बहुभ्यः प्रवतं पन्थामनुपस्पशान आससाद) यः प्रथमतया प्रकटी भूतो यमः कालो बहुभ्यः प्रकारेभ्यः प्रवतमुद्वतं निवतं वृद्धयुवकशिशुस्थं पन्थां मार्गमनु-पस्पशानः पाशयमान आससाद प्राप्तवान् "पश्यत सूक्त० (ऋ० १०।१४।१-२पृ० १८)" (योऽस्य द्विपदश्चतुष्पद ईशे तस्मै मृत्यवे यमाय नमोऽस्तु) योऽस्य विश्वस्य द्विपदश्च-तुष्पदश्चेष्टे तस्मै मारकाय कालाय नमो यज्ञोऽस्तु ॥

भावार्थ—(यः प्रथमो बहुभ्यः प्रवतं पन्थामनुपस्पशान आससाद) जो प्रथम प्रगट हुआ काल बहुत प्रकारसे वृद्धयुवक और शिशुओंमें स्थित मार्गको बांधता हुआ प्राप्त है (योऽस्य द्विपदश्चतुष्पद ईशे) जो इस विश्वके दो पैर वाले और चार पैर वालोंपर अधिकार रखता है अर्थात् सारे प्राणियोंको स्वाधीन रखता है (तस्मै मृत्यवे यमाय नमोऽस्तु) उस मारनेवाले कालके लिये यज्ञ करना चाहिये ॥

शिक्षा—काल सबसे प्रथम संसारमें प्रगट होता है और जो अन्य उत्पन्न हुए सभी प्राणियोंको स्वाधीन रखता हुआ उनको शिशु युवक और वृद्धके अवस्थारूप मार्गपर चलाता है और अन्तमें मारता है इसलिये इस परिणामी और नश्वर जीवन का प्राप्त होके ब्रह्मयज्ञ होमयज्ञ आदि द्वारा समयका उत्तम उपयोग करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें यमका अर्थ काल है किन्तु वह शैशव यौवन और वार्द्धक्य परिणामोंका लाने वाला है एवं वार्द्धक्यके उपरान्त देहपातका परिणाम करने वाला भी काल ही है ॥

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥
अथ० ६। ६३। २

तिग्मतेजो निऋ॑ते ते नमोऽस्तु) तिग्मतेज उत्साहतेजोयुक्ते निऋ॑ते भूमे ! ते तुभ्यं नमोऽयं शरीरयज्ञोऽस्तु "तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः" (निरुक्त १० । ७) 'इयं पृथिवी वै निऋ॑तिः" (श० ५ । २ । ३ । ३) "निऋ॑तिः पृथिवीनाम" (नि० १।१) (अयस्मयान् बन्धपाशान् विचृत) अयस्मयान् लोहमयानिव बन्धपाशान् गर्भे बन्धनीयपाशान् विचृत मुञ्च (यमः पुनरित्त्वां मह्यं ददाति) यमः कालः पुनरित् पुनरपि त्वां मह्यं ददाति शरीरभोग्याय (तस्मै मृत्यवे यमाय नमोऽस्तु) तस्मै मृत्यवे मारकाय यमाय कालाय नमो यज्ञोऽस्तु ॥

भाषार्थ—(तिग्मतेजो निऋ॑ते ते यमाय नमोऽस्तु) हे उत्साह तेजवाली भूमि ! तेरे लिये यह शरीरयज्ञ हो लोहमय गर्भके बन्धनीयपाशोंको खोल (यमः पुनरित्त्वा मह्यं ददाति) काल पुनर्जन्मके रूपमें फिर तुझको मेरे भोगके लिये देता है (तस्मै मृत्यवे यमाय नमोऽस्तु) उस देहपात कराने वाले कालके लिये पूर्वोक्त यज्ञ हो ॥

शिक्षा—जीव अपने कर्मानुसार भोग भोगनेके लिये गर्भमें प्रवेश कर पुनर्जन्म धारण करता है फिर गर्भबन्धनसे छूटकर भूमि पर गर्भसे बाहर आता है एवं स्वकीय भोगोंको भोगता हुआ अन्तिम परिणाम तक पहुँचता है उस अन्तिम परिणामकारी कालके लिये ब्रह्मयज्ञ होमयज्ञ आदिका सेवन करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें भी कालके लिये यम शब्द आया है और जो कि अन्तिम परिणाम कारी भी है ॥

एवोष्वस्मान् निऋ॑ते नेहा त्वमयस्मयान् विचृता बन्धपाशान् ।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥

अथ० ६ । ८४ । ३

सर्वं पूर्ववत्, अनेहा अनाहन्त्री भूमिरिति विशेषः ॥

भाषार्थ—सब कुछ पूर्ववत् केवल (अनेहा) हनन न करने वाली भूमि यह विशेषण अधिक लगा देना चाहिये ॥

शिक्षा— पूर्ववत् ।

उक्त दोनों मन्त्रों में आए हुए "यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति" वाक्यके सम्बन्धमें अन्य विद्वान् लिखते हैं "यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति" का भाव पता नहीं चलता ॥

लेखक—वादीने मन्त्रमें आए हुए "तिग्मतेजो निऋ॑ते" का तेज नष्ट करने वाली निऋ॑ति यह अर्थ कुछ पौराणिक कल्पनामें किया है और

मन्त्रार्थमें भी पौराणिक कल्पनाकी गन्ध रखी है। अतः "यमो मह्यं पुनरित्त्वां ददाति" का भाव पता नहीं चलता ऐसा लिखना पड़ा। यदि विद्यासम्बन्धी अर्थ किया जाता तो ऐसा न लिखना पड़ता। उक्त वाक्य अत्यन्त सुगम है क्योंकि जीवका गर्भबन्धनोंको अनुभव करते हुए उनसे छूटकरगर्भसे बाहर भूमिपर आने का वर्णन है और उक्त वाक्य द्वारा कहता है कि (निर्ऋते) हे भूमि! (यमः) काल (मह्यम्) मुझे (पुनरित्) फिर भी पुनर्जन्मार्थ (त्वां ददाति) तुझे सौंपता है। इस प्रकार स्पष्टार्थ है॥

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्यु प्रजायै किममृतं नावृणीत।
बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत्।

ऋ० १० । १३ । ४

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वमा रिरेच॥

अथ० १८ । ३ । ४१

इस मन्त्र में परमात्मदेव जगदीश्वर न देवोंको मृत्यु से अलग रहने या मरने वाले प्राणियों को अमरपन से अलग रहने का कारण है। प्रत्युत उनके अपने अपने कर्म ही कारण हैं। जगदीशदेव तो वस्तुतः संसारमें प्रत्येक प्राणी के शरीर को उत्पन्न करता है। किन्तु समय बलवान् है वही उनकी प्यारी कायाको उनसे खाली करा लेता है। विवरण के लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ३ । ४१ (पृष्ठ १६७)

यहां भी यमका अर्थ काल ही है। दोनों मन्त्रोंका अर्थ समान है। केवल विभक्तिव्यत्यय और विकरणागम ही ऋङ्मन्त्र में विशेष है। अर्थात बृहस्पतिम्=बृहस्पतिः, ऋषिम्=ऋषिः, अकृण्वत=अकृणुत॥

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः।
वीरुद् वो विश्वतो वीर्या यमेन समजीगमत्॥ अथ० ६ । ३२ । २

(पिशाचा वो ग्रीवा रुद्रोऽशरैत) पिशाचाः पिशितं मांसमाचामन्ति ये ते यूयं पिशाचा मांसलेहका मत्कुणादयो वो युष्माकं ग्रीवा मुखानि रुद्रोऽग्निरशरैत् छिनत्तु। "अग्निर्वै रुद्रः" (श० ५ । ३ । १ । १०) (यातुधाना वोऽपि पृष्टीः शृणातु) यातुधाना हे जीवनकालस्य पानकर्तारो मशकादयो विषजन्तवो वो युष्माकं पृष्टीः पार्श्वास्थीन्यपि शृणातु सोऽग्निश्छिनत्तु (विश्वतोवीर्या वो वीरुद् यमेन समजीगमत्)

युष्माकं विश्वतो वीर्या सर्ववीर्याणि वीरुदोषधिर्यमेन कालेनान्तकालेन समजीगमत् सङ्गमयतु ॥

भावार्थ—(पिशाचा वो ग्रीवा रुद्रोऽशरैत्) मांसको चाटने वाले खटमल आदि जन्तुओ ! तुमको अग्नि छिन्न भिन्न करदे (यातुधाना वोऽपि पृष्टीः शृणातु) हे जीवनकालके पान करने वाले मच्छर आदि विष जन्तुओं ! वह तुम्हारी पसलियों को तोड़ फोड़दे (विश्वतोवीर्या वो वीरुन) तुम्हारे सब बलों को ओषधि (यमेन समजीगमत्) अन्तकाल को प्राप्त करावे ॥

शिक्षा—अग्नि तथा ओषधिप्रयोगसे खटमल मच्छर आदि पीड़कजन्तुओं की निवृत्ति करनी चाहिये ॥

इस मन्त्र में कालके लिये यम शब्द आया है ॥

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न एतु ।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मोष्वेषामसवो यमं गुः ॥

अथ० १८ । ३ । ६२

इस मन्त्रमें कालके अर्थमें यमशब्द है । यहां जरावस्थापर्य्यन्त प्राणरक्षाकी प्रार्थना है । देहपातरूप परिणामकारी कालके प्रति प्राण न जावें अर्थात् पूर्णायु का भोग करनेका वर्णन है । विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ३ । ६२ (पृष्ठ १७४)

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जति देवाः ।
अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम् ॥

ऋ० १० । ५२ । ३

(अयं यो होता स यमस्य किरु) अयं यो होता सूर्यः । "असौ वै होता योऽसौ सूर्यस्तपति" (गो० उ० ६ । ६) स यमस्य कालस्य किः कर्ता सम्पादक उ ह्यस्ति । 'कृ धातोरौणादिकौ डि प्रत्ययः' (कमप्यूहे) कं प्राणिनां प्राणमप्यूहे वहति "सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते" (प्रश्नो० १ । ६) "प्राणो वाव कः" (जै० उ० ४ । २३ । ४) (देवा यत्समञ्जन्ति) देवा द्योतमाना रश्मयो यद्यतोऽत्र सूर्ये समञ्जन्ति सङ्गच्छन्ते । रश्मयो देवाः "देवा उदिता सूर्यस्य" (ऋ० १ । ११५ । ४) अतः (अहरहर्जायते) अहरहः प्रतिदिनं प्रकटीभवति (अथा देवा मासि मासि हव्यवाहं दधिरे) अथाऽपि च ते देवा द्योतमाना रश्मयो मासि मासि हव्यवाहं तमेव संसारवोढारं सूर्यं दधिरे धारयन्ति मासे मासे सूर्यक्रान्तिर्भवतीति ज्योतिर्विद्या प्रदर्श्यते ॥

भावार्थ—(अयं यो होता स यमस्य किरु) यह सूर्य कालका बनानेवाला है (कमप्यूहे) प्राणियोंके प्राणको वहन करता है (देवा यत्समञ्जन्ति) द्योतमान रश्मियां जिससे इस सूर्यमें सङ्गत हैं अतः (अहरहर्जायते) प्रतिदिन प्रकट होता है (अथा देवा मासि मासि हव्यवाहं दधिरे) और वे द्योतमान रश्मियां मास मासमें इस संसारवोढा सूर्यको धारण करती हैं। मास मासमें सूर्यक्रान्ति होती है यह एक ज्योतिर्विद्या प्रदर्शित है ॥

शिक्षा—सूर्य, कालका उत्पन्न करने वाला है वही सब प्राणियोंके जीवन-काल को स्थिर करके प्राणका वहन करता है। उसकी रश्मियां उदय और अस्त के भेदसे प्रतिदिन उसको प्रकट करती हैं अहोरात्र बनाती हैं। और फिर मास मासमें भी क्रान्ति करके प्राप्त होती हैं। इस प्रकार कालकी उत्पत्ति और उसके विस्तारका निमित्त सूर्य है ॥

इस मन्त्रमें कालके लिये यम शब्दका प्रयोग है और सूर्य से उसकी उत्पत्ति का प्रसङ्ग तथा विस्तारका वर्णन है ॥

उत् त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद्‌ विश्वस्माद्‌ देवकिल्बिषात् ॥ अथ० ८।७।२८

(पञ्चशलादथो दशशलादुत यमस्य पड्वीशादथो विश्वस्माद्देवकिल्बिषात्त्वोदोहार्षम्) पञ्चशलाद्रोगात्पञ्चसु स्थानेषु शलप्रवेशवद्दुःखादथ च दशशलाद्दशस्थानेषु शलप्रवेशवद्दुःखादुत यमस्य समयस्य मिथ्याचरणरोगादथापि विश्वस्माद्देवकिल्बिषादिन्द्रियविकाररोगादहं त्वामुदाहार्षं पृथगानीतवानानयामि वेति वैद्योक्तिः ॥

भावार्थ—(पञ्चशलात) पांच स्थानों में शल अर्थात किसी कांटे आदिके प्रवेश से जो दुःख होता है उससे (अथो दशशलात्) और दश स्थानोंमें प्रविष्ट हुए कांटे आदिके दुःखसे (उत यमस्य पड्वीशात) और कालके मिथ्याचरणसे (अथो विश्वस्माद्देवकिल्बिषात) तथा सम्पूर्ण इन्द्रियविकारोंके रोगसे (त्वामुदाहार्षम्) तुझ को मैं वैद्य पृथक् करता हूँ ॥

शिक्षा—औषधियों और शल्य उपकरणों द्वारा कण्टकादि प्रविष्टसे होने वाले रोगों का इलाज करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें कालके लिये यम शब्द का प्रयोग है ॥

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आवर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ऋ० १० । ५८ । १

(यत्ते मनो वैवस्वतं यमं दूरकं जगाम) यत्तव मनोऽन्तःकरणं वैवस्वतं यमं कालं दूरकं दूरं जगाम गतम् (क्षयाय जीवसे तत्त आवर्तयामसि) जीवसे जीवितुं क्षयाय निवासाय तत्ते मन आवर्तयामसि पुनरानयामः। इयं सम्बन्धिनानुक्तिर्विज्ञेया ॥

भावार्थ—(यत्ते मनः) हे रोगी! जो तेरा मन (वैवस्वतं यमम्) विवस्वान् सूर्यके पुत्र काल अर्थात् समय को (दूरकं जगाम) दूर प्राप्त हो गया है (जीवसे क्षयाय) जीने के लिये और इस संसारमें रहनेके लिये (तत्ते) उस तेरे मनको (आवर्तयामासि) फिर लौटा लाते हैं ॥

शिक्षा—वैद्यों तथा सम्बन्धियों की ओर से रोगीको आश्वासन देना चाहिये कि तेरे मन के अन्दर जो जीवन की निराशा आगई है उसको हटाते हैं और तुझे जल्दी अच्छा करते हैं ॥

इस मन्त्र में काल के लिये यम शब्द आया है ॥

यमादहं वैवस्वतात्सुबन्धोर्मन आभरम्।
जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥ ऋ० १० । ६० । १०

(अहं वैवस्वताद्यमात् सुबन्धोर्मन आभरम्) अहं वैवस्वताद्यमात् कालात् सुबन्धोर्निजप्रियजनस्य मन आभरमाहृतवानानयामि वा (जीवातवे न मृत्यवेऽथोऽरिष्टतातये) जीवितुमेव न तु मृत्यवेऽरिष्टतातये स्वस्थतायै ॥

भावार्थ—(अहं वैवस्वताद्यमात्) मैं वैवस्वत यम अर्थात् कालसे (सुबन्धोर्मन आभरम्) निज प्रियजनके मनको लाता हूँ (जीवातवे न मृत्यवे) जीनेके लिये (न मृत्यवे) मरनेके लिये नहीं (अरिष्टतातये) स्वस्थता के लिये ॥

शिक्षा—सुवैद्य अथवा रोगी के परिवार का कोई दृढ़ सङ्कल्पी जन उसको आश्वासन दे कि मैं तुझे मरने नहीं दूंगा। मैं तुझे अनेक उपायोंसे स्वस्थ कर दूंगा ॥

इस मन्त्र में पूर्वके समान कालके अर्थ में यम शब्द आया है ॥

यमलोक वा यमराज्य

इस प्रकरणमें वे मन्त्र होंगे जिनमें यमके किसी स्थान, स्वत्व या अधिकार का वर्णन होगा अथवा जिनका अन्य विद्वानोंने उक्त शीर्षक देकर विचार किया है ॥

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥ अथ० १२ । ४ । ३६

(वशा प्रददुषे यमराज्ये सर्वान् कामान् दुहे) वशा वश्या पृथिवी "इयं पृथिवी वै वशा पृश्निः" (श० १ । ८ । ३ । १५) प्रददुषे–आश्रमविद्यालयसम्मेलनकृषिप्रयोजनाय तां पृथिवीं प्रत्तवते राष्ट्रपतये यमराज्ये राष्ट्रे सर्वान् कामान् दुहे दोग्धि प्रपूरयति (अथ याचितां निरुन्धानस्य नारकं लोकमाहुः) अथ याचितां पूर्वोक्ताश्रमादिप्रयोजनाय याचितां पृथिवीं निरुन्धानस्याप्रदातूराष्ट्रपतेर्नारकं लोकं नीचैर्गतं पतनस्थानमवनतिमाहुर्ब्रुवन्ति ॥ "नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम्" (निरु० १ । ११)

भावार्थ—(वशा प्रददुषे) राजाके वश्य हुई पृथिवी आश्रम, विद्यालय और सम्मेलन आदि के प्रयोजनार्थ भूमि देने वाले राष्ट्रपतिके लिये (यमराज्ये सर्वान् कामान् दुहे) राष्ट्रके अन्दर सारे सुखों को पूर्ण करती है (अथ याचितां निरुन्धानस्य) अन्यथा पूर्वोक्त आश्रम आदि प्रयोजनके लिये मांगी हुई भूमिको न देने या इन्कार करने वाले राष्ट्रपतिके सम्बन्धमें (नारकं लोकमाहुः) पतनका स्थान कहते हैं ॥

शिक्षा—राष्ट्रपतिको आवश्यक है कि सर्वप्रकारसे सुखीहोनेके लिये वह अपने राष्ट्रमें आश्रम, विद्यालय, सम्मेलन आदिके निमित्त भूमि, प्रजा या प्रजा के मुख्य जनों को देता रहे । जो ऐसा न किया जाए तो निःसन्देह राजा राष्ट्रके साथ पतन को प्राप्त होता है ॥

इस मन्त्रमें राष्ट्रके लिये यमराज्य शब्द आया है और यहां यम का अर्थ राजा का है ॥

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्विषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत् ।
ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधि रज्जुरायत् ॥

अथ० ६ । ११८ । २

(उग्रंपश्ये राष्ट्रभृद् यन्नो दत्तमक्षवृत्तमनुकिल्विषाण्येतत्) उग्रम्पश्ये राष्ट्रभृद् ह उग्रद्रष्ट्रि राष्ट्रपालिके न्यायसभे ! यदृणं नोऽस्मभ्यमुत्तमर्णेन दत्तमक्षवृत्तमैन्द्रियकं किल्विषाणि किल्विषं पापमेतत्सञ्जातमस्ति (न ऋणमेच्छमानो यमस्य लोक ऋणान्नोऽधिरज्जुरायत्) न ऋणमेच्छमान उत्तमर्णो यमस्य लोके यमनशीलस्य न्यायाधीशस्य स्थाने न्यायमन्दिर ऋणहेतोर्बन्धनमभिलक्ष्याऽऽयदागच्छति प्राप्नोति [अत्र सायणेन "ईर्त्समानः" अस्य स्थाने "इच्छमानः" इति पाठः कृतः] ॥

भावार्थ—(उग्रं पश्ये राष्ट्रभृत्) हे उग्रदर्शक भय दिखाने वाली राष्ट्रपालक न्यायसभा ! (यन्नो दत्तम्) जो ऋण उत्तमर्ण ने हमको दिया है (अक्षवृत्तमनु

किल्बिषाण्येतत) वह ऐन्द्रियिकपाप हो गया है (नऋणमेच्छमानः) ऋण चुकती चाहने वाला उत्तमर्ण (यमस्य लोके) न्यायमन्दिर (Highcourt) में (ऋणाभ्रः) ऋणके कारण हमारे वास्ते (अधिरज्जुरायत्) बन्धनको लक्ष्य करके प्राप्त हुआ है ॥

शिक्षा—किसीके पाससे ऋण लेकर उसको अवसर पर चुकाना चाहिये। यदि न देनेकी पापवृत्ति हो जावे तो न्यायसभाके अधीन न्यायमन्दिर (Highcourt) में बन्धन द्वारा दिलवाना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें न्यायाधीशके लिये यम शब्द आया है और न्यायमन्दिर (Highcourt) के लिये यमलोक शब्दका प्रयोग है ॥

ये समाना समनसः पितरो यमराज्ये ।

तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥ यजु० १९ । ५

इस मन्त्रमें प्रजापालक न्यायाधीशके लिये यम शब्द आया है और यमराज्यका अर्थ राष्ट्रके हैं। विवरणके लिये देखो प्रकीर्णसमन्वय (पृष्ठ २७६)

पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि ।

यथा यमस्य सादन आसातै विदथा वदन् ॥ अथ० १८ । ३ । ७०

इस मन्त्रमें यमका अर्थ वायु है उसका स्थान अन्तरिक्ष है अत एव अन्तरिक्षके लिये 'यमस्य सादन' शब्दका प्रयोग है और यज्ञमें होमा हुआ पदार्थ अन्तरिक्ष में पहुँच कर दूर २ स्थानों तक में यज्ञकी सूचना देता है । सूर्यरश्मिद्वारा मेघमण्डलमें पहुँचकर पुनः वापिस आनेकी चर्चा है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ३ । ७० (पृष्ठ १७८)

इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः ॥ अथर्व ९ । ७ । २०

(इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् यमो दक्षिणा तिष्ठन्) इन्द्रः सूर्यः प्राङ् पूर्वस्यां दिशि तिष्ठन् रश्मीन् प्रेरयति । "अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः" (श० ८ । ५ । ३ । २) यमो वायुर्दक्षिणा दक्षिणस्यां दिशि तिष्ठन् ऋतून् प्रेरयति "अयं वै यमो योऽयं वायुः पवते" (श० १४ । २ । २ । ११)

भावार्थ—(इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् यमो दक्षिणा तिष्ठन्) सूर्य पूर्व दिशामें स्थित हुआ रश्मियोंको प्रेरित करता है और वायु दक्षिण दिशामें स्थित हुआ ऋतुओं को प्रेरित करता है ॥

शिक्षा—रश्मिसञ्चार पूर्व दिशासे होता है और ऋतुसञ्चार दक्षिण दिशा से तथा रश्मियोंका अधिष्ठाता सूर्य है और ऋतुओंका वायु ॥

इस मन्त्रमें वायुके लिये यम शब्द आया है जो ऋतुप्रेरक होने से दक्षिण में रहता है ॥

नराशंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा ।
सूर्यामासाचन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना ॥

ऋ० १० । ६४ । ३

(नराशंसं पूषणमगोह्यं देवेद्धमग्निं गिराऽभ्यर्चसे) नराशंसं नराशंसं वा, 'अत्र वा निपातस्य मध्यपातः' । नरैः शंसः शंसनीय इति नराशंसस्तं वाऽपि पूषणं सर्वपोषकमगोह्यं सर्वत्र विराजमानं देवेद्धं देवा इद्धाः प्रकाशिता येन तमग्निमग्रनेतारं सर्वज्ञं वा परमेश्वरं गिरा वेदवाचाऽभ्यर्चसे उपास्व । 'लिङर्थे लेट्' । यश्च परमेश्वरः (दिवि सूर्यामासाचन्द्रमसा यमं त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना) दिव्यन्तरिक्षे सूर्यामासाचद्रमसा सूर्याचन्द्रमसा सूर्यचन्द्रमसौ सूर्यचन्द्रौ 'मासा शब्दोपाजनः' यमं विश्वकालं त्रितमिन्द्रम् । "त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रः" (निरुक्त ६ । २५) वातं वायुमुषसमुषसः प्रकाशं दिनमक्तुं रात्रिमश्विनावित्यादीन् देवानुत्पादयति ॥

भावार्थ—(नराशंसं पूषणम्) मनुष्योंसे प्रशंसनीय सर्वपोषक (अगोह्यं देवेद्धमग्निम्) सर्वत्र विराजमान देवोंके प्रकाशक अग्रनेता सर्वज्ञ परमेश्वर की (गिराऽभ्यर्चसे) हे जीव ! तू वेदवाणीके द्वारा उपासना कर। जो परमेश्वर (दिवि सूर्यामासाचन्द्रमसा) आकाशमें सूर्य और चन्द्रमाको (यमं त्रितं वातम्) विश्वकाल, विद्युत् और हवाको (उषसमक्तुम्) दिन और रातको (अश्विना) द्यावापृथिवीको उत्पन्न करता है ॥

शिक्षा—जो जगदीश्वर सम्पूर्ण सृष्टिके सूर्य आदि पदार्थों का उत्पन्न करने वाला तथा सर्वत्र व्यापक और उपास्य देव है उस परमेश्वरकी वेदमन्त्रोंसे स्तुति प्रार्थना करनी चाहिये ॥

इस मन्त्रमें यमका अर्थ काल है और उक्त यम आदिका आधार अन्तरिक्ष है ॥

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।
इयमस्य धम्यते नाडीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥ ऋ० १० । १३५ । ७

इस मन्त्रमें यमका अर्थ आदित्य है और 'यमस्य सादनम्' से प्राणिशरीर अभीष्ट है । शरीर के अन्दर जो नाडी आदि का व्यापार हो रहा है वह सब सूर्यरश्मियों के प्रताप से है । विवरणके लिये देखो सूक्त ऋ० १० । १३५ । ७ (पृष्ठ ६८)

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥

अथ० १८ । ४ । ४३

इस मन्त्रमें जीवनकाल के लिये यम शब्द आया है । शरीर के अन्दर मांस ग्रन्थियों के साथ शिरायें ताने बाने के रूपमें फैली हुई हैं जो वातादिकी वाहक होनेसे जीवनकालको स्थिर रखने वाली हैं। विवरणके लिये देखो सूक्त १८। ४ । २६ (पृष्ठ १६८)

पुमान् पुंसोधितिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते ।
यावन्तावग्रे प्रथमं समेयथुस्तद्व वां वयो यमराज्ये समानम् ॥

अथ० १२ । ३ । १

(पुमान् पुंसश्चर्माधितिष्ठ) पुमान् पुंस्कर्मविशिष्टजीवात्मन् ! त्वं पुंसश्चर्म पुरुषदेहमधितिष्ठाश्रयस्व (तत्रेहि) तत्र देहे वर्तमानः सन्निहि गच्छ संसारयात्रां कुरु (यतमा ते प्रिया ह्वयस्व) यतमा या काचित्तव प्रियाऽनुकूला भवेत्तां ह्वयस्व भार्यात्वेन स्पर्धस्वेच्छ (यावन्तावग्रे प्रथमं वयः समेयथुः) यावन्तौ यौ कावपि युवां पतिपत्न्यावग्रे विवाहात् प्राक् प्रथमं वयो यौवनं समेयथुः प्राप्नुथः (यमराज्ये वां तत्समानं) कालराज्ये कालपरिणामे वां युवयोस्तद् यौवनं समानं मानेन सहितं सन्तानोत्पादनयोग्यं भवेत् ॥

भावार्थ—(पुमान् पुंसश्चर्माधितिष्ठ) हे पुरुषकर्मयुक्त जीवात्मन् ! तू पुरुष देह को प्राप्त हो (तत्रेहि) उस देहमें वर्तमान होकर संसारयात्रा कर (यतमा ते प्रिया ह्वयस्व) जो तेरी अनुकूल भार्या रूपमें स्त्री हो उसको इच्छा कर (यावन्तावग्रे प्रथमं वयः समयेथुः) जो भी कोई तुम दोनों पतिपत्नी विवाहसे पहले यौवन को प्राप्त हुए हो (यमराज्ये वां तत्समानम्) कालपरिणाम में तुम्हारा वह यौवन सन्तानोत्पत्ति करने के योग्य होवे ॥

शिक्षा—पुरुषकर्मों से विशिष्ट जीव पुरुषदेहमें जाता है । देह प्राप्त करके संसार यात्राके निमित्त जो उसके अनुकूल स्त्री मिलती है उसके साथ विवाह करना चाहिये और वे जो पतिपत्नी हों विवाहसे पहले उनको देखना चाहिये या विवाह करने से पहले यह ख्याल होना चाहिये कि वे यौवन कालको प्राप्त और सन्तान उत्पन्न करने के योग्य तो हैं ॥

इस मन्त्र में कालके अर्थमें यम शब्द आया है और यमराज्य शब्द का अर्थ समय का आधिपत्य या काल परिणाम है॥

समस्मिँल्लोके समु देवयाने सं स्मा समेतं यमराज्येषु ।
पूतौ पवित्रैरुप तद्ध्वयेथां यद्द यद्द रेतो अधि वां संबभूव॥
अथ० १२।३।३

(अस्मिन् लोके सम्--देवयाने सम्-संस्मा यमराज्येषु समेतम्) हे पतिपत्न्यौ युवामस्मिन् लोके गृहस्थाश्रमे सम्-समेतं सङ्गत्य गच्छतं देवयाने देवा विद्वांसो यान्ति यत्रेति तत्र विद्वत्समाजे सं समेतं सङ्गत्य गच्छतं यमराज्येषु कालपरिणामेषु वार्द्धक्यादिषु सं समेतं सङ्गत्य गच्छतम् (यद् यद् रेतो वामधिसम्बभूव) यद् यदेव रेतो वीर्यञ्च रजश्च वामधि युवयोरन्तरे सम्बभूव सम्भवति-उत्पद्यते (पवित्रैः पूतौ तदुपह्वयेथाम्) पवित्रैः कर्मभिः पूतौ स्वस्थौ सन्तौ युवां तद् वीर्यं रजश्चोपह्वयेथामुपस्पर्धेथामुपयोजयथः ॥

भावार्थ—(अस्मिन् लोके सम्········एतम्) हे पतिपत्नी तुम दोनों इस गृहस्थाश्रम में मिलकर चलो (देवयाने सम्········एतम्) विद्वत्समाज में इकट्ठे जाओ (सं स्मा यमराज्येषु समेतम्) वृद्धावस्थादि कालपरिणामोंमें तुम मिलकर रहो (यद् यद् रेतो वामधिसम्बभूव) जो २ वीर्य और रज तुम दोनोंके अन्दर उत्पन्न हो (पवित्रैः पूतौ तदुपह्वयेथाम्) पवित्र कर्मों से तुम स्वस्थ होते हुए उस वीर्यरज का गृहस्थधर्मों में उपयोग करो॥

शिक्षा—स्त्रीपुरुषों को स्वगृह विद्वत्समाज और जीवनकाल की अवस्थाओंमें मिलकर जाना और रहना चाहिये तथा पवित्र कर्मों का आचरण करते हुए स्वस्थ अवस्थामें सन्तानोत्पत्तिके लिये गृहस्थ वर्तन करें॥

इस मन्त्रमें वृद्धावस्थादि काल परिणामोंके लिये यमराज्य शब्द आया है॥

एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ अथ० १८।४।३१

इस मन्त्रमें यमका अर्थ काल है और यमराज्य से मतलब कालकी अधीनता का है। जीवात्मा को ईश्वरकी ओर से शरीर प्रदान किया जाता है और उसको वह कालके अधीन रखता हुआ उसका उपभोग करता है। विवरण के लिये देखो सूक्त० अथर्व० १८।४।३१ (पृष्ठ २०२)

धाना धेनुरभवद्व वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।

तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति ॥ अथ० १८ । ४ । ३२

इस मन्त्रमें यमका अर्थ काल है और यमराज्यसे मतलब कालकी अधीनता है। शरीरके अन्दर रक्तवाहक नाड़ियां विद्यमान हैं उनके साथ कचित् कचित् मांसग्रन्थियां या नाडीग्रन्थियां भी हैं जो उक्त नाडियोंमें से रिसते हुए रक्तको अपने अन्दर ग्रहण करती हैं। विवरणके लिये देखो सूक्त० १८।४।३२ (पृष्ठ २०२)

ददाम्यस्मा अवसानमेतद्व य एष आगन् यम चेदभूदिह ।

यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह ममैष राय उपतिष्ठतामिह ॥

अथ० १८ । २ । ३७

इस मन्त्र में कालके लिये यम शब्दका प्रयोग है मरनेके अनन्तर दूसरे जन्ममें जानेसे पूर्व जीवको कुछ विश्राम मिलनेकी चर्चा है। विवरणके लिये देखो सूक्त० १८ । २ । ३७ (पृष्ठ १३७)

ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनु संदह ॥ अथ० १२ । ५ । ६३

यथायाद्व यमसादनान् पापलोकान् परावतः ॥ अथ० १२ । ५ । ६४

(अघ्न्ये देवि ब्रह्मज्यमामूलादनु संदह यथा यमसादनान् परावतः पापलोकानायात्) हे अघ्न्ये देवि ! अघघ्नि-आघातघ्नि-आघातेन हन्त्रि देवि दिव्ये द्योतमाने विद्युत् ! "अघ्न्या अघघ्नीति वा" (निरु० ११ । ४४) "अघं हन्तेर्निर्हसितोपसर्ग आहन्तीति" (निरु० ६ । ११) ब्रह्मज्यं ब्रह्मघातिनं वेदनिन्दकं नास्तिकं वा जनमामूलादनुसन्दह विनाशय । ब्रह्मघाती जनः कयापि विद्युत्प्रयुक्तशक्त्या विनाश्यः, इति राजनियमो निदर्श्यते । यथाऽयं जनो यमसादनाद्यमस्थानान्मरणानन्तरं परावतोऽत्यन्तान् पापलोकान् पापयोनीर्निकृष्टशरीराण्ययाद् गच्छेद् गच्छति वा ॥

भावार्थ—(अघ्न्ये देवि ब्रह्मज्यमामूलादनुसन्दह) हे आघातसे नष्ट करने वाली द्योतमान विद्युत् तू ब्रह्मघाती वेदनिन्दक नास्तिक का मूलके साथ विनष्ट करदे (यथा यमसादनात् परावतः पापलोकानयात्) जिससे यह मनुष्य मरणानन्तर अत्यन्त पापयोनियों निकृष्टशरीरोंको प्राप्त होवे ॥

शिक्षा—राष्ट्रके अन्दर राष्ट्रपतिकी ओर से ऐसा नियम बनाया जाए कि ब्रह्मघातक मनुष्यको किसी विद्युत-प्रयुक्त शक्तिसे उसको मार दिया जाय ॥

इस मन्त्रमें यमसादन शब्दका अर्थ मरणस्थिति है और यह प्राणोंका यमन करने वाला अन्तिम काल है ॥

यम के सम्बन्धी

यहां वे मन्त्र होंगे जिनमें किन्हीं वस्तुओं का यम के साथ कोई विशेष सम्बन्ध पाया जावे ।

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः ।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र मामृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥
ऋ० ९ । ११३ । ८

(यत्र वैवस्वतो राजा यत्र दिवोऽवरोधनं यत्रामूर्यह्वतीरापः) यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि वैवस्वतो राजा कालोऽथ च यत्र यस्मिन् दिवो द्युलोकस्यावरोधनमन्तिमत्वं यत्र यस्मिनमूस्ताः सूक्ष्मा आन्तरिक्ष्यो महत्य आपः सन्ति (इन्दो तत्र माऽमृतं कृधि) इन्दो हे मनः ! तत्र ब्रह्मणि मामृतं कृधि कुरु सम्पादय (इन्द्राय परिस्रव) अथ च मामिन्द्रायेन्द्रत्वसम्पादनाय परिस्रव परिणमय ॥

भावार्थ—(यत्र वैवस्वतो राजा) जिस ब्रह्म के अन्दर सूर्यसे उत्पन्न हुआ काल और (यत्र दिवोऽवरोधनम्) जिसमें द्युलोककी अन्तिमता तथा (यत्रामूर्यह्वीरापः) जिसके अन्दर वे सूक्ष्म अन्तरिक्ष के विस्तृत पानी हैं (इन्दो तत्र मामृतं कृधि) हे मेरे मन ! तू उस ब्रह्मके अन्दर मुझे अमृत बनादे मरणभय से रहित करके मोक्षानन्द को प्राप्त करादे (इन्द्राय परिस्रव) और मुझे उस विश्वसम्राट् परमेश्वर की ओर झुका दे ॥

शिक्षा—सर्वव्यापक विश्वनायक जगदीश्वर के अन्दर विश्वकाल और द्युलोक की सारी सीमा तथा अन्तरिक्षके जल वशीभूत हुए वर्तमान हैं । उस ऐसे अन्तर्यामी जगन्नायक प्रभुकी ओर अपना मन लगाना तथा अपनी आत्माका समर्पण करना आवश्यक है ॥

इस मन्त्रमें वैवस्वतशब्द कालार्थक यमका विशेषण बनकर आया है ॥

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥
अथ० ९ । ७ । १

(प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे) समग्रसूक्तदर्शनात्प्रतीयते यदत्र पशुरूपा गौर्नाधिक्रियतेऽपि तु समष्टिसृष्टिं गामलङ्कृत्य वर्णनमस्ति उक्तं च सूक्तान्ते "एतद् विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्" (२५) यथा च बृहदारण्यकेऽश्वालङ्कारः "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः (बृ० १ । १ । १) प्रजापतिश्च पार्थिव्य आपः परमेष्ठी च

द्युस्थानीया आपश्चास्याः समष्टिसृष्टिरूपाया गोः शृङ्गे शीर्णशीले शृङ्गस्थानीये स्तः "आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति" (श० ८ । २ । ३ । १३) (इन्द्रः शिरः) आदित्यः शिरःस्थानीयः (अग्निर्ललाटम्) अग्निर्ललाटस्थानीयः (यमः कृकाटम्) यमो यमनशीलः कालः कृकाटं कण्ठगतजीवननाडीमर्म । कृकं कण्ठमटतीति कृकाटम् । सुश्रुते तु द्वे कृकाटिके इत्युक्तमत्र त्वेकमेवाङ्गमभिलक्ष्यते । "अनूर्वमर्माणि चतस्रो धमन्योऽष्टौ मातृका द्वे कृकाटिके" (सुश्रुतस्य शरीरस्थाने ६ । ७) ॥

भावार्थ—(प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे) इस सम्पूर्ण सूक्त क देखने से पता चलता है कि यहां पशुरूप गायका वर्णन नहीं है किन्तु समष्टि-सृष्टि का गोरूपमें आलङ्कारिक वर्णन है यह बात इस सूक्तके २५ वें मन्त्रसे भी प्रकट है। अतः पार्थिव जल और द्युस्थानका मेघरूप जल इस समष्टिसृष्टिरूपगायके शृङ्गतुल्य हैं (इन्द्रः शिरः) आदित्य सिरके समान (अग्निर्ललाटम्) अग्नि मस्तकके तुल्य (यमः कृकाटम्) यमनशीलकाल कण्ठगतजीवननाडीमर्म अर्थात् कृकाटिका = घाटा = घाट के तुल्य है ॥

शिक्षा—समष्टिसृष्टिविज्ञानका गुरुजन शिष्योंको भिन्न २ अलङ्कारों से परिचय करावें ॥

इस मन्त्रमें यमनशील कालके लिये यम शब्द आया है ॥

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
वैवस्वतेन प्रहितान् यम दूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान् ॥

अथ० ८ । २ । ११

(प्राणापानौ दीर्घमायुस्ते कृणोमि) हे पुरुष ! प्राणापानौ दीर्घमायुस्तुभ्यं कृणोमि करोमि (वैवस्वतेन प्रहितान् चरतः सर्वान् यमदूतान् जरां मृत्युमपसेधामि) वैवस्वतेन विश्वकालेन प्रहितान् प्रेरितान् चरतो गच्छतः सर्वान् यमदूतान् कालावयवान् जरां मृत्युं प्रत्यपसेधामि प्रत्यपगमयामि ॥

भावार्थ—(प्राणापानौ दीर्घमायुस्ते कृणोमि) हे पुरुष ! प्राण अपान और दीर्घायु को तेरे लिये करता हूँ (वैवस्वतेन प्रहितान् चरतः सर्वान् यमदूतान् जरां मृत्युमपसेधामि) विश्वकाल से प्रेरित गतिशील सब कालावयवों को तेरी वृद्धावस्था और उसके अनन्तर मृत्यु के प्रति भेजता हूँ अर्थात् मैं वैद्य अथवा सद्-व्यवहारशिक्षक तुझे इस प्रकार ले जाता हूँ कि तेरा जीवन अधिक से अधिक काल तक संसार में ठहरे ॥

शिक्षा—सुवैद्य या सद्व्यवहारशिक्षक जन मनुष्योंको पूर्णायुके भोगार्थ उपचारों और व्यवहारों का उपदेश दें ॥

इस मन्त्रमें वैवस्वत विशेषणके रूपसे यम (विश्वकाल) के लिये आया है ॥

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत ।

परः सहस्रा हन्यतां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥ अथ० ८।८।११

(मृत्युदूता यमदूता अमूनपनयत-उम्भत) मृत्युदूता मृत्योर्दूता मृत्युं प्रति नेतारो मृत्युपरिणामकर्तारो दवितार उपतापयितारो येऽन्युपाया यमदूता यमस्य दूता यमनं प्रति नेतारो वशकर्तारो यमनोपायास्ते सर्वेऽमून् दस्यून् शत्रूनपनयत दूरी कुरुतापोम्भतापूरणान् रिक्तान् शक्तिहीनान् कुरुत । 'उम्भ पूरणे' अपोपसृष्टस्या-पूरणार्थः सम्पद्यते (भवस्य मत्यमेनान् तृणेढु) भवस्याग्नेः । "अग्निर्वै देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा वाहीकाः" (श० १ । ७ । ३ । ८) मत्यं मतौ भवं साधनं यन्त्रम् । "भवेच्छन्दसि" अष्टा० (४ । ४ । ११०) एनान् शत्रून् तृणेढु हन्तु । 'तृह हिंसायाम्' रुधादिस्तस्मात् "तृणह इम्" (अष्टा० ७ । ३ । ९२) इतीमागमः (परः सहस्रा हन्यन्ताम्) ते च शत्रवः परः सहस्रा अत्यन्तासंख्याता हन्यतां क्रियेरन् ॥

भावार्थ—(मृत्युदूता यमदूता, अमून्-अपनयत-उम्भत) मृत्युके प्रति ले जाने वाले मृत्यु परिणाम करने वाले दुखदायक उपाय तथा यमन के प्रति ले जाने वाले वशकरने के उपाय उन शत्रुओं को दूर करें, शक्तिहीन करें (भवस्य मत्य मेनान् तृणेढु) अग्निका साधक यन्त्र इन शत्रुओं का हनन करे (परः सहस्रा हन्यन्ताम्) और वे शत्रु अत्यन्य असंख्य नष्ट हो जावें ॥

शिक्षा—युद्धमें शत्रुओंके प्रति मारण और वशीकरण उपायोंका प्रयोग करना चाहिये। तोपादि अग्नियन्त्र से शत्रुओं की अधिक संख्या का हनन करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें वश करने वाले उपायों के लिये यम शब्द आया है ॥

अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।

अथा पितॄन्त्सुविदत्रां उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥

अथ० १० । १४ । १०

अतिद्रव श्वानौ सारमेयौ...... ।........अपीहि ....॥

अथ० १८ । २ । ११

इस मन्त्रमें दिन रात यमके दूत श्वान हैं देहान्त के पश्चात् जीव शीघ्र शीघ्र दिन रातों से सूर्य रश्मियों द्वारा पुनर्जन्मको प्राप्त होता है। तथा काल के अर्थ में यहां यम है। विवरण के लिये देखो सूक्त० ऋ० १० । १४ । १० (पृष्ठ ३३)

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।
ताभ्यामेनं परिदेहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवञ्च धेहि ॥
ऋ० १० । १४ । ११, अथ० १८ । २ । १२

इस मन्त्रमें पूवके समान दिन रात यमके श्वान दूत हैं। और कालके अर्थ में यम है। जीव जीवनसमयको समाप्त करके पुनर्जन्मरूप नये जीवनको दिन रातोंके साथ वहन करता है। विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १०।१४।११ (पृष्ठ ३४)

उरुणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥
ऋ० १० । १४ । १२ अथ० १८ । २ । १३

इस मन्त्रमें भी दिन रात यम के दूत हैं। और आयुरूप जीवन काल यम है। वे दिन रात जोवको बारम्बार सूर्य दर्शन कराते हुए जीवन कालके अन्त तक पहुँचाकर पुनर्जन्ममें ले जाते हैं। विवरणके लिये देखो ऋ० १० । १४ । १२ (पृष्ठ ३५)

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ।
अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥ अथ० ८।१।९

इस मन्त्रमें भी दिन रात ही यमके दूत बतलाए गए हैं और यम काल है। अर्थ प्रायः ऋ० १० । १४ । १०-११ के समान है। केवल 'मा विदीध्यः = विरुद्ध ध्यान न कर' यह एक विशेष है। तथा श्याम और शबल दिन रातोंके नाम हैं "अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः" (कौ० २ । ४) ॥

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह।
दूतौ यमस्य मानुगा अधि जीव पुरा इहि ॥ अथ० ५ । ३० । ६

(पुरुष सर्वेण मनसा सहेहैधि) पुरुष हे रोगिन्! त्वं सर्वेणापि मनसा सहेहात्रैधि विद्यमानो भव (यमस्य दूतौ मानुगाः) यमस्य कालस्य दूतौ दवितारौ दुःखयितारौ मारकावहोरात्रौ मानुगा न गच्छ (जीवपुरा अधीहि) जीवपुरा जीवयाः हीरधीहि-अधितिष्ठ ॥

भावार्थ—(पुरुष सर्वेण मनसा सहेहैधि) हे रोगी ! तू पूर्ण मनोभावसे यहां ही रह (यमस्य दूतौ मानुगाः) कालके दूतके समान दुःखदायक मारने वाले दिन रातोंके प्रति न जा (जीवपुरा अयीहि) जीवनाड़ियोंके साथ स्थिर रह ॥

शिक्षा—रोगीकी मनोवृत्तिको जीवनकी आशा की ओर लगाए रखना चाहिये तथा रोगी भी अपने जीवनके स्थिर रखनेकी प्रबल इच्छा करता रहे ॥

इस मन्त्रमें पूर्वोक्त दिन रात ही यम के दूत अभीष्ट हैं और यमका अर्थ काल है ॥

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परिग्रामादितः ।
मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयाञ्चकार ॥

अथ० १८ । २ । २७

इस मन्त्रमें यमका अर्थ आदित्य है। और मृत्यु उसका दूत है। शरीरसे आत्माके निकल जाते ही रोगफैलाने वाले जन्तुओंका उस पर आक्रमण होजाता है अतः उसको जल्दी घरसे बाहर ले जाना चाहिये तथा सविता सूर्यदेव जिसको उत्पन्न करता है उसको मृत्युके मुखमें भी पहुँचाता है इत्यादि वर्णन है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । २ । २७ (पृष्ठ १२६)

यम के कार्य

इस प्रकरण में वे मन्त्र होंगे जिनमें यम का कोई कार्य वर्णित हो तथा जिनका अन्य विद्वानों ने भी "यम के कार्य" का शीर्षक देकर विचार किया है।

नमः सुते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम् ।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधि रोहयैनम् ॥

यजु० १२ । ६३

(निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं नमः) नितरां सत्ययुक्ते तव तीव्रतेजः स्वर्णादिप्रकृतमन्नादिकमस्तु (त्वरेतं बन्धं सुविचृत) सा त्वमेतद् बन्धनं विमुञ्च (यमेन यम्याः संविदाना एनमुत्तमे नाकेऽधिरोहय) न्यायाधीशेन न्यायकर्त्र्या च सह सम्यक्-कृतप्रतिज्ञा अनुकूला सती वोत्तमानन्दे, एनं पतिमारोहय ॥ इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(निर्ऋते ते तिग्मतेजोऽयस्मयं नमः) हे निरन्तर सत्याचरण करने वाली गृहपत्नी ! तेरा अतितेजस्वी स्वर्णादियुक्त भूषण वा घर का सौन्दर्य और

अन्न क वस्तु हो (त्वमेतं बन्धं सुविचृत) तू इस अज्ञान-बन्धन को हटा दे (यमेन यम्याः संविदानाना एनमुत्तमे नाकेऽधिरोहय) न्यायाधीश और न्यायकर्त्री सभा के साथ सम्यक् प्रतिज्ञायुक्त तथा अनुकूल होती हुई इस गृहपति को उत्तम सुख प्राप्त करा ॥

शिक्षा—गृहपत्नी अपने घरको और घर की सामग्री को सुन्दर, अलङ्कृत तथा अन्नादिक खाद्य वस्तुओं से युक्त रखे और विद्याध्ययन से अज्ञान को दूर करती हुई विवाहसंस्कार में सम्मिलित न्यायकर्त्री सभा और उसके प्रधान को न्यायाधीश समझ कर परस्पर की हुई प्रतिज्ञाओं का पालन करती हुई पति के लिये गृहस्थ का सुख सम्पादन करे ॥

इस मन्त्र में यम का अर्थ न्यायाधीश और यमी का अर्थ न्यायकर्त्री सभा का है। तथा न्यायाधीश पुरुष न्यायकर्त्री सभा की एक सलाह होने का वर्णन है ॥

सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद्
यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥ अथ० १६ । ४ । ४

(सूर्यो माह्नः पातु) सूर्यो मामह्नो दिवः सकाशात दिवसरूपात्प्रकाशात् पातु रक्षतु (अग्निः पृथिव्याः) अग्निर्मां पृथिव्याः पृथिवीभयाद्रक्षतु (वायुरन्तरिक्षात्) वायुर्मान्तरिक्षादन्तरिक्षदोषाद्रक्षतु (यमो मनुष्येभ्यः) यमनशीलो न्यायाधीशो मनुष्येभ्यो मनुष्यकृतापराधेभ्यो मां रक्षतु (सरस्वती पार्थिवेभ्यः) सरस्वती विविधविद्यामयी वाक् पार्थिवेभ्यः पार्थिवद्रव्येभ्यो मां रक्षतु ॥

भाषार्थ—(सूर्यो माह्नः पातु) सूर्य मुझे द्युलोक या द्युलोकसे प्राप्त दिनरूप प्रकाश से मेरी रक्षा करे (अग्निः पृथिव्याः) अग्नि पृथिवीभयसे मेरी रक्षा करे (वायुरन्तरिक्षात्) वायु अन्तरिक्ष से मेरी रक्षा करे (यमो मनुष्येभ्यः) यमनशील न्यायाधीश, मनुष्योंसे मेरी रक्षा करे (सरस्वती पार्थिवेभ्यः) नानाप्रकारकी विद्यायुक्त वाणी पार्थिव वस्तुओं से मेरी रक्षा करे ॥

शिक्षा—मनुष्य को अपनी रक्षा के लिये नानाप्रकारके प्रयत्न करने चाहियें। पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ के दोषों से अग्नि वायु और सूर्य द्वारा अपनी रक्षा करनी चाहिये तथा मनुष्यकृत अपराधों से अधिकार प्राप्त न्यायाधीश द्वारा और पृथिवी की उत्पन्न दूर्वा ओषधि आदि वस्तुओं से आयुर्वेदादि की विद्याध्ययन करके रक्षा करनी चाहिये ॥

इस मन्त्र में यमनशील न्यायाधीश के अर्थ में यम शब्द आया है और उस के द्वारा मनुष्यों से अपनी रक्षा कराने का प्रसङ्ग है ॥

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्माऽन्नानामाधिपत्यं जगाम।
तमचेत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥

अथ० १८। ४। ५४

इस मन्त्र में सोम के लिये यम शब्द आया है और वह विशेषण रूप में वर्तमान है विशेष्य में नहीं। सोम ओषधि का रस वज्रतुल्य प्रभाव शाली है। जहां वह पान करने से उत्कृष्ट जीवन प्रदान करता है वहां इसकी आहुतियों को यज्ञ में होमने से सर्वहित सिद्ध होता है। विवरण के लिये देखो सूक्त० अथ० १८। ४। ५४ (पृष्ठ २१५)

अपन्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी धाता सविता बृहस्पतिः।
सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान् परिपातु मृत्योः ॥

अथ० १९। २०। ११ ॥

(यं पौरुषेयं वधमपन्यधुः) यं पुरुषसम्बन्धिनं वधं हननसाधनभूतमरयोऽपन्यधुरपनिहितवन्तः (इन्द्राग्नी धाता सविता बृहस्पतिः सोमो राजा वरुणोश्विना यमः पूषा मृत्योरस्मान् परिपातु) इन्द्राग्नी अग्निविद्युतौ धाता सविता सूर्यो बृहस्पतिराकाशः सोमो राजा सोमौषधिर्वरुण आपोऽश्विना द्यावापृथिव्यौ यमो वायुः पूषा पोषयिता परमात्मा प्रत्येकं मृत्योरस्मान् रक्षतु ॥

भाषार्थ—(यं पौरुषेयं वधमपन्यधुः) जिस पुरुष सम्बन्धी हननसाधन को शत्रुजनों ने हमारे लिये गुप्तरूप से धारण किया हुआ है उसको (इन्द्राग्नी) विद्युत् और अग्नि (धाता सविता) धारण करनेवाला सूर्य (बृहस्पतिः) आकाश (सोमो राजा) सोम ओषधि (वरुणः) पानी (अश्विना) द्यावापृथिवी (यमः) यमनशील वायु (पूषा) सब का पोषक परमात्मा (मृत्योरस्मान् परिपातु) मृत्यु से हमको बचावे ॥

शिक्षा—शत्रुओं के गुप्तास्त्रों और विषादि के मारणोपायों से अग्नि विद्युत् आदि पदार्थों के उपयोग से अपनी रक्षा करनी चाहिये। इस मन्त्र में वायु के लिये यम शब्द आया है मृत्यु से रक्षा करनेका प्रसङ्ग है अतः वायु प्रायः धारण का हेतु होने से मृत्युसे बचाता है ॥

यमस्य लोकादध्याबभूविथ प्रमदा मर्त्यान् प्रयुनक्षि धीरः।
एकाकिना सरथं यासि विद्वान्त्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ॥

अथ १९। ५६। १।

(यमस्य लोकादध्याबभूविथ) हे जीव ! त्वं शैशवे यमस्य लोकाद् यमलोका-त्सूर्यलोकाद् द्युस्थानात् 'यमः सूर्य इत्युक्तम्' अध्याबभूविथाध्यजायथाः (धीरो मर्त्यान् प्रमदा प्रयुनक्षि) धीरो धैर्यं प्राप्तः संस्त्वं मर्त्यान् मरणधर्मान् देहान्। प्रमदा प्रमाद-रूपाचेतनया प्रयुनिक्ष-आश्रयसि सेवसे। तत्र च (असुरस्य योनौ स्वप्नं मिमानो विद्वान्) असुरस्य योनौ मनसो गृहे हृदयब्रह्मरन्ध्रयोर्मध्ये मानसकेन्द्रे स्वप्नं स्वप्नवृत्तिं मिमानो निर्मिमाणोऽथ च तं स्वप्नं विद्वाननुभवन् सन् "मनो वा असुरं तदसुषु रमते" (जै० उ० ३। ३५। ३) (एकाकिना सरथं यासि) एकाकिना केवलेन सुहृद्भूतेन धर्मेण सह सरथं समानरमणं तदनुसारकामं यासि प्राप्नोषि। " एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः (मनु० २। १७) ॥

भावार्थ—(यमस्य लोकादध्याबभूविथ) हे जीव ! तू शिशु की अवस्था में द्युस्थान से आया है (धीरो मर्त्यान् प्रमदा प्रयुनक्षि) धैर्यको प्राप्त हुआ तू शरीरोंको प्रमादरूप अचेतना से आश्रित होता है और वहां (असुरस्य योनौ स्वप्नं मिमानो विद्वान्) हृदय और ब्रह्मरन्ध के मध्य मानस केन्द्र में स्वप्नवृत्ति का निर्माण करता हुआ तथा उस स्वप्नको अनुभव करता हुआ (एकाकिना सरथं यासि) एकले मित्ररूप धर्म के साथ तदनुसार फल को प्राप्त होता है ॥

शिक्षा—जीवात्मा द्युस्थान से गर्भ में प्राप्त होता है। वह शिशु की अवस्था में प्रमाद जैसी अचेतना से शरीर में रहता है हृदय और ब्रह्मरन्ध्र के बीच मन के केन्द्र में अन्दर ही अन्दर स्वप्न का अनुभव करता हुआ अपने पिछले जन्म के कर्म-फलानुसार सुखी और दुःखी होता है ॥

इस मन्त्र में यमका अर्थ सूर्य है और यमलोक द्युस्थानके लिये आया है ॥

यद्‌ यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् ॥

अथ० ६।११६।१॥

(कार्षीवणा विद्ययाऽन्नविदो नाग्रे निखनन्तो यद्यामं चक्रुः) कार्षीवणाः कृषौ-भवा क्रिया कार्षी तां वनन्ति ये ते कार्षीवणाः कृषीवलाः। विद्यया कृषिविद्ययाऽन्नविदो नाऽन्नलब्धार इवाचरन्तोऽग्रे पूर्वं निखनन्तो भूमिं कृषन्तो यद्यामं कर्म क्षेत्रकर्षणकर्म यमः कालस्तत्र भवं यामं शस्यकालिकमृतुप्राप्तं कर्म चक्रुः कृतवन्तः। उक्तं च यामं कर्म भवति। "अस्मिन् यामे वृषण्वसू इत्यस्मिन् कर्मणि वृषण्वसू इत्येतत्" (श० ४।३।२।३) (वैवस्वते राजनि जुहोमि) तथा क्षेत्रकर्षणकर्मानन्तरं वैवस्वते राजनि-ऋतुसदृशकाले

राजमाने जुहोमि भूमिहारोऽहम् शस्यबीजं क्षिपामि (यज्ञियं मधुमदन्नं नोऽस्तु) यज्ञियं यज्ञयोग्यं मधुमत्त्वादन्नं नो मह्यमस्तु । 'अस्मदो द्वयोश्चेत्येकवचनम्' ॥

भाषार्थ—(कार्षीवणा विद्ययाऽन्नविदो नाग्रे निखनन्तो यद्यामं चक्रुः) किसान कृषिविद्या से अन्न को प्राप्त करने वालों के समान आचरण करते हुवे प्रथम भूमि को जोतते हैं। अतः (वैवस्वते राजनि जुहोमि) ऋतुसदृश प्राप्तकालमें शस्य-बीज को मैं जमीन्दार बखेरता हूँ (यज्ञियं मधुमदन्नं नोऽस्तु) कि यज्ञयोग्य स्वादु अन्न हमारे लिये हो ॥

शिक्षा—कृषिविद्या के जानने वाले पुरुषों द्वारा भूमिको जोता कर ऋतुकाल के अनुसार शस्यबीज बोनेके समयमें बोना चाहिये जिससे कि ठीक उत्तम बलिष्ठ अन्न उत्पन्न हो सके ॥

इस मन्त्र में वैवस्वत यम का विशेषण पद काल के लिये आया है और प्राप्तकाल कृषिकर्म के लिये याम शब्द का प्रयोग है ॥

ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः ।
देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्ररोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे ॥
ऋ० १०।९२।११॥

(नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिर्देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणो रोदसी मरुतस्ते हि भूरिरेतसा द्यावापृथिव्यौ विष्णुः प्रार्हिरे) नराशंसोऽग्निश्चतुरङ्गश्चतुष्प्रहरको यमो देवो द्योतमानो दिवसोऽदितिरुषा द्रविणोदा ऐश्वर्यधनदाता सूर्यः ऋभुक्षण ऋभूणां राजा "ऋभुक्षा ऋभूणां राजा" (निरु० ६ । ३) रोदसी रुद्रस्य पत्नी विद्युत् "रोदसी रुद्रस्य पत्नी" (निरु० ११ । ४०) मरुतो वायवस्त एते सर्वे देवास्ते हि भूरिरेतसा बहुसत्वे द्यावापृथिव्यौ परमात्मदेवोत्र समष्टियज्ञे प्रार्हिरे पूज्यन्ते ॥

भाषार्थ—(नराशंसश्चतुरङ्गो यमः) अग्नि, चारप्रहरवाला काल, (अदिति द्रविणोदास्त्वष्टा देवः) उषा, धन ऐश्वर्यदाता सूर्यदेव (ऋभुक्षणो रोदसी मरुतस्ते हि) विद्वानों का राजा, विद्युत्, हवाएं ये सब देव (भूरिरेतसा द्यावापृथिव्यौ विष्णुः प्रार्हिरे) बहुत सत्व वाले तथा द्यावापृथिवी और व्यापक ईश्वर पूजे जाते हैं ॥

शिक्षा—अग्नि, काल, उषा, सूर्य, वायु, द्यावापृथिवी और ईश्वर समष्टियज्ञ का विस्तार करते हैं ॥

इस मन्त्रमें कालके लिये यम शब्द आया है और वह चार प्रहरवाला दिनके अर्थमें है ॥

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः ॥
ऋ० १० । १४ । २, अथ० १८ । १ । ५०

इस मन्त्रमें यमका अर्थ जीवनकाल है और 'गातुम्' शब्द जीवनगतिके लिये आया है उसको जीवनकालने प्राप्त किया हुआ है। उक्त कालाधीन जीवनगति यावच्छरीरपात हो चलती रहती है। हमारे वृद्ध जनकादि भी कालाधीन ही अपनी जीवनगतिमें विचरते रहे हैं इत्यादि वर्णन है। विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १० । १४ । २ (पृष्ठ १८)

यथा यमाय हर्म्यमवपन् पञ्चमानवाः ।
एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत् ॥ अथ० १८ । ४ । ५५

इस मन्त्रमें शरीरका नियन्त्रण करनेवालेके अर्थमें यमशब्द आया है। जिसप्रकार मनुष्योंकी ओरसे शरीरोत्पत्तिके लिये स्त्रियोंमें बीजारोपण किया जाता है एवं सृष्टिके अन्दर नानाप्रकारकी प्रजाकी उत्पत्तिका बीजारोपण प्रथम २ ईश्वर करता है इत्यादि वर्णन है। विवरणके लिये देखो सू० अथ०१८ । ४ । ५५ (पृष्ठ २१६)

यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ अथ० १८ । ४ । ७४

इस मन्त्रमें जीवनकालके लिये यम शब्द आया है जिसका प्राणोंके साथ सम्बन्ध है और उसके लिये अन्नके उपहार देनेका वर्णन है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । ४ । ७४ (पृष्ठ २२६)

यो न जीवोसि न मृतो देवानाममृतगर्भोसि स्वप्न ।
वरुणानी ते माता यमः पितारुर्नामासि ॥ अथ० ६ । ४६ । १

(स्वप्न यो न जीवो न मृतोऽसि) स्वप्न हे स्वप्न ! मेरुदण्डं प्रति गत जीवव्यापार ! "अजगरम्=[अजमात्मानं गिरतीति तं मेरुदण्डं सुषुम्नास्थानम्] स्वप्नोगच्छति" (गो० पू० २ । २) यस्त्वं न जीवः प्राणधारकव्यापारो न मृतो मृतव्यापारोऽसि (देवानाममृतगर्भोऽसि) देवानामिन्द्रियाणाममृतस्य प्राणानां गर्भस्तन्मध्ये भवः, इन्द्रियाणां प्राणेषु भवोऽसि "अमृतं वै प्राणाः" (गो० उ० १ । १३) (वरुणानी ते माता यमः पिता) वरुणानी वरुणस्य वरयितुर्जन्मदातुर्जीवनकालस्य पत्नी सुषुम्ना नाडी ते माताऽस्ति, यमः स च जीवनकालस्ते पिता जनयिताऽस्ति (अररुर्नामासि) त्वं चाररुर्भ्रातृव्यः शत्रुरसि "भ्रातृव्यो वा अररुः" (तै० ६ । २ । ६ । ४) ॥

भावार्थ—(स्वप्न यो न जीवो न मृतोऽसि) हे मेरुदण्डकी ओर गये हुए जीवव्यापार स्वप्न ! तू न प्राणधारकव्यापार है न मृतव्यापार है (देवानाममृतगर्भोऽसि) इन्द्रियोंके प्राणोंके मध्यमें होने वाला है (वरुणानी ते माता यमः पिता) वरने वाले जन्मदाता जीवनकालकी पत्नी सुषुम्ना नाड़ी तेरी माता है और वह जीवनकाल तेरा पिता है (अररुर्नामासि) तू वास्तवमें दुःखदायी होने से शत्रुरूप है ॥

शिक्षा—स्वप्न जीवका एक व्यापार है । जागृत अवस्थामें जीव बाहर के साधनोंसे काम लेता है किन्तु जब बाहरके सम्बन्धका त्यागकर उसकी वृत्ति मेरुदण्डमें सुषुम्नाकी ओर जाती है तो वह इन्द्रिय तथा प्राणोंकी सहायतासे स्वप्नरूपमें परिवर्तित होजाती है जब तक जीवनकाल है तब तक यह स्वप्न चलता रहता है ॥

इस मन्त्रमें जीवनकालके लिये यम शब्द आया है जो कि स्वप्नवृत्ति को प्रकट करता है ॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न
दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ अथ० ६ । ४६ । २

(स्वप्न ते जनित्रं विद्म) हे मेरुदण्डप्रतिगतजीवव्यापार ! ते जनित्रं जन्म विद्मो जानीमः (देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः) देवजामीनां देवजायानामिन्द्रियनाडीनां पुत्रोऽसि यमस्य जीवनकालस्य करणः करः शुल्कोऽसि । यथान्यत्र "देवपत्नीनां गर्भ यमस्य कर" (अथ० १६ । ५७ । ३) (अन्तकोऽसि मृत्युरसि) अन्तकार्यसि मारकश्चासि (स्वप्न तं त्वां तथा संविद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात्पाहि) हे स्वप्न ! तं त्वां तथा सञ्जानीमो यथा स त्वमस्मान् स्वप्न ! दुष्वप्न्यादनिष्टस्वप्नसंस्कारात्पाहि रक्ष ॥

भावार्थ—(स्वप्न ते जनित्रं विद्म) हे मेरुदण्डके प्रतिप्राप्त होने वाले जीव व्यापार स्वप्न ! तेरे जन्मको हम जानते हैं (देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः) इन्द्रिय-नाड़ियोंका तू पुत्र है और जीवनकालका शुल्क रूप (Tax) है (अन्तकोऽसि मृत्युरसि) अन्त करने वाला है और मारने वाला है (स्वप्न तं त्वा तथा संविद्म) हे स्वप्न ! उस तुझको हम इसप्रकार जानते हैं । जैसे (स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात्पाहि) तू हमको हे स्वप्न ! अनिष्ट स्वप्न संस्कारसे बचा ॥

शिक्षा—स्वप्न इन्द्रियोंकी नाड़ियोंसे प्रकट होता है और वह कभी २ भयङ्कर परिणाम करने वाला भी हो जाता है अतः स्वप्नविज्ञानका परिचय करके

इन्द्रियोंके अनुचित आचरणसे पृथक् होता हुआ सोते समय पवित्र संस्कारोंको रखना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें जीवनकालके लिये यम शब्द आया है ॥

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न ।
स मम यः पापस्तद् द्विषते प्रहिण्मः । मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम् ॥
अथ० १९ । ५७ । ३

(देवानां पत्नीनां गर्भ) हे स्वप्न ! त्वं देवानामिन्द्रियाणां पत्नीनां पालयित्रीणां तद्विषयग्रहीत्रीणां नाडीनां गर्भ गर्भरूप संस्काररूप (यमस्य कर) तथा त्वं हे स्वप्न ! यमस्य कालस्य यापनीयजीवनकालस्य कर शुल्करूप ! (स्वप्न यो भद्रः स मम यः पापस्तद् द्विषते प्रहिण्मः) एवं स्वप्न ! यो भद्रः कल्याणकरस्त्वं स मम भूत्वा तिष्ठ यः पापो दुःखकरस्तत्त्वां द्विषते शत्रवे प्रहिण्मो दूरं कुर्मः (तृष्टानां कृष्णशकुनेर्मुखं माऽसि) तृष्टानां पिपासितानां जलदूषकाणां पिपासातुराणां पक्षिणां मध्ये कृष्णशकुनेर्मुख काकस्य चञ्चुरिव दूषकाऽन्तःकरणविकारको माऽसि न भव । 'लिङर्थे लेट्' ॥

भाषार्थ—(देवानां पत्नीनां गर्भ) हे स्वप्न ! तू इन्द्रियोंके पालन करने वाली और उनके विषयोंको ग्रहण करने वाली नाड़ियां का गर्भ अर्थात् संस्काररूप है (यमस्य कर) तथा तू हे स्वप्न ! यापनीय जीवनकालका शुल्करूप है (स्वप्न यो भद्रः स मम यः पापस्तद् द्विषते प्रहिण्मः) एवं हे स्वप्न ! जो तू कल्याणकारी हो तो मेरा बनकर स्थिर रह और यदि हानिकर हो तो उस तुझको शत्रुके प्रति प्रेरित करते हैं (तृष्टानां कृष्णशकुनेर्मुखं माऽसि) प्यासे जलदूषक पक्षियोंके मध्य कौवेकी चोंचके समान दूषक होकर अन्तःकरणको दूषित करने वाला मत बन ॥

शिक्षा—स्वप्न इन्द्रियोंकी ग्राहकनाड़ियोंमें संस्कार रूपसे वर्तमान रहता है यापनीय जीवनकालका शुल्कके समान होकर सुख और दुःखका निमित्तबनता है । पापमय स्वप्न अन्तःकरणको दूषित कर देता है इस लिये दूषित विचारोंको हटा कर शुद्धसङ्कल्प को धारण करते हुए शयन करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें जीवन कालके लिये यम शब्द का प्रयोग है ॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥
अथ० १६ । ५ । १

अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ अथ० १६ । ५ । २, ९

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः
स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ अथ० १६ । ५ । ४

विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोसि यमस्य करणः ।
अन्तकोसि० ॥ अथ० १६ । ५ । ५

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोसि यमस्य करणः ।
अन्तकोऽसि० ॥ अथ० १६ । ५ । ६

विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।
अन्तकोऽसि० ॥ अथ० १६ । ५ । ७

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोसि यमस्य करणः ।
अथ० १६ । ५ । ८

अत्र मन्त्रेषु 'ग्राह्याः' 'निर्ऋत्याः' 'अभूत्याः' 'निर्भूत्याः' 'पराभूत्याः' इति विशेषः । अन्यत्सर्वम् (अथ० ६ । ४६ । २) इत्यनेन समानम्—

(ग्राह्याः पुत्रोऽसि) गृह्णातीति ग्राहिः । औणादिक इन् ततः "कृदिकारात्" इति ङीष् स्त्रियां ग्राही तस्या ग्राह्या ग्रहण्याः पुत्रोऽसि ॥ १ ॥

(निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि) निर्ऋत्याः पापवासनायाः पुत्रोऽसि "पाप्मा वै निर्ऋतिः (श० ७ । २ । १ । १) ॥ ४ ॥

(अभूत्याः पुत्रोऽसि) अभूत्या दरिद्रतायाः पुत्रोऽसि ॥ ५ ॥

(निर्भूत्याः पुत्रोऽसि) निश्चितसम्पत्याः पुत्रोऽसि ॥ ६ ॥

(पराभूत्याः पुत्रोऽसि) पराजयतायाः पराधीनतायाः पुत्रोऽसि ॥ ७ ॥

भावार्थ—(ग्राह्याः पुत्रोऽसि) ग्रहणी बीमारी से हे स्वप्न ! तू उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

(निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि) पापवासना से हे स्वप्न तू उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

(अभूत्याः पुत्रोऽसि) दरिद्रता से हे स्वप्न तू उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

(निर्भूत्याः पुत्रोऽसि) निश्चित सम्पत्ति से हे स्वप्न ! तू उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

(पराभूत्याः पुत्रोऽसि) पराजयता या पराधीनता से हे स्वप्न ! तू उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

शिक्षा—स्वप्न अर्थात् आनन्द की नींद को छोड़कर सोते हुए इधर उधर के विचारोंका अनुभव रोगी, पापी, दरिद्र, धनिक और पराजित या पराधीन मनुष्यों को होता है ॥

इन मन्त्रोंमें जीवनकाल के लिये यम शब्द का प्रयोग है। सर्वार्थ विवरण के लिये देखो "प्रकीर्णसमन्वय" में अथ० ६ । ४६ । २ (पृष्ठ ३६५)

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुत हविः । यमं ह यज्ञो
गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः ॥ ऋ० १० । १४ । १३

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः । यमं ह यज्ञो
गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः ॥ अथ० १८ । २ । १

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत । स नो देवेष्वा
यमद्दीर्घायुः प्रजीवसे ॥ ऋ० १० । १४ । १४

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन । स नो
जीवेष्वा यमद्दीर्घायुः प्रजीवसे ॥ अथ० १८। २ । ३

इन मन्त्रों में सोम और घृत से युक्त हवि के होमनेका विधान है। तथा ऋ० १० । १४ । १५ में । मधुयुक्त हवि के होमने का विधान भी है। एवं सोम घृत मधु युक्त हवि को होम कर जीवनकाल को उत्तम बनाने का वर्णन है। इन मन्त्रोंमें यमका अर्थ काल के हैं। विवरण के लिये देखो सूक्त० ऋ० १० । १४ । १३—१५ (पृष्ठ ३५—३६)

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥

ऋ० १० । १४ ।१

इस मन्त्रमें विश्वकाल के लिये यम शब्द आया है। वह संसारके सब पदार्थों को व्याप्त और प्राप्त है। वही सबकी उत्पत्ति स्थिति और नाश का निमित्त है। उस सूर्य पुत्रको होम द्वारा स्वानुकूल बनानेकी चर्चा है। विवरण के लिये देखो सूक्त ऋ० १० । १४ । १ (पृष्ठ १८)

परिशिष्ट

इस प्रकरणमें यम के वे सभी मन्त्र होंगे जो पूर्वोक्तप्रकरणों में नहीं आसकते हैं या अन्य विद्वानों ने अपने ग्रन्थ में जिनका परिशिष्ट शीर्षक देकर विचार किया है।

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् ।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥

अथ० १८ । ३ । १३

इस मन्त्रमें यमका लक्षण किया है जो कि मरणधर्मी वस्तुओंमें सबसे प्रथम मरता है तथा अन्त यमालयरूप अवस्थाको सबसे प्रथम प्राप्त होता है और उत्पन्न होनेवाले जीवोंके साथ सम्बन्ध रखता है तथा जो स्वयं सूर्यसे उत्पन्न हुआ है वह यम कहलाता है। इसप्रकार मन्त्रमें ऐसा वर्णन होने से विदित होता है कि यमका अर्थ काल (Time) है क्योंकि वस्तुओंके नाशमें क्षण २ कालावयव नष्ट होते रहने से यदि सबसे प्रथम नष्ट होने वाली चीज है तो वह काल ही है वही सब जीवोंके साथ सम्बन्ध रखता है तथा काल विवस्वान् (सूर्य) से उत्पन्न भी होता है। इस प्रकार का सिद्धान्त पुराकालसे ही प्रचलित है। सूर्यसिद्धान्त में सूर्यसे कालकी उत्पत्ति कही भी है "कालकृत्" (सूर्यसिद्धान्त १२ । १८) अतः वैवस्वत विशेषण के साथ यमका अर्थ काल ही है दूसरा नहीं॥

इस मन्त्र के सम्बन्धमें अर्थादि के विवरणके लिये देखो सूक्त० १८। ३ । १३ (पृष्ठ १५४)

यमः परोवरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किंचन ।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥

अथ० १८ । २ । ३२

इस मन्त्रमें यम (काल) और विवस्वान् (सूर्य) का कुछ परस्पर सम्बन्ध और कार्य वर्णन है। विश्वकाल सारे भुवनमें व्याप्त है और सूर्य एक देश में। यद्यपि सूर्यसे काल प्रकट होता है किन्तु प्रकटताके साथ ही व्याप जाता है जिस प्रकार जलाशयमें ढेला फेंकनेसे प्रकट हुआ चक्र-सञ्चार सारे जलाशयमें व्याप जाता है और ढेला एक देशमें ही पड़ा रहता है। इस प्रकार उस व्यापक काल के अन्दर जीवशरीर परिणाम को प्राप्त होता है अपि तु समष्टिसंसारभी अवधिको प्राप्त होता

है किन्तु विवस्वान् (सूर्य) तो केवल भूमि आदि लोकों में प्रकाश ही फैलाता है। इस प्रकार अर्थपरिचय और विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । २ । ३२ (पृष्ठ १३३)

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते ।
एतं परिदद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः ॥ अथ० १२ । ३ । ५६

(दक्षिणायै दिशे-इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमत एतं त्वा परिदद्मः) हे कुमार ! निष्क्रमण संस्कारे दक्षिणायै दिशे, इन्द्राय तत्र दक्षिणायां-वर्तमानायैश्वर्यशालिने वायवेऽधिपतये "यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः" (श० ४ । १ । ३ । १६) "दक्षिणा दिक्, इन्द्रो देवता" (तै० ३ । ११ । ५ । १) तिरश्चिराजये तिर्यक्पङ्क्तये रश्मिसमूहाय रक्षित्रे वायव्यलोकस्य स्थात्रे स्थितिनिमित्ताय यमाय यमन-शीलाय वायवे वायुचक्राय वायव्यलोकाय "अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते" (श० १४ । २ । २ । ११) इषुमते पितर ऋतव इषवो यत्राधिष्ठितास्तस्मै । उक्तं च "पितरो दक्षिणत आगच्छन्" (जै० उ० २ । ७ । २) "षड् वा ऋतवः पितरः (श० ६ । ४ । ३ । ८) प्रत्यक्षं च ऋतुसञ्चाराद्दक्षिणत ओषधिपाकः । तथा च शास्त्रम् "दक्षिणतोऽन्न ओषधयः पच्यमाना आयन्ति (ऐ० २ । १) एतं त्वां कुमारं परिदद्मः समर्पयामः । परिदानमत्र समर्पणं शुभवृत्त्या विज्ञेयं यथाऽन्यत्र नामकरणादिसंस्कारेषु "स त्वाऽग्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै०" (मं०ब्रा० १ । ५ । १२) (तन्नो गोपायत) तं कुमारं पुत्रं पौत्रं वा नोऽस्मभ्यं यूयं सर्वे गोपायत रक्षत (अस्माकमैतोः) अस्माकमत्र दक्षिणस्यां दिश्यागमनं यावत् (अत्र नो दिष्टं जरसे निनेषत्) अत्र संसारे नोऽस्माकं दिष्टं पूर्वजन्मकृतं कर्म प्रारब्धं जरसे जरावस्थापर्यन्तं निनयेत । 'लिङर्थे लेट्' (जरा नो मृत्यवे परिददातु) जरावस्था च नोऽस्मान् मृत्यवे मृत्युम्परि परिददातु समर्पयतु (अथ पक्वेन सम्भवेम) अथानन्तरं पक्वेन कर्मफलेन सह सङ्गताः सम्भवेम ॥

भाषार्थ—(दक्षिणायै दिशे) हे कुमार ! निष्क्रमण संस्कारमें दक्षिण दिशा में भी तुझे ले जाते हैं। वहां (इन्द्रायाधिपतये) ऐश्वर्यशाली वायुके प्रति (तिरश्चिराजिरक्षित्रे) तिर्यक् पङ्क्तिरूप रश्मिसमूह वायव्य लोकमें स्थापक के प्रति (यमायेषुमते) यमनशील वायव्य चक्र जो ऋतु का अधिष्ठाता है उसके प्रति (एतं त्वा परिदद्मः) इस तुझ उत्पन्न कुमार को सुपुर्द करते हैं (तन्नो गोपायत) उसको तुम सब हमारे लिये सुरक्षित रखो (अस्माकमैतोः) हमारा यहां दक्षिण दिशा में जबतक भ्रमण हो (अत्र नो दिष्टं जरसे निनेषत्) संसारमें हमारा प्रारब्ध शुभकर्म जरा

अवस्था पर्यन्त ले जावे (जरा मृत्यवे परि ददातु) जरा अवस्था मृत्यु तक ले जावे (अथ पक्वेन सम्भवेम) अनन्तर कर्म फलसे सङ्गत हों ॥

शिक्षा—उत्पन्न बालकको निष्क्रमणार्थ घरकी सब दिशाओंमें तथा बाहर ग्राम नगर आदि में भ्रमण कराना चाहिये । उन दिशाओं के नियामक देवों का प्रभाव बालक के विकासार्थ उत्तम पड़ता है । उसकी रक्षामें यावत् निज प्राण हैं तत्पर रहना चाहिये । सन्तान मानो कर्मफल है ॥

इस मन्त्र में ऋतुओंके यमनशील वायुचक्र के लिये यम शब्द आया है ॥

अपमित्यमप्रतीतं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि ।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान् विचृतं वेत्थ सर्वान् ॥
अथ१ ६ । ११७ । १

(अपमित्यमप्रतीतं यदस्मि) अपमित्यं प्रतिहर्तव्यं प्रतिदेयमृणमप्रतीतम-प्रतिगतोऽनिवारितवाम् 'लिङ्गव्यत्यय: क्रियाविशेषणं' वा यदहस्मि (यमस्य येन बलिना चरामि) यमस्य न्यायाधीशस्य येन बलिना चरामि न्यायमन्दिरं गच्छामि (अग्न इदं तदनृणं भवामि) अग्ने हे विद्वन् न्यायाधीश ! इदं तदनृणं भवामि तदृणं दत्वाऽनृणो भवामि (त्वं सर्वान् पाशान् विचृतं वेत्थ) यतो हि त्वं सर्वान् पाशान् ऋणा-दानेन बन्धस्थानानि वेत्थ लब्धवान् तत्र क्वापि निवेशयिष्यतीति हेतोरहमृणं ददाम्येव ॥

भावार्थ—(अपमित्यमप्रतीतं यदस्मि) वापिस देने योग्य ऋणको जो मैं वापिस नहीं देता हूँ (यमस्य येन बलिना चरामि) न्यायाधीशके जिस बली राज-पुरुष द्वारामें न्यायमन्दिर (Court) को जाता हूँ (अग्ने इदं तदनृणं भवामि) इसलिये हे विद्वन् न्यायाधीश ! मैं उस ऋणको देकर अनृण होता हूँ (त्वं सर्वान् पाशान् विचृतं वेत्थ) तू ऋण न देनेके सम्बन्धसे सब बन्धनोंको पास रखता है । किसी भी बन्धनमें मुझे डाल देगा इस लिये मैं अनृण होता हूँ ॥

शिक्षा—मनुष्यों को उचित है कि परस्पर ऋण ले करके उसको वापिस दें, न देने पर राष्ट्रपत्ति अपने राजपुरुष द्वारा पकड़कर दिलवाये फिर भी यदि वह ऋण न दे तो उसे बन्धीघरका दण्ड दिया जावे ॥

इस मन्त्रमें न्यायाधीशके लिये यम शब्द आया है । अधमर्णसे ऋण दिलानेका प्रसङ्ग है ॥

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम् ।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥ अथ० १२ । २ । ५४

(जरतीमिषीकां तिल्पिञ्जं दण्डनं नडमिष्ट्वा) जरतीमिषीकां पक्कामिषीकां तिल्पिञ्जं तिलतूलिकां दण्डनं दण्डशरं नडं नद्यन्तर्गतशरवल्लम्बतूलिकां "पटेर" इति भाषायाम् (इन्द्रस्तमिध्मं कृत्वा) इन्द्र इदं दारको दाहकपुरुषस्तमिध्मं शवदहनेन्धनं कृत्वा (यमस्याग्निं निरादधौ) यमस्यान्तकालस्यान्त्येष्ट्या अग्निं निरादधौ प्रज्वलितवान् ॥

भावार्थ—(जरतीमिषीकां तिल्पिञ्जं दण्डनं नडमिष्ट्वा) सूखी कांस या तिलतूलिका या शरकाण्ड या पटेरको जलाकर (इन्द्रस्तमिध्मं कृत्वा) अग्नि द्वारा शवको छिन्न भिन्न करने वाला दाहक पुरुष उक्त वस्तुओंको शवदाहन का ईन्धन बनाकर (यमस्याग्निं निरादधौ) अन्तकालकी अग्नि अर्थात् अन्त्येष्टिके अन्दर प्रज्वलित करता है ॥

शिक्षा—शवदाह करनेके लिये सूखी कांस, तिलतूल, शरकाण्ड, पटेर आदि जंगली सूक्ष्म ईन्धन जलाकर चिताग्निको प्रदीप्त करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें कालके लिये यम शब्द आया है और वह जीवनका अन्तकारी काल है ॥

यमस्य भागस्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये ॥ अथ० १० । ५ । १२

(यमस्य भागस्थ) हे आपः ! यूयं यमस्य कालस्य भागो भजनीयांशाःस्थ (आपो देवीरपां शुक्रं वर्चोऽस्मासु धत्त) हे आपो देव्योऽपां शुक्रं सारपदार्थमस्मासु धारयत (प्रजापतेर्धाम्नाऽस्मै लोकाय वः सादये) प्रजापतेः प्रजापालकस्य राज्ञो धाम्ना स्थानेन निश्चितेन स्थानेन मार्गेणास्मै लोकायाऽस्मै स्वस्थानाय वो युष्मान् सादये स्थापयामि ॥

भावार्थ—(यमस्य भागस्थ) हे जलो ! तुम कालके भजनीय अंश हो (आपो देवीरपां शुक्रं वर्चोऽस्मासु धत्त) हे जलो ! तुम अपने साररूप पदार्थको हमारे अन्दर धारण कराओ (प्रजापतेर्धाम्ना) प्रजापालक राजाके स्थानसे निश्चित मार्गसे (अस्मै लोकाय वः सादये) इस अपने स्थानके लिये मैं तुमको स्थापित करता हूँ ॥

शिक्षा—जल हमारे जीवनके लिये उपयोगी पदार्थ है इस लिये जलको उत्तम और शुद्ध बनाकर सेवन करना चाहिये तथा राष्ट्रपतिकी ओर से जलका पूरा २ प्रबन्ध कूप, वापी, तड़ाग और कुल्या आदि से होना चाहिये ॥

इस मन्त्र में जीवनकाल के लिये यम शब्द आया है ॥

....यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा....॥ यजुः ९।३५॥

(यमनेत्रेभ्यो दक्षिणासद्भ्यो देवेभ्यः स्वाहा) यमस्य वायोर्नेत्रं नयनं प्रापणमिव नीतिर्येषां तेभ्यो देवेभ्यो विपश्चिद्भ्यो दक्षिणासद्भ्यो ये दक्षिणदिशायां राज्यप्रबन्धं कुर्वन्ति तेभ्यः स्वाहा दानक्रिया। इति दयानन्दः॥

भावार्थ—(यमनेत्रेभ्यो दक्षिणासद्भ्यो देवेभ्यः स्वाहा) वायुसम्बन्धी या वायु जैसी शीघ्रकारी नीति जिनकी है ऐसे विद्वानों के लिये जो दक्षिण दिशा में राज्यप्रबन्ध करते हैं उनके लिये राज्य की ओर से वृत्तिदान होना चाहिये॥

शिक्षा—दक्षिण दिशा या दक्षिण समुद्र में राज्यप्रबन्ध करने वाले नीतिज्ञ राज पुरुषों के लिये राज्यकी ओर से वृत्ति का विशेष प्रबन्ध किया जाये॥

इस मन्त्र में यम का अर्थ वायु है॥

....ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा....॥ यजुः ९।३६

(ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा) ये देवा योगिनो न्यायाधीशा यमनेत्रा यमेष्वहिंसादिषु योगाङ्गेषु वा नेत्रं प्रापणं येषां ते दक्षिणासदो ये दक्षिणायां दिश्यवतिष्ठन्ते तेभ्यः स्वाहा सत्याः क्रियाः॥ इति दयानन्दः॥

भावार्थ—(ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा) जो योगी या न्याया-धीश अहिंसादि पांच यमों में जिनकी गति है उन दक्षिण दिशा में रहने वालों के लिये सत्यक्रियाएं हों॥

शिक्षा—दक्षिण समुद्र या दिशा में वा किसी समुद्रमध्य दक्षिणद्वीप में रहने वाले योगी या राजपुरुषों के लिये उचित साधनोंको प्रदान करना चाहिये।

इस मन्त्र में अहिंसादि योगाङ्गों के लिये यम शब्द आया है॥

....यमस्य त्रयोदशी....॥ यजुः २५।४

(यमस्य) न्यायाधीशस्य (त्रयोदशी) त्रयोदशानां पूर्णा। इति दयानन्दः॥

भावार्थ—(यमस्य) न्यायाधीश की (त्रयोदशी) तेरहवीं क्रिया करनी चाहिये॥

शिक्षा—मनुष्य-दिनचर्या की सारी क्रियाओं में न्यायाधीश राजा के लिये कर आदि देने की बारी तेरहवीं क्रिया में आनी चाहिये अर्थात् दूसरों के प्रति वर्तने के लिये दिनचर्या की क्रियाओं में तेरहवां नम्बर न्यायाधीश राजा का है॥

इस मन्त्र में यम शब्द का अर्थ न्यायाधीश है॥

····यमाय कृष्णः····॥ यजुः २४ । ३०

(यमाय) न्यायाधीशाय (कृष्णः) कृष्णगुणविशिष्टः। इति दयानन्दः॥

भाषार्थ—(यमाय) न्यायाधीश के लिये (कृष्णः) कृष्णगुणविशिष्ट हरिण है॥

शिक्षा—राष्ट्र के अन्दर राष्ट्रनायक पुरुषों के लिये राष्ट्रपति या राष्ट्रसभा की ओर से उनके मनोभाव उच्च और कर्तव्यपरायण तथा स्व स्व कार्य में विशेष प्रवृत्ति के लिये मन बहलाने के वास्ते शुक मृगादि पक्षी पशुओं के पालन तथा रक्षण की व्यवस्था करनी चाहिये॥

इस मन्त्र में न्यायाधीश के लिये यम शब्द आया है॥

तस्या यमो राजा वत्स आसीद्रजतपात्रं पात्रम्॥ अथ० ९।१४।६

(तस्या यमो राजा वत्स आसीत्) तस्या विराजः परमव्यापिकायाः प्रकृतेर्यमो यमनशीलः काल आदित्यो राष्ट्रपतिर्वा वत्सोऽस्ति (रजतपात्रं पात्रम्) रजतपात्रं राजतपात्रं पार्थिवलोकः प्रजापालनहेतुकः पात्रं स्थानमाश्रमोऽस्ति यतो हि काल ऋतुभिरादित्यो रश्मिभी राष्ट्रपतिः सैनिकजनैः पृथिवीस्थानं प्रभावी करोति। "इयं पृथिवी वै रजता" (तै० १।८।६।१)॥

भाषार्थ—(तस्याः) उस विराट्रूप परमव्यापिका प्रकृति का (यमः) यमनशील काल या आदित्य या राष्ट्रपति (वत्सः) सन्तान (आसीत्) है (रजतपात्रम्) पृथिवीलोक प्रजारक्षा के निमित्त (पात्रम) पात्र अर्थात् स्थान या आश्रम है क्योंकि काल ऋतुओं से सूर्य स्वकिरणों से और राष्ट्रपति सैनिकजनों से पृथिवी-स्थान को प्रभावित करता है॥

शिक्षा—काल, आदित्य और राष्ट्रपतिके अन्दर यमन करने की स्वाभाविक शक्ति ऐसी होती है कि वे पृथिवी पर प्रभाव डाल सकते हैं॥

इस मन्त्र में काल आदि राष्ट्रपति के अर्थ में यम शब्द आया है॥

यमः पितृणामधिपतिः स मावतु। अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन्
कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्यामस्या-
माकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ अथ० ५।२४।१४

(यमः पितृणामधिपतिः) यमो यमवाच्यः काल आदित्यो राजा वा पितृणामृतूनां रश्मीनां सैनिकानां वाऽधिपतिः स्वामी (स माऽस्मिन् ब्रह्मणि) स

कालं आदित्यो राजा वाऽस्मिन् ब्रह्मणि ब्रह्मयज्ञे (अस्मिन् कर्मणि) अस्मिन् कर्म-यज्ञेऽग्निहोत्रादौ (अस्यां पुरोधायाम्) अस्यां पूर्वधारणायां सङ्कल्पवृत्याम् (अस्यां प्रतिष्ठायाम्) अस्यां प्रत्युपस्थितक्रियायाम् (अस्यां चित्याम्) अस्यां निश्चित्याम् (अस्यामाकूत्याम्) अस्यामुत्साहवृत्याम् (अस्यामाशिषि) अस्यामाशंसायाम् (अस्यां देवहूत्याम्) अस्यां दिव्यगुणप्रवेशक्रियायाम् (अवतु) रक्षतु (स्वाहा) सुवचो हार्दिकमिदं मेऽस्ति ॥

भाषार्थ—(यमः पितॄणामधिपतिः) यम शब्द का वाच्य काल, आदित्य या राजा पितरों अर्थात् ऋतुओं किरणों या सैनिकों का स्वामी है (स मार्ऽस्मिन् ब्रह्मणि) वह काल आदित्य या राजा मुझे इस ब्रह्मयज्ञ में (अस्मिन् कर्मणि) इस अग्निहोत्रादि कर्मयज्ञ में (अस्यां पुरोधायाम्) इस सङ्कल्पमें (अस्यां प्रतिष्ठायां) इस प्रत्युपस्थित क्रिया में (अस्यां चित्याम्) इस निश्चिति में (अस्यामाकूत्याम्) इस उत्साहवृत्ति में (अस्यामाशिषि) इस आशा में (अस्यां देवहूत्याम्) इस दिव्य-गुणकी प्रवेश क्रियामें (अवतु) रक्षा करे (स्वाहा) यह मेरा हार्दिक वचन है ॥

शिक्षा—ऋतुओंका स्वामी काल, किरणों का स्वामी आदित्य और सैनिकों का स्वामी राजा मेरे ब्रह्मयज्ञ, पाकयज्ञ, सङ्कल्प, उपस्थित विचार, निश्चय, उत्साह, आशा और उत्तम इच्छामें रक्षक हो ॥

इस मन्त्रमें सामान्यतः यम और पितर शब्द आए हैं जिनका परस्पर सम्बन्ध है अतः यहां यम का अर्थ काल, आदित्य और राजा तथा पितर का अर्थ ऋतु, किरण और सैनिक हैं। उनका ब्रह्मयज्ञ आदिमें सहायक होनेका वर्णन है ॥

स यत् पितॄनतुव्यचलद् यमो राजा भूत्वाऽनुव्यचलत्
स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा ॥ अथ० १५ । १४ । १३

(स यत् पितॄननुव्यचलत्) स व्रात्यो हिरण्यगर्भरूपः सृष्टिबीजात्मा "वीर्यं वै व्रतम्" (शत० १३ । ४ । १ । २) "स्वार्थे ष्यञ् छान्दसः" यत् पितॄन् ऋत्वादीननुव्यचलत् प्राप्तवान् (यमो राजा भूत्वाऽनुव्यचलत्) यमः=आदित्यः, कालः, वायुः, न्यायाधीशादिर्वा भूत्वाऽनुव्यचलत् प्राप्तवान् (स्वधाकारमन्नादं कृत्वा) रसभागवर्तिरूपमन्नादं कृत्वा प्राप्तवान् ॥

भाषार्थ—(स यत् पितॄननुव्यचलत्) वह व्रात्य अर्थात् हिरण्यगर्भरूप सृष्टिका बीज जो ऋतु आदि के प्रति प्राप्त हुआ (यमो राजा भूत्वाऽनुव्यचलत्) वह यम अर्थात् आदित्य, काल, वायु, न्यायाधीशादि के रूप में रश्मियों आदि का राजा

होकर संसार के पदार्थों को प्राप्त हुआ (स्वधाकारमन्नादं कृत्वा) उक्त ऋतु आदिओं से रस भाग रूप ग्राह्यको लक्ष्य करके प्राप्त हुआ ॥

शिक्षा—सृष्टि का आरम्भक मूलरूप हिरण्यगर्भ (महत्तत्व) सृष्टिरचना के लिये आगे बढ़ कर रश्मि ऋतु आदियों को आदित्य और कालादि के रूप में प्राप्त होकर संसारमें विविध प्रकार के रस सम्पादन में प्रवृत्त हुआ ॥

इस मन्त्र में सृष्ट्युत्पत्तिक्रम और व्यवस्था में जो भी यमनशीलपदार्थ हैं वे सभी यम शब्द से कहे गए हैं ॥

मा त्वा वृक्षः सम्बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही ।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥ अथ० १८ । २ । २५

इस मन्त्रमें यमका अर्थ आदित्य और वह रश्मियोंका स्वामी है । संसार और पृथिवी जीवके जन्मधारण करनेके लिये सब प्रकारसे अनुकूल बनते हैं अत एव जीव एक देह को छोड़कर सूर्यकिरणोंके साथ ऋतुनियमसे दूसरे शरीरको प्राप्त होता है और पुनः उसके साथ बढ़ता है । यह चर्चा यहां है । विवरणके लिये देखो सूक्त० १८ । २ । २५ (पृष्ठ १२८)

प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय ।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ ॥ अथ० १८ । २ । ४६

इस मन्त्रमें यम शब्द सूर्यके लिये आया है और वह रश्मियोंका स्वामी है । प्राण, अपान, व्यान, आयु और नेत्रादि इन्द्रियां सूर्यरश्मियों द्वारा सरल मार्ग से पुनर्जन्ममें सूर्यदर्शनके लिये मिलती हैं । विवरणके लिये देखो सूक्त० १८ । २ । ४६ (पृष्ठ १३६)

सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम् ।
पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ अथ० ११।८।११

(सप्तर्षीन् वा अपो देवीः प्रजापतिमिदं ब्रूमः) सप्तर्षीन् सप्तशीर्षण्यान् प्राणान् वा अपो देवीः शरीरान्तर्वर्तिनीरपः प्रजापतिं मनः "प्रजापतिर्वै मनः" (कौ० १ । २६ । ४) इदं ब्रूमः (यमश्रेष्ठान् पितॄन् ब्रूमः) यमो जीवनकालः श्रेष्ठो येषां तान् पितॄन् प्राणान् ब्रूमः (ते नोऽहंसो मुञ्चन्तु) ते नोऽस्मानंहसः पापाद्रोगान्मुञ्चन्तु ॥

भाषार्थ—(सप्तर्षीन् वा अपो देवीः प्रजापतिमिदं ब्रूमः) मस्तिष्कके नेत्रादि सप्त प्राणोंको, शरीरान्तवर्ती पानीको, मनको यह कहते हैं (यमश्रेष्ठान् पितॄन् ब्रूमः)

तथा जीवनकाल जीवन श्रेष्ठप्राणोंको कहते हैं (ते नोऽहंसो मुञ्चन्तु) वे ये सब हमें पापसे और रोगसे बचावें ॥

शिक्षा—मनुष्यजीवनमें पापों और रोगोंका समावेश मन, नेत्रादि इन्द्रियों, रक्त और प्राणोंके विकारसे होता है अतः उक्त मन आदि पदार्थोंके स्वच्छ और स्वस्थ रखनेका सदा ध्यान होना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें जीवनकालके लिये यम शब्द आया है और वह प्राणोंका स्वामी है अतः उसको प्राणोंके मध्यमें श्रेष्ठ कहा है। यहां श्रेष्ठका अर्थ भी स्वामी का ही है ॥

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥

ऋ० १० । १५ । ८, यजु० १९ । ५१

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनुजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥

अथ० १८ । ३ । ४६

इन मन्त्रोंमें आदित्यके लिये यम शब्द आया है और वह निज रश्मियों द्वारा हविका ग्रहण करता है यह वर्णन है। विवरणके लिये देखो ऋ०१० । १५ । ८ (पृष्ठ ४६)

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उपजुजुषाण एहि ।
सङ्गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उपवान्तु शग्माः ॥

अथ० १८ । २ । २१

इस मन्त्रमें आदित्यके लिये यम शब्द आया है और मृत्युके अन्तिम दुःख में परमात्मा जीवको आश्वासन देता है। उसके सुखदुःख अनुभवके साधनरूप मनको खींच लेता है। जीव मरकर वायुके पटलोंमें गुजरता हुआ सूर्यकिरणों तथा सूर्यसे सहयोग करता हुआ पुनर्जन्मके लिये शक्ति आदिके सम्पादनार्थ सुखरूप हवाओं को प्राप्त करता है। विशेष परिचयके लिये देखो सूक्त० १८ । २ । २१ (पृष्ठ १२६)

दक्षिणां दिशमभिनक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभिपात्रमेतत् ।
तस्मिन् वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नियच्छात् ॥

अथ० १२ । ३ । ८

(दक्षिणां दिशमभिनक्षमाणावेतत्पात्रमभिपर्यावर्तेथाम्) 'पूर्वमन्त्राद् दम्पतीति शब्दोऽनुवर्तते' हे दम्पती ! युवां दक्षिणां दिशमभि दक्षिणां दिशमभिलक्ष्य नक्षमाणौ व्याप्नुवन्तावेतत्पात्रं यज्ञकुण्डं पर्यावर्तेथां परिक्रामेथाम् (तस्मिन् वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय बहुलं शर्म नियच्छात्) तस्मिन् यज्ञकुण्डे यमो नियमनकर्ता यज्ञाध्यक्षः पितृभिरन्यैः पालकजनैः सहैकमत्यं गतः पक्वाय दृढाय गृहस्थधर्माय बहुलं शर्म नियच्छात् नियतं कुर्यात् ॥

भावार्थ—(दक्षिणां दिशमभिनक्षमाणौ) हे पतिपत्नी ! तुम दोनों दक्षिण दिशाको लक्ष्य करके अर्थात दक्षिणकी ओरसे होकर (एतत्पात्रमभिपर्यावर्तेथाम्) इस यज्ञकुण्डकी परिक्रमा करो (तस्मिन् वां यमः पितृभिः सविदानः) उस यज्ञकुण्ड पर नियमकर्ता यज्ञाध्यक्ष अन्य पालकजनोंके साथ सहमत होकर (पक्वाय बहुलं शर्म नियच्छात्) दृढ़ गृहस्थधर्मके लिये बहुत सुख नियुक्त करे ॥

शिक्षा—वरवधुओंको विवाहसंस्कारमें दक्षिणकी ओरसे चलते हुए यज्ञकुण्डकी परिक्रमा करनी चाहिये और विवाहको नियमित करनेवाला यज्ञाध्यक्ष अन्य पारिवारिक वृद्धजनोंके साथ सहमत होकर वरवधूको गृहस्थ सुख करनेके लिये अनुमति देवे ॥

इस मन्त्रमें विवाहसंस्कार के नियामक यज्ञाध्यक्ष के लिये यमशब्द का प्रयोग है ॥

अयस्मये द्रुपदे बेधिषे इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः सविदान उत्तमं नाकं अधिरोहयेमम् ॥
अथ० ६ । ६३ । ३, अथ० ६ । ८४ । ४

(अयस्मये द्रुपदे बेधिषे) उपरिष्टान्निरृतिसम्बोधनं वर्तते । हे निरृते भूमे ! एवं जीवात्मानमयस्मये लोहमय इव द्रुपदे द्रवो वनस्पतयो भोजनरूपेण पद्यन्ते यत्रेति द्रुणां पदं द्रुपदं शरीरं तत्र शरीरे बेधिषे बध्नासि । 'सामान्ये काले लिट्' "शतं मा पुर आयसीररक्षन्" इति च मन्त्रवादः ॥ "अस्य वै भूलोकस्य रूपमयस्मय्यः सूच्यः (तै० ३ । ६ । ६ । ५) "वनस्पतयो वै द्रुः" (तै० १ । ३ । ६ । १)(इह मृत्युभिरभिहितः) यश्च जीव इहात्र शरीरे मृत्युभिर्मारणधर्मकैर्बहुभि रोगैरभिहितो व्याप्तोऽस्ति (ये सहस्रम्) ये च रोगाः सहस्रमसंख्याताः सन्ति (त्वं यमेन पितृभिः संविदाने) त्वं यमेन जीवनकालेनाथ पितृभिः प्राणैश्च सह संविदानाऽनुकूला सती हे भूमे ! (इममुत्तमं नाकमधिरोहय) इमं जीवमुत्तमं नाकं सुखमधिप्रापय ॥

भाषार्थ—(अयस्मये द्रुपदे बेधिषे) हे भूमे ! इस जीवात्माको लोहमय जैसे शरीर में तू बान्धती है (इह मृत्युभिरभिहितः) और वह जीव इस शरीरमें मारण धर्मवाले रोगों से अभिव्याप्त है (ये सहस्रम्) जो रोग असंख्य हैं (त्वं यमेन पितृभिः संविदाने) तू जीवनकाल तथा प्राणोंके साथ अनुकूल होती हुई हे भूमि (इममुत्तमं नाकमधिरोहय) इस जीवको उत्तम सुख प्राप्त करा ॥

शिक्षा—जीव जन्मधारण करके जब भूमि पर आता है वह लोहमयके सदृश शरीरमें प्राप्त होकर असंख्य पीडक रोगोंसे व्याप्त हो जाता है तथापि पार्थिव नियमोंके अनुसार जीवन व्यतीत करनेसे अपने जीवनकाल तथा प्राणोंको उन्नत कर सकता है ॥

इस मन्त्रमें जीवनकालके लिये यम शब्द आया है और पृथिवीके पार्थिव नियमोंके साथ जीवनकाल और प्राणोंके वर्तनका उपदेश है ॥

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु ॥

ऋ० १० । १८ । १३

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु ते अत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥

अथ० १८ । ३ । ५२

इस मन्त्रमें यमका अर्थ सूर्य है जो आरम्भ सृष्टिमें ऊंचे उठे हुए भूभाग को अपनी किरणोंसे धारण करता है विवरणके लिये देखो सूक्त० १८ । ३ । ५२ (पृष्ठ १७०)

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्स्वाहा अन्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥

ऋ० १० । १४ । ३

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवाँस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥

अथ० १८ । १ । ४७

इन मन्त्रोंमें यम शब्दका अर्थ प्राणयन्तर्वर्ती जीवनकाल और सृष्टिगत

विश्वकाल है जिसकी वृद्धि अङ्गिरस् अर्थात् प्राणोंके तुल्य कालावयवों, रश्मियोंसे होती है। विवरण तथा विशेष परिचयके लिये देखो सूक्त० ऋ० १०।१४।३ (पृष्ठ १६)

इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व॥
ऋ० १०।१४।४, अथ० १८।१।६०

इस मन्त्रमें जीवनकालके लिये यम शब्द आया है और प्राणोंका नाम अङ्गिरस है। प्राणशक्ति के अभ्यास और वैद्यक सिद्धान्तोंके अनुसार खानपानादि क्रियाओंसे मनुष्य दीर्घजीवी और सुखी होसकता है। विवरणके लिये देखो सूक्त० १०।१४।४ (पृष्ठ २८)

अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य॥
ऋ० १०।१४।५

अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरागहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्या निषद्य॥
अथ० १८।१।५९

इन मन्त्रोंमें विश्वकालके लिये यम शब्द आया है और अङ्गिरस सूर्यरश्मियों के लिये। भिन्न २ पर्वदिवसोंमें जब कि सूर्यकी रश्मियां भी यज्ञमें संयुक्त हों ऐसे स्थानों पर पार्वणयज्ञ समयको अनुकूल बनानेके लिये करने चाहियें। विवरणके लिये देखो सूक्त० ऋ० १०।१४।५ (पृष्ठ २८)

प्रातर्यावाणा रथ्येव वीराजेव यमा वरमा सचेथे।
मेने इव तन्वा शुम्भमाने दम्पतीव क्रतुविदा जनेषु॥ ऋ० २।३९।२

(प्रातर्यावाणा रथ्येव अजेव वीरा यमा मेने इव तन्वा शुम्भमाने दम्पतीव क्रतुविदा जनेषु वरमासचेथे) अत्राश्विनौ देवते। "तत्कावश्विनौ-द्यावापृथिव्यावित्येके०" (निरु० १२।१) हे द्यावापृथिव्यौ युवां प्रातर्यावाणा रथ्येव स्थः प्रातःकाले गन्तारो रथयुजावश्वाविव स्थः, यथा प्रातःकाले रथे योजितावश्वौ सुन्दरं रथं वहतो नयतः शोभेते च तथा युवां संसाररथं वहथो नयथः शोभेथे च अजेव वीरा अजौ वीराविव यथा द्वावजौ वीरौ युदूध्यमानौ भवतस्तथा युवां द्यावापृथिव्यौ सामुख्यं युयुध्यमानौ स्थः।

यमा मेने इव मेने पक्षिण्यांविव यमा युग्लौ यथा मेने पक्षिण्यौ यमे सह सङ्गच्छमने वर्तेते तथा युवां वर्तेथे तन्वा शुम्भमाने दम्पतीव यथा तन्वा शुम्भमाने युवावस्थायां भार्यापती भवतस्तथा युवां स्थः । एवं क्रतुविदा संसारयज्ञप्रापकौ जनेषु जायमानेषु पदार्थेषु वरमुत्तममासचेथे सम्बध्नीथः ॥

भावार्थ—(प्रातर्यावाणा रथ्येव) हे द्यावापृथिवी ! तुम दोनों प्रातःकाल में चलनेवाले रथमें जुड़े हुए घोड़ों के तुल्य शोभायमान (अजेव वीरा) युद्ध करते हुए दो बकरोंके समान (यमा मेने इव) युगल मेना पक्षियोंके समान सदा सङ्गत (तन्वा शुम्भमाने दम्पतीव) शरीरसे शोभायमान भार्यापतीके तुल्य (क्रतुविदा) संसार यज्ञको प्राप्त होनेवाले (जनेषु) उत्पन्न होने वाले पदार्थों में (वरमासचेथे) उत्तम सम्बन्धसे वर्तमान हो ॥

शिक्षा—सृष्टिके अन्दर द्यावापृथिवी परस्पर इस प्रकार वर्तमान हैं कि सारे विश्वके पदार्थ उनसे उत्पन्न हुये और उनके आश्रय तथा उनकी ओर आकर्षित से रहते हैं अतः द्यावापृथिवीविज्ञान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें यमा शब्द युगल अर्थ में विशेषण रूपमे आया है ॥

यमा चिदत्र यमसूरसूत जिह्वाया अग्रं पतदा ह्यस्थात् वपूंषि
जाता मिथुना सचेते तमोहना तपुषो बुध्न एता ॥ ऋ० ३।३९।३

(यमसूश्चिदत्र यमा मिथुना तमोहना तपुषो बुध्न एताऽसूत जिह्वाया अग्रं हि पतज्जाता वपूंष्यास्थात् सचेते) यमं युगलं सूते साऽप्यत्र यमौ मिथुनौ तमोहना दिनस्य मध्ये बुध्नेऽन्तरिक्षे, एता-एतौ सूर्याचन्द्रमसौ सूते जिह्वायाऽग्रभागं प्राप्नोति उत्पन्नानि रूपाणि तिष्ठति सम्बध्नाति । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(यमसूश्चिदत्र) सूर्यको उत्पन्न करनेवाली यह जो यहां अदिति है (यमा मिथुना तमोहना) अन्धकार नाशक जोड़ेको (तपुषे बुध्ने) दिनके मध्य अन्तरिक्षमें (एताऽसूत) इन सूर्य चन्द्रमा को उत्पन्न करती है (जिह्वाया अग्रं हि पतज्जाता) जिह्वा अर्थात् ज्वालाके अग्रभागको प्राप्त होती है (वपूंष्यास्थात्) उत्पन्न हुए सभी रूपोंमें स्थिर होती है (सचेते) उस अदितिको ये सूर्य और चन्द्र सेवन करने हैं ॥

शिक्षा—अखण्डनीय ज्योतिसे प्रकाशमान सूर्य और चन्द्र उत्पन्न होते हैं जो दिन और रातके मध्यमें अपना प्रकाश करते हुए आकाशमें विचरते हैं वह अखण्डनीय ज्योति संसारकी प्रत्येक रूपवाली वस्तुओंमें व्याप्त होती है ॥

इस मन्त्रमें युगल अर्थ में यम शब्द आया है ॥

वातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो यमा इव सुसदृशः सुपेशसः ।
पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवोरवः ॥
ऋ० ५ । ५७ । ४

(यमा इव वातत्विषो वर्षनिर्णिजः सुसदृशः सुपेशसः पिशङ्गाश्वा अरेपसोऽरुणाश्वाः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवोरवो मरुतः) हे विद्वांसो ये न्यायाधीशा इव वातकान्तियुक्ता वर्षनिर्णेतारः सुतुल्यगुणस्वभावाः सुरूपाः पीताश्वयुक्ता अनपराधिनो रक्तवर्णाश्वाः प्रकर्षेण सूक्ष्मकर्तारो महिम्ना सूर्य इव बहवो मनुष्याः स्युस्तान् सत्कुरुत । इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(यमा इव वातत्विषः) हे विद्वानों ! जो न्यायाधीशों के समान वायु से कान्तियुक्त (वर्षनिर्णिजः) वर्षका निर्णय करने वाले (सुसदृशः सुपेशसः) सुन्दर तुल्य गुण स्वभाव के तथा सुन्दर रूप वाले (पिशङ्गाश्वाः) पीले घोड़ों से युक्त (अरेपसः) अपराधी (अरुणाश्वाः) लाल रङ्ग के घोड़ों वाले (प्रत्वक्षसः) सूक्ष्म करने वाले (म हना द्यौरिव) महिमा से सूर्य सदृश (उरवो मरुतः) ऐसे जो बहुत संख्या में मनुष्य जहां हों उनका सत्कार करो ॥

शिक्षा— राजप्रबन्धक कर्तव्यपरायण राजपुरुषोंका सम्मान करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें यम शब्दका अर्थ न्यायाधीश है ॥

वडित्था महिमा वामिन्द्राग्नी पनिष्ठ आ । समानो वां
जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेह मातरा ॥ ऋ० ६ । ५९ । २

(इन्द्राग्नी वां पनिष्ठो वट् महिमा वां समानो जनितेह मातरा यमौ भ्रातरेत्था युवमा……) वायुवह्नीव वर्तमानौ राजप्रजाजनौ युवयोरतिशयेन प्रशंसितः सत्यं प्रतापो युवयोः समानो जनितोत्पादक इहेह जननी ययोस्तौ नियन्तारौ बन्धू अनेन प्रकारेण युवामाजीवथः ॥ इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(इन्द्राग्नी वां पनिष्ठः) वायु और अग्नि के समान राजप्रजाजनो ! तुम्हारा अत्यन्त प्रशंसित (वट् महिमा वां समानः) सत्य प्रताप दोनों का समान (जनिता) उत्पन्न करने वाला (इहेह मातरा यमौ भ्रातरा) यहां २ जननी जिनकी है ऐसे दोनों बन्धु (इत्था युवम् आ……) इस प्रकार तुम दोनों जीवित रहते हो ॥

शिक्षा—इस मन्त्रमें राजपुरुष और प्रजापुरुष परस्पर मिलकर इस प्रकार व्यवहार करें जैसे वायु और अग्नि मिलकर काम करते हैं तथा राष्ट्रभूमि दोनोंकी माता होनेसे परस्पर भ्राताके सदृश प्रेम रखते हुए जीवन व्यतीत करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें नियमन करने वाले के अर्थ यम शब्द आया है ॥

वि यो ययमे यम्या संयती मदः साकं वृधा पयसा पिन्वदक्षिता।
मही अपारे रजसी विवेविदद्भिव्रजन्नक्षितं पाज आददे॥

ऋ० ९ । ६८ । ३

(यो मदो यम्या विममे) यो मदो हर्षकरः सोमश्चन्द्रो यम्या राज्या सह विममे विमानं प्राप्तः प्रकटीभूतः सः (संयती साकं वृथाऽक्षिता मही अपारे रजसी पयसा पिन्वत्) संयती परस्परं साम्मुख्यं प्राप्ते साकं वृधा परस्परं वर्धमानेऽक्षिताऽक्षीणे महत्यावपारे दूरपारे सजसी द्यावापृथिव्यौ "रजसी द्यावापृथिवीनाम" (नि० ३ । ३०) पयसाऽवश्यायेनोदकेन पिन्वत् पिन्वति सिञ्चति-आर्द्री करोति । 'पिवि सेचने' (अभिवृजन् विवेविदत्) अभितः सर्वतो गच्छन् स चन्द्रो विवेविदद् तौ द्यावापृथिव्यौ पुनः पुनः प्राप्नोति । अत एव (अक्षितं पाज आददे) अक्षितमविनश्वरं पाजो बलमादद आददाति गृह्णाति ॥ "पाजो बलनाम" (नि० २ । ६) ॥

भाषार्थ—(यो मदो यम्या विममे) जो हर्षकारी चन्द्र रात्रि के साथ प्रकट होता है वह (संयती) परस्पर सम्मुख वर्तमान (साकं वृधा) परस्पर बैठने वाले (अक्षिता) क्षीणतारहित (मही) विस्तार को प्राप्त (अपारे) दूर तक फैली हुई (रजसी) द्यावापृथिवी को (पयसा) ओसरूप जल से (पिन्वत्) सींचता है गीला करता है (अभिवृजन् विवेविदत्) सर्वत्र चलता हुआ पुनः पुनः प्राप्त होता है अत एव (अक्षितं पाज आददे) स्थिर बल को प्राप्त करता है ॥

शिक्षा—चन्द्रमा रात्रि के समय में प्रकाशमान होता है और अपने प्रकाश से आकाश तथा पृथिवी को शोभायमान करता है वह अपनी शीघ्र गति के कारण बारम्बार परिवर्तित होता रहता है अपने सौम्य बल से सदा वर्तमान रहता है उसके शीतल प्रकाश से आनन्द प्राप्त करना चाहिये ॥

इस मन्त्र में रात्रिके अर्थ में यमी शब्द आया है और चन्द्रप्रकाश का सम्बन्ध है ॥

उष उषो हि वसो अग्रमेषि त्वं यमयोरभवो विभावा।
ऋताय सप्त दधिषे पदानि जनयन्मित्रं तन्वे स्वायै॥ ऋ० १०।८।४

(वसो ऋताय सप्तपदानि दधिषे) वसो सूर्य ! त्वं यद् ऋताय यज्ञाय संसारयज्ञाय सत्याय यथावद्वस्तुपरिचयाय सप्तपदानि सर्वत्र प्राप्तुं योग्यान् सप्तरश्मीन् दधिषे धारयसि नियोजयसि (स्वायै तन्वै मित्रं जनयन्) स्वायै स्वस्यास्तन्वै तन्वाः । 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी बहुलम्' मित्रमहर्जनयन्नुत्पादयेत् "अहर्मित्रः" (तां० २५ । १० । १०) "अहर्वै मित्रः" (ऐ० ४ । १०) (उष उषो ह्यग्रमेषि) त्वमुष उषो हि प्रत्युषःकालं प्रतिप्रातःकालं लक्ष्यीकृत्याग्रं पूर्वमेषि प्राप्तो भवसि (त्वं यमयोर्विभावाऽभवः) त्वं यमयोरग्निपृथिव्योर्द्यावापृथिव्योर्वा प्रकाशयिताऽभवो भवसि "अग्निर्वै यम इयं पृथिवी यम्याभ्यां हीदं सर्वं यतम्" (श० ७ । २ । १ । १०) ॥

भावार्थ—(वसो ऋताय सप्तपदानि दधिषे) हे सूर्य तू संसार-यज्ञके लिये सद्वस्तुओंके व्यापारदर्शन या यथावत् वस्तुपरिचय के लिये सप्तरश्मियोंको धारण करता है अत एव (स्वायै तन्वै मित्रं जनयन) अपनी प्रकाशरूप कायासे दिनको उत्पन्न करता हुआ (उष उषो ह्यग्रमेषि) प्रत्युषाकाल अर्थात् प्रतिदिन सबसे प्रथम प्राप्त होता है (त्वं यमयोर्विभावाऽभवः) पुनः तू अग्नि और पृथिवीका प्रकाश करने वाला बनता है ॥

शिक्षा—सूर्य अपने प्रकाशसे संसारकी वस्तुओंका धारण और दर्शन कारता हुआ दिन को उत्पन्न करनेके लिये प्रतिप्रातःकाल प्रथम प्राप्त होकर आग्नेय और पार्थिव वस्तुओंका विभावक बनता है ॥

इस मन्त्रमें अग्नि और पृथिवीके लिये द्विवचनान्त यम शब्दका प्रयोग है ॥

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् ।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य बिभृयादजामि ॥

ऋ० १० । १० । ९, अथ० १८ । १ । १०

इस मन्त्र में दिन और रातके लिये यम और यमी शब्द आये हैं । दोनों पतिपत्नी रूपसे वर्तमान हैं, भाई बहिन नहीं । यहां दिनरातके संवादमें परस्पर मेलके लिये सृष्टिक्रमका सिद्धान्त वर्णित है सूर्यदेवकी दर्शनरश्मिके बारंबार उदय से जब बहुत अहर्गण और रात्रिगण हो जावेंगे तब सृष्टिका स्वामी प्रजापति इस बाधकरूप पृथिवीको जो हमारे मध्यमें मेलका रुकावट है उसको क्षीण करके लुप्त कर देगा पुनः द्यावापृथिवीके समान एक बन्धनमें दिन रात मिल जायेंगे । विवरणके लिये देखो सक्त० अथ० १८ । १ । १० (पृष्ठ १०३)

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।

ऋ० १० । १० । १३, अथ० १८ । १ । १५

इस मन्त्रमें भी दिनके लिये यम शब्दका प्रयोग है और संवादक्रममें पत्नी रूप रात्रिकी ओरसे दिनको योग्य अनुमति दी है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । १ । १५ (पृष्ठ १०८)

अन्यमु षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥

ऋ० १० । १० । १४, अथ० १८ । १ । १६

इस मन्त्रमें रात्रिके लिये यमी शब्द आया है और संवादक्रममें पतिरूप दिनकी ओरसे रात्रिको भी नियोगकी अनुज्ञा दी है। विवरणके लिये देखो सूक्त० अथ० १८ । १ । १६ (पृष्ठ १०६)

यमे इव यतमाने यदैतं प्र वां भरन्मानुषा देवयन्तः ।
आसीदतं स्वमु लोकं विदाने स्वासस्थे भवतमिन्दवे नः ॥

ऋ० १० । १३ । २

(यमे इव यतमाने यदैतम्) हे समष्टिसृष्टिरूपयज्ञस्य हविर्धाने द्यावापृथिव्यौ युवां यमे इव युगलभूते द्वे कन्ये इव यतमाने साम्मुख्ये प्रयतमाने यद्यतो हि युवामत्र समष्टावैतं प्राप्नुथः (मानुषा देवयन्तो वां प्रभरन्) मानुषा मनुष्या देवयन्त आत्मनो देवानिच्छन्तः समष्टिविद्यायां नैपुण्यमिच्छन्तः "न छन्दस्यपुत्रस्य" (अष्टा० ७।४।३५) 'अनेन क्यचीकाराभावः' युवां प्रभरन् प्रभरन्ति प्रधारयन्ति' 'लिङर्थे लेट्' तस्मात् (स्वमु लोकं विदाने आसीदतम्) स्वमुलोकं निजविद्यास्थानं विदाने प्राप्नुवत्यावासीदतं विद्याक्षेत्रे समन्तात्तिष्ठतम् (इन्दवे नः स्वासस्थे भवतम्) इन्दवे समष्टियज्ञाय "इन्दुर्यज्ञनाम" (नि० ३ । १७) नोऽस्मभ्यं स्वासस्थे सम्यग्विद्यास्थानप्रकाशिके भवतम् । इत्यधिदैवतम् ॥

भावार्थ—(यमे इव यतमाने यदैतम्) हे समष्टिरूप यज्ञ के हविर्धान होतव्य वस्तुओं के आश्रयीभूत द्यावापृथिवी तुम युगल दो कन्याओं के तुल्य आमने सामने जिससे प्रयत्न करती हुई प्राप्त हो अतः (मानुषा देवयन्तो वां प्रभरन्) मनुष्य तुम्हारी विद्यासे अपनेको विद्वान् बनानेकी इच्छा करते हुए तुमको धारण करते हैं

(स्वमुलोकं विदाने आसीदतम्) निजविद्यास्थानको प्राप्त होती हुई विद्याक्षेत्रमें वर्तमान रहो (इन्दवे नः स्वासस्थे भवतम्) समष्टियज्ञके लिये हमारे वास्ते सम्यक् विद्याक्षेत्रके प्रकाशक बनो ॥

शिक्षा—मनुष्यको विद्वान् बननेके लिये भूगोल और खगोलकी विद्याओंका परिचय करना आवश्यक है विना इनके समष्टिसंसारका परिचय नहीं हो सकता ॥

इस मन्त्रमें द्यावापृथिवी के लिये यमे शब्द आया है ॥

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः ॥

ऋ० १० । ११७ । ९

(समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः) समावपि हस्तौ न तुल्यं विविष्टः सर्वत्र व्याप्नुतः (सम्मातरा चिन्न समं दुहाते) सम् समा तुल्यैका माता ययोस्तौ सन्तानावपि न समं तुल्यं दुहाते दुग्धो दुग्धं पिबतः (यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि) यमयोर्युगलयोरपि वीर्याणि बलानि न समा समानि तुल्यानि भवन्ति (ज्ञाती चित्सन्तौ समं न पृणीतः) ज्ञाती बन्धू अपि सन्तौ परस्परं समं न पृणीतः प्रसादयतस्तर्पयतः ॥

भाषार्थ—(समौ चिद्धस्तौ समं न विविष्टः) दोनों हाथ बराबर होते हुए भी सर्वत्र कार्यमें एक जैसे नहीं चलते हैं (सम्मातरा चिन्न समं दुहाते) एक मातासे उत्पन्न हुए भी दो बच्चे एक समान माता का दूध नहीं पीते (यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि) युगल उत्पन्न हुए बालकोंके भी बल बराबर नहीं होते (ज्ञाती चित्सन्तौ समं न पृणीतः) दो मित्र या बन्धु भी परस्पर एक दूसरे के समान प्रेम नहीं करते ॥

शिक्षा—संसारके अन्दर विभिन्नताका राज्य है । जातियोंमें विभिन्नता है एक जातिकी व्यक्तियोंमें विभिन्नता है । वस्तुतः विभिन्नता विवेक और वस्तुपरिचयका निमित्त है । यदि कहीं आकृतिमें कुछ अभेद होगा तो वहां कर्ममें विभिन्नता होगी । दोनों हाथ देखनेमें बराबर हैं किन्तु काम करनेमें एक जैसे नहीं चलते । एक माताके दो बच्चे आयुमें बराबर हैं किन्तु एक समान दूध नहीं पीते । एक साथ उत्पन्न हुई दो वस्तुओं के बल विभिन्न हैं एक जैसे गहरे मित्रों में भी अधिक और अल्प प्रेम विभिन्नताका चित्र है ॥

इस मन्त्र में युगल अर्थ में यम शब्द का प्रयोग है ॥

इतश्च मामुतश्चावतां यमे इव यतमाने यदैतम् ।
प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तो आ सीदतां स्वमु लोकं विदाने ॥

अथ० १८ । ३ । ३८

इस मन्त्रमें सहजात कन्याके अर्थ में उपमावाचक होकर 'यमे इव' शब्द आया है संसारमें अधः-ऊर्ध्व या स्थूल-सूक्ष्म की मर्यादा से पृथिवी और द्यौ वर्तमान हैं जो प्राणीमात्रको अपने अन्दर धारण करती हैं। विवरणके लिये देखो सूक्त० १८। ३। ३८ (पृष्ठ १६५)

एता ते अग्न उचथानि वेधो जुष्टानि सन्तु मनसे हृदे च।
शकेम रायः सुधुरो यमं तेऽधिश्रवो देवभक्तं दधानाः॥ ऋ०१।७३।१०

(वेधोऽग्ने त एतोचथानि मनसे हृदे च जुष्टानि सन्तु) हे बुद्धिप्रद ईश्वर! तवैतानि वेदवचनानि मनसे हृदयाय च सेवितानि भवन्तु (यमं ते देवभक्तं श्रवो दधानाः सुधुरो रायोऽधिशकेम) तव नियामकं विद्वद्भिः सेवितं सर्वविद्याश्रवणं धरन्तः शोभन-धारणकं धनं प्राप्तुं शक्नुयाम। इति दयानन्दः॥

भावार्थ—(वेधोऽग्ने त एतोचथानि) हे बुद्धिप्रद ईश्वर! तेरे ये वेदवचन (मनसे हृदे च जुष्टानि सन्तु) मन और हृदय के लिये उपयुक्त हों अर्थात् इन वेद-वचनों को हम अपने मनों और हृदयों में धारण करें (यमं ते देवभक्तं श्रवो दधानाः) तेरे नियामक तथा विद्वानों से सेवित सर्वविद्या के श्रवण को धारण करते हुए (सुधुरो रायोऽधिशकेम) शोभन धारण करने योग्य धन को प्राप्त कर सकें॥

शिक्षा—ईश्वर ने मनुष्यों के ज्ञान-विकास के लिये वेद मन्त्रों का उपदेश दिया है। उसको मन और हृदय में धारण करके संसार में सब प्रकार के सुखों को प्राप्त करना चाहिये॥

इस मन्त्र में नियामक अर्थ में यम शब्द आया है॥

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आगा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे॥
ऋ० १।८३।५

(प्रथमोऽथर्वा पथस्तते वेनो व्रतपा आजनि ततः सूर्यो गा आजन् काव्य उशना यज्ञैर्यमस्य सचा जातममृतमायजामहे) प्रख्यातोऽहिंसको विद्वान् मार्गान् तनुते कमनीयः सत्यनियमरक्षको जायते विस्तृतः सूर्यो यथा पृथिवीलोकानाकर्षणेन प्रक्षि-पति यथा कवेः पुत्रः शिष्यो वा कामयिता विज्ञानप्रचारैः सर्वनियन्तुर्विज्ञानेन प्रसि-द्धिगतमधर्मजन्मदुःखरहितं सङ्गच्छामहे। इति दयानन्दः॥

भावार्थ—(प्रथमोऽथर्वा पथस्तते) प्रख्यात अहिंसक विद्वान् स्वमार्गों को

बनाता है (वेनो व्रतपा आजनि) कमनीय सत्यनियमरक्षक उत्पन्न होता है (ततः सूया गा आजत्) विस्तृत हुआ सूर्य जैसे पृथिवीलोकों को आकर्षणसे इधर उधर कक्षामें चलाता है एवं (काव्य उशना यज्ञैः) कविका पुत्र या शिष्य कामनाशील विज्ञान प्रचारोंसे (यमस्य सचा) सर्वनियन्ताके विज्ञान से (जातममृतमायजामहे) प्रसिद्ध हुए अधर्म जन्म दुःखरहित सुखको प्राप्त करते हैं ॥

शिक्षा—धार्मिक विद्वान् जन संसारमें विद्याप्रचारसे जिस सत्य मार्गका प्रकाश करें वह धारण करने योग्य है ॥

इस मन्त्रमें नियन्ताके अर्थमें यम शब्द आया है ॥

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एनं प्रथमो अध्यतिष्ठत् ।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट ॥

ऋ० १ । १६३ । २, यजुः० २९ । १३

(वसव इन्द्रस्त्रितो यमेन दत्तमेनमायुनग्येन प्रथमोऽध्यतिष्ठद्गन्धर्वोऽस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं निरतष्ट) हे विद्वांसः ! विद्युत्पृथिवीजलान्तरिक्षेभ्यो वायुना दत्तं वह्निं युनक्ति-उपरि तिष्ठति पृथिव्या धर्ता सूर्यस्य किरणगतिं गृह्णाति सूर्यादाशुगामिनं वायुं तक्ष्णोति तनूकरोति । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(वसव इन्द्रस्त्रितः) हे विद्वानो ! विद्युत् पृथिवी जल अन्तरिक्ष से (यमेन दत्तमेनमायुनक्) वायुसे दिये हुए अग्निको युक्त होती है (प्रथमोऽध्यतिष्ठत्) जोकि प्रख्यात हुआ २ ऊपर स्थित होता है (गन्धर्वोऽस्य रशनामगृभ्णात्) पृथिवीका धारण करनेवाला किरणगतिको धारण करता है (सूरादश्वं निरतष्ट) सूर्य से आशुगामी वायुको सूक्ष्म बनाता है ॥

शिक्षा—विद्युत् पृथिवी, जल और अन्तरिक्षके अन्दरसे वायुके आधार पर अग्निके रूपको प्राप्त होती है । और वह सूर्यकी ओर से शीघ्रगामी वायुको सूक्ष्म करती है ॥

इस मन्त्रमें वायुके लिये यम शब्द आया है ॥

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन ।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥

ऋ० १ । १६३ । ३, यजु० २९ । १४

(अर्वन् गुह्येन व्रतेन त्रितो यमोऽसि, आदित्योऽसि सोमेन विपृक्तोऽसि

दिवि त्रीणि बन्धनान्याहुः) हे जन ! वेगवान् गुप्तेन शीलेन त्रिभ्यो नियन्तेवासि सूर्यवद्विद्यया प्रकाशितस्त्वमसि, ऐश्वर्येण विशेषेण सम्बद्धोऽसि तस्य ते प्रकाशे त्रीणि बन्धनानि कथयन्ति । इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(अर्वन् गुह्येन व्रतेन त्रितो यमोऽसि) हे मनुष्य ! तू वेग वाला गुप्तशीलसे तीनके लिये नियन्ताके समान है (आदित्योऽसि) सूर्यके समान विद्यासे प्रकाशमान है (सोमेन वितृक्तोऽसि) ऐश्वर्य से युक्त है (दिवि त्रीणि बन्धनान्याहुः) उसके प्रकाशमें देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण ये तीन बन्धन कहते हैं ॥

शिक्षा—जैसे विद्युत् गुप्त आकर्षणभन से पृथिवी, जल, अन्तरिक्षमें विद्यमान होती हुई नियन्त्री है जैसे विद्युत्के समान राजा अपने नीति प्रयुक्त गुप्तधर्म से पृथिवी, समुद्र और पर्वतोंका नियन्ता स्वामी है वैसे शरीर, वाणी मनका स्वामी जीवात्मा है। क्योंकि वह सूर्यके समान विद्याप्रचार और ईश्वरीयबलसे युक्त होता है ॥

इस मन्त्रमें नियन्ताके अर्थमें यम शब्द आया है ॥

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥

ऋ० १ । १६४ । १५

(साकञ्जानां सप्तथमेकजमाहुः) विश्वेदेवा अत्र देवताः "तस्य सूर्यस्य ये रश्मयस्ते विश्वेदेवाः" (श० ४ । ३ । १ । २६) "एते वै रश्मयो विश्वेदेवाः (श० १२ । ४ । ४ । ६) तस्मात् । साकञ्जानां सहजातानां सकृदुत्पन्नानां सूर्यरश्मीनां सप्तथं सप्तमं शुक्लभा इनिनामकं शुभ्रं रश्मिमेकजमेकस्मात् कारणादुत्पन्नमाहुर्वैज्ञानिका ब्रुवन्ति मन्यन्ते । सप्तथमित्यत्र "थट् च छन्दसि" (अष्टा० ५।२।५०) यश्च रश्मिमुख्यतः सूर्ये विद्यते । निरुक्तमप्येवं द्योतयतीव "सहजातानां षण्णामृषीणामादित्यरश्मयस्तेषामिष्टानि वा···नतानि वाऽद्भिः सह सम्मोदन्ते यत्रैतानि सप्त ऋषीणानि ज्योतींषि" (निरु० १४ । २०) (षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति) षडिद् षट् तु ऋषयो गतिमन्तो रश्मयो देवजा देवेभ्यो द्युस्थानगतेभ्यः सूक्ष्मपदार्थेभ्य उत्पन्नाः सन्ति "देवः···द्युस्थानो भवतीति वा" (निरु० ७ । १५)(तेषामिष्टानि धामशो विहितानि) तेषां रश्मीनामिष्टानि कर्तव्यानि धामशो निजप्रभाव्यस्थानशो विहितानि निर्धारितानि सन्ति (रूपशो विकृतानि स्थात्रे रेजन्ते) रूपशो रूपं रूपमाश्रित्य विकृतानि भिन्ना भेदं प्राप्ताः स्थात्रे सूर्याय सूर्यमभिलक्ष्य रेजन्ते गतिं कुर्वन्ति । निरुक्तमप्यत्र रश्मिप्रकरणं द्योतयति ॥ पूर्वापरौ च रश्मिप्रकरणौ मन्त्रौ स्तस्तथा च सायणः ॥

भावार्थ—(साकञ्जानां सप्तथमेकजमाहुः) सकृदुत्पन्न हुई सूर्य रश्मियों के मध्य सप्तम शुक्लभा नाम वाली शुभ्र रश्मिको एक ही कारणसे उत्पन्न हुई वैज्ञानिक लोग कहते हैं जो रश्मि मुख्यतः सूर्यके अन्दर विद्यमान है (षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति) छः गतिशील रश्मियां तो द्युस्थान में प्राप्त सूक्ष्मपदार्थों से उत्पन्न हुई हैं (तेषामिष्टानि धामशो विहितानि) उन रश्मियोंके कार्य निज प्रभाव्य स्थान विभाग से निश्चित हैं (रूपशो विकृतानि स्थाने रेजन्ते) अपने २ रूपोंके आश्रयसे भिन्न २ हुई सूर्य को लक्ष्य करके गति करती हैं ॥

शिक्षा—सूर्य की सात रश्मियोंमें सातवीं शुक्लभा रश्मि मूल रश्मि है वह सूर्य के अपने स्वतः प्रभावसे ही उत्पन्न होती है शेष छः रश्मियां गतिशील हैं और द्युस्थान के सूक्ष्म पदार्थों से उत्पन्न हुई हैं जो कि रूपसे भिन्न २ हुई सूर्यको लक्ष्य करके संसार में गति करती हैं ॥

इस मन्त्र में यमनशील रश्मियों के लिये बहुवचनान्त यम शब्द आया है ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
ऋ० १ ।१६४ । ४६ ।

(विप्रा इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथ स दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान् बहुधा वदन्ति एकं सदग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः) विद्वांसो जना ब्रह्मात्मानमेवेन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथ च स एव विश्वात्मा दिव्यः प्रकाशमयः सुपर्णः सुपालको गरुत्मान् गुर्वात्मेत्येवं बहुधा बहुविशेषणैर्वदन्ति, यद्यपि ब्रह्मात्मैकं सद् वस्तु तथाप्यग्निमग्रे नेतारं यमं नियन्तारं मातरिश्वानं वायुमाहुः । निरुक्तेप्येवं व्याख्यातस्तथा च दयानन्दः ॥

भावार्थ—(विप्रा इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः) विद्वान् जन ब्रह्मात्मा को इन्द्र, मित्र, वरुण नाम से कहते हैं (अथ स दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान् बहुधा वदन्ति) तथा वही विश्वात्मा प्रकाशमय सूर्य सुपर्ण गरुत्मान् एवं बहुत विशेषणों से कहते हैं (एकं सदग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः) यद्यपि ब्रह्मात्मा एक सद् वस्तु है तथापि अग्र नेता होने से अग्नि नियन्ता होने से यम सर्वत्र प्राप्त होने से वायु कहते हैं ॥

शिक्षा—विश्व का उत्पन्न करने वाला देव यद्यपि एक है किन्तु विद्वान् लोग विविध गुणों के कारण उसको इन्द्र, मित्र, वरुण, आदित्य, चन्द्र, परमात्मा, अग्नि, यम, आदित्य आदि नामों से सम्बोधित करते हैं ॥

इस मन्त्र में यम शब्द का अर्थ विश्वनियन्ता ईश्वर है ॥

अग्ने शकेम ते वयं यमं देवस्य वाजिनः । अति द्वेषांसि तरेम ॥

ऋ० ३ । २७ । ३

(अग्ने ते वाजिनो देवस्य यमं वयं शकेम) अग्ने हे अग्रेनायक ! तव वाजिनो विज्ञानवतो देवस्य यमं यमनं नियन्त्रणं वयं धारयितुं शकेम शक्नुयाम (द्वेषांस्यतितरेम) द्वेषांसि पारस्परिकमनोवैपरीत्यान्यतितरेम पृथक्कुर्वीमहि ॥

भाषार्थ—(अग्ने ते वाजिनो देवस्य यमं वयं शकेम) हे अग्रेनेता ! तुझ विज्ञानसम्पन्न विद्वान् के नियन्त्रण को हम धारण कर सकें (द्वेषांस्यतितरेम) द्वेषों, पारस्परिक मनोमालिन्य आदि विचारों को हम पृथक् करें ॥

शिक्षा—विद्वान् नायक जन के नियन्त्रण में रह कर पारस्परिक मनोमालिन्य को दूर करना चाहिये ॥

क्व वोऽश्वाः क्वाभीशवः कथं शेक कथा यय ।
पृष्ठेसदो नसोर्यमः ॥ ऋ० ५ । ६१ । २

(क्व वोऽश्वाः क्वाभीशवः कथं शेक कथा यय नसोः पृष्ठे सदो यमः) हे मनुष्याः ! वो युष्माकं क्व कुत्राश्वाः सन्ति क्व चाभीशवोऽङ्गुलय इव व्यापनशीलास्तद्रश्मयः कथं न क्वापि दृश्यन्ते प्रत्युत यूयं कथं शेक, कथमेवं सद्यो गामिनो भवत । कथा यय केन प्रकारेण यूयं गच्छत नसोर्नासिकयोर्बन्धनीयं वस्तु क्व पृष्ठे च यत्सदः सदनमारोहणासनं क्व यमो नियन्ता च तेषामश्वानां सेवकः क्वास्ति न क्वापि तर्ह्येवं यूयमेतत्सर्वमन्तरेणात्र कथमागताः केनापि दिव्येन यन्त्रेण यूयमागता इति प्रतीयते । तथा च दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(क्व वोऽश्वाः) हे मनुष्यो ! तुम्हारे घोड़े कहां हैं (क्वाभिशवः) और उनकी बागडोरें या लगाम कहां हैं । यहां कहीं दिखाई नहीं पड़ती प्रत्युत (कथं शेक) तुम लोग इस प्रकार कैसे शीघ्रगामी होते हो (कथा यय) किस प्रकार से तुम जाते हो (नसोः) नासिकाओंकी बन्धनीय वस्तु कहां है (पृष्ठे सदः) और पीठ परका आरोहण-आसन अर्थात् जीन कहां है (यमः) और उन घोड़ों का यमनशील सेवक अर्थात् साईस कहां है, कहीं भी नहीं । तब इस प्रकार इन सब वस्तुओंके विना यहां कैसे आए, किसी भी दिव्य यन्त्र विमान आदिसे आये हो ऐसा प्रतीत होता है ॥

शिक्षा—शीघ्रगमनके हेतु घोड़े, लगाम, ज़ीन, साईस आदि साधनोंसे भिन्न दिव्य साधन विमान आदि यान होता है इसको देखकर मनुष्य चकित होते हैं ॥

इस मन्त्रमें यमनशील सेवक अर्थात् साईसके अर्थमें यमशब्द आया है ॥

त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रवल्शमभि सं चरन्ति ।

यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उपसेदुर्वसिष्ठाः ॥ ऋ० ७।३३।९

(अप्सरसो यमेन ततं परिधिं वयन्तो वसिष्ठाः प्रकेतैर्हृदयस्य निण्यं सहस्रवल्शमुपसेदुस्त इद्भिसञ्चरन्ति) येऽन्तरिक्षचारिणो नियन्त्रा जगदीश्वरेण व्याप्तं सर्वलोकावरणं व्याप्नुवन्तोऽतिशयेन विद्यावन्तः प्रकृष्टप्रज्ञाभिरात्मनो मध्ये निर्णीतान्तर्गतमसंख्याताङ्कुरमिव बहुशास्त्रविज्ञानव्यवहारमुपसीदन्ति ते विद्वांस एव सम्यगाचरन्ति । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(अप्सरसो यमेन ततं परिधिं वयन्तः) जो अन्तरिक्षचारी नियन्ता जगदीश्वरसे व्याप्त सर्वलोकावरणको व्याप्त होते हुए (वसिष्ठाः प्रकेतैर्हृदयस्य निण्यं सहस्रवल्शमुपसेदुः) अत्यन्त विद्यावान् उत्तम बुद्धियोंसे अपने आत्मामें असंख्यात अङ्कुरके समान बहुत शास्त्रविज्ञानके व्यवहारको प्राप्त होते हैं (त इद्भिसञ्चरन्ति) वे विद्वान् ही सम्यगाचरण करते हैं ॥

शिक्षा—अन्तरिक्षमें विमान द्वारा विचरने वाले विद्वान् अपनी उत्तम बुद्धियोंसे विद्याशास्त्रको धारण करते हुए संसारमें उत्तम आचरण और सुख प्राप्त करते हैं ॥

यहां यमका अर्थ नियन्ता ईश्वर है ॥

स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम् ।

अर्यो गयं मंहमानं वि दाशुषे ॥ ऋ० ८ । २४ । २२

(वाजिनं यममनूर्मिं व्यश्ववदिन्द्रं स्तुहि) वाजिनं बलवन्तं यमं यमनशीलमनूर्मिमूर्मिरहितं प्रकाशतरङ्गरहितं व्यश्ववद् विगताश्ववद्रश्मिरहितमिवेन्द्रमादित्यं लक्ष्यीकृत्य स्तुहि सन्ध्यामुपास्व तत्साम्मुख्यं वा सेवस्व (अर्यो मंहमानं गयं दाशुषे वि) यश्चार्यः स्वामी दाशुषे दत्तवते यजमानाय मंहमानं महत्वयुक्तं गयं प्राणं विस्तारयति । "प्राणा वै गयाः" (श० १४ । ८ । १५ । ७) ॥

भावार्थ—(वाजिनं यममनूर्मिं व्यश्ववदिन्द्रं स्तुहि) बलवान्, यमनशील प्रकाशतरङ्गरहित तथा रश्मिसञ्चाररहित आदित्यको लक्ष्यकरके सन्ध्योपासन कर या उसका सेवनकर (अर्यो मंहमानं गयं दाशुषे वि) स्वामी दाता यजमानके लिये महत्वयुक्त प्राणोंका विस्तार करता है ॥

शिक्षा—सूर्य जब प्रकाशतरङ्ग उठनेसे पूर्वकी अवस्थामें हो ऐसे प्रातःकाल

तथा जब रश्मिसञ्चार समाप्त हो चुके ऐसे सायंकालमें सन्ध्योपासन करना चाहिये। इस प्रकार सन्ध्योपासनसे जगदीश देव आत्मिक महत्ताका प्रदान करता है अथवा उक्त दोनों कालोंमें बाहर भ्रमण करना प्राणशक्ति बढ़ानेका हेतु है ॥

इस मन्त्रमें सूर्यके लिये यम शब्द आया है और उसके प्रातःकालीन तथा सायङ्कालीन स्वरूपका उपयोग है ॥

प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुह्यासावातिथिम्। अग्निं रथानां यमम्॥

ऋ० ८। १०३। १०

(आसाव प्रियाणां प्रेष्ठमु रथानां यममतिथिमग्निं स्तुहि) आसाव ! प्रियाणामतिप्रियं रथानां यमं नियन्तारमतिथिमतनशीलमतिगमनशीलमग्निं स्तुहि तद्विज्ञानेन सर्वत्र शिक्षस्व ॥

भावार्थ—(आसाव प्रियाणां प्रेष्ठमु) हे विद्याओंके निष्कर्ष को निकालने वाले प्रियों के अतिप्रिय (रथानां यमम) रथोंके नियन्ता (अतिथिमग्निं स्तुहि) अतनशील, गतिशील अग्निके विज्ञानकी सवत्र शिक्षा दे ॥

शिक्षा—अत्यन्त गतिका निमित्त इंजन आदि यानोंके नियन्ता अग्निकी विद्याका प्रचार करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें नियन्ताके अर्थमें यम शब्द आया है ॥

सं दक्षेण मनसा जायते कविर्ऋतस्य गर्भो निहितो यमा परः।
यूना ह सन्ता प्रथमं विजज्ञतुर्गुहाहितं जनिम नेममुद्यतम्॥

ऋ० ९। ६८। ५

(दक्षेण कविः संजायने मनसा ऋतस्य गर्भो निहितः संजायते) दक्षेण प्रज्ञानेन प्रद्योतनेन कविः सूर्यः संजायते प्रकटी भवति। "दक्षं प्रज्ञानम्" (ऐ० १। १३) "असौ वा आदित्यः कविः" (श० ६। ७। २। ४) मनसा मानसभावेनास्थिरभासनेन, ऋतस्योदकस्य गर्भो गर्भमध्ये निहितो यश्चन्द्रः स संजायते प्रकटी भवति। "मनसश्चन्द्रमाः" (ऐ० उ० १। ४) "ऋतमुदकनाम" (नि० १। १२) गर्भः, विभक्तिव्यत्ययः (यमा परोयूना ह सन्ता प्रथमं विजज्ञतुः) यमा यमौ संसारनियन्तारौ सूर्याचन्द्रमसौ। उक्तं च "येमाते भुवनानि विश्वा०" परोयूनाऽत्यन्तयुवानौ सन्तौ प्रथमं पूर्वं विजज्ञतुः प्रकटीभूतौ। परस् इत्यव्ययमत्यन्तार्थे यथा छान्दोग्ये "आदित्यस्य परः कृष्णं रूपम्" (३। ४। ३) (गुहाहितं नेममुद्यतं जनिम) तयोश्चैकस्य चन्द्रस्य

गुहाहितमन्धकारावृतायां रात्रौ निहितं जनिम प्रकटीभावोऽपरस्यैकस्य नेममर्धसमय-मुद्यतमुदयरूपो दिवसप्रकाशः प्रकटी भावः ॥

भाषार्थ—(दक्षेण कविः संजायते) प्रद्योतमान प्रकाशसे सूर्य प्रकट होता है (मनसा ऋतस्य गर्भो निहितः) अस्थिर ज्योतिसे उदकके बीचमें स्थित चन्द्र प्रकट होता है (यमा परोयूना ह सन्ता प्रथमं विजज्ञतुः) संसारके नियन्ता सूर्य और चन्द्रमा अत्यन्त युवक होते हुए प्रथम प्रकट हुए (गुहाहितं नेममुद्यतं जनिम) उन दोनों में चन्द्रमाका अन्धकारावृत रात्रिमें प्रकटीभाव है और सूर्यका प्रकटीभाव, पृथिवीका अर्धभाग दिन का प्रकाश है ॥

शिक्षा—सूर्य प्रद्योतमान प्रकाश और चन्द्र अस्थिर ज्योति से प्रकट होते है दोनों पृथिवी से पूर्व उत्पन्न हुए २ तथा युवा या परस्पर सम्बन्ध रखने वाले हैं तथा चन्द्रका रात्रिमें और सूर्य का दिनमें प्रकाश होता है ॥

इस मन्त्रमें नियन्ता के अर्थ में द्विवचनान्त यम शब्द आया है ॥

अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या ।

भुवद्दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य काम्यो विवक्षसे ॥

ऋ० १० । २१ । ५

(अथर्वणा जातोऽग्निर्विश्वानि काव्या विदत्) अथर्वणाऽचलायमानेन जगदीश्वरेण जातो जनितोग्निर्विश्वानि काव्या काव्यानि कविकर्माण्यादित्यकर्माणि ज्वलनादीनि विदत् प्राप्तवान् "असौ वा आदित्यः कविः (श० ६ । ७ । २ । ४) अत एव (विवस्वतो दूतोभुवन्) विवस्वतस्तस्यादित्यस्य दूतस्तद्गुणसूचको भुवदस्ति । एवम् (यमस्य काम्यः प्रियो विवक्षसे) यमस्यादित्यस्य काम्यः कमनीयः प्रियः सन् विवक्षसे महत्त्वाय "विवक्षसे महन्नाम" (नि० ३ । ३) (मदे वो वि) मदे हर्षकरे सोमे सोमाद्योषधिहोमनिमित्ते वो युष्मभ्यं वि विधत्ते ॥ ?

भाषार्थ—(अथर्वणा जातोग्निर्विश्वानि काव्या विदत्) अचलायमान जगदीश्वरका रचा हुआ अग्नि आदित्यके ज्वलन आदि सब कर्मको प्राप्त है अत एव (विवस्वतो दूतो भुवन्) आदित्यका गुणसूचक है । एवम् (यमस्य काम्यः प्रियो विवक्षसे) आदित्य का कमनीय प्रिय होकर महत्व के कार्य में प्रवृत्त होता है (मदे वो वि) हर्षकारी सोम आदि ओषधि के होमार्थ तुम्हारे लिये विद्यमान है ॥

शिक्षा—अग्निमें सूर्यकी ज्वलन आदि शक्तियां मौजूद हैं और जैसे आकाश में सूर्य लोकों का नियन्ता है एवं पृथिवी पर सब परिणामों का निमित्त अग्नि है जिसमें होम करना चाहिये ॥

इस मन्त्र में सूर्य के लिये यम शब्द का प्रयोग है। यहां सायणने यम का अर्थ यजमान किया है ॥

अहमत्कं कवये शिश्नथं हथैरहं कुत्समावमाभिरूतिभिः ।
अहं शुष्णस्य श्नथिता वधर्यमं न यो रर आर्यं नाम दस्यवे ॥

ऋ० १० । ४९ । ३

(अहं कवयेऽत्कं हथैः शिश्नथम्) अहं राजा सेनापतिर्वा कवये मेधाविने शत्रुसेनानायकायात्कं वज्रं हथैर्हननप्रकारैः शिश्नथं श्नथयेयं मारयेयं श्नथयामि मारयामि वा । "श्नथयति वधकर्मा" (नि० २ । १९) (अहमाभिरूतिभिः कुत्समावम्) अहमाभिरुतिभी रक्षणक्रियाभिः कुत्सं स्ववज्रमावं समन्ताद्रक्षेयं रक्षामि वा, "कुत्सं वज्रनाम" (नि० २ । २०) (अहं शुष्णस्य श्नथिता) अहं शुष्णस्य शत्रुबलस्य श्नथिता हिंसिता स्याम् "शुष्णं बलनाम" (नि० २ । ९) (वधो यमम्) वधो निजसैन्यबलं यमं नियमितवान् नियच्छामि वा । 'यम धातोरङि लुङ्लकाररूपमडभावश्च' [अत्रैकेन महानुभावेन भ्रान्त्या यममिति नामपदं मत्वा यमप्रकरणे पठितो मन्त्रः] (य आर्यं नाम दस्यवे न ररे) यश्चाहमार्यं नाम दस्यवे दुष्टजनाय न ररे न दत्तवान् न ददामि वा ॥

भाषार्थ—(अहं कवयेऽत्कं हथैः शिश्नथम्) मैं राजा या सेनापति बुद्धिमान् शत्रुसेनानायकके लिये वज्रको हनन प्रकारोंसे ताड़ित करता हूँ (अहमाभिरूतिभः कुत्समावम्) मैं इन अपनी रक्षणक्रियाओंसे स्ववज्रको स्थिर रखता हूँ (अहं शुष्णस्य श्नथिता) मैं शत्रुबलको नष्ट करने वाला होऊं (वधो यमम्) और निज सैन्यबलको नियन्त्रित करता हूँ (य आर्यं नाम दस्यवे न ररे) क्योंकि दस्यु के साथ युद्ध करके उसको पराजित करना और आर्यकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है, उस दस्युके लिये आर्य नाम नहीं देता हूँ ॥

शिक्षा—राजा या सेनापतिको उचित है कि दुष्ट शत्रुके प्रति सज्जनताका व्यवहार न करे किन्तु हनन प्रकारोंसे वज्रसे ताड़न और उसके बलको अस्त व्यस्त करने तथा अपने वज्रको बचावसे धारण और स्वसेना बल का नियन्त्रण करना चाहिये शत्रुको कभी भी सज्जन समझ कर न छोड़ना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें यम शब्द नहीं है और न ही यमका कोई लेश है। किसी विद्वान् ने भ्रान्ति से "यमम्" मन्त्रमें आये इस क्रियापदको द्वितीयान्त नाम पद पढ़कर यमके प्रकरणमें मन्त्रका संग्रह कर दिया जो उचित न था। सायण ने भी

स्पष्टरूप से क्रियापदका ही अर्थ लिखा है। यह पद सर्वानुदात्त है। आमन्त्रित और युष्मद् अस्मद्के अन्वादेशको छोड़कर कोई भी नामवाचक पद सर्वानुदात्त नहीं होता क्रियापद ही पूर्व पदको अपेक्षित करके सर्वानुदात्त होता है यह बात व्याकरणशास्त्रज्ञ जानते ही हैं ॥

भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः।
श्रमस्य दायं विभजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः॥

ऋ० १० । ११४ । १०

(रथस्य धूर्षु युक्तासोऽस्थुः) रथस्य सूर्यमण्डलस्य धूर्षु परिधिषु युक्तासोऽश्वा इव युक्ताः सूर्यरश्मयोऽस्थुस्तिष्ठन्ति (एके भूम्या अन्तं परिचरन्ति) एके रश्मयो भूम्याः पृथिव्याः सीमान्तं परिचरन्ति परिभ्रमन्ति (श्रमस्य दायं विभजन्ति) एके श्रमस्य दायं खण्डयितारं भागं विभजन्ति सेवन्ते एवमहोरात्रौ सम्पादयन्ति (एभ्यो यदा यमो हर्म्ये हितो भवति) एभ्य एषाम्। 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी बहुलम्' यदा यमो रश्मिभिरादित्यो हर्म्ये गृहे मण्डले हितः स्थितो भवति "हर्म्यं गृहनाम" (नि० ३ । ४)॥

भावार्थ—(रथस्य धूर्षु युक्तासोऽस्थुः) सूर्यमण्डलकी परिधियोंमें घोड़ोंके समान युक्त हुई सूर्यरश्मियां स्थिर हैं (एके भूम्या अन्तं परिचरन्ति) जिनमें से कुछ एक किरणें पृथिवी की सीमा पर परिभ्रमण करती हैं (श्रमस्य दायं विभजन्ति) और कुछ एक श्रमके खण्डित करने वाले भागको सेवन करती हैं इस प्रकार दिन रातको बनाती हैं (एभ्यो यदा यमो हर्म्ये हितो भवति) इन रश्मियोंका यमन करने वाला आदित्य जब अपने मण्डलमें स्थिर होता है॥

शिक्षा—सूर्यमण्डलकी रश्मियोंका संचार दो प्रकार से है जो सूर्यरश्मियां भूमिके ऊपरी भाग पर स्पर्श करती हैं वे दिनका प्रकाश करती हैं और जो सूर्य के अस्त होने पर पृथिवीके अलग करने वाले दूसरे भाग पर होती हैं वे रात्रि को बनाती हैं॥

इस मन्त्रमें आदित्यके लिये यम शब्द आया है॥

दीर्घं ह्यङ्कुशं यथा शक्तिं बिभर्षि मन्तुमः। पूर्वेण मघवन्पदाजो
वयां यथा यमो देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥

ऋ० १० । १३४ । ६

(मन्तुमो दीर्घं ह्यङ्कुशं यथा शक्तिं बिभर्षि) मन्तुमो हे मननशील राजन्!

यथा हस्तिपो दीर्घं ह्यङ्कुशं धारयति तथा त्वं शक्तिं सैन्यशक्तिं बिभर्षि धारयसि (मघवन् पूर्वेण पदाजा वयां यथा यमः) मघवन् हे ऐश्वर्यवन् राजन् ! यथाऽजश्छागः पूर्वेण यथापादेन वयां शाखामायत्ती करोति तथा वा त्वं यमो नियच्छ । अत्र यम धातोर्लेटि रूपम् (जनित्रो देव्यजीजनज्जनित्री भद्राजीजनत्) जनित्री जनयित्री या देवी त्वामेवं राष्ट्रपालनार्थमेवोत्पादितवती सा भद्रा कल्याणकारिणी त्वामेतदर्थमुत्पादितवती ॥

भाषार्थ—(मन्तुमो दीर्घं ह्यङ्कुशं यथाशक्ति बिभर्षि) हे मननशील राजन् ! जैसे हाथीवान् दीर्घ अङ्कुशका धारण करता है वैसे तू सेनाशक्ति को धारण करता है (मघवन् पूर्वेण पदाऽजो वयां यथा यमः) हे ऐश्वर्यशाली नरेश ! जैसे बकरी अपने आहार के लिये सामनेके पैरसे पेड़की शाखाको स्ववश करती है वैसे तू भी राष्ट्र का नियमन कर (जनित्री देव्यजीजनत्) उत्पन्न करने वाली दिव्य शक्ति ने या तेरी माता ने तुझे राष्ट्रपालन के लिये उत्पन्न किया है (जनित्री भद्राऽजीजनत्) उत्पन्न करने वाली तथा तुझे सुख देने वाली ने तुझे उत्पन्न किया है इसलिये कुछ राष्ट्र सम्बन्धी कर्तव्य का पालन कर ॥

शिक्षा—हाथीवान् जैसे अङ्कुशसे हाथी का नियन्त्रण करता है इसी प्रकार राष्ट्रपतिको सेनाद्वारा निजराष्ट्रका नियन्त्रण करना चाहिये । राजवंश में जन्म पा कर राष्ट्रकी उन्नति तथा प्रजाहित का ध्यान अवश्य होना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें भी यम शब्द नहीं है और न ही उसका कोई लेश है किन्तु यम धातुसे लेट् लकार का प्रयोग है । यहां भी "यमः" सर्वानुदात्त पद है । सायण ने भी स्पष्ट लिखा है—"यमेर्लेट्यडागमः बहुलं छन्दसीति शपो लुक्" (इति सायणः) ॥

यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय हयो दात्र एधि
वयो मह्यं प्रति ग्रहीत्रे ॥ यजुः० ७ । ४७ ॥

(वरुणो यमाय मह्यं त्वा ददातु) वरुणः सत्योपदेष्टाप्तो यमाय विषयभोगादुपरताय मह्यं त्वामुपदेशकं ददातु (सोऽमृतत्वमशीय) सोऽहममृतत्वं मोक्षमशीय प्राप्नुयाम् (दात्रे हय एधि) दात्रे वरुणाय त्वं हयो ज्ञानवर्धननिमित्तमेधि भव (मह्यं वयः प्रतिग्रहीत्र एधि) मह्यं चिरजीवनसुखं स्वीकर्त्रे भव ॥ इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(वरुणो यमाय त्वा मह्यं त्वा ददातु) सत्योपदेशक आप्त पुरुष विषयभोग से उपरत मेरे लिये तुझको देवे (सोऽमृतत्वमशीय) मैं मोक्षपद प्राप्त करूं (दात्रे हव एधि) दान करने वाले वरुण के लिये तू ज्ञान का निमित्त बन

(मह्यं वयः प्रतिग्रहीत्र एधि) मुझ चिरजीवन सुख स्वीकार करने वाले के लिये तू स्थिर हो ॥

शिक्षा—सत्योपदेष्टा आप्त विद्वान् अपने तय्यार किये हुए विद्यार्थियों को पुरोहित, शिक्षक तथा उपदेशक के रूपमें यजमानों में भेजे और उनको धार्मिक रुचि उत्पन्न करके धर्मलाभ पहुँचा कर सुख का कारण बने ॥

इस मन्त्रमें यमका अर्थ विषयभोगसे उपरत सज्जन पुरुष है ॥

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद् यमे ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ अथ० ३ । १० । १

(प्रथमा व्युवास) प्रथमा प्राथमिकोषा व्युवसान्धकारनाशनं कृतवती (सा यमे धेनुरभवत्) सोषा यमे सूर्यनिमित्ते धेनुर्धापयित्री माताऽभवत् । 'यमे निमित्तसप्तमी' । "रुशद्वत्सा सूर्यवत्सा सूर्यमस्या वत्समाह सहचरणाद्रसहरणाद्वेति" (निरु० २ । २०) (सा पयस्वती न उत्तरामुत्तरां समां दुहाम्) सा पयस्वती रसवती सती नोऽस्मभ्यमुत्तरामुत्तरां समामग्रेऽग्रे काले दुहां सुखं दुग्धाम् ॥

भावार्थ—(प्रथमा व्युवास) सबसे प्रथम आनेवाली ऊषा ने रात्रि के अन्धकार को नष्ट कर दिया (सा यमे धेनुरभवत्) वह सूर्यके निमित्त उसको धारण करने वाली माता बनी (सा पयस्वती न उत्तरामुत्तरां समां दुहाम्) वह रसवाली होती हुई हमारे लिये आगे २ के कालमें सुखका दोहन करे ॥

शिक्षा—प्रातःकालकी उषा जब आती है तो रात्रिका अन्धकार नष्ट हो जाता है पुनः उसके साथ सूर्य का आगम होता है मानो सूर्यको वह वत्सके समान धारण करती हुई हमारे लिये सुखको दोहती हुई आती है ॥

इस मन्त्रमें आदित्यके लिये यम शब्द आया है ॥

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः ।
अविस्तस्मात् प्रमुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा ॥ अथ० ३।२९।१

(यमस्यामी सभासदो राजानो यदिष्टापूर्त्तस्य षोडशं विभजन्ते) यमस्य यमनशीलस्य राज्ञोऽमी सभासदो राजानो राज्याधिकारिणो यदिष्टापूर्त्तस्येष्टापूर्त्तार्थं षोडशमायस्य भागं विभजन्ते राजबलाद् गृह्णन्ति (तस्माद्विः शितिपात्प्रमुञ्चति) तस्मादवी रक्षकः स भागः शितिपाच्छुक्लपात् पुण्यपात्स्वधा कररूपा सती दुःखात्प्रमुञ्चति ॥

भावार्थ—(यमस्यामी सभासदो राजानः) सम्राट्के सभासद् माण्डलिक राजा वा राजपुरुष (यदिष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते) इष्टापूर्त्त के लिये इष्ट अर्थात्

विद्वत्सभा, राष्ट्रसम्मेलन, राष्ट्रपालन तथा नियमन सङ्गतिकरण, शिक्षणालय आदि स्थानोंमें व्ययार्थ, आपूर्त्त अर्थात राजमार्ग यात्रिशाला, गोशाला, कूप, तड़ाग, वापी बन्ध आदि सामाजिक (Public) कार्य के लिये सोलहवां भाग राजबलसे ग्रहण करते हैं (तस्मादर्वि शितिपात् प्रमुञ्चति) अतएव वह रक्षाके निमित्त पुण्यांश कर रूप (Tax) भेंट उनको दुःखसे छुड़ाती है ॥

शिक्षा—राष्ट्रपति की आज्ञासे राजपुरुष प्रजासे विद्याप्रचारादि धार्मिक तथा यात्रिशालादि सामाजिक कार्यों के लिये सोलहवां भाग कर लिया करें जिससे वह प्रजाको सब प्रकारके दुःखोंसे बचा सकें ॥

इस मन्त्रमें राष्ट्रपतिके लिये यम शब्द आया है ॥

अवैरहत्यायेदमा पपत्यात् सुवीरताया इदमा ससद्यात् ।
पराङेवपरा वद पराचीमनुसंवतम् । यथा यमस्य त्वा
गृहेऽरसं प्रति चाकशानाभूकं प्रति चाकशान् ॥ अथ० ६ । २९ । ३

(अवैरहत्यायेदमा पपत्यात्) वीरहत्यायां भवं वैरहत्यं कर्म तदभावोऽवैरहत्यं तस्मा अवैरहत्याय कर्मण इदं पाप्म वज्रमापपत्यात् समन्तात्पतति (सुवीरताया इदमाससद्यात्) सुवीरतायै पाप्म वज्रमाससद्यादासदनं शान्तं भावं प्राप्नोति (पराङेव परावद पराचीमनु संवतम्) पराङेव पराङ्मुखानेव सैनिकान् परावद भर्त्सय निन्द्य पराचीमनु या पराची दिशा तैरनुगता तां प्रति संवतं सङ्गतं भव (यमस्य गृहे यथाऽरसं त्वा प्रतिचाकशानाभूकं प्रतिचाकशान्) यमस्य यमनशीलस्य कालस्य गृहे ग्रहणात्मके व्यापारे प्रवर्तमानं यथाऽरसं पाप्म वज्रं त्वां प्रतिचाकशान् तेऽवीराः प्रतिपश्येयुः, आभूकमासमन्ताद् भवन्ति यस्मिन्निति स आभूकः कालोऽथवा त्वामाभूकं कालमेव तेऽवीराः प्रतिपश्येयुः ॥ "सुवृभूशुषिकुषिभ्यः कुक्" (उणा० ३ । ४१) ॥

भावार्थ—(अवैरहत्यायेदमा पपत्यात्) अवीरहत्या कर्मके निमित्त अर्थात् कायरता के लिये यह पाप वज्र सब तरफ से गिरता है (सुवीरताया इदमाससद्यात्) सुवीरता के लिये वह पाप वज्र शान्त भावको प्राप्त होता है (पराङेव परावद पराचीमनुसंवतम्) पराङ्मुख सैनिकों को निन्दित कर और पीछेकी दिशा में लौटने वालों के साथ सङ्गत हो (यमस्य गृहे यथाऽरसं त्वा प्रतिचाकशानाभूकं प्रतिचाकशान्) यमनशील काल के व्यापार में प्रवृत्त हुए तुझ पाप वज्र को वे अवीर कायर पुरुष देखें या तुझ कालरूप को देखें ॥

शिक्षा—युद्ध क्षेत्रमें कायरता दिखलाने वाले पुरुषों के ऊपर वज्रपात होता

है और धीरताके साथ युद्ध करने वालों के प्रति वह कुछ प्रभाव नहीं कर पाता। जो युद्धक्षेत्र से मुंह मोड़ कर भागते हैं मानों उनके पीछे २ पाप वज्र घूमता है ॥

इस मन्त्रमें यमनशील काल के लिये यम शब्द आया है ॥

अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा ॥
अपो मनुष्यानोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे ॥ अथ० ८।९।२३

(इन्द्रस्याष्ट) इन्द्रस्यादित्यस्याष्टादित्या यामा अहोरात्रस्याष्टप्रहराः पदानि सन्ति "अष्टौ ह वै पुत्रा अदितेः। यांस्त्वेतद्देवा आदित्या इत्याचक्षते" (श० ३।१।३।३)(यमस्य षट्) यमस्य संवत्सराख्यस्य कालस्य षडृतवः पदानि सन्ति (ऋषीणां सप्त सप्तधा) ऋषीणां प्राणानां सप्तेन्द्रियगोलकानि पदानि सप्तधा परस्परं सप्तपदेषु सम्बद्धानि सन्ति (अपो मनुष्यानोषधीस्ताननु पञ्च सेचिरे) अपो जलानि, मनुष्यान्, ओषधीस्तानेतान् प्रति पञ्च पदानि सेचिरे समवयन्ति। 'षच समवाये'। कूपस्तडागो-नदी स्रोतो द्यौश्चेत्येवं स्थानानि जलस्य। यथा वा मन्त्रे—"शं न आपो धन्वन्याः शमु सन्त्वनूप्याः। शं नः खनित्रिमा आपः शमु या कुम्भ आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः" (अथ० १।६।४) 'ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः। निषादः पञ्चमः' इति पञ्चपदानि मनुष्याणाम्। पार्थिवजङ्गमौद्भिदाप्यदिव्यभेदादोषधीनां पञ्चविधत्वम् ॥

भावार्थ—(इन्द्रस्याष्ट) आदित्य के आठ याम, दिन रात के आठ प्रहर पद हैं (यमस्य षट्) संवत्सर कालके वसन्तादि ऋतु नाम से छः पद हैं (ऋषीणां सप्त सप्तधा) प्राणों के सप्तेद्रिन्य गोलक पद हैं परस्पर एक २ गोलक के तन्तु सातों से सम्बन्ध रखने वाले हैं (अपो मनुष्यानोषधीस्ताननु पञ्च सेचिर) जल, मनुष्य ओषधि इनके प्रति पञ्च पद सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् कूप, तडाग, नदी, स्रोत और द्युलोकके भेद ये जलके पांच स्थान हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय,वैश्य, शूद्र और निषाद भेदसे पांच मनुष्य हैं। पार्थिव,जङ्गम,उद्भिद, जलीय और दिव्य भेदसे पांच ओषधियां हैं ॥

इस मन्त्रमें संवत्सर काल के लिये यम शब्द आया है ॥

........यमाय असूम् ॥ यजु० ३० । १४

(यमायासूम्) दण्डदानायासूं हस्तादिप्रक्षेप्त्रीं परासुव। इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(यमाय) दण्ड देने वालेके लिये प्रवृत्त हुई (असूम्) हस्तादि फैंकने वाली दण्डनीय पुरुषकी स्त्री आदि को पृथक् कर देना चाहिये ॥

शिक्षा—जिस व्यक्तिको अपराधवश न्यायाधीशकी ओरसे दण्ड दिया जाये तो दण्डनीय पुरुषकी स्त्री आदि व्यक्तिको पाससे हटा देना चाहिए ॥

इस मन्त्रमें दण्डदाताके लिये यम शब्द आया है ॥

········यमाय यमसूम् ॥ यजु० ३० । १५

(यमाय यमसूम्) नियन्त्रे नियन्तॄणां सवित्रीम् । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(यमाय) नियन्ताके लिये (यमसूम्) नियन्ताओं को उत्पन्न करने वाली व्यक्ति को बुलाओ ॥

शिक्षा—समाज या राष्ट्रके अच्छे नियन्ताकी माताका सत्कार करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें नियन्ताके लिये यम शब्द आया है ॥

यत् संयमो न वियमो वियमो यन्नसंयमः ।

इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम् ॥ अथ० ४ । ३ । ७

(इन्द्रजाः संयमो न वियमः) इन्द्रजा राष्ट्रपतिकृतं संयमः संयमनं न वियमो वियमनं भवति (सोमजा वियमो न सयमः) सोमजा ब्राह्मणकृतं वियमो वियमनं न संयमः संभमन भवति "सोमो वै ब्राह्मणः" (तां० २३ । १६ । ५) (यदाथर्वणं व्याघ्रजम्भनमसि) यदेतदाथर्वणमथर्वणाऽहिंसकेन कृतं बन्धनं व्याघ्रजम्भनं व्याघ्रस्येव जम्भनं वशीकरणमस्ति । 'पुरुषव्यत्ययः' ॥

भावार्थ—(इन्द्रजा संयमो न वियमः) राष्ट्रपतिकी ओरसे जिन बातोंका संयमन किया गया हो उनका कभी वियमन भङ्ग न होना चाहिये तथा (सोमजा वियमो न संयमः) ब्राह्मणोंने जिन धार्मिक तत्वोंका वियमन अर्थात् फैलाव किया हो उनका कभी सयमन न होना चाहिये (यदाथर्वणं व्याघ्रजम्भनमसि) उक्त राष्ट्रपतिका संयमन और धार्मिक विद्वानों ब्राह्मणों का वियमन प्रजाके लिये अभ्युदय और निःश्रेयस् अर्थात् दुनियां और दीनकी कार्यसिद्धिके निमित्त हिंसारहित व्याघ्रजम्भनतुल्य है ॥

शिक्षा—राष्ट्रसंचालनके लिये राष्ट्रीय नियम और धर्मशास्त्रके आचरण भली प्रकारसे सेवन किये जायें और दोनों परस्पर एक दूसरेका बाधक न हों किन्तु प्रजा के हित सम्पादन करने वाले हों ॥

इस मन्त्रमें यम शब्द नहीं है किन्तु संयम और वियम शब्द हैं जो कि धात्वर्थापेक्षित हैं ॥

त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद्‌ बृहत् ।

त्रिष्टुब् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम अर्पिता ॥

ऋ० १० । १४ । १६, अथ० १८ । २ । २६

इस मन्त्रमें कालके लिये यम शब्द आया है तथा यह मन्त्र यम सूक्तका है जिसके अन्दर काल विज्ञान (Philosaphy of time) का वर्णन है और इस मन्त्रमें काल भूत, वर्तमान और भविष्यत् रूप तीन चक्रों द्वारा ऋतुओं में विभक्त होजाता है। न केवल प्राणियों के लिये ही यह काल यमन करने वाला है अपि तु पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ एवं तीनों लोकों अर्थात् सम्पूर्ण भुवन समयके नियन्त्रणमें रहता है इस बातका वर्णन है। विवरणके लिये देखो सूक्त १० । १४ । १६ (पृष्ठ ३७)

तिग्मं चिदेम महि वर्पो अस्य भसदश्वो न यमसान आसा ।
विजेहमानः परशुर्नः जिह्वा द्रविर्न द्रावयति दारु धक्षत् ॥

ऋ० ६ । ३ । ४

(अस्य तिग्मं महि वर्पो यमसानो विजेहमानोऽश्वो नासा भसत्) अस्य विदुषस्तीव्रं महद्रूपं नियन्ता शब्दायमानोऽश्व इवाऽऽस्येन भासयति (परशुर्न जिह्वां द्रविर्न द्रावयति) कुठार इव वाणी द्रवीभूत्वोच्चारणक्रिया आर्द्री करोति (दारु धक्षत् चिदेम) काष्ठं दहेदपि प्राप्नुयाम् । इति दयानन्दः ॥

भाषार्थ—(अस्य तिग्मं महि वर्पः) विद्वान् का तैजस तथा महत्वपूर्ण रूप (यमसानो विजेहमानोऽश्वो नासा भसत्) नियन्ता शब्दायमान घोड़ेके समान मुखसे ध्वनि करता है (परशुर्न जिह्वाम्) कुठारके समान वाणी (द्रविर्न द्रावयति) द्रवीभूत होती हुई जैसी उच्चारणक्रियाओंको गीला करती है (दारु धक्षत्) काष्ठ को जलाती हुई जैसी है (चिदेम) उस वाणीको हम अवश्य प्राप्त करें ॥

शिक्षा—विद्या और ब्रह्मचर्य आदिसे तेजस्वी रूपलावण्य सम्पन्न मनुष्यकी कुठारवत् शीघ्रगतिवाली जिह्वासे उच्चरित बातोंको हम सुनें ॥

इस मन्त्रमें यम शब्द पृथक् नहीं है किन्तु समस्त शब्द 'यमसान' है जिस का अर्थ नियमन करने वाला है ॥

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः । अत्रा नो
विश्पतिः पिता पुराणाँ अनुवेनति ॥ ऋ०*१० । १३५ । १

इस मन्त्रमें आदित्य के अर्थमें यम शब्द आया है। इस मन्त्रकी व्याख्या निरुक्तमें की है। वहां "यमो रश्मिभिरादित्यः" (नि॰ १२ । २९) इस का अर्थ आदित्य किया है किन्तु किन्हीं विद्वान् ने इस मन्त्र के 'यम' का अर्थ जीवात्मा किया

है उपर्युक्त निरुक्तकारके अर्थ को उपेक्षा से देखा है जो ठीक नहीं है। इसके सम्बन्धमें हम "प्राक्समन्वय" में संकेत कर चुके हैं। यहां मन्त्रमें संसारको वृक्षतुल्य क्षणभङ्गुर तथा जीवोंका निवासस्थान बतलाया है और सब जीवों का पिताके तुल्य सूर्यदेव अपनी किरणोंसे उत्पत्ति तथा रक्षा के लिये सङ्गत होता है। पुनः वही सूर्य वयोहीन जीवोंके सत्व कोखींच कर स्ववश कर लेता है। यह चर्चा है। विवरण के लिये देखो सूक्त० ऋ० १०। १३५। १ (पृष्ठ ६४) ॥

इदं सविवर्विजानीहि षड् यमा एक एकजः।

तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः ॥ अथ० १०।८।५

(सवितरिदं विजानीहि षड् यमा एक एकजः) सवितर्हे सूर्य ! त्वमिदं विजानीहि विज्ञानं स्थिरीकुरु वाऽयं सूर्य एवं विज्ञानमादधाति यत् षड् यमा यम्यते नियम्यते विश्वं यैस्ते यमाः सूर्यरश्मयोऽथैक एकज एकस्मात्कारणाज्जातः सप्तमः शुक्लभारश्मिः, एवं सप्त ते रश्मयो ये सन्ति तान् त्वं विजानीहि विजानाति वा विज्ञानव्यापरे स्थापय स्थापयति वा। "प्रकीर्णसमन्वये पश्यत (पृ० ४१६) ऋ० १। १६४। १५" (य एषामेक एकजस्तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते) य एषां रश्मीनामेक एकजः शुक्लभा रश्मिस्तस्मिन्नन्ये षड् रश्मयो ह निरन्तरमपित्वं लयमिच्छन्ते प्राप्नुवन्ति, इति विज्ञानसिद्धान्तोऽनुभवश्च योगिनामपि। अस्मात् पूर्वश्च मन्त्रो "द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये" (अथ० १०। ८। ४) सूर्यविज्ञानविषयकस्तस्मादुत्तरेऽत्र प्रकृतमन्त्रे तदेव विज्ञानं सङ्गच्छते ॥

भावार्थ—(सवितरिदं विजानीहि) हे सूर्य ! तू इस विज्ञानको स्थिर कर अथवा यह सूर्य इस प्रकार विज्ञानको धारण करता है (षड् यमा एक एकजः) कि छः संसारको नियमन करने वाली सूर्यरश्मियां और सातवीं स्वतः सूर्यसे उत्पन्न हुई शुक्लभा नामकी एवं ये सात किरणें हैं सूर्य जिनके वैज्ञानिक व्यापारमे स्थिर है (य एषामेक एकजस्तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते) और जिनमें स्वतः प्रकाशसे उत्पन्न हुई शुक्लभा मूल किरण है उसमें ये अन्य विविध रंग वाली छः किरणें निरन्तर लयको प्राप्त होती हैं। यह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त और योगियोंका अनुभव है॥

शिक्षा—संसारका नियमन करने वाली विविध रंगकी छः किरणें शुक्लभा नामकी किरणमें लीन होजाती हैं यह एक रश्मिविज्ञानका सिद्धान्त है॥

इस मन्त्रमें संसारका नियमन करने वाली रश्मियोंके अर्थमें बहुवचनान्त यम शब्द आया है ॥

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय ।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥

अथ० ६ । १३३ । ३

(मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि) अहं जीवो मृत्योर्ब्रह्मचार्यस्मि (भूतात् पुरुषं यमाय निर्याचन्) भूताद् भूतमात्रादुत्पन्नं पुरुषं शरीरं यमाय नियमनाय निर्याचन् निर्बाधयन् । "याचति वधकर्मा" (नि० २ । १६) (अहं तमेनं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानया मेखलया सिनामि) अहं तमेनं पुरुषं शरीरं ब्रह्मणा वेदेन तपश्चरणेन पुरुषार्थेनानया मेखलया कौपीनेन सिनामि बध्नामि ॥

भाषार्थ—(मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि) मैं जीव मृत्युका ब्रह्मचारी हूँ (भूतात् पुरुषं यमाय निर्याचन्) भूतमात्रसे उत्पन्न हुए शरीरको नियमन करनेके लिये बाधा न पहुँचाता हुआ (अहं तमेनं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानया मेखलया सिनामि) मैं इसको वेदसे, तपश्चरणसे, पुरुषार्थसे और इस कौपीनसे बांधता हूँ, नियमित करता हूँ या साधता हूँ ॥

शिक्षा—मनुष्यको अपने मनमें यह स्थिर कर लेना चाहिये कि मैं मृत्युका ब्रह्मचारी हूँ । मुझे मृत्युसे शिक्षा लेनी है जैसा कि महापुरुष मृत्युसे शिक्षा लेते रहे, अत एव उस मृत्युमें आचार्यदृष्टि कर अपने आपको या अपने शरीरको वेदाध्ययन, वेदानुकूलाचरण ब्रह्मचर्य, पुरुषार्थ और कौपीनसे दृढ़व्रती बनाकर संसारयात्रा करनी चाहिये ॥

इस मन्त्रमें नियमन करनेके अर्थमें यम शब्द आया है ॥

यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा । स्वाहा घर्माय ।
स्वाहा घर्मः पित्रे ॥ यजु० ३८ । ९

(अङ्गिरस्वते पितृमते यमाय स्वाहा) विद्युदादिविद्या यस्मिन् विद्यते तस्मै पालकज्ञानिजनवते न्यायाधीशाय स्वाहा सत्करणम् (घर्माय स्वाहा) यज्ञाय स्वाहा सदनुष्ठानम् (घर्मः पित्रे स्वाहा) यज्ञः पितृनिमित्तेऽस्तु, एवं स्वाहाऽतश्च त्वां स्वीकरोमि । इति दयानन्दः । आधिदैविकश्चार्थः शतपथे ४ । २ । २ । ११ ॥

भाषार्थ—(अङ्गिरस्वते पितृमते यमाय स्वाहा) विद्युत् आदि विद्या-

सम्पन्न और पालक ज्ञानीजन जिसके साथ हैं या पास हैं ऐसे न्यायाधीशका सत्कार करना चाहिये (धर्माय स्वाहा) यज्ञके लिये सदनुष्ठान करना चाहिये (धर्मः पित्रे स्वाहा) यज्ञ पालक ज्ञानी विद्वान् के लिये हो अतः तुझ विद्वान् को मैं स्वीकार करता हूँ ॥

शिक्षा—जिस न्यायाधीश राजाके यहां विद्युत् आदि पदार्थोंकी विद्याओं को जानने वाले और अच्छे राष्ट्रपालकजन हों उस राजा का सदा सत्कार करना चाहिये तथा विद्वान् धार्मिक पालक महानुभावका भी सत्कार करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें न्यायाधीश राजाके लिये यम शब्द आया है तथा आधिदैविक दृष्टिसे वायुके अर्थमें यम है ॥

यमाय त्वा मखाय त्वा सूर्यस्य त्वा तपसे ।
देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु पृथिव्याः संस्पृशस्पाहि
अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि ॥ यजु० ३७ । ११

(सविता देवो मखाय यमाय त्वा सूर्यस्य त्वा तपसे त्वा पृथिव्यास्त्वा मध्वाऽनक्तु संस्पृशः पाहि-अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि त्वा) ऐश्वर्यकर्ता दाता नियमाय न्यायानुष्ठानाचरणाय त्वां प्रेरकस्येश्वरस्य त्वां धर्मानुष्ठानाय त्वां भूमेस्त्वां मधुरेण संयुनक्तु सम्यक् स्पर्शान् पाहि प्रदीप्तिरसि पवित्रोऽसि श्रमकर्ताऽसि त्वां सत्कुर्याम । इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(सविता देवो मखाय यमाय त्वा) ऐश्वर्यकर्ता दाता नियम और न्यायानुष्ठानाचरणके लिये तुझको (सूर्यस्य त्वा तपसे त्वा पृथिव्यास्त्वा) प्रेरक ईश्वर प्रतिपादित धर्मानुष्ठानके लिये तुझको भूमिके सम्बन्धमें (मध्वाऽनक्तु संस्पृशः पाहि) मधुरतासे संयुक्त करे उसके सम्यक् स्पर्शसे तू अपनी रक्षा कर (अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि त्वा) प्रदीप्ति है, पवित्र है, श्रम करने वाला है इस प्रकार तेरा हम सत्कार करते हैं ॥

शिक्षा—मनुष्यको सूर्य, आतप, पृथिवी, दीप्ति आदिका उपयोग करने के लिये यज्ञका अनुष्ठान करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें नियमके अर्थमें यम शब्द आया है ॥

·······आप्यायमानो यमः सूयमानः ॥ यजु० ८ । ५७

(सूयमान आप्यायमानो यमः) उत्पद्यमानो वृद्ध इव यच्छति स्वयं सूर्यः। इति दयानन्दः ॥

भावार्थ—(सूयमान आप्यायमानो यमः) उत्पन्न होता हुआ बढ़ता हुआ सूर्य ॥

शिक्षा—मनुष्योंको उदय होते हुए प्रकाश से बढ़ते हुए सूर्य का सेवन करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें सूर्यके लिये यम शब्द आया है ॥ इति ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

२२—१०—१९३२ ई०

भवदीय—
प्रियरत्न आर्ष

इस ग्रन्थ में आए हुए प्रधान मन्त्रों की

अनुक्रमणिका